यह पढ़ते पढ़ते मेरी दृष्टि बदल गई । मेरा 'समानधर्मा' भविष्य में पैदा होगा, यह आशा 'सुदूरवर्तिनी' थी। मैं तो चाहता था ढूंढ़ना, कोई ऐसा सज्जन जो वर्तमान में ही मेरा लिखित पढ़े। और भगवान् की कृपा से मुझे एक सज्जन ऐसे मिल भी गये जिन्होंने इस लिखित पुस्तक को अथ से इति तक पढ़ा। केवल पढ़ा ही नहीं बल्कि पढ़कर लिखित रूप से अपना अभिप्राय भी मुझे दिया । इसे पढ़कर तो मेरे शरीर पर मुट्ठी भर मांस चढ़ा। ये सज्जन थे डॉ यशवन्त गोविंद आपटे । परंतु आपके वैदिक पंडित न होने से यह अभिप्राय मेरे लिये अधिक काम का न था । मेरी अभिलाषा थी कि कोई संस्कृत का अच्छा पंडित इसे देखे और अपना मत प्रकट करे । मेरे सुदैव से एक ऐसे भी विद्वान् मुझे मिल गये । ये थे ग्वालियर के संस्कृत कालेज के एक अध्यापक—वेदशास्त्रसंपन्न घाणेकर शास्त्री जी । मेरा आप से थोड़ा परिचय भी था । पर आप से प्रार्थना करने की मेरी हिम्मत कई दिन तक न हुई। अंत में एक दिन ढाढस बांधकर मैंने कहा ही । आपने बड़ी उदारता से प्रति सोमवार को मेरे मुख से ही सारा ग्रंथ सुनने को सुझाया और बराबर वैसा किया । श्री घाणेकर शास्त्री काशी से रामेश्वर तक ज्ञात थे। अतएव जब आप ने सारा सुनकर प्रशंसा की और अपना लिखित मत भी मुझे दिया तब मेरा हौंसला और भी बढ़ा। आपकी राय थी कि किसी प्रकार ग्रंथ प्रकाशित होकर जनता के समुख आना ही चाहिये ।

पर यह हो कैसे ? इतनी बड़ी पुस्तक को छपवाना हजारों रुपयों का काम था जो मेरे बूते का न था। पर इसी बीच ग्वालियर में 'जीवाजी विश्वविद्यालय' की स्थापना हो चुकी थी और विश्वविद्यालय की महासभा का एक सदस्य मैं निर्वाचित हो चुका था। तब से अब तक इस विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री भांडारकर ही हैं। आपसे मेरा परिचय हुआ और परस्पर परिचय का आदर में रूपांतर हुआ। आपकी धर्मपत्नी भी बड़ी सुविद्य हैं। दोनों पतिपत्नी ने मेरा मराठी हस्तलिखित पढ़ा और ईश्वर ने उनके मन में प्रेरणा पैदा की कि 'जीवाजी विश्वविद्यालय का शोधग्रंथ' इस नाते विश्वविद्यालय इसे प्रकाशित करे। पर बड़ी अड़चन थी भाषा की । मराठी इस विश्वविद्यालय की मुख्य भाषा नहीं। अतएव श्री भांडारकर जी ने सूचित किया कि इसका अंग्रेजी या हिन्दी अनुवाद हो तो यह अड़चन दूर हो सकती है। किंतु इतने बड़े ग्रंथ का ऐसा अनुवाद करना भी 'टेढी खीर' थी। मैं तो अपने वय की दृष्टि से इसके प्रकाशन के बारे में अधीर हो उठा था।

अतएव मैंने ही यह काम उठाया और बड़े परिश्रम से अत्यंत थोड़े अवकाश में इसे पूराकर श्री भांडारकर जी के स्वाधीन किया ।

मेरी यह भी अभिलाषा थी कि ग्रंथ मराठी में भी प्रकाशित हो । मेरी एक दो छात्राओं ने अपने एक परिचित व्यक्ति के साथ वार्तालाप करते हुए मेरे कुछ विचार प्रकट किये जिस पर से उन्होंने मेरा ग्रंथ पढ़ने की इच्छा प्रकट की । मैं अपना लिखित लेकर उनसे मिला । आपको मेरे विचार पसंद थे । आपने ग्रंथप्रकाशन का सारा भार उठाने का वचन दिया । आपकी कामना ग्रंथ को आदर्श रूप में प्रसिद्ध करने की थी । ग्रंथ की रूपरेखा हम दोनों ने मिलकर निश्चित की । सारा ग्रंथ दोनों ने मिलकर पढ़ा और उसमें कुछ गौण हेरफेर भी किये । मुद्रक भी मिल गये और काम तेजी से चलकर तीन फॉर्म छप भी गये और लगभग ४ फॉर्म का 'गेली प्रूफ' भी मेरे हाथ में आया। पर मेरा दुर्दैव मेरा पीछा छोड़ना नहीं चाहता था । मुद्रणालय के मालिक पर ऐसी कुछ गुजरी कि उसे अपना छापाखाना बेचना पड़ा । सारा ही काम 'ठप' सा हो गया । काम न हुआ हो पर उनकी दिखलाई हुई आत्मीयता तो मैं भूल नहीं सकता । विशेषतः जिस सुहृद ने मेरे साथ पढ़कर अपना स्वास्थ्य भी थोड़ा बिगाड़ा उनका उऋण तो मैं हो ही नहीं सकता। विशेष रूप से मराठी प्रकाशन का जो अधिकार मैंने उन्हें दिया था उसे भी छोड़कर जीवाजी विश्वविद्यालय को समर्पित करने की आपने मुझे अनुमति दी और मेरा काम सुलभ किया इसका उल्लेख मैं कृतज्ञतापूर्वक करना चाहता हूं ।

अब सारे ही अधिकार जीवाजी विश्वविद्यालय को मिल गये और उसने मेरा ग्रंथ छपवानें का प्रस्ताव मान्य किया । अतः जीवाजी विश्वविद्यालय के व्यवस्थापक मंडल का मैं आभार मानता हूं । भांडारकर पतिपत्नी को धन्यवाद देने के लिये मेरे पास योग्य शब्द ही नहीं हैं और इसलिये शब्दों में धन्यवाद न मानकर अंतःकरण पूर्वक मैं उनका कृतज्ञ ही रहना चाहता हूं । विश्वविद्यालय ने यह सारा छापने का काम श्री मोतीलाल बनारसीदास नाम से सुविख्यात भारतीयविद्या के ग्रंथमुद्रक सदन को दिया और मेरे सारे ही श्रम बचाये। इस सदन का काम कैसा होता है यह सुप्रसिद्ध ही है और यह ग्रंथ भी उसी प्रकार छापा गया है । इस कार्य के लिये लेखक, सदन का भी आभारी है ।

हिंदी मेरी मातृभाषा नहीं है पर जन्म से ही भ्रातृभाषा थी और अब तो समूचे राष्ट्र की भाषा वह हो गई है। मेरी हिंदी में मराठी की झलक आना अस्वाभाविक नहीं है और ऐसी ही भिन्न भाषाओं से संपन्न राष्ट्रभाषा बनने वाली है। अपने विशाल उदर में राष्ट्रभाषा हिंदी मेरी मराठी हिंदी को समालेगी इसमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है। असंमिश्र हिंदी के पक्षपाती पाठक इस धृष्टता के लिए मुझे क्षमा करें, इतना ही कहकर इस भूमिका को मैं समाप्त करता हूं। इति।

अनुक्रमणी

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
	१. प्रथम प्रकरण—उपोद्घात	
१	ऋग्वेदसंहिता की विचित्रता	१
२	प्राचीन प्रणाली के अनुसार मंडलों में विभाजन	१–२
३	मंडल, सूक्त तथा ऋचाओं की गणना	२–३
४	वेद पाठकों के आठ अष्टकों में विभाजन	३–४
५	दोनों विभाजन कृत्रिम, स्वाभाविक विभाजन की खोज, कालानुक्रमदर्शन	४–५
६	वेद अपौरुषेय नहीं, सर्वप्राचीन काव्य है	५–६
७	वेदानुक्रमणी का आधार	६
८	एक ही नाम के अनेक ऋषि । केवल नाम से काल-निर्णय नहीं हो सकता	६–७
९	सूक्तकार नाम पर से देव या देवों की संतान नहीं	७–८
१०	वेदानुक्रमणी सूक्तों के बहुत बाद बनी	८–९
११	जिन सूक्तों की अनुक्रमणी है, वे एक ही समय एकत्रित नहीं हुए	९–१०
१२	क्षत्रोपेत ब्राह्मणों के पूर्व के सूक्त प्राचीन, पश्चात् के नव्य या नवीन	१०
१३	सामप्रचार के बाद प्रथम सामसंहिता, फिर ऋक्-संहिता और अंत में यजुःसंहिता पूरी बनी	१०–११
१४	ऋक्संग्रह के चार सस्करण	११–१२
१५	इस पर से सूक्तों का कालनिर्णय नहीं हो सकता	१२
१६	छंदों की दृष्टि से मंत्रगणना	१२–१३
१७	छंदोनिर्माण की कल्पना	१३–१४
१८	देवताविचार	१४–१५
१९	अंतःप्रमाण का सिद्धान्त तथा उदाहरण	१५–१६

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
२०	ऋक्पूर्वकालीन संस्कृति-विकास	१६
२१	ऋग्वेदरचना काल का संस्कृति-विकास	१६–१७
२२	इस विकास पर किसी ने ध्यान न दिया	१७–१८
२३	पाश्चात्य पंडितों की दृष्टि भाषाविषयक और तुलनात्मक	१८–१९
२४	अलंकारों का विचार	१९–२०
२५	प्रमाणनिकषों द्वारा किया हुआ विभाजन	२०
२६	सात युगों के नाम	२०–२१
२७	सातयुगों का काल तथा विशेषताएं	
	(१) विश्वामित्रयुग	२१
	(२) भरद्वाजयुग	२१–२२
	(३) कण्वयुग	२२–२३
	(४) अत्रियुग	२३
	(५) वसिष्ठयुग	२४–२५
	(६) वामदेवयुग	२५
	(७) शौनकयुग	२५–२६
२८	उपसंहार	२६

२. द्वितीय प्रकरण—ऋक्पूर्वयुग

१	श्रद्धा तथा मेधापूर्वक ऋक्पूर्व कालवर्णन	२७
२	सावन पुराणोक्त नामावलि, श्रुतिस्मृतिपुराणों का पौर्वापर्य	२७–२८
३	'नाम कर्मतः' नाम पर से कर्म की कल्पना	२८–२९
४	बुद्धि और बल का संघर्ष तथा सहयोग	२९
५	इन दोनों के परे अज्ञात शक्ति, उसे समर्पण-यज्ञ	३०
६	सवितृ-सूर्य में इस शक्ति का प्रथम दर्शन, पश्चात् अन्य प्राकृतिक शक्तियां, 'इदं न मम' प्रथम मंत्र	३०–३१
७	होत्र में अग्नि का वह्नि होना, 'स्वाहा' का अर्थ	३१
८	देवतासमर्पण कर्म का नाम यज्ञ	३१–३२
९	देवों को समर्पण करना और इष्ट मांगना ही यज्ञ का हेतु	३२–३३

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
१०	'अध्वर' शब्द पर विचार, उसी से अध्वर्यु, उसके लिये आवश्यक ज्ञान यह यजुर्वेद का प्रथम स्वरूप	३३
११	यजुर्वेद का सामान्य स्वरूप	३३–३४
१२	राजा जह्नु की महत्ता	३४–३५
१३	यजुर्वेदविकास	३५–३६
१४	कुशकथा	३६
१५	सोमयाग का आरंभ, अदृष्टफल कल्पना	३६–३७
१६	गाथाओं का रूप	३७–३८
१७	गाथासंग्राहक गाथिन्	३८–३९
१८	गाथिन विश्वामित्र के प्रयत्न, गायत्रीमंत्रस्फुरण, उपनयन, छंदोरचना	३९
१९	सिंहावलोकन	३९–४०
२०	क्रिया के साथ मंत्र क्यों ?	४०–४१
२१	ऋग्वेद यजुर्वेद का पौर्वापर्य	४१–४२
२२	विकास दृष्टि का अभाव	४२–४३
२३	गद्य, पद्य, गीत की स्वाभाविक पूर्वापरता तथा सहयोग	४३

३. तृतीय प्रकरण—विश्वामित्रयुग

१	छंदोबद्ध ऋचाओं से आवाहन करने वाला होता	४४
२	तब मंत्रपाठ आज का सा न होता था	४४–४५
३	छंदोभंग नहीं करते थे	४५–४६
४	पादानुसार मंत्र कहते थे, अर्धर्चानुसार नहीं	४६–४७
५	छंदस्यावाक् गद्य से भिन्न थी, गद्य का पद्य कैसे होता है ?	४७
६	कालानुसार विराम करने से छंद बनता है	४७–४८
७	छंद में प्रत्येक वर्ण द्विमात्रक	४८–४९
८	वेद की विशिष्टता स्वरों में है, पर स्वर तीव्रतामापक हैं, कालमापक नहीं	४९–५०
९	द्विमात्रक ह्रस्व स्वर के वैदिक उदाहरण	५०
१०	वर्णमाला में द्विमात्रक ह्रस्व स्वर के लिये चिह्न नहीं	५०–५१
११	बोलचाल की भाषा में स्वर ज्ञान, अप्रयुक्त भाषा के	

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
	लिये स्वरावश्यकता, वैयाकरणों के स्वरनिर्देशविषयक उपकार	५१–५२
१२	ऋग्वेद का स्वररहित पाठ यज्ञ में	५२–५३
१३	छुटपुट बनी ऋचाओं का संग्रह न हुआ, सूत्रबद्ध ऋक्समूह के लिये चित्तक्षोभ आवश्यक	५३
१४	शुनःशेप पर का प्रसंग, उसका परिणाम	५४
१५	तृतीय मंडल के सूक्त आद्य विश्वामित्र के नहीं	५४–५५
१६	नामों के कालक्रमानुसार उनकी तालिका 'श्री' से 'मः' तक; आद्य विश्वामित्र के न होने का सकारण विवरण	५५–५८
१७	अन्य मंडलों में दिये हुए विश्वामित्र सूक्त	५८–५९
१८	विश्वामित्र जमदग्नि का सूक्त	५९
१९	वैश्वामित्र ऋषियों के सूक्त, संहिता में दिये हुए आद्य सूक्तों का मधुच्छंदस् ऋषि प्राचीन नहीं	५९–६०
२०	'रेणु' भी प्राचीन नहीं	६०–६१
२१	ऋचाओं का नहीं पर सूक्तों का कालनिर्णय	६१–६२
२२	शुनःशेप देवरात प्रथम सूक्तकार	६२–६३
२३	इसके सूक्त प्रथम मंडल में क्यों, तृतीय में क्यों नहीं,	६३
२४	'शुनश्चिच्छेप' पर विचार	६४
२५	ऐतरेय ब्राह्मण में दी हुई शुनःशेप की कथा, 'कस्य' का अर्थ ठीक नहीं किया	६४–६६
२६	यूपबद्ध शुनःशेप के दो ही सूक्त	६६
२७	उसके मुक्त होने के बाद के तीन सूक्त	६६–६७
२८	बेचे जाने के पूर्व के तीन सूक्त	६७
२९	शुनःशेप सूक्तों की भाषागत विशेषताएं	६८
३०	उनकी छदःसंबंधी विशेषताएं	६८–६९

४. चतुर्थ प्रकरण--भरद्वाजयुग

१	तत्कालीन राजकीय इतिहास	७०
२	मृतदेहों का अग्निदाह संस्कार, आंगिरस लोगों के बनाये हुए मंत्रों का अलग समूह	७०–७१

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
३	अग्निमंथन विधि का प्रवर्तक अथर्वन् आंगिरस	७१–७२
४	अथर्वन् के पुत्र पौत्र प्रपौत्रों का इतिहास, अनेक भरद्वाज	७२–७३
५	वीतहव्य की कथा	७३
६	उसका सूक्त	७३–७४
७	देवरात शुनःशेप का प्रभाव, उसकी याचना	७४
८	छंद नये कैसे निर्माण हुए	७५
९	दीर्घतमस् का इतिहास	७५–७६
१०	उसके नाम पर दिये हुए सूक्तों की तालिका तथा उसके बनाये हुए कौन से तेरह हैं इसका सकारण निर्णय	७६–७७
११	(१) प्रथम दीर्घतमस् का अग्निसूक्तषट्क	
१२	भाषा तथा छंद की दृष्टि से इसका विचार	७८
	(२) 'मित्रावरुणौ' सूक्त, आद्य युग्म देवता	७९
	(३) विष्णुनिर्माण, सूर्य का ही नाम, उस पर सूक्त	८०–८१
	(४) 'अश्विनौ' सूक्त, घृतमधुदाता, वैद्य रूप से वर्णन	८१–८२
	(५) 'द्यावापृथिवी' सूक्त, नया देवता युग्म	८२
१३	भरद्वाज के नाम पर प्रसिद्ध ५८ सूक्तों में प्रथम भरद्वाज के केवल बारह १२ ही हैं	८२–८३
१४	ममता के इन दोनों पुत्रों के सूक्तों की तुलना	८३–८४
१५	भाषासाम्य	८४
१६	इंद्रसूक्तों की विशेषता, प्रत्यक्ष इतिहास को दैवी स्वरूप	८४–८५
१७	'पूषा' सूर्य का नया रूप, अनेकार्थ शब्दों का सफल प्रयोग	८५–८६
१८	भरद्वाज प्रथम का उषःसूक्त, देवरात वर्णन का विकास	८६
१९	'मित्रावरुणौ' सूक्त, ऋक्संख्या बढ़ने लगी	८७
२०	भरद्वाज का द्यावापृथिवी सूक्त	८७–८८
२१	सवितृदेवविषयक सूक्त, शरीर वर्णन, 'वाम' प्रार्थना	८८
२२	'कक्षीवत्' नाम के भी दो ऋषि, औशिज कक्षीवत	

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
	के दो सूक्त	८९
२३	प्रथम कक्षीवत् के दो उषःसूक्त	९०–९१
२४	शंयु भारद्वाज, उसकी निर्मित चित्याग्नि	९१–९२
२५	शंयु सूक्त में ऐतिहासिक उल्लेखों का कारण	९२
२६	शंयु की मिश्र छंद निर्मिति	९२–९३
२७	पितृविषयक सूक्तों में चार विवस्वत् के	९३
२८	यमयमीसंवाद रचने वाला विवस्वत् ही है	९३–९४
२९	विवस्वत् ने अपने अग्निसूक्त में अग्नि को रथी बनाया उस समय के सात छंद	९४
३०	विवस्वत्पुत्र यम, उसका सूक्त, पितापुत्र का काम	९४–९५
३१	शंख का सूक्त, 'आच्यजानु' पद्धति, वसिष्ठों का कार्य	९५–९६
३२	शंयु पुत्र द्वितीय भरद्वाज, नाम पर दिये हुए चौदह सूक्तों में दो इसके नहीं	९६
३३	भाषा अलंकृत होने लगी, अग्नि तथा इंद्र के कर्मों का संकर, 'हिम' शब्द वर्षवाचक	९६–९७
३४	शांकुतलेय भरत के आवाहन पर यह भरत का युवराज होने को तय्यार हुआ, प्रथम क्षत्रोपेत ब्राह्मण	९७–९८
३५	इसके बाद के इंद्रसूक्तों में इतिहास पाया जाता है	९८
३६	क्षत्रोपेत ब्राह्मण सूक्तकार होने के पूर्व के सूक्तों का प्रथम संहितीकरण, बाद के नव्य सूक्त	९८–९९
३७	ब्रह्मक्षत्र मिलन के साथ देवों का मिलन 'इंद्राग्नी' इस नई देवता का निर्माण	९९
३८	भरद्वाज के प्रपौत्र नर के सूक्त, त्रिधातु गौ	१००
३९	सिंधुद्वीप की जलचिकित्सा, जलदेवता सूक्त	१००–१०१
४०	शुनहोत्र तथा शौनहोत्र गृत्समद के सूक्त, यजुर्वेद के आधार पर गृत्समद का 'रुद्र' सूक्त	१०१
४१	मरुतों को स्वतंत्र करनेवाला इसका प्रथम सूक्त 'भूमि' नामक वाद्य का उल्लेख	१०१–१०२
४२	विचार किये हुए सूक्तों की मंडलवार तालिका	१०२–१०३
४३	षष्ठ मंडलांतर्गत भरद्वाज युग के १७ सूक्तों में नर	

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
	के भाई सुहोत्र के दो छोड़कर अन्य १५ सूक्त भरद्वाज तृतीय के हैं	१०३–१०४
४४	भरद्वाज तृतीय का 'पूषन्' सूक्त, हाथ में चमड़े का चाबुक तथा रथ को बकरे जुते हुए, भाषा थोड़ी ग्राम्य	१०४
४५	नये देवता द्वंद्वों की निर्मिति, इंद्रापूषणौ, इंद्रावरुणौ, इंद्राविष्णू तथा इंद्रासोमौ,	१०४–१०५
४६	सोमारुद्रौ सूक्त	१०५
४७	ग्रंथविस्तारभय से संक्षेप	१०५–१०६
४८	भरद्वाजयुग की विशेषताएं	१०६

५. पंचम प्रकरण--कण्वयुग

१	कण्वयुग के आरंभ की स्थिति	१०७
२	सूक्त तथा दुरुक्त शब्दों का प्रथम प्रयोग, तीन घोड़ों का रथ, ब्रह्मणस्पति देवता का निर्माण, देवतात्रय विश्वेदेव का आधार	१०७–१०८
३	कण्व मेधातिथि का पवमान सूक्त, सुन्दर सुश्लिष्ट उपमाओं से युक्त, 'श्री' माहात्म्य	१०८–१०९
४	अयास्य आंगिरस के सूक्त, वायु देव बना, बृहस्पति को इंद्र ने पराक्रम दिये, बृहस्पति ही ब्रह्मणस्पति बना	१०९–११०
५	मेधातिथि काण्व, ऋषियों के नामों में गड़बड़ी	११०–१११
६	सोमयाग को व्यवस्थित रूप काण्वों ने दिया, देव-स्त्रियों का आवाहन	१११–११२
७	अनेक देवतायुक्त सूक्त ही विश्वेदेव सूक्त, स्वाहा के स्थान में वषट्कार	११२–११३
८	प्रगाथ घौर काण्व, असूरे सन्ति सूरयः, सोम से नींद और बकवाद	११३
९	प्रगाथ के तीन पुत्र—भर्ग, कलि तथा हर्यत के सूक्त भर्ग का सहसो यहुः, कलिप्रयुक्त ब्रह्मकृत् शब्द, हर्यत का किया हुआ सात ऋत्विजों का उल्लेख	११४

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
१०	सोमाहुति भार्गव के समय अष्टमं पोता, अष्टापदी गौ	११४–११५
११	'विश्वेदेव' देवता की विशेषता, बहुत सुविधाजनक	११५–११६
१२	वैवस्वत मनु ऋषि, वसुगण का प्रथम निर्देश	११६
१३	मनु के तैंतीस देव, रुद्रों को स्थान नहीं	११६–११७
१४	मनु की यज्ञस्तुति	११७
१५	गौतम राहूगण के सूक्त, यजुर्वेद पर आधारित	११७–११८
१६	इसके चार मरुत्सूक्त, अवत शब्द का ठीक अर्थ, शरद् से वर्षारंभ, 'वाण' नामक वाद्य	११८–११९
१७	सरस्वती, तार्क्ष्य, अदिति, द्यौष्पिता, इत्यादि देवता, एकं सद् बहुधा वदन्ति, पुत्र के गुण	११९
१८	गौतम का उपमापूर्ण उषःसूक्त, अग्निपोमौ का निर्माण	११९–१२०
१९	प्रयोग भार्गव का सूक्त, इसी सूक्त के वैकल्पिक ऋषि गाय अघ्निया मानी गई	१२०–१२१
२०	जमदग्नि का सूक्त, गोप्रशंसा, नेम का 'क ईं ददर्श' प्रश्न, कृत्नु भार्गव का सूक्त, सोमपान का असर	१२१–१२२
२१	कुरुसुति काण्व के तीन सूक्त, अष्टापदी नवस्रवित वाक् का ठीक अर्थ	१२२–१२३
२२	नाभाक काण्व के चार सूक्तों में इसके तीन, महापंक्ति छंद	१२३
२३	त्रित आत्य का महापक्ति छंद में सूक्त, अथर्वसंहिता	१२३–१२४
२४	इसीके अन्य सूक्त, सरस्वती नदी जहां लुप्त हुई, उस रेगिस्तान तक ऋषि पहुंचे, भैंस का प्रथम उल्लेख	१२४–१२५
२५	त्रित आप्त्य के अग्निसूक्त, तीन सवन	१२५
२६	कृष्ण आंगिरस, पुत्र विश्वक और पौत्र विष्णापू, 'अश्विनौ' पर कथाकल्पना	१२६
२७	रेभ काश्यप का इंद्र सूक्त, अतिजगती छंद बना	१२६–१२७
२८	पर्वत और नारद के सूक्त, कृत्रिम रचना	१२७
२९	सामयिक राजकीय इतिहास	१२७–१२८

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
३०	वही चालू	१२८–१२९
३१	भरद्वाज चतुर्थ के आठ सूक्त, अग्नि का 'पव्येव' आयुध, गायों का व्यावहारिक उपयोग, 'ब्रह्मकार' शब्द का प्रयोग	१२९
३२	सरस्वती पर स्वतंत्र सूक्त, उसी के अश्विनौ सूक्त, नई कथाएं, उसके अन्य सूक्त	१२९–१३०
३३	चतुर्थ भरद्वाज तथा उसके दो पुत्रों—गर्ग तथा पायु-के सूक्त, इन पर से प्राप्त इतिहास	१३१
३४	सांग्रामिक अभिमंत्रण, अथर्वमंत्रों के समान माना गया, विश्वजन्य हिरण्यपिंड	१३१–१३२
३५	पायु का संग्रामविषयक तथा रक्षोहा अग्नि पर सूक्त	१३२
३६	सोभरि काण्व का अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग	१३२–१३३
३७	सोभरि की अन्योन्य परिवर्त की अभिनव कल्पना	१३३–१३४
३८	सोभरि का मरुत्सूक्त, 'चित्र इद्राजा, राजका इदन्ये', चन्द्रों की वृष्टि करने वाले मरुत्	१३४
३९	अश्विनौ सूक्त, क्रिवि देश का उल्लेख	१३५
४०	अत्रियुग का आरंभ, कुछ विशेषताएं	१३५–१३६
४१	विशेष नामों का अधिक उपयोग, संशोधन आवश्यक	१३६

६. षष्ठ प्रकरण—अत्रियुग

१	प्राचीन इतिहास	१३७
२	मरीचिपुत्र कश्यप का एकर्च एक ही सूक्त	१३७–१३८
३	आंगिरस कुत्स के अग्निसूक्त, नवाँ ऋत्विज् प्रशास्ता	१३८–१३९
४	यज्ञवृद्धि, यजुर्वेद का आधार, खेती की महत्ता, वैश्वानर	१३९
५	इंद्रविजयक सूक्तपंचक, कृष्ण असुर, श्रद्धा की भावना कल्पित कथाओं का इंद्रविषयक आरंभ	१३९–१४०
६	विश्वेदेवों में पितरों को स्थान, इंद्राग्नी के दो सूक्त	१४०–१४१
७	रुद्र तथा सूर्य पर सूक्त, यज्ञ के साथ ज्यौतिष	१४१
८	अत्रिभौम, इंद्रसूक्त, 'गिरः शुंभंति अत्रयः'	१४१–१४२
९	अत्रि के अश्विनौ सूक्त, दिन का 'संगव' विभाग	१४२

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
१०	पर्जन्य तथा पृथिवी दोनों नई देवताओं के सूक्त	१४३
११	वरुण तथा इंद्राग्नि परसू त	१४३–१४४
१२	श्यावाश्व आत्रेय का 'गीर्वर्धन', शक्वरी छंद	१४४–१४५
१३	'युवशेव' 'कन्यनां', 'तिरो अह्न्य' सोमयाग,	१४५
१४	श्यावाश्व के मरुत्सूक्त, 'कः शुश्राव?' नवनिर्मित शब्द	१४५–१४६
१५	असंबद्ध वाक्यसमूह का सूक्त	१४६–१४७
१६	उस पर से सुसंबद्ध कथानिर्मिति	१४७–१४८
१७	अर्चनानस् के दो सूक्त, हाथी का उल्लेख	१४८
१८	पौरुकुत्स त्रसदस्यु का 'इंद्रावरुणौ' सूक्त, अर्धदेव	१४८–१४९
१९	त्रसदस्यु का एक सूत्र भौम अत्रि का है	१४९
२०	परुच्छेप दैवोदासि के सूक्त, बड़े छंदों का प्रयोग, अष्टि से अतिधृति तक, 'इंद्रावायु' नई देवता,	१४९–१५१
२१	भार्गव कवि के आठ स्वलंकृत पवमान सूक्त	१५१–१५२
२२	आंगिरस व्यश्व के चार सूक्त, इंद्र 'नृतू' तथा 'सव्यसाची' मित्रावरुणौ क्षत्रिय, अश्विनौ विप्र इत्यादि नई बातें	१५२
२३	प्रियमेध ऋषि का इंद्रसूक्त	१५२–१५३
२४	विरूप के तीन व्यंग्योपमायुक्त सूक्त	१५३–१५४
२५	प्रस्कण्व काण्व, 'मरुतो वै देवानां विशः' रात्रि के मापदंड से कालमापन, सूर्य पर प्रसिद्ध तृच	१५४
२६	नीपातिथि का सूक्त, दिवावसु शब्द का सकृत्प्रयोग, हजार वसुरोचिषों का तृच	१५४–१५५
२७	वत्स काण्व के सूक्त, उपजीविकार्थ सूक्तरचना, ऊंट का उल्लेख 'चतुर्युग' प्राणी	१५५–१५६
२८	वश अरव्य कृत प्रचण्ड दान का वर्णन	१५६
२९	इसी सूक्त में अनेक छंदों का प्रयोग	१५६–१५७
३०	पृथि वैन्य का सूक्त, इसके कुछ सूक्त अज्ञात हैं	१५७
३१	तीन काण्वों के सूक्त, वत्स ऋषि का प्रभाव स्पष्ट, अश्विनौ के रथ में 'सूर्या'	१५७–१५८
३२	सत्यश्रवस् आत्रेय के दो सूक्त 'उषस्' पर, एक नीरस	

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
	पर दूसरा सरस 'ऊर्ध्वेव स्नाती'	१५८–१५९
३३	आत्रेयों के अश्विनौ सूक्त	१५९
३४	उन्हीं के आठ मित्रावरुणौ सूक्त	१५९–१६०
३५	विश्वेदेव विषयक सूक्तपंचक, चतुरनीकिनी सेना	१६०–१६१
३६	तृणपाणि शंयु का विश्वेदेव सूक्त, छोटे-छोटे छंदों का प्रयोग, वृहती छंद के भेद	१६१
३७	प्रभूवसु ऋषि के सूक्त, गूढभाषा प्रयोग का आरंभ	१६१–१६२
३८	कक्षीवत् पज्रिय के अश्विनौ सूक्त	१६२–१६३
३९	कुल मिलाकर अश्विनौ पर २८ कथाएं	१६३–१६४
४०	विश्वेदेव सूक्त, ऋषि अलंकार पहनने लगे थे	१६४–१६५
४१	दक्षिणा माहात्म्य, दो अनिबद्ध अश्लील ऋचाएं	१६५
४२	तीन आत्रेयों के सूक्त, 'रुशम' देश के 'ऋणंचय' राजा ने दिया हुआ दान	१६५–१६६
४३	अपाला ऋषि का सूक्त	१६६–१६७
४४	व्यंग्यभरे काव्य का वाच्यार्थ लेने वाले टीकाकारों का वेदाभ्यास जड़त्व। 'विश्ववारा' ऋषिका की संतान नियमन की प्रार्थना	१६७
४५	आत्रेय वसुश्रुत के सूक्त	१६७–१६८
४६	सुतंभर आत्रेय के चार सूक्त, अन्य आत्रेयों के सूक्त	१६८
४७	अनेककर्तृक सूक्त, सूर्यकिरणों से अग्नि की उत्पत्ति	१६९
४८	अत्रियुगकालीन राजकीय परिस्थिति	१६९–७०
४९	अत्रियुग की विशेषताएं	१७०–७१

७. सप्तम प्रकरण—वसिष्ठ युग

१	तत्कालीन राजकीय परिस्थिति	१७२
२	रामचंद्र के पश्चात् कोसल देश की गिरती दशा, वसिष्ठनिर्गमन, सुदास् का राज्याभिषक, इसी समय का वसिष्ठविश्वामित्र संघर्ष	१७२–१७३
३	विश्वामित्र के छः अग्निसूक्त	१७३–१७४

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
४	उसकी अमति, पलस्ति द्वारा वह ससर्परी हुई, उसकी सुमतिविषयक प्रार्थना	१७४–७५
५	ऋत्विजों की संख्या बारह हुई	१७५
६	विश्वामित्र का बौखलाना, वसिष्ठविद्वेषिणी ऋचाएं, वसिष्ठपुत्र शक्ति का वध, वसिष्ठ का स्नुषा के साथ दूर जाना	१७५–७६
७	विजयसूचक विश्वामित्र के बारह सूक्त	१७६–७७
८	वसिष्ठकृत प्रथम सूक्त	१७७–७८
९	इसकी विश्वामित्र सूक्तों के साथ तुलना, चंद्रयुक्त सिक्कों का स्पष्ट उल्लेख	१७८–७९
१०	पराशर प्रथम के नवशिक्षित छह सूक्त	१७९
११	सुदास् का सूक्त	१७९–८०
१२	बीच का इतिहास	१८०
१३	सप्तम मंडल के १८ सूक्त इस वसिष्ठ के नहीं	१८०–८१
१४	वसिष्ठ मंडल का प्रथम तथा अन्तिम सूक्त	१८१–८२
१५	यातुधान कहलाये जाने का दुख	१८२–८३
१६	असत्य भाषण की वसिष्ठ की घृणा	१८३
१७	वसिष्ठ का प्राचीन सूक्तों का अभ्यास	१८३–८४
१८	'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः' का मूलसूक्त	१८४–८५
१९	वसिष्ठ के मरुत्सूक्त, गृह्यकर्मों का आरंभ, मृत्युंजय मंत्र	१८५–८६
२०	वसिष्ठ का रुद्रसूक्त	१८६
२१	उसीका 'आपोदेवी' सूक्त	१८६–८७
२२	वसिष्ठ का पर्जन्य तथा मंडूकसूक्त	१८७–८८
२३	त्रिशब्दयुक्त पर्जन्यसूक्त, पूर्व सूरियों से परिचय	१८८–८९
२४	कौशिक विश्वामित्र के (३–५३) सूक्त के चार विभाग	१८९–९०
२५	विश्वामित्र के वैश्वानर सूक्त, प्रयत्नपूर्वक निर्माण, वसिष्ठ के वैश्वानर सूक्त	१९०–९१
२६	नोधस् का वैश्वानर सूक्त	१९१

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
२७	नोधस् शब्द को सायण ने ठीक न समझा	१९१–९२
२८	नोधस् ऋषि के अन्य अग्निसूक्त	१९२–९३
२९	वसिष्ठ के द्विपदा, त्रिपदा तथा चतुष्पदा ऋचाओं के अग्निसूक्त, ब्रह्मानामक ऋत्विज का उल्लेख	१९३–९४
३०	वसिष्ठनिर्मित दधिक्रा देवता, दधिक्रा का अर्थ	१९४–९५
३१	इसीका दूसरा नाम दधिक्रावा 'भग' सूक्त	१९५
३२	विश्वामित्र के दो अग्निसूक्त, उष्णिक् छंद	१९५-९६
३३	वसिष्ठ के दो इंद्राग्नी पर सूक्त	१९६
३४	दाशराज्ञ युद्ध में विजय मिलने के पूर्वका विश्वामित्र का एक प्रार्थनासूक्त तथा विजय मिलने पर आनंदभरे तीन इंद्रसूक्त	१९६–९७
३५	विश्वामित्र के चार कृत्रिम इन्द्रसूक्त	१९७–९८
३६	भिन्न देवताओं पर के विश्वामित्र के चार सूक्त	१९८–९९
३७	वसिष्ठ का उषः सूक्त	१९९–२००
३८	अश्विनौ पर आठ सूक्त	२००–२०१
३९	चार विश्वेदेव सूक्त	२०१
४०	वसिष्ठ के इंद्रावरुण सूक्तों की रचना कब हुई	२०१–२०२
४१	पराजय तथा विजय दोनों युद्धों का वर्णन करने वाला सूक्त	२०२–२०३
४२	विजय के बाद के इंद्रावरुणों के तीन सूक्त	२०३–२०४
४३	इंद्रवायुविषयक सूक्त	२०४
४४	इंद्र के साथ बृहस्पति की स्तुति	२०४–२०५
४५	विष्णु तथा इंद्राविष्णू के सूक्त	२०५–२०६
४६	मित्रावरुणौ के तीन सूक्त, साथ ही सूर्य तथा अर्यमा की स्तुति	२०६–२०७
४७	सवितृ तथा आदित्यों पर सूक्त	२०७
४८	द्यावापृथिवी सूक्त, पूर्वसूरियों का सूक्तसंग्रह	२०७–२०८
४९	'वास्तोष्पति' की निर्मिति तथा उसपर सूक्त	२०८–२०९
५०	संग्रहकार की भूल, सारमेय सूक्त को प्रस्वापिनी उपनिषद् बनाकर रची हुई कल्पित कथा	२०९–२११

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
५१	वसिष्ठ के शेष अग्निसूक्त	२११
५२	शेष इंद्रसूक्त 'ते' पद के स्वरभेद से दो अर्थ	२१२
५३	वसिष्ठ का भावभीना वरुणसूक्त	२१३
५४	इस सूक्त का रसग्रहण	२१४–१५

८. अष्टम प्रकरण-वामदेव युग

१	वसिष्ठ के पश्चात् वामदेव ही श्रेष्ठ	२१६
२	इस युग के चार वैश्वामित्र ऋषियों के छह सूक्त	२१६–१७
३	वामदेव का समय निश्चित है	२१७–१८
४	वामदेव ने अग्नि को दिवःसूनुः कहा, इसी पर से द्यौः पिता, द्यौष्पिता जूपिटर पदपंक्ति नया छंद	२१८–१९
५	वामदेव का राक्षोघ्न सूक्त, हाथी पर सवारी	२१९–२०
६	ऋक् (४–५–३) सामनिर्मिति का प्रमाण	२२०–२१
७	साम स्तोत्र नहीं, अपितु विशिष्ट रीति से गाई ऋचा	२२१
८	'सप्तधातु मन्म'	२२१–२२
९	वामदेव के सोलह इंद्रसूक्त	२२२–२३
१०	इंद्र के आस पास जमा की हुई कथाएं	२२३–२४
११	कुछ विशेष बातें	२२४–२५
१२	वामदेव की प्रश्न पूछकर उत्कण्ठा बढाने की शैली, इंद्रशत्रु उषस्, अंधे लंगडे के सहकार्य की कथा	२२५–२६
१३	कारुक पुरुष ऋभुओं को देवताओं में स्थान दिलाया	२२६
१४	ऋभुओं के कर्म कुशल कार्य, टीकाकारों ने इन्हें असंभव बना दिया	२२६–२७
१५	स्वयं वामदेव का मत–'न ऋते श्रांतस्य सख्याय देवाः	२२७–२८
१६	वामदेव के 'दधिक्रा' सूक्त	२२८
१७	उसीके उषःसूक्त, यज्ञकेतु स्वयं ही	२२९
१८	वामदेव का सवितृ सूक्त, अंतर्मुख दृष्टि	२२९–३०
१९	वामदेव के इंद्र वायु इत्यादि द्वन्द्व तथा अकेले वायु	

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
	पर सूक्त	२३०–३१
२०	'द्यावापृथिवी सुमेके' सूक्त, स्वयं धियं धा	२३१
२१	कृषिसूक्त 'क्षेत्रस्य पति' नई देवता	२३२
२२	साम से यज्ञ का जटिल बनना, ऋत्विजों में वृद्धि, अदृष्टफलकल्पना	२३२–३३
२३	वामदेवयुग का राजकीय इतिहास	२३३–३४
२४	वामदेवपुत्र बृहदुक्थ का मृतपुत्र पर सूक्त	२३४–३५
२५	मृतविषयक अन्य सूक्त	२३५–३६
२६	मूर्धन्वत् ऋषि का सूक्त	२३६–३७
२७	उत्कील कात्य तथा गाथी कौशिक के सूक्त	२३७
२८	कवष ऐलूष के सूक्तों में से प्रथम	३३७–३८
२९	उसके अन्य तीन सूक्त, सप्तधातु 'वाण' वाद्य, अनुशासन की महिमा	२३८–३९
३०	कवष ऐलूष का अक्षसूक्त	२३९–४०
३१	अगस्त्य नाम पर लिखे २७ सूक्तों में १९ अगस्त्य मान्य के, शेष आठ मांदार्य मान्य अगस्त्य के	२४०–४१
३२	सात इंद्र सूक्त सामगान का स्पष्ट उल्लेख, 'जीरदानु बनने की प्रार्थना	२४१–४२
३३	पांच अश्विनौ सूक्त, सामान्य व्यर्थ शब्दों की भरमार	२४२
३४	द्यावापृथिवी तथा विश्वेदेव सूक्त 'अहिर्बुध्निय' देवता अगस्त्यनिर्मित	२४२-४३
३५	अग्निविषयक और बृहस्पतिविषयक सूक्त	२४३–४४
३६	अगस्त्य का अन्नसूक्त	२४४–४५
३७	वामदेवयुग की विशेषताएं	२४५–४६
३८	द्वितीय दीर्घतमस् के आठ सूक्त	२४६
३९	कृत्रिमता से भरे हुए	२४६–४७
४०	इसीके मित्रावरुणौ पर तथा अश्विनौ पर सूक्त	२४७–४८
४१	पञ्चम भारद्वाज का प्रथम सूक्त	२४८

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
४२	उसीका दूसरा सूक्त, वैश्वानर का दूसरा अर्थ आत्मा को सुझाने वाला	२४८–४९
४३	द्वितीय शंयु के दो सूक्त तथा ऋजिष्वन् के चार सूक्त	२४९–५०

९. नवम प्रकरण--शौनक युग

१	गृत्समद द्वितीय ही शौनक	२५१
२	अग्नि तथा इंद्र पर के सूक्त, विषय पुराना किंतु रचना कौशल	२५१–५३
३	बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति के चार सूक्त, गणपति पूजन में प्रयुक्त मंत्र इसी का	२५३–५४
४	सवितृ विषयक सूक्त जिसमें सूर्यास्त के बाद का ही वर्णन, उपमा दीपक युक्त अश्विनौ सूक्त, नया द्वंद्व सोमापूषणौ	२५४–५५
५	'श्रद्धामना' होने की आवश्यकता	२५५–५६
६	काल्पनिक अतिशयोक्ति से भरे हुए द्वितीय वामदेव के तीन इंद्र सूक्त तथा वैसा ही आंभृणी वाक् नाम की ऋषिका का बनाया हुआ सूक्त	२५६
७	द्वितीय वामदेव का विश्वेदेव सूक्त, तथा 'चत्वारि श्रृंगा' वाला अनेकार्थ श्लिष्ट सूक्त, पुरुमीढ तथा अजमीढ द्वितीय के सूक्त	२५६–५७
८	कूर्म गार्त्समद के तेजस्वी तीन सूक्त, देवता क्रमशः आदित्य, वरुण तथा विश्वेदेव	२५७–५८
९	प्रयाज देवताओं का प्रथम 'आप्री' सूक्त	२५८–५९
१०	द्वितीय मेधातिथि का 'आप्री' सूक्त तथा ऋतुयाग सूक्त, इसीका ऋभुसूक्त और इंद्र के तीन सूक्त, स्त्रिया अशास्यं मनः	२५९–६०
११	प्रगाथ काण्व के ऐतिहासिक तथा भौगोलिक उल्लेखों से भरे तीन इंद्र सूक्त, इरिंबिठि काण्व के नये पर निरर्थक शब्दों से भरे तीन इंद्रसूक्त, और त्रिशोक काण्व का इंद्र पर सूक्त	२६०–२६१

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
१२	इस युग की विशेषताएं	२६१–६२
१३	सव्य आंगिरस का इंद्र पर सूक्तसप्तक, प्रचण्ड संख्या युक्त	२६२–६३
१४	द्वितीय कुत्स आंगिरस्, आधुनिक होने के प्रमाण	२६३–६४
१५	द्वितीय नोधस् गौतम के पांच सूक्त	२६४
१६	मांदार्य मान्य अगस्त्य के तीन काल्पनिक संवाद सूक्त	२६४–६५
१७	उसीके तीन सुंदर मरुत्सूक्त, आप्री तथा विषघ्न सूक्त	२६५–६६
१८	द्वितीय नोधस् के पुत्र एक द्यु प्रभृति सात ऋषियों के चौदह इंद्रसूक्त	२६६
१९	अन्य देवों के कुछ अच्छे सूक्त, सामसंहिता बनी	२६६–६७
२०	सामसंहिता देखकर यजुःसंहिता भी बनी, नक्षत्रगणना ज्यौतिष ज्ञान की प्रगति	२६७–६८
२१	वासिष्ठ इंद्र और इस इंद्र के पुत्र विमद के सूक्त	२६८–६९
२२	विमद ऐन्द्र का भाई वसुक्र ऐंद्र के बड़े मजे के सूक्त	२६९–७०
२३	वसुक्र पुत्र वसुकर्ण के विश्वेदेव विषयक दो सूक्त, इन सूक्तों का विस्तार, अज एकपाद की निर्मिति	२७०
२४	विश्वेदेव विषयक 'विश्वा सूक्तानि'	२७०–७१
२५	इनकी विशेषताएं	२७१–७२
२६	द्वितीय गृत्समद शौनक का आप्रीसूक्त, ऋतुदेवता अपां नपात् और शकुनिविषयक सूक्त, ब्राह्मणाच्छंसी ऋत्विज् का प्रथम उल्लेख	२७२–७३
२७	ब्रह्मदत्तकालीन ऋग्वेदसंहिता का तीसरा संस्करण	२७३–७४
२८	संहिताकरण की अड़चनें	२७४–७५
२९	दशमंडली संहिता कैसे बनी ?	२७५
३०	अंतिम संस्करण वेदव्यास के निदर्शन में	२७५–७६
३१	क्षुद्रसूक्त—इंद्र के दस 'मासां विधानः'	२७६–७७
३२	इसी प्रकार के विश्वेदेव विषयक छह और अग्नि के छह सूक्त	२७७

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
३३	अन्य देवताओं के क्षुद्रसूक्त तथा वातरशना सूक्त, सात मुनियों का केशिन् देवों पर एक सूक्त	२७७–७८
३४	मित्रावरुणौ, बृहस्पति, अश्विनौ, उषस्, तार्क्ष्य तथा यम पर क्षुद्र सूक्त	२७८–७९
३५	सोम कूटने के पत्थरों पर दो अरण्यानी, ऋभु तथा श्रद्धा पर एक एक ऐसे पांच सूक्त	२७९
३६	बुरी बातों का नाश करने वाले सूक्त	२७९–८०
३७	राजधर्म, गोरक्षण, यजमान को आशीर्वाद तथा गर्भाधान पर सूक्त	२८१
३८	महासूक्त––दक्षिणासूक्त दक्षिणा ऋषिका का	२८१–८२
३९	भिक्षु ऋषिका––धनान्न दानसूक्त	२८२–८३
४०	ज्ञानसूक्त	२८३–८४
४१	इसमें दिया हुआ साहित्य सिद्धान्त	२८४–८५
४२	इस संहिता के लिये प्राप्त तथा ऋषिमंडलों में समाविष्ट नौ इंद्रसूक्त	२८५
४३	दशम मंडल में समाविष्ट इंद्र के बीस सूक्त	२८६–८७
४४	विश्वेदेवों पर बीससूक्त	२८७–२८९
४५	दशम मंडलस्थ दस अग्निसूक्त	२८९–९०
४६	'अगहीयु' का दामालंकार युक्त राक्षोघ्न सूक्त तथा तीन आप्री सूक्त	२९०
४७	दसवें मंडल के चार अश्विनौ सूक्त, अंतिम दुर्व्युत्पाद	२९०–९९
४८	वैसे ही दो मरुत्सूक्त तथा सूर्य, बृहस्पति, रात्रि, नदियां तथा ओषधिविषयक सूक्त, सृष्ट्युत्पत्ति विषयक विचारों का आरंभ	२९१–९२
४९	इस विचार की बाह्य तथा आंतर दृष्टि	२९२–९३
५०	मनआवर्तन तथा ओजस्वी मन्युसूक्त	२९३–९४
५१	'कस्मै देवाय हविषा विधेम	२९४–९५
५२	पुरुषसूक्तविचार	२९५–९६
५३	वैदिक सूक्तों की रचना ठहर सी गयी, फिर भी बने हुए कुछ खिलसूक्त	२९६–९७
५४	अज्ञात ऋषि कृत तीन संवाद सूक्त––इंद्राणी––वृषाकपि,	

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
	पुरुरवोर्वशी तथा पणि-सरमा संवाद	२९७–९८
५५	चैद्यकाल के सूक्त	२९८–९९
५६	प्रतीपकालीन वसिष्ठ का एक आप्रीसूक्त तथा तीन वरुण सूक्त	२९९–३००
५७	इसी वसिष्ठ के अन्य चार सूक्त	३००
५८	इसी समय के विश्वामित्र के छह सूक्त	३००–३०१
५९	सौचीक अग्नि के तीन सूक्त	३०१–३०२
६०	काद्रवेय अर्बुद का श्लिष्ट ग्रावसूक्त	३०२
६१	देवापि तथा द्वितीय पराशर शाक्त्य के सूक्त	३०२–३०३
६२	तृतीय दीर्घतमस के सूक्त—१ आप्री, १ अश्व पर, और एक गूढ	३०३–३०४
६३	इसी समय के आत्रेयों के सूक्त	३०४–३०५
६४	तीन गूढ और एक यज्ञ पर सूक्त	३०५–३०६
६५	सृष्टिकर्ता के विषय में कल्पनाएं	३०६
६६	पुराने देवों पर सूक्त	३०६–३०७
६७	पुराने इतिहास पर आधारित	३०७–३०९
६८	सूर्या सावित्री ने विवाह को संस्कार बनाया	३०९
६९	विवाहसूक्त पर विचार	३०९–३१०
७०	मधुच्छंदस् के सूक्त प्रथम क्यों ?	३१०–३११
७१	मधुच्छंदस् के दो पुत्रों में से 'जेता' का सूक्त, शाकल के पदपाठ के पूर्व का किंतु 'अघमर्षण' का सूक्त बाद क	३११
७२	मधुच्छंदस् के सूक्तों की विशेषताएं	३१२
७३	वालखिल्य सूक्त	३१२–१३
७४	अघमर्षण सूक्त से समाप्ति	३१३

१० दशम प्रकरण—पवमान सूक्त

१	सोम का मंडल स्वतंत्र	३१४
२	सोमवल्ली का वर्णन, उत्पत्तिस्थान अज्ञात	३१४–१५
३	मूजवान का प्राचीन पंडितों ने किया हुआ अर्थ	३१५

छेदकांक	विषय	पृष्ठांक
४	मूज शब्द संस्कृत नहीं	३१५–१६
५	हिंदु शब्द की व्युत्पत्ति	३१६
६	पूर्ववर्णित बाईस सोमसूक्तों का सिंहावलोकन	३१६–१७
७	इनके रचयिता, अन्य सूक्त सारे शौनक युग के	३१७–१८
८	द्वितीय कश्यप के पांच सूक्त	३१८
९	अवत्सार कश्यप के आठ तथा निध्रुवि का एक सूक्त	३१८–१९
१०	असित या देवल के उन्नीस सूक्त	३१९–२०
११	आंगिरस ऋषियों के छोटे ग्यारह सूक्त	३२०
१२	उसी कुल के ऋषियों के बड़े छह सूक्त	३२०–३२१
१३	भारद्वाज कुल के चार ऋषियों के छह सूक्त	३२२
१४	दो काण्व और दो वैश्वामित्रों के मिलाकर छह सूक्त	३२२–२३
१५	एक-एक ऋषि के बनाये हुए नौ सूक्त	३२३–२४
१६	जमदग्नि द्वितीय के दो सूक्त	३२४–२५
१७	द्विकर्तृक पांच सूक्त	३२५–२६
१८	कम से कम तीन ऋषियों का बनाया एक सूक्त	३२६–२७
१९	सौ वैखानसों का एक सूक्त	३२७
२०	एक ही कुल के पितामह, पिता तथा पुत्र का बनाया सूक्त	३२७–२८
२१	ऋषिपंचक का एक सोमसूक्त	३२८–२९
२२	ऋषिगणों द्वारा रचित सोमसूक्त	३२९
२३	इस सूक्त की विशेष बातें	३२९–३०
२४	ऋग्वेद का सबसे बड़ा सूक्त, बनाने वाले भी बहुत	३३०–३१
२५	अनेककर्तृक एक सूक्त	३३१–३२
२६	सात ऋषियों द्वारा रचित सूक्त	३३२
२७	अत्यष्टि छंद में रचित सोमसूक्त	३३२–३३
२८	सोम से संबंध न रखने वाला मनोविनोदन सूक्त	३३३–३४
२९	द्वितीय मेधातिथि काण्व का सोमसूक्त	३३४
३०	मधुच्छंदस् का सोमसूक्त	३३४–३५
३१	सोमसूक्तों का 'पवमान' नाम से अभिषेकार्थ उपयोग	३३५–३६
३२	फलश्रुतिसूक्त	३३६–३७
३३	ग्रंथ लेखन हेतु	३३७–३८

प्रथम प्रकरण

उपोद्घात

सर्वेषामेव विदुषां मम चित्ते च वर्तते ।
वन्दे तं वेदपुरुषं 'धियो यो नः प्रचोदयात्' ॥

१. ऋग्वेद नाम से आज जो वाङ्मय ज्ञात है, वह छंदोबद्ध १०२८ सूक्तों का संग्रह है। ये सूक्त भिन्न-भिन्न ऋषियों के बनाये हुए हैं। छोटे से छोटा सूक्त है एक ही ऋचा का और बड़े से बड़ा है ५८ ऋचाओं का। एक सूक्त एक ही ऋषि का बनाया हो ऐसा भी नहीं। कभी-कभी तो ऋषि का नाम भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं। किसी सूक्त के रचयिता अनेक ऋषि हैं तो कभी एक ही सूक्त में अनेक ऋषियों की ऋचाओं का समावेश है। जिन छंदों में ये ऋचाएं रची गई हैं, उनकी भी ऐसी ही स्थिति है। किसी सूक्त में एक ही छंद पाया जाता है, तो किसी सूक्त में एकाधिक छंदों का प्रयोग किया हुआ है। ये वैदिक छंद भी पूर्णतया स्वच्छन्द हैं। सामान्यतया ये चार चरणों के होते हैं, पर कभी-कभी चार से कम तीन, दो, और तो क्या, एक चरण का भी छंद विद्यमान है। पक्षांतर में कुछ छंद चार से भी अधिक चरणों के हैं। सूक्तों में आये हुए विषय भी अनेकविध हैं। प्रायः इष्ट देव की स्तुति तथा इष्ट वर की याचना ही सूक्त में रहती है। पर फिर भी कुछ सूक्तों में इन बातों से भिन्न विषय भी मिलते हैं। एक सूक्त में एक ही देव की स्तुति हो, सो भी नहीं। किन्हीं में एक ही देव का वर्णन आता है तो किन्हीं में अनेकों का एवं किसी भी नियम से बांध न सकें, ऐसे सूक्तों का यह संग्रह है। यह कब, किनके द्वारा, किस हेतु से और किस सिद्धान्त पर बना, यह एक गूढ़ रहस्य ही है।

२. इन सूक्तों का विभाजन प्राचीन प्रणाली के अनुसार दस मंडलों में किया हुआ है। किन्तु यह स्पष्टतया समझ में नहीं आता कि किस तत्त्व के आधार पर यह विभाजन स्थित है। विषय की दृष्टि से देखा जावे तो केवल

नवम मंडल ही एक-विषयक दीखता है । इसमें संगृहीत सूक्त केवल पवमान-सोम-विषयक हैं । पर इसमें भी क्वचित् सोम के साथ अन्य देवों की भी स्तुति पाई जाती है । यह मंडल सोम के नाम से ही संबद्ध है । इसके पूर्व के मंडल देखे जावें तो आठवां मण्डल कण्व का, सातवां वसिष्ठ का, छठा भरद्वाज का, पांचवां अत्रि का, चौथा वामदेव का, तीसरा विश्वामित्र का तथा दूसरा शौनक का कहा जाता है । यह भी "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" इसी न्याय से है । अर्थात् उक्त विशिष्ट नाम के या उस कुल के ऋषियों की ही रचना उस-उस मंडल में मुख्यतः समाविष्ट है। पर यहां भी ऐसा नहीं कह सकते कि अन्य ऋषियों के सूक्त उन मंडलों में नहीं हैं या इन ऋषियों के सूक्त अन्य मंडलों में नहीं हैं । प्रथम और दशम मंडल के संबंध में तो कुछ भी ऐसा तत्त्व दिखाई नहीं देता जो सब सूक्तों में अनुस्यूत हो। इनमें मनमाने ऋषियों के मनमाने सूक्त मनमानी रीति से एकत्रित किये हुए हैं । यह बात भी समझ से परे है कि मंडलों का यह क्रम किसने और किस हेतु से बनाया है।

३. आठवें कण्व मंडल में ४८वें सूक्त के पश्चात् ११ सूक्त ऐसे हैं, जो आगे के तथा पीछे के सूक्तों के सदृश होते हुए भी एक विसदृश नाम से संबद्ध हैं । ये कहे जाते हैं "बालखिल्य सूक्त" । कुछ हस्तलिखित ग्रंथों में इन सूक्तों की गणना आठवें ही मंडल में की है तो अन्य किन्हीं पांडुलिपियों में आठवाँ मंडल इन सूक्तों को छोड़कर लिखा गया है और इनकी गणना पृथक् ही की गई है । "बालखिल्य" नाम का या इस पृथक् गणना का भी कुछ कारण दिखाई नहीं देता । आगे दिये हुए मंडल तथा सूक्तवार विभाजन में इन सूक्तों को आठवें मंडल में ही गिना है । यह विभाजन निम्न प्रकार है :–

मंडल	सूक्त	ऋचाएँ
१	१९१	२००६
२	४३	४२९
३	६२	६१७
४	५८	५८९
५	८७	७२७

मंडल	सूक्त	ऋचाएँ
६	७५	७६५
७	१०४	८४१
८	१०३	१७१६
९	११४	११०८
१०	१९१	१७५४
सब मिलाकर	१०२८	१०५५२

४. परन्तु जिन वेदपाठक ब्राह्मणों के द्वारा इतने सूक्तों तथा इतनी सारी ऋचाओं का संरक्षण मुखपाठ रीति से किया गया और जिन्होंने इन ऋचाओं के पद और क्रम, जटा, घन इत्यादि आठ प्रकार की विकृतियों से इन ऋचाओं में पद का तो क्या पर एक अक्षर का या एक स्वर का भी अन्तर न होने दिया, उन वेदपाठी ब्राह्मणों ने इस ऋग्वेद संग्रह का विभाजन एक दूसरी ही रीति से किया है। वेदपाठियों ने सारा ऋक्संग्रह आठ अष्टकों में विभाजित किया। अष्टक का उपविभाग अध्याय, अध्याय का वर्ग, और वर्ग का ऋचा। प्रति अष्टक में आठ अध्याय होते हैं। अतएव सारे ऋग्वेद के ६४ अध्याय हुए। अध्याय का उपविभाग है वर्ग। सामान्यतया एक वर्ग में ५ ऋचाएं होती हैं। किन्तु वर्ग के कारण से सूक्त की ऋक्संख्या को नहीं बदला। किसी सूक्त में पांच से कम ऋचाएँ हों तो उतनी ही ऋचाओं का एक वर्ग होता है। अर्थात् सूक्त में यदि एक ही ऋचा हो तो वहां एक ही वर्ग होगा। यदि सूक्त में पांच से आठ तक ऋचा हों तो उनका एक ही वर्ग माना जाता है किन्तु यदि सूक्त में नौ ऋचाएँ हों तो पहली पांच ऋचाओं का एक और आगे की चार ऋचाओं का दूसरा ऐसे दो वर्ग माने जाते हैं। यह वर्ग-विभाजन का सामान्य नियम है। पर क्वचित् आठ ऋचाओं के दो वर्ग भी किये हुए हैं। वर्गों की संख्या बढ़ गई हो अथवा छंद के अक्षरों की संख्या बहुत होती हो तो अंतिम आठ ऋचाओं को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है। इस विभाजन में यद्यपि सूक्तों की संख्या वही रही, तथापि मंडल विभक्त हो गये। मंडलसमाप्ति के साथ अध्यायसमाप्ति न हुई। यह

विभाजन निम्न प्रकार से है :—

अष्टक	मंडल		सूक्त	वर्ग	ऋचाएँ
१	१–१	से १२१	१२१	२६५	१३७०
२	१–१२२	से ३–६	११९	२२१	११४७
३	३–७	से ५–८	१२२	२२५	१२०९
४	५–९	से ६–६१	१४०	२५०	१२८९
५	६–६२	से ८–११	१२९	२३८	१२६३
६	८–१२	से ९–४३	१३५	३३१	१७३०
७	९–४४	से १०–४५	११६	२४८	१२६३
८	१०–४६	से १०–१९१	१४६	२४६	१२८१
	सब मिलाकर		१०२८	२०२४	१०५५२

५. पूर्वोक्त आधार पर यह सहज में ही कहा जा सकता है कि ये दोनों प्रकार के विभाजन स्वाभाविक न होकर कृत्रिम हैं। कालानुक्रम से यदि यह विभाजन हो सके तो वह सहज स्वाभाविक होगा और उसके आधार से अभ्यासक सुविधापूर्वक समझ सकेंगे कि इन सूक्तों में छंद, विषय, भाषा इत्यादि दृष्टियों से विकास कैसे-कैसे होता गया। परन्तु क्या ऐसा विभाजन संभाव्य है ? इस प्रश्न पर ५० वर्षों से अधिक मैं यत्नपूर्वक विचार करता रहा। मेरे मन में अनेक कल्पनाएं उठती रहीं। ब्राह्मण कुल में जन्म, पुरानी वैदिक परम्परा के अनुसार किया हुआ वेदाध्ययन, प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों प्रणाली से प्राप्त संस्कृत भाषा का ज्ञान, इन सब कारणों से प्रतिदिन जब मैं वेदपाठ करता, तब मंत्रों का अर्थ ध्यान में आकर मेरी कल्पनाओं को विशिष्ट आकार आता और हर आवृत्ति के समय उसमें घट-बढ़ होकर वह भिन्न-भिन्न रूप में प्रत्यक्ष होता। इन प्रयत्नों को मैं लेखबद्ध कर टिप्पणियाँ बनाता था और इन टिप्पणियों के कागजों का संभार बढ़ता ही जाता था। मेरे साथी मुझे कभी-कभी हँसी में पूछते कि "कागज़ के इन टुकड़ों के ढेर पर कितने दिन की चाय बन सकेगी ?" और हँसी में ही मैं भी जवाब देता कि "मेरा कार्य सफल होने के पूर्व ही यदि मुझे देह-त्याग करना पड़ा तो उस देह को भस्म करने में, इसका उपयोग थोड़ा-बहुत अधिक अच्छे प्रकार से हो सकेगा।"

यह हँसी का उत्तर, यह "परिहास विजल्पित" कहीं "परमार्थेन" न हो, यह भय कभी-कभी मुझे भी लगता। क्योंकि मैंने अपने कंधों पर अभ्यास के अतिरिक्त जो काम उठा लिये थे उनके कारण मुझे बहुत ही कम आशा थी कि इन सारी टिप्पणियों का समुचित रीति से एकाग्र होकर अभ्यास करने के लिये जितने समय की आवश्यकता थी उतना मैं कभी निकाल सकूँ। परन्तु मेरे सद्भाग्य से सन् १९६२ की गरमी में मुझे वैसा अवकाश मिल गया। कुछ विशिष्ट परिस्थिति के कारण मेरे मन पर वज्राघात-सा हुआ और मेरे स्वभाव के अनुसार कंधे पर के सारे काम दूर फेंककर मैं टिप्पणियों के बस्ते साथ लेकर पूना पहुँचा और भांडारकर संशोधन मंदिर के निजामी अतिथिगृह में मैंने आश्रय लिया। सात आठ सप्ताह के इस एकांतवास में मैं ग्रंथों की सहायता से प्रतिदिन बारह घंटे से भी अधिक अभ्यास करता रहा। जब ग्रंथों को दूर करता तो मन में भी अहोरात्र वही चिंतन चलता। अंत में इन सारे सूक्तों का कालानुक्रम-युक्त दर्शन मुझे हुआ और मुझे समाधान मिला। यही संशोधन मैंने अपनी मातृभाषा मराठी में लिखा और उसी का सार निकालकर अंग्रेजी में सन् १९६४ की जनवरी में एक छोटा-सा लेख छपवा कर २६वीं अंतरराष्ट्रीय प्राच्य परिषद् में पढ़ा और वैदिक विभाग के प्रतिनिधियों में वितरित भी किया। आज उसी संशोधन को हिंदी भाषा में लिख विद्वज्जनों के सम्मुख रखने का विचार है। और इसीलिये यह उपोद्घात लिख रहा हूँ।

६. उपोद्घात के आरंभ में ही मैं अपनी वेद-विषयक धारणा स्पष्ट कर देना उचित समझता हूं। मैं वेद को न अपौरुषेय मानता हूं, न ईश्वर निःश्वास। ऐसा मानने वालों के मन में काल-निर्धारण की कल्पना ही नहीं आ सकती। उनके विचार में वेद अनादि हैं और वैसे ही अनन्त। ईश्वर निःश्वास रूप वेद के विषय में काल, क्रम इत्यादि निश्चित करने का क्षुद्र मानव का प्रयत्न उनकी दृष्टि से व्यर्थ ही है। यदि ईश्वर कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ है, भूत का ही नहीं पर भविष्य का भी पूर्ण ज्ञान उसे है, तो फिर उसके मुख में से निर्गत शब्दों के बारे में मानव जिसे कालानुक्रम कहते हैं, उसकी कल्पना करना मूर्खता के सिवाय और कुछ नहीं। दिक्काल से अतीत को स्थल काल में बाँधने का प्रयत्न करना उनके मत से पागलपन ही है। ऐसी पगलाई करना जो नहीं चाहते उन्हें अध्यात्म रामायण में रावणवध, करने के बाद श्री रामचंद्रजी की जो ब्रह्माजी ने स्तुति की है, उसमें "वृन्दारण्ये वंदित वृंदारक वृंदम्" पढ़ने पर भी आश्चर्य नहीं लगता। श्री शंकराचार्य अपने अच्युताष्टक में जब "लक्ष्मणेनार्चितो वानरैः सेवितोऽगस्त्यसंपूजितो राघवः पातु माम्" कहते हैं, तब भी राम के और अगस्त्य के काल

में बीस पीढ़ियों का अंतर है। इस बात की आचार्य जी को कल्पना भी नहीं आती। नित्य पूजन में भी आरती उतारने के पश्चात् जब हम "श्रीधरं माधवं गोपिकावल्लभं जानकीनायकं रामचंद्रं भजे" कहते हैं, तब श्री रामचंद्र और श्री कृष्णचंद्र के समय में कितना अंतर है, यह थोड़े ही हम सोचते हैं। भक्ति रस में सभी दृष्टि से इसमें दोष न हो, पर ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर यह बात खटके बिना नहीं रहती। मैं वेद को ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे प्राचीन काव्य ग्रंथ समझता हूँ और इसीलिए ऋग्वेद सूक्तों का कालानुक्रम निर्धारित करने में प्रवृत्त हूँ।

७. वेद पौरुषेय हैं, इस बात के पर्याप्त प्रमाण वेद में ही प्राप्त होते हैं। जिन वेदपाठकों ने वेदों को मुखपाठ कर उनका रक्षण किया, उन्होंने ही ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के विषय में कुछ बातें, उन्हें जो ज्ञात थीं, लिख रखी हैं। इनमें सूक्त रचयिता का नाम, ऋचाओं के छंद तथा उनका वर्ण्यविषय प्रधानतया दिया होता है। इस पर से ऐसा कहना अनुचित न होगा कि वेदपाठक कमसेकम वेद को ईश्वर-प्रणीत नहीं मानते। वे वेद को ऋषि-प्रणीत ही मानते हैं। इसके अतिरिक्त सूक्तों में भी रचयिता अपना स्वयं का नाम देकर "मेरी रची इस नई स्तुति का सेवन करो" ऐसी इष्ट देवता से कई जगह स्तुति करता है। इस पद से भी यही प्रमाणित होता है कि ये सारे सूक्त एक ही समय के बने हुए नहीं हैं। परंतु केवल इन ऋषियों के नामों पर से कालानुक्रम निश्चित नहीं होता। कारण यह है कि ये नाम जैसे व्यक्तिवाचक हैं वैसे ही कुलवाचक भी हैं। एक ही कुल में एक ही नाम से अनेक व्यक्ति होते हैं। इस कारण उन भिन्न काल में वर्तमान व्यक्तियों में से विशिष्ट सूक्त का रचयिता कौन व्यक्ति है इसका निश्चय नहीं होने पाता। यदि इसी रीति से कालानुक्रम निर्धारित किया जाय तो आज का बाल गंगाधर तिलक नाम का कोई तिलक कुलोत्पन्न नवयुवक "केसरी" का संपादक था ऐसा मानने का हास्यास्पद प्रसंग उपस्थित होने की संभावना हो सकती है।

८. उदाहरण स्वरूप विश्वामित्र का ही नाम लिया जा सकता है। ऋग्वेद में "गाथिनो विश्वामित्रः" ऐसा अनेक स्थलों पर पाया जाता है। "गाथिन" शब्द का अर्थ गाथिन् का पुत्र या गाथिन् के कुल में उत्पन्न ऐसा होता है। किंतु इस गाथिन् के कुल में अनेक विश्वामित्र हुए। सत्यव्रत त्रिशंकु काल का एक विश्वामित्र जिसे गायत्री मंत्र का स्फुरण हुआ। मेनका पर आसक्त होकर तपो-भ्रष्ट बना हुआ और शकुंतला का जनक दूसरा विश्वामित्र। रामचंद्र को अस्त्र-विद्या सिखलाने वाला तीसरा। सुदास् राजा को वसिष्ठ के विरोध में सहायता देने वाला चौथा। ऐसे अनेक विश्वामित्र हो गये। ये सारे के सारे एक ही समय

न थे। पर फिर भी इनमें से हर एक गाथिन् कहा जा सकता है। अतएव केवल नाम पर से किसी का काल निश्चित करना ऊपर कहे अनुसार हास्यास्पद हो सकता है। वसिष्ठ का नाम तो और ही गड़बड़ी मचा देता है। क्योंकि इक्ष्वाकु मानव से लेकर प्रतीप कौरव तक के ९५ पीढ़ियों के कालखंड में वसिष्ठ नामक ऋषि का उल्लेख कहीं न कहीं आता ही है। ये सारे के सारे वसिष्ठ एक ही होना असंभव ही है। सूक्तकार वसिष्ठ का नाम "मैत्रावरुणिः वसिष्ठः" ऐसा पाया जाता है। अर्थात् सूक्तकार वसिष्ठ मित्रावरुण का पुत्र या तत्कुलोत्पन्न है। परंतु इसके जन्म की जो दंतकथा इसके वंशजों ने सूक्तों में ग्रथित की है वह ऐतिहासिक मानी नहीं जा सकती। यह वसिष्ठ प्रथम वसिष्ठ ही नहीं हो सकता। क्योंकि इसका और अगस्त्य का जन्म साथ-साथ होना पूर्वोक्त दंतकथा में उल्लिखित है। किंतु वसिष्ठ का अस्तित्व तो इक्ष्वाकु के समय भी प्रमाणित है। अतएव अगस्त्य का तथा सगरपिता बाहुराजा का समकालीन यह मैत्रावरुणि वसिष्ठ आद्यवसिष्ठ से भिन्न ही मानना पड़ता है। इस पर से स्पष्ट हो सकता है कि केवल नाम कालानुक्रम निश्चित करने का साधन नहीं हो सकता।

९. "मैत्रावरुणि" शब्द पर से वसिष्ठ ऋषि "मित्रावरुण्य" देवों की संतान माने जाते हैं। पर इस प्रकार यह अकेला ही नाम नहीं है। अग्नि, इंद्र, सोम, यम, प्रजापति, वात इत्यादि देवतावाचक नाम से संबद्ध कई सूक्तकारों के नाम हैं। अग्न्यादि देवों का इन ऋषियों का प्रत्यक्ष जनक होना असंभव ही है। इतना माना जा सकता है कि उक्त देवताओं की कृपा से इनका जन्म हुआ होगा। परंतु इससे भी अधिक सुसंगत कल्पना यही होगी कि उस काल में भी देवताओं के नाम मनुष्यों के रखे जा सकते हों और इन देवतावाचक मनुष्यों की संतान ये सूक्तकार ऋषि हों। आज भी ऐसा ही होता है। पर आज का राम अपने को दशरथ-पुत्र नहीं समझता, न आज का रामकुमार अपने को सीतापति रामचन्द्र का पुत्र मानता है। सूक्तकारों के नाम भी जब देवतावाचक होते हैं तब भी यही कल्पना करना समुचित जान पड़ता है कि ये सूक्त उन देवताओं ने नहीं रचे हैं अपितु उन देवों के नामों से प्रसिद्ध ऋषियों के बनाये हुए हैं। इस प्रकार से ही सूक्तकारों को "यस्य वाक्यं स ऋषिः" के नाते हम ऋषि मानते हैं और यह ठीक भी है। किन्तु जब यह लक्षण "अक्षरशः" प्रयुक्त किया जाता है, तो वह हास्यास्पद बन जाता है। इसके उदाहरण के लिये संवादसूक्त ले सकते हैं। पुरूरवा और ऊर्वशी संवाद, स्पष्टतः इन दो व्यक्तियों का संवाद दूसरे किसी का लिखा हुआ है। पर रचयिता का नाम अज्ञात रहने के कारण ऋषियों की अनुक्रमणिका में पुरूरवा और ऊर्वशी

ये ही नाम सूक्तकारों के नाते दिये गये हैं और इन व्यक्तियों ने इन ऋचाओं की रचना की, यह माना जाता है। इस कारण से इस संवाद सूक्त का समय भी पुरूरवा के समय के समान प्राचीन माना गया। पर ऐसा मानना समुचित नहीं। जब दो व्यक्ति आपस में बातचीत करते हैं, तो वे पद्य रूप में भाषण तो कभी करते नहीं। व्यक्तियों के विषय में यह मान भी लिया जावे तथापि जब विश्वामित्र को नदियाँ जवाब देती हैं, तब तो यह मानना ही पड़ेगा कि नदियों का जवाब किसी ऋषि ने रचा होगा। परंतु "यस्य वाक्यं स ऋषिः" इस न्याय से नदियों को ही ऋषि माना जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

१०. ऋषियों की दी हुई यह अनुक्रमणी यद्यपि वैदिक परंपरा में अक्षुण्ण मानी गई है, तथापि इसका अध्ययन करने पर जान पड़ता है कि यह सूक्त-रचना के साथ-साथ ही नहीं बनी है। कुछ सूक्तों के रचयिता एक से अधिक ऋषि माने गये हैं। सूक्तांतर्गत ऋचाओं की रचना यदि भिन्न-भिन्न ऋषियों की हो, तो सबको ही सूक्तकार मानने में कोई बाधा नहीं दिखती। पर फिर भी सूक्त में विशिष्ट संख्या की ऋचाएँ होनी ही चाहिएं ऐसा नियम न होने से उक्त सूक्त के अधिक सूक्त क्यों न किये गये, यह समझ में नहीं आता। पूरा का पूरा सूक्त कहीं-कहीं इस ऋषि का या दूसरे ऋषि का विकल्प से माना जाता है, तब तो यह प्रश्न अधिक जटिल बनता हैं। ऐसे समय यही कल्पना उचित जान पड़ती है कि सूक्त-रचना के बहुत काल पश्चात् अनुक्रमणिका बनी और सूक्तकार का नाम निश्चित रूप से ज्ञात न होने के कारण जनश्रुति में जो नाम ज्ञात थे, वे जब एक न पाये गये तो विकल्प से दोनों नाम सूक्तकार के नाम पर चढ़ाये गये। इसका उत्तम उदाहरण "आपो हि ष्ठा" यह एक सूक्त है। अनुक्रमणिका में इसका ऋषि दिया गया है "त्रिशिराः त्वाष्ट्रः सिंधुद्वीप आंबरीषो वा"। इस पर से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि यह सूक्त इन दोनों में से किसी एक ने बनाया था। पर निश्चित ज्ञान के अभाव में दोनों में से किसी एक को सूक्तकार माना जा सकता है। कहीं-कहीं तो वैकल्पिक सूक्तकार के पिता का नाम भी विकल्प से दिया हुआ है और वह भी किसी एकाध सूक्त के लिए नहीं तो सूक्त-समूह के लिए। यथा दशम मंडल का २०वां सूक्त "भद्रं नो अपि वातय मनः" यह और इसके पश्चात् आने वाले ६ सूक्त लीजिये। इस सूक्त सप्तक का सूक्तकार "विमद" यह ऐंद्र है या प्राजापत्य, यह निश्चित न होने से उसे ऐंद्र या प्राजापत्य कहा गया है। साथ ही इन सातों सूक्तों का

रचयिता वसुक्र पुत्र वसुकृत् भी विकल्प से दिया हुआ है। कहीं-कहीं यह विकल्प एक पुरुष और एक स्त्री में भी है। १०-१०७ तथा ५०-१०९ इन सूक्तों की रचना करने वालों में "दिव्य आंगिरसः, दक्षिणा वा प्राजापत्या" तथा "जुहूर्ब्रह्मजाया ऊर्ध्वनामा वा ब्राह्मः" ऐसा संगृहीत किया हुआ है। यहाँ दिव्य और ऊर्ध्वनामा नामक ऋषि सूक्तकार हैं, या दक्षिणा और जुहू नाम की ऋषिकाएँ हैं, यह स्पष्टतया ज्ञात नहीं होता। परन्तु ऐसे विकल्प रहते हुए भी यह अनुक्रमणिका किसी सर्वमान्य व्यक्ति की बनाई हुई जान पड़ती है। आगे के लेखकों ने इसकी मुख्य बातों में—कर्त्ता, छंद और विषय में—एक शब्द भी बदला नहीं है।

११. यह सूक्तानुक्रमणी इस प्रकार यद्यपि एक ही बार और एक ही अभ्यासक के द्वारा बनाई गई, तथापि जिन सूक्तों की यह अनुक्रमणिका है, वे सारे १०२८ सूक्त एक ही बार एकत्रित किये हुए जान नहीं पड़ते। अनुमान किया जा सकता है कि सबसे पहले यह सूक्त संग्रह "श्रुत" नामक अयोध्याधीश के राज्यकाल में हुआ। वैसा होना उस समय स्वाभाविक था। विश्वामित्र ने सबसे पहले गायत्री मंत्र की रचना कर छंदोबद्ध साहित्य निर्माण करना आरंभ किया। ब्राह्मणों ने अर्थात् तत्कालीन विद्वानों ने इस मंत्र की दीक्षा लेकर कविता करने की "शिक्षा" लेना आरंभ कर दिया था। तथा इस प्रकार की रचना करने वाला ही विद्वान् है, यह कल्पना भी दृढ़ हो चुकी थी। यज्ञ में जहां केवल छोटा-सा गद्य मंत्र कहकर हवन किया जाता था वहां छंदोबद्ध मंत्र आहुति देने के पूर्व कहे जाने लगे थे। और जिस देवता को हवन करना होता उसकी स्तुति के मंत्र कहने के हेतु "होतृ" नाम के एक नये ऋत्विज की योजना हो चुकी थी। यजन क्रिया में जहां एक ही "अध्वर्यु" से काम चलता था वहां सूक्त पाठ करने के लिये एक होता की भी आवश्यकता पड़ने लगी और ऐसे होतृ सूक्त नये-नये निर्माण होने लगे। दुष्यंत-पुत्र भरत के समय तक समाज में दो ही काम बड़े महत्व के माने जाते थे—ज्ञान-संपादन या राज्य-संपादन। विद्वान् लोग पहला काम करते और बलशाली लोग दूसरा। विद्वान् योद्धा बनना पसंद न करते और शक्तिशाली विद्या-संपादन के काम में नहीं पड़ते थे। इस प्रकार बुद्धि और बल परस्पर दूर-दूर होने लगे थे। राष्ट्र की दृष्टि से भरत को यह वांछनीय न लगा। इस स्थिति को उसने बदलना चाहा। उसने अपना राज्य किसी बलशाली व्यक्ति को देने की अपेक्षा किसी विद्वान् ब्राह्मण को देना चाहा। विदार्थन् भारद्वाज नाम के ब्राह्मण ने इस क्षात्र कर्म को स्वीकार किया और वह भरत सम्राट का उत्तराधिकारी बना। यहां से क्षत्रोपेत ब्राह्मणों की परंपरा का आरंभ हुआ। अब राज्य करने वाले शासक भी सूक्त बनाने

लगे। यह स्वाभाविक ही था कि यह रचना गुणों से थोड़ी हीन होने लगी। इस कारण से केवल विद्वान् लोगों में की हुई तब तक की कविता का संग्रह करने की इच्छा उत्पन्न होना अयोग्य न था। यह काम भरत के राज्य में होना शक्य न था। अतएव अयोध्या के राज्य में वह हुआ व जिसके राज्यकाल में यह श्रुति-संग्रह किया गया उसका नाम ही "श्रुत" प्रसिद्ध हुआ। क्षत्रोपेत ब्राह्मणों के सूक्तों से रहित यह अत्यन्त प्राथमिक रूप की ऋक्संहिता होगी।

१२. इसके पश्चात् फिर से बृहदुक्थ ऋषि ने जब साम गायन का प्रचार किया तब भी वैसी ही परिस्थिति निर्माण हुई। मंत्र तो ऋग्वेद के ही थे, पर उनके पाठ के स्थान में उनका गान होने लगा। अब देवताओं का आवाहन केवल पाठ रूप न रहकर गान रूप में भी आरंभ हुआ। अभ्यासकों का लक्ष्य अब कविता-निर्माण के स्थान में काव्य-गायन पर अधिक केन्द्रित हुआ। अध्वर्यु और होता इन दो ऋत्विजों के साथ सामगान करने वाले उद्गाता नामक तीसरे ऋत्विज की आवश्यकता प्रतीत हुई और ऋत्विजों में उसे भी स्थान दिया गया। क्रम से इस साम गान को इतना महत्व आया कि "अयज्ञो वै यो सामा"—जिसमें साम नहीं वह यज्ञ नहीं—ऐसा माना जाने लगा। ऋग्वेद के एक हजार से भी अधिक मंत्र भिन्न-भिन्न साम पद्धति से गाये गये। क्वचित् नये मंत्र भी निर्माण हुए। उद्गाता लोग जैसे गाने के लिए काव्य-रचना करने लगे, उसी प्रकार अध्वर्यु वर्ग ने भी केवल अपने ही कर्म के उपयुक्त कुछ छंदोबद्ध मंत्र निर्माण किये। इन सब कारणों से सहज काव्यात्मक और कृत्रिम काव्यरूप मंत्रों में संकर न हो यह स्वाभाविक भावना निर्माण हुई और फिर से "श्रुतायु" नाम के विदेह राजा के समय इस श्रुत काव्य का संहितीकरण हुआ। इस संहिता में प्रथम की गई संहिता के तो सारे सूक्त थे ही। परंतु उसके बाद के भी उद्गात वर्ग तथा अध्वर्यु वर्ग के बने हुए मंत्रों को छोड़ अन्य सब छंदोबद्ध मंत्रों का इस संहिता में समावेश किया गया।

१३. काव्य का जब पाठ किया जाता है, तब उसकी पाठरीति में बहुत बड़ा अन्तर नहीं पड़ता, परंतु जब वह काव्य गाया जाता है, तो उसकी पद्धति में बहुत अन्तर पड़ जाता है। गायन में शब्दों की थोड़ी खींचतान करनी पड़ती है, स्वर भी थोड़े-बहुत लंबे या छोटे करने होते हैं और ताल में आने के लिए कुछ अक्षर उसमें कभी २ जोड़ने भी पड़ते हैं। साम गायन करते समय ऐसा ही करना पड़ता है और इसी कारण से सर्वप्रथम सामगान में प्राच्य और उदीच्य ये दो मुख्य पद्धतियां रूढ़ हुईं। अयोध्या के हिरण्यगर्भ नामक राजा के राज्यकाल में उसने तथा दिमीठ कुलज कृत नामक हिरण्यगर्भ के शिष्य ने सामसंहिता ग्रथित की। ये सामसंहिताएं तैयार होते ही दक्षिण पांचाल देश का ब्रह्मदत्त नामक राजा भी

आगे बढ़ा। अपने दो सहपाठियों की सहायता से इसने गद्य तथा पद्य मंत्र एकत्रित किये। एक ने सारे मंत्रों के पदों की संख्याबद्ध गणना की और दूसरे ने उन्हें लेख-बद्ध किया। इसी पर से ये दोनों अनुक्रम से संख्य और लिखित कहलाये गये। ब्रह्मदत्त के दो मंत्री काण्डरीक और गालव नाम के थे। इन्होंने तीनों प्रकार के मंत्रों का व्यवस्थित संहितीकरण किया। आधुनिक भाषा में कहना हो तो गाने की चीजों की बंदिश्त बांधी गई, कविता छांटकर अलग की गई और गद्य मंत्र सारे एकत्रित हुए। इस प्रकार साम, ऋक् और यजु पूर्णतया पृथक् किये गये। अंतिम संहिता संस्करण कृष्ण द्वैपायन ने किया। इसने गद्य, पद्य या गान यह विभाजक लक्षण न मान तत्कालीन यज्ञ-पद्धति के अनुसार अध्वर्यु के लिये उपयुक्त मंत्र--वे गद्य रूप हों या पद्य रूप--अलग निकाले, उद्गाता के लिए आवश्यक जो भाग था--वह पाठ रूप हो या गान रूप--उसे पृथक् किया और शेष जो पद्य वाङमय तब तक निर्मित हुआ था उसे एकत्रित किया। ये ही आज की यजुर्वेद, सामवेद तथा ऋग्वेद की संहिताएँ हैं। कृष्ण द्वैपायन--जिन्हें आगे चलकर इसी कारण वेद व्यास कहने लगे--के पश्चात् इन संहिताओं पर नया संस्कार कोई नहीं हुआ।

१४. इस प्रकार ऋग्वेद संग्रह के चार संस्करणों की कल्पना की जा सकती है :—

(१) प्रथम संस्करण "श्रुत" नामक अयोध्याधीश के समय हुआ। इसमें विदार्थन् भारद्वाज भरत सम्राट का उत्तराधिकारी होने तक के सारे सूक्त संगृहीत थे। क्षत्रोपेत ब्राह्मणों के सूक्त इस संग्रह में समाविष्ट न थे।

(२) दूसरा संस्करण "श्रुतायु" नामक विदेहराज के समय हुआ। साम गायन के लिए जब मंत्र-रचना होने लगी और अध्वर्यु वर्ग भी केवल अपने ही कर्म के लिये उपयुक्त छंदोबद्ध रचना करने लगा, तब इन नये मंत्रों को छोड़ किंतु क्षत्रोपेत ब्राह्मणों के सूक्तों का समावेश कर, यह दूसरा संस्करण ऋग्वेद संहिता का हुआ।

(३) साम मंत्रों की संहिता बन जाने के पश्चात् तब तक की जो छंदोबद्ध कविता थी उसका संग्रह तीसरे संस्करण में हुआ। इस समय ब्रह्मदत्त नामक राजा दक्षिण पांचाल देश में राज्य करता था। उसके दो सहपाठियों ने प्रत्येक ऋचा के तथा सूक्त के पद गिनकर उन्हें सूक्तानुसार लेखबद्ध किया। इस काम के करने से वे दोनों अनुक्रम से संख्य तथा लिखित कहलाये गये।

(४) चौथा और अंतिम संस्करण महाभारत युद्ध के पश्चात् धर्मराज के राज्यकाल में हुआ। यह काम स्वयं वेदव्यास नाम से प्रख्यात हुए कृष्ण द्वैपायन

का ही था। इस संहिता में अध्वर्यु तथा उद्गाता इन ऋत्विजों को उपयुक्त मंत्र छोड़ अन्य सारी छंदोबद्ध ऋचाएँ एकत्रित की गईं। आज जो ऋक्संहिता है वह यही है। वेदव्यास के पश्चात् इसमें घट-बढ़ नहीं हुई।

१५. किंतु केवल इन चार संस्करणों की कल्पना करने पर भी काम पूरा नहीं होता। इस प्रत्येक संस्करण में कौन-कौन से सूक्त आते हैं, इसका तथा उन सूक्तों के भी पूर्वापरवर्तित्व का विचार निश्चित रूप से होना चाहिये। मेरे प्रयत्नों से अब यथामति मैंने इन बातों का भी निश्चय कर लिया है। यह काम केवल नामों के आधार पर ही नहीं हुआ है। नामों का उपयोग तो होता ही है, पर उसकी सहायता के लिए जो अन्य प्रमाण लिये गये हैं, उन आधारभूत सहायक प्रमाणों का अब विचार करें।

१६. इन साधनों में छंद भी एक प्रधान प्रमाण माना जा सकता है। ऋग्वेद संहिता में २४ अक्षरों के छोटे छंद से ७६ अक्षर के लंबे छंद तक सभी प्रकार के छंद पाये जाते हैं। अर्थात् इन ऋचाओं के रचयिता ऋषि कवियों ने इतने भिन्न-भिन्न छंदों में सूक्त रचना की है। ये सारे मंत्र संख्यानुक्रमानुसार आगे दिये जाते हैं :—

क्रमांक	छंद-नाम	अक्षर-संख्या	मंत्र-संख्या
१	त्रिष्टुप्	४४	४२५८
२	गायत्री	२४	२४५६
३	जगती	४८	१३५३
४	अनुष्टुप्	३२	८६०
५	चतुष्पदाविराट् पंचपदा पंक्ति	४०	४९९
६	बृहती	३६	४२७
७	उष्णिक्	२८	३९८
८	अत्यष्टि	६८	८२
			१०,३३३
९	शक्करी	५६	१९
१०	अतिजगती	५२	१७
११	अतिशक्करी	६०	१०

क्रमांक	छंद-नाम	अक्षर-संख्या	मंत्र-संख्या
१२	अष्टि	६४	७
१३	धृति	७२	२
१४	अतिधृति	७६	१
		सब मिलाकर	१०,३८९

इन मंत्रछंदों के अतिरिक्त विराट्, त्रिष्टुप्, गायत्री और जगती के आधे भागों के द्विपाद छंदों के तथा विराट् और त्रिष्टुप् के एकपाद छंदों में निम्न प्रकार के मंत्र मिलते हैं :—

१५	त्रिपदा विराट्	२०	१३९
१६	,, त्रिष्टुप्	२२	१४
१७	,, गायत्री	१६	३
१८	,, जगती	२४	१
१९	एकपदा विराट	१०	५
२०	,, त्रिष्टुप्	११	१
			१६३

सब मिलाकर १०,३८९+१६३=१०,५५२

१७. अक्षरानुबंध के कारण ये अलग-अलग छंद कैसे निर्माण हुए होंगे, इसकी कल्पना सहज की जा सकती है। "तत्सवितुर्वरेण्यम्" यह आर्ष ऋग्मंत्र। इसके अक्षर २४ और चरण तीन। सबसे पहली यह स्तुप् अर्थात् स्तुति करने वाली ऋचा। यह कहने में त्रिचरण होने से विषम है। इसमें इसी प्रकार का अष्टाक्षरी चरण जोड़ने से छंद होता है अनुष्टुप्। यह दूसरे क्रमांक से निर्माण हुआ। इसका नाम ही यह सुझाता है कि यह स्तुप् के पश्चात् आया। इसके बाद निर्माण हुआ त्रिष्टुप्। अनुष्टुप् के चार चरण होने के कारण वह कहने में सम लगता है। इसी से उसके पश्चात् जो छंद बने वे प्रायः चरणों के हैं। ३२ अक्षर जब एक समूची कल्पना ग्रथित करने के लिए अपर्याप्त पाये गये तब ११ अक्षरों का एक-एक चरण, ऐसे ४४ अक्षरों का एक नया छंद बनाया गया। यह तीसरा छंद है, यह इसके

त्रिष्टुप्, नाम में जो "त्रि" शब्द आया है, उस पर से स्पष्ट होता है। अनुष्टुष् के चार चरणों में अष्टाक्षरी एक और चरण जोड़ें तो बनती है, पंचपदा पंक्ति। इन्हीं चालीस अक्षरों का चार चरणों में विभाजन किया जावे तो होगा विराट्। इसी प्रकार से छंद बढ़ते गये और उनका विकास होता गया। गायत्री पहला छंद होते हुए भी विषमता के कारण इतना कविप्रिय नहीं हुआ। अनुष्टुप् छंद वेद वाङ्मय के पश्चात् जो संस्कृत वाङ्मय निर्माण हुआ उसमें यद्यपि आधिक्य से पाया जाता है, तथापि वैदिक छंदवाङ्मय अधिक मात्रा में निर्माण हुआ त्रिष्टुप् छंद में। छंदों की यह संख्या चार-चार अक्षरों से बढ़ती हुई गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, विराट् या पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिजगती, शक्करी, अतिशक्करी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति और अतिधृति इस अंतिम ७६ अक्षरों के छंद तक गई। किंतु अधिकतर रचना हुई गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती इन तीन ही छंदों में। यह बात ऊपर दी हुई तालिका से स्पष्ट ही है। ये सारे के सारे छंद इसी क्रम से निर्माण हुए होंगे। क्रम बदलने पर भी अति उपसर्ग से युक्त अति-जगती, अति-शक्करी, अत्यष्टि तथा अतिधृति ये नाम ही इनकी निर्मिति जगती, शक्करी, अष्टि तथा धृति के पश्चात् हुई, इस बात को प्रमाणित करते हैं। इस दृष्टि से सूक्तों का कालानुक्रम निर्धारित करने में छंदों का उपयोग हो सकता है और किया गया है।

१८. ऋग्वेद सूक्तों का कालानुक्रम निश्चित करने का तीसरा प्रमाणभूत साधन है--देवता। ये सारे सूक्त प्रधानतः देवों की स्तुति करने के हेतु से ही निर्माण हुए। और इसीलिए "या तेनोच्यते सा देवता" यह लक्षण रूढ़ हुआ। ये वैदिक देव भी अनेक हैं। यद्यपि सर्वप्रथम गायत्री मंत्र की रचना "सवितृ" देव को ध्यान में रख की गई, तथापि उसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय "सवितृ" यह एक ही देवता विद्यमान थी। छंदोबद्ध मंत्र रचना होने के पूर्व भी गद्य मंत्रों से यजन क्रिया होती ही थी और जिन कुछ देवताओं को हवि-र्भाग दिया जाता था वे देवताएं अस्तित्व में थी हीं। देवों की कल्पना प्रथम, फिर यज्ञ की और तत्पश्चात् मंत्रों की, यह क्रम सहजसिद्ध ही है। किंतु फिर भी मंत्र में अर्थात् काव्य में जैसी-जैसी वृद्धि होती गई, वैसी-वैसी उनके कार्य विषयों में अर्थात् देवताओं में और साथ ही साथ यज्ञकर्म में भी वृद्धि हुई, यह भी उतनी ही सत्य बात है। प्रथम सूर्य, अग्नि, वायु इत्यादि प्रकृतिस्थ शक्तियां ही देवता मानी गईं और उनका यजन होने लगा। बाद में मनुष्यों के ही पराक्रमी, शत्रु-नाशक, लोकपालक राजा की सदृशता से देवराज इंद्र की कल्पना आई होगी। विचार-वृद्धि के साथ नैतिक कल्पनाओं के आधार पर मित्र, वरुण इत्यादि

देवताओं की निर्मिति हुई और उसी समय घोड़े पर चढ़ दौड़कर आने वाले दो लोकोपकारक वीर भाइयों ने "अश्विनौ" इस जुगलबंद दो देवों की कल्पना निर्माण की होगी। इस द्वंद्वात्मक कल्पना का ही विकास अग्निषोमौ, इंद्राग्नी, इंद्रवायू, मित्रावरुणौ इत्यादि द्वंद्वों में दिखता है। इंद्र के साथ उसके सहायक मरुत् भी कल्पे गये और अपने कृत्यों से देवता को प्राप्त करने वाले जो ऋभु उनकी भी कल्पना आई और इन सब पर सूक्त रचना हुई। काव्यों के विषय भी बढ़ते गये और ऊपर लिखा हुआ "देवता लक्षण" प्रयुक्त किया जाकर उन सारे विषयों को देवत्व की प्राप्ति हुई। घोड़े, गोएं, अरण्य इत्यादि भी देवताओं में समाविष्ट किये गये। अंत में विश्वेदेव—सारे देव—जिन-जिन की हम कल्पना कर सकते हैं, उन पर भी सूक्त लिखे गये। इस देवता-विकास का भी सूक्तों का कालानुक्रम निश्चित करने में उपयोग किया गया है।

१९. इस कालानुक्रम निश्चिति के विषय में सबसे बड़ा साधन है अंतः प्रमाण। यहां एक ही बात सिद्धान्त रूप से मानी गई है। वह है—"जिस घटना का वर्णन सूक्त में आया है वह घटना सूक्त-रचना के पूर्व की है या सूक्त उस घटना के बाद का है। "किंतु इस प्रमाण का विचार करते समय मैंने यह नहीं माना कि वर्णित घटना उसीके समय की है। कल्पना कीजिये कि किसी सूक्त में उत्तर ध्रुव के समीप दिखने वाला वर्णन है। पर उसी केवल आधार पर मैं यह नहीं मान सकूंगा कि वह सूक्त जब रचा गया तब हम उत्तर ध्रुव के पास रहते थे। क्योंकि यदि ऐसा माना गया तो हर एक प्राचीन घटना का लेखक उसी समय का माना जाने का हास्यास्पद अवसर उपस्थित होगा। उसी प्रकार से यह मानना भी तर्कसंगत न होगा कि जिस बात का वर्णन सूक्तों में नहीं है वह उस समय अस्तित्व में ही न थी। सूक्तकारों ने सूक्त लिखने के पूर्व ऐसी प्रतिज्ञा तो नही की हुई है कि उस समय की सारी बातें सूक्तों में ग्रथित की जावेंगी। कार्य विषय के अनुरूप जितना उन्हें सूझा और उचित जान पड़ा, उतना ही उल्लेख उन्होंने किया। केवल इसी आधार पर कि वैदिक सूक्तों में किसी बात का उल्लेख नहीं, वह बात उस समय थी ही नहीं, यह मानना भूल है। वेद में लेखन का उल्लेख नहीं, इस आधार पर उस समय लेखनकला ज्ञात ही न थी, यह तर्क करना पूर्वकथित अपसिद्धान्त का अच्छा उदाहरण है। केवल इतना ही मानना न्यायसंगत होगा कि सूक्त में कथित बात होने के पूर्व का वह सूक्त नहीं कहा जावेगा। मनुष्य हाथी को अंकित कर उस पर सवारी करने लगा। इसी बात का उदाहरण लें। यदि किसी सूक्त में हाथी की सवारी का वर्णन हो तो वह सूक्त हाथी वश करने की क्रिया जब कभी मनुष्य के हाथ लगी,

उस समय के पूर्व उस सूक्त की रचना नहीं पहुँच सकती। उसी प्रकार सेना का वर्णन करते पंक्ति, अश्व तथा रथ के साथ हाथी का वर्णन न हो तो यह मानना भूल न होगी कि सेना के तीन अंगों का वर्णन देने वाला सूक्त उस समय से पूर्व का है जबकि हाथी को मनुष्य ने वश किया या सेना में उसका संनिवेश कर सेना चतुरंगिनी बनाई गई।

२०. इसके लिए यह देखना आवश्यक है कि हमारी संस्कृति का विकास कैसे हुआ या कौन-कौनसी बातें हम कब-कब से करने लगे। "हमारा महाभारत पूर्व सांस्कृतिक तथा राजकीय इतिहास" के नाम से जो पुस्तक मेरे व्याख्यानों के आधार पर पूना विश्वविद्यालय द्वारा मराठी भाषा में प्रकाशित हुई है, उसमें दिये विवेचन के आधार पर नीचे लिखी हुई प्रगति की सीढ़ियां विचार में लेना आवश्यक है। ऋक् पूर्व काल में अर्थात् "तत्सवितुर्वरेण्यम्" यह पहली ऋचा जिस समय विश्वामित्र द्वारा प्रकट हुई उसके पूर्व सोम तथा होम दोनों बातें हमें ज्ञात थीं। अर्थात् सोमवल्ली का रस निकाल उसका सेवन करना और अग्नि में देवताओं के नाम से हविर्भाग देना हम जानते थे। इन बातों की विशिष्ट विधि केवल निश्चित न थी। बैलों और घोड़ों को हमने वश कर उनसे खेती का तथा सवारी का काम हम लेते थे। रथ बन चुके थे और आवागमन तथा युद्धों में उनसे काम लिया जाता था। खेती में गन्ने की खेती करने तक हमारी प्रगति हो चुकी थी और कपास तथा उनके वस्त्र यहां बुने जाते थे। नहरें निकाली जा चुकी थीं और उनके द्वारा "अदेवमातृका कृषि" अर्थात् निरे पर्जन्य पर निर्भर न होने वाली खेती यहां की जाती थी। खानों में से धातु निकाले जाते थे और उनसे हथियार तथा अलंकार बनाये जाते थे। आखेट के लिए कुत्ते काम में लाये जाते थे। धनुर्विद्या का भलीभांति प्रचार था। ऋक् पूर्व काल में हमारी संस्कृति विकास के इस स्तर पर थी।

२१. विश्वामित्र द्वारा गायत्री मंत्र का आदर्श सम्मुख रख, मंत्र-रचना होने लगी तब से अर्थात् काव्यकला की निर्मिति जब विश्वामित्र ने की उसके थोड़े ही दिन पूर्व वहां एक घोर अकाल पड़ा। कई साल तक वर्षा ही न हुई। अन्न मिलना असंभव हो गया। आदमी आदमियों को भी खाने लगे। इसी समय नरमेध तथा नर-विक्रय कहीं-कहीं होने लगा। आगे हरिश्चंद्र से लेकर सगर के समय तक के काल में एक प्रकार की बारूद खोजी गई, पाकशास्त्र में उन्नति हुई। द्रुह्यु वंशजों के साथ पश्चिम से आए हुए लोगों के द्वारा वाणिज्य का आरंभ हुआ, समाज में विद्वान् और बलशाली लोगों के समान ही वाणिज्य करने वाले वर्ग का निर्माण हुआ। बाद की दस पीढ़ियों में सोने के सिक्के ढाले गये, ब्राह्मण व

क्षत्रिय एक दूसरे के कर्म करने लगे और ऋक्संहिता का प्रथम संस्करण हुआ। दस पीढ़ियों के इस काल में अर्थात् भरत शाकुंतलेय से हस्तिन् के समय तक शांतता रहने के कारण आराम करने की प्रवृत्ति बढ़ी। उपवास तथा जलचिकित्सा का आरंभ हुआ, बैठे खेल निर्माण होकर क्षत्रियों में द्यूत का प्रचार और प्रसार हुआ, हाथी वश किये जाकर उनका सेना में समावेश किया गया और दशमान रीति का संख्याशास्त्र निर्माण हुआ। हस्तिन् के बाद की १५ पीढ़ियों के काल में अर्थात् दाशरथि रामचंद्र के समय तक हम फौलाद करना सीखे, उस से खड्ग तथा तेज हथियार बनाने लगे व घोड़े तथा बैलों को बधिया करने लगे। रामचंद्र से लेकर कुरुराज तक के काल में हम समुद्र यान करने लगे और दूर-दूर के देशों में जलमार्ग से जाने लगे। साम गायन पद्धति इसी समय निकली और ऋग्वेद का द्वितीय संस्करण किया गया। महाभारत युद्ध तक की अंतिम बारह पीढ़ियों के काल में योग की अपेक्षा हमने क्षेम की तरफ ही अधिक ध्यान दिया। अर्थात् नया कुछ प्राप्त करने के स्थान में जो था उसे संभालने का ही भला बुरा प्रयत्न किया। संहिताएं लेखबद्ध हो उनके पद भी गिने गये और ऋग्वेद का तीसरा संस्करण हुआ। वर्ण का निर्णय कर्म पर से न होकर जन्म पर से होने लगा। विद्वान लोग धन के पीछे पड़ अपनी स्वतंत्रता खो बैठे और धनिकों के नौकर बन गये। वेदविद्या में नये मंत्र बनना बंद सा हो गया और वेदव्यास ने उन्हें विभक्त कर और भी बांध दिया। इसी समय पुराण नामक ग्रंथ की रचना हुई, इहलोक की अपेक्षा परलोक का महत्त्व बढ़ा और वह परलोक भी सत्कर्मों से प्राप्त करने के स्थान व्रतादि दान के द्वारा प्राप्त करने की कल्पना रूढ़ हुई। सूक्तों का कालानुक्रम लगाने में सबसे अधिक सहायता इसी संस्कृतिविकास से मिली है।

२२. हमारी संस्कृति के विकास पर अभी तक किसी ने विशेष ध्यान ही नहीं दिया। हमारे प्राचीन पंडितों ने श्रुति, स्मृति, तथा पुराण इन्हें अत्यधिक महत्व तथा पूज्यत्व देकर और इन ग्रंथों को ईश्वरीय मानकर अपनी कल्पनाओं को वहां विहार करने से रोक दिया। इन ग्रन्थों में परस्पर विरोध उन्हें न दिखा हो ऐसा नहीं। पर उन्होंने इस विरोध को विकास की सीढ़ियों के रूप में देखा नहीं। अपितु इन भेद और विरोधों का समन्वय करने में ही अपनी कुशाग्र बुद्धि का उपयोग किया। ईश्वर की कृति में विकास देखना उन्होंने पाप समझा और विकास की दृष्टि से देखना बंद ही कर दिया। वेदों की रक्षा भी उन्होंने शब्द रूप से की। अर्थ की ओर ध्यान ही नहीं दिया और उसी शब्दरक्षा की दृष्टि से वेदमंत्रों का केवल शब्दसादृश्य से नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों में उपयोग

किया। फल यह हुआ कि अर्थदृष्टि से देखने वाले जब उन मंत्रों की हंसी उड़ाने लगे तब सिवाय क्रोध करने के और उन्हें भला बुरा कहने के वे कुछ न कर सके। पाश्चात्य पंडितों ने वेद की ओर संस्कृति की दृष्टि से देखा ही नहीं। उसमें उनका दोष न था। हमारी संस्कृति का विकास कैसे हुआ, इसका वे आकलन ही नहीं कर सकते थे। उनकी संस्कृति हमारी प्राचीन संस्कृति की अपेक्षा अत्यन्त अर्वाचीन थी। मुल्ला की दौड़ मसजिद तक। इन पाश्चात्यों की कल्पना कितने भी प्राचीन काल तक गई, तो भी ग्रीक संस्कृति के पूर्व वह जा ही न सकती थी। उसके पूर्व सारा यूरुप बर्बर रूप में ही था। इस कारण से भारतीय इतने प्राचीन काल में ऐसे सुसंस्कृत थे इसकी कल्पना भी करना उन्हें कठिन पड़ता। इसके अतिरिक्त हम थे जित और वे बने थे जेता। इस ग्रंथि का भी उनके मन पर असर था। हमारे आधुनिक पाश्चात्य प्रणाली में पले विद्वान् उन्हीं के छात्र रहने के कारण परभृत थे। और साथ ही अर्थदास्य भी था। इस कारण स्वतंत्र विचार और अभ्यास को जो अनुकूलता लगती है, वह उन्हें प्राप्त न थी। इन सारे ही कारणों से यह संस्कृति विकास का विषय विचारों से परे ही रहा।

२३. प्रायः सारे ही पाश्चात्य पंडितों ने वेदों का अभ्यास प्रमुख रूप से भाषा की दृष्टि से ही किया। तौलनिक भाषा शास्त्र में इन विद्वानों ने जो प्रयत्न किये और संशोधन किया वह सचमुच अनुपम है। उन्हें ज्ञात सारी भाषाओं की तुलना कर एक नया ही शास्त्र इन्होंने निर्माण किया और शब्द परिवर्तन के कुछ सर्वमान्य नियम भी बनाये। इन नियमों के आधार पर निश्चित किया जा सकता है कि शब्दों के प्राचीन रूप क्या थे और उनका परिवर्तन होते-होते उन्हें आज कौन सा रूप प्राप्त हुआ है। इस शास्त्रज्ञान के नवीन रूप से थोड़े काल तक लोग आश्चर्यस्तिमित से हो गये। पर इसका गहरा अध्ययन करने पर जान पड़ने लगा कि ज्ञात भाषाओं के आधार पर स्थित ये नियम सारे अपरिवर्तनीय नहीं। किसी नई भाषा के ज्ञात होने पर ये नियम बदलते हैं और इनके आधार पर की हुई काल की प्राचीनता भी व्यर्थ ठहरती है। तात्पर्य यह कि वैदिक सूक्तों के कालनिर्णय के लिये उसका बहुत उपयोग नहीं हो सकता। "छंदसि" और "भाषायाम्" कहकर पाणिनि ने भी कुछ शब्दों के वैदिक तथा आधुनिक रूप दिये हैं। इन रूपों के आधार पर कुछ विद्वानों ने कालनिर्णय करने का प्रयत्न किया पर वह सफल नहीं हुआ। क्योंकि किसी सूक्त में ही नहीं, अपितु किसी ऋचा में ही दोनों प्रकार के रूप पाये जाते हैं। "भद्रं कर्णेभिः" इस ऋचा में जहां "कर्णेभिः" यह कर्ण शब्द के तृतीया बहुवचन का प्राचीन रूप मिलता है, वहीं अगले ही उत्तरार्ध में स्थिर और अंग शब्द के "स्थिरेभिः" तथा "अंगेभिः" रूप

न मिल कर "स्थिरैरंगैः" इस प्रकार के आधुनिक रूप भी मिलते हैं। कुछ प्राचीन शब्द आज अप्रयुक्त हैं। पर केवल उनके प्रयोग से प्राचीनता निश्चित नहीं की जा सकती। लेखक अपनी इच्छा के अनुसार प्राचीन या अर्वाचीन शब्दों या उनके रूपों का प्रयोग कर सकता है। अतएव केवल भाषा के आधार पर वैदिक सूक्तों का कालानुक्रम निश्चित नहीं हो सकता।

२४. जो स्थिति भाषा की, वही है उसे भूषित करने वाले अलंकारों की। काव्य प्राधान्येन श्रव्य होता है। अतएव कवि की इच्छा स्वभावतः यही रहती है कि उसका काव्य श्रोताओं के कान को मधुर लगे और उसके मन को आनंदप्रद हो। वर्णों की आवृत्ति कर्णों को मधुर ज्ञात होती है। यह स्वयंसिद्ध अनुभव है। इसीलिये तो काव्य गुणों का गंध भी जहां अपेक्षित नहीं ऐसे विज्ञापनों में भी वह प्रवृत्ति दीखती है। कफ और दमा एक से ही रोग हैं। पर इनकी दवाइयों का विज्ञापन देने वाला एक कहेगा—कफकाल तो दूसरा कहेगा दमादमन। नंदपुत्र या नंदात्मज कहने के स्थान में नंदनंदन कहो और फिर देखो कि कानों को मधुर कौन-सा शब्द लगता है। इस दृष्टि से वर्णों की सहज आवृत्ति होना सूक्तों में भी स्वाभाविक है। इसीलिये "सहसः पुत्रः" की अपेक्षा "सहसः सूनुः" श्रुति-मधुर मालूम पड़ता है। "कन्या दिवः" के स्थान में "दिवो दुहिता" प्रयोग अच्छा लगता है। "यज्ञेन यज्ञमयजन्त" यह शब्दसमूह इसीलिये सुंदर और स्वाभाविक लगता है। किंतु जब यही अनुप्रास साधने के लिये अप्रयुक्त या अप्रसिद्ध शब्दों की योजना की जाती है, तब वह रचना कृत्रिम हो जाती है। यह कृत्रिम प्रवृत्ति सहज प्रवृत्ति की खींचतान है और यह आरंभ काल में नहीं की जाती है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण उत्तरकालीन यजुर्वेद का "घूरसि" यह मंत्र दिया जा सकता है। मंत्र के शब्द हैं—"धूरसि धूर्व धूर्वतं धूर्वतम्"। यहां अनुप्रास बहुत ही सुन्दर सधा है। परंतु उसके लिये "धू" शब्द के साथ जोड़ने के हेतु "धूर्व" इस अप्रयुक्त धातु की योजना की जाने से उसकी कृत्रिमता स्पष्ट ध्यान में आती है। और यह कृत्रिमता उक्त मंत्र का उत्तरकालीनत्व प्रमाणित करती है। यही गति अर्थालंकारों की है। उपमा यह एक सर्वमान्य अलंकार है और अर्थ स्पष्ट करने में उससे बड़ी सहायता मिलती है। ऋषि को कहना है—"अग्ने सूपायनो भव" अर्थात् "हे अग्निदेव, अच्छी-अच्छी बातें हमें दे"। पर जब वह जोड़ता है "स नः पितेव सूनवे", तब इस उपमा से पिता का पुत्र के प्रति जो वात्सल्य होता है वह प्रतीत होकर अर्थ अधिक हृदयंगम होता है। उर्वशी को पुरूरवा से कहना है—"दुरापना अस्मि" अर्थात् "मैं तेरे हाथ लगने वाली नहीं हूं"। पर यहीं जब ऋषि कहलवाता है "दुरापना वात इवाहमस्मि" तब वही कल्पना "हवा के

समान'' इन शब्दों से कितनी ऊंची उठती है इसे स्पष्ट करना आवश्यक नहीं है। उपमा से अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। पर जब कोई ऋषि कवि उपमा देने को ही प्राधान्य देता है, तब कृत्रिमता आये बिना रह ही नहीं सकती। उदाहरण के लिये दसवें मंडल का ''भूतांश काश्यप'' ऋषि का रचा हुआ १०६ क्रमांक सूक्त लीजिये। ग्यारह ऋचाओं के इस सूक्त में बयालीस उपमाएं ठूंस २ कर भरी हैं। इनमें कुछ अच्छी हैं, कुछ साधारण और कुछ अत्यन्त छिछली हैं। यहां तक कि कुछ तो बिल्कुल ही हास्यास्पद हैं। इसी सूक्त के ''जर्फरी'' ''तुर्फरी'' इत्यादि शब्दों के आगे सायणाचार्य को भी हार माननी पड़ी है। यह कृत्रिमता निःसंदेह रीति से उत्तरकाल की द्योतक है।

२५. एवं सूक्तकार ऋषि, उनके द्वारा प्रयुक्त छंद, उन छंदों से प्रकट होने वाला विषय, उनकी भाषा, उसमें प्रयुक्त अलंकार और वर्णित देवताएं इत्यादि प्रमाणनिकषों पर ऋग्वेद सूक्तों का घर्षण करने के पश्चात् उनमें एक कालक्रम का दर्शन होने लगा। एक बार नहीं अपितु अनेक बार उन सूक्तों का क्रम लगाया तथा उसे बदला। पर जब वह मेरे मत से ठीक जमा तब विद्वानों के सामने रखने की यह धृष्टता की जाती है। ऋग्वेद के सारे के सारे १०२८ सूक्त आगे दिये हुए सात युगों में विभक्त किये जा सकते हैं। हर एक युग के सूक्तों का भी अनुक्रम दिया गया है, पर इसमें कारणवश थोड़ा हेर-फेर हो सकता है। किंतु कोई भी सूक्त जिस युग में रखा गया है उसके पूर्व के युग में नहीं जा सकता। किन्हीं कारणों से संभव है कि वह पश्चात् के युग में समाविष्ट हो। उदाहरण स्वरूप ऋग्वेद का कोई भी सूक्त विश्वामित्र युग के पूर्व में नहीं जा सकेगा। क्योंकि विश्वामित्र युग ऋग्वेद का आद्ययुग माना गया है।

२६. ये युग नीचे के क्रम से निश्चित किये गये हैं :—

(१) विश्वामित्र युग
(२) भरद्वाज युग
(३) कण्व युग
(४) अत्रि युग
(५) वसिष्ठ युग
(६) वामदेव युग
(७) शौनक युग

जिस प्रकार कोई भी ऋग्वेद का सूक्त विश्वामित्र युग के पूर्व का नहीं हो सकता, उसी प्रकार से कोई भी सूक्त शौनक युग के पश्चात् के काल में नहीं जा सकता। क्योंकि शौनक काल के बिल्कुल अंत में ही वेदव्यास ने ऋत्विजों के कर्मानुसार

वेदों को विभक्त किया और उसके पश्चात् मंत्ररचना बंद-सी ही हो गई। इसलिये यही मानना पड़ता है कि ऋग्वेद के १०२८ ही सूक्त इन्हीं सात युगों में से किसी युग में रचे गये हैं। ऋग्वेद परिशिष्ट में कुछ सूक्त दिये जाते हैं। पर यहां उनका विचार नहीं किया गया है। उन सूक्तों को पढ़ते ही जान पड़ता है कि वे बिल्कुल नये हैं।

२७. अब इन युगों की विशेषताएं संक्षेप में देकर यह उपोद्घात पूरा करना चाहिये।

(१) विश्वामित्र युग। गायत्री मंत्र से छंदोबद्ध मंत्ररचना का आरंभ इसी युग में हुआ। विश्वामित्र महाभारत पूर्व ६४वीं पीढ़ी में विद्यमान था। हर पीढ़ी सामान्य रूप से २५ वर्ष की मानी जाय तो इसका समय महाभारत पूर्व १६०० वर्ष होता है। महाभारत का युद्ध हमारी प्राचीन गणनानुसार ख्रिस्त पूर्व ३१०२ वर्ष हुआ। अर्थात् विश्वामित्र लगभग ४७०२ वर्ष ख्रिस्त पूर्व माना जा सकता है। और सन् १९६४ में मैंने जब अंतरराष्ट्रीय प्राच्य परिषद् के सामने अपना लेख रखा, तब कह सकते थे कि ऋग्वेद के आरंभ को ६६६६ वर्ष हुए थे। चार छह के अंक से युक्त होने के कारण यह संख्या भलीभांति स्मृति में रह सकती है। गाधिज विश्वामित्र ने मंत्ररचना या काव्यकला की विद्या निकाली। इसी के मुख से सहज रूप में एक दिन "तत्सवितुर्वरेणियम्" यह वाक्य निकला। हमेशा बोली जाने वाली गद्य भाषा से विपरीत क्रम में निकले हुए इस वाक्य पर विश्वामित्र को विचार करने के पश्चात् ज्ञात हुआ कि इस वाक्य के आठ २ अक्षरों के तीन समान विभाग होते हैं। इसी प्रकार उसने अन्य गद्यरूप वाक्यों के शब्द बदल उन्हें भी अक्षरबद्ध रूप दिया और इस प्रकार से यह छंदोरचना चली। विश्वामित्र ने अन्य ब्राह्मणों को यह विद्या सिखाई। ब्राह्मणों ने उसे मान्यता दी और तब से यह मंत्र सीखे बिना कोई ब्राह्मण न बन पाया। इसे सीखकर इसी प्रकार अन्य ऋषि भी ऐसी रचना करने लगे। इस युग की रचना स्वभावतः ही अल्प है। गायत्री में जैसी सवितृदेव की स्तुति की गई है उसी प्रकार तत्कालीन समाज में रूढ अग्नि, सोम, इंद्र इत्यादि देवों की स्तुति करने वाले ही ये सूक्त थे। इनके छंद भी त्रिष्टुप् के आगे नहीं बढ़े। प्रार्थना भी सामान्य और सामान्य पदार्थ मांगने वाली। इस युग के सूक्त इसी स्वरूप के हैं। यह युग लगभग सौ साल का है।

(२) दूसरा है भरद्वाज युग। यह भरद्वाज बृहस्पति का पुत्र था। किंतु इस बृहस्पति से देवगुरु या संजीवनी विद्या सीखने वाले कच के पिता को समझना भूल है। यह बृहस्पति था उशिज् ऋषि के तीन पुत्रों में मध्यम। इसके ज्येष्ठ

भाई उचथ्य का ममता नामक स्त्री से विवाह हुआ। ममता के एक पुत्र हुआ जो जन्म से ही अंध था। इसका नाम था दीर्घतमस्। इसके जन्म के बाद थोड़े ही दिन में ममता विधवा हुई। बृहस्पति ने इस भावज के साथ विवाह किया और इस विवाह से ममता को जो पुत्र हुआ वह था भरद्वाज। ममता के इन दोनों पुत्रों ने कई सूक्तों की रचना की। इसी भरद्वाज का पौत्र था विदथिन् भारद्वाज। इसी ने भरत सम्राट् का युवराज बनना स्वीकार किया। क्षत्रोपेत ब्राह्मण तभी से अस्तित्व में आये। पंद्रह पीढ़ी के इस युग में इस कुल के ऋषियों ने बड़ी संख्या में सूक्त रचे। इन्होंने नये यज्ञ भी निर्माण किये और कई नई देवताएं भी इनकी कल्पनाओं से निकलीं। ये भारद्वाज ऋषि "सुवीराः" नाम से अपने को कहते। इनके कई सूक्तों में "मदेम शतहिमाः सुवीराः"—सौ शीतकाल हम आनंद से रहें—यह प्रार्थना वाक्य आता है। छंदों में तो इन भारद्वाजों ने खूब प्रगति की। शक्वरी तथा अतिशक्वरी अर्थात् ५६ और ६० अक्षरों के छंद में भी इनकी कुछ रचना पाई जाती है। किंतु इस युग का लोकप्रिय छंद रहा त्रिष्टुप् और प्रियदेवता रही इंद्र। कहीं-कहीं दान देने वाले दाताओं की प्रशंसा करने वाली भी रचना मिलती है। इस युग का समय भी बड़ा अर्थात् १५ पीढ़ियों का है। इसकी मर्यादा महाभारत पूर्व १५०० से लेकर ११२५ वर्ष तक की है। ऋग्वेद का प्रथम संस्करण इसी युग में हुआ। उस संस्करण के पश्चात् रचे गये सूक्त नव्य या नवीयस् कहलाये गये।

(३) तीसरा है कण्व युग। किंतु यह कण्व ऋषि सम्राट् भरत की जननी शकुंतला का पालक पिता नहीं था। वह कण्व था काश्यप कुल का। यह सूक्त-कार कण्व है एक क्षत्रोपेत ब्राह्मण। पौरव वंश के अजमीढ राजा को केशिनी नामक स्त्री से जो पुत्र हुआ वह है यह कण्व। मेधातिथि प्रभृति इसके वंशज अपने को काण्व कहलाते हैं। इन कण्व ऋषियों ने कई सूक्त बनाये किंतु इनकी रचना में दाताओं की प्रशंसा करने वाले "नाराशंसी" सूक्त बहुत-से पाये जाते हैं। इन्होंने दाताओं की स्तुति भी अतिशयोक्तियुक्त की है। इतिहास की दृष्टि से इन सूक्तों का अच्छा उपयोग होने की संभावना है। इनके सूक्तों में ऐसे कई राजाओं का वर्णन है जिनके नाम हमारे इतिहास में पाये नहीं जाते हैं। इस पर से तथा इन्हें जो दान प्राप्त हुए हैं, उन पर से कल्पना हो सकती है कि ये ऋषि पश्चिम के कई देशों में गये और वहां इन्होंने भारतीय यज्ञ संस्कृति का फैलाव किया। अग्नि देवता पर इनके सूक्त अधिक नहीं हैं। भारद्वाज युग के त्रिष्टुप् छंद का भी इन ऋषियों ने कम उपयोग किया है। छंदों के विषय में शक्वरी से आगे ये नहीं गये। परंतु भिन्न २ छन्दों को मिलाकर इनकी की हुई

रचना पर्याप्त है। आग की उपजाति छंद की उत्पत्ति इन्हीं मिश्र छंदों से हुई होगी। पुनरुक्ति भी इन्हें प्रिय है। शब्द तो पुनरुक्त हैं ही। पर पदसमूह तथा चरण के चरण पुनरुक्त पाये जाते हैं। यह पुनरुक्ति जैसी सूक्तों के अंत में पाई जाती है, वैसी ही कहीं कहीं सूक्तों के आरंभ में भी मिलती है। इस युग का काल सामान्यतया दो सौ वर्ष का है। अर्थात् यह महाभारत युद्ध के पूर्व में पैंतालीसवीं पीढ़ी से ३७वीं पीढ़ी तक का है।

(४) अत्रियुग। अत्रि कुल बहुत प्राचीन समय में इस देश में आ बसा था। पंचनद प्रदेश में इन लोगों ने बड़े-बड़े कष्ट सहकर "बहुगाय्य स्वराज्य" अर्थात् लोकराज्य की संस्थापना की थी। मांधाता के द्वारा वह प्रजासत्ताक राज्य नष्ट होने के पश्चात् एक अत्रि ऋषि मालव देश में आकर वहां इसने अपना आश्रम स्थापित किया। इस अत्रि की स्त्री का नाम था अनसूया। अपने नाम के अनुरूप इसका आचरण था और इसी कारण से इसके आश्रम में भी सभी प्रकार के लोगों को आश्रय मिलता था। किंतु सूक्तकार अत्रि ऋषि इतना प्राचीन नहीं है। इसके सूक्तों में भारत राजाओं का उल्लेख आने के कारण स्पष्ट ही जान पड़ता है कि यह भरत से परवर्ती है। यह अपने को भौम कहलाता है। इसी के एक वंशज श्यावाश्व ऋषि ने किये हुए सूक्त के आधार पर यह उत्तर पांचाल के दिवोदास राजा के पश्चात् का कहा जा सकता है। इन सारे आधारों पर से अत्रियों का समय या अत्रियुग श्रीरामचंद्र के राज्यकाल के कुछ पूर्व और कुछ बाद निश्चित होता है। यह युग भी विश्वामित्र युग के समान छोटा अर्थात् सवा सौ वर्षों का है। पर इस युग में सूक्त रचना खासी अच्छी है। इसी युग में अपाला और विश्ववारा नाम की दो सूक्तकारिणी महिलाएं भी प्रसिद्ध हैं। पुनरुक्ति के साथ ये सूक्तकार अलंकारों का प्रयोग जान बूझकर करते थे। यह बात इन्हीं के "गीर्भिः शुंभंति अत्रयः" इस उक्ति पर से स्पष्ट होती है। परंतु इस कारण से इन सूक्तों में कई जगह कृत्रिमता बहुत आगई है। "एवयामरुत्" नामक ऋषि ने अपने सूक्त की प्रत्येक ऋचा के पूर्वार्ध के अंत में, सान्वय हो या निरन्वय, यह नाम रख ही दिया है। छंदों के बारे में इन काण्व ऋषियों ने कुछ नई बात न की। अपने पूर्वजों की कथाओं को जो वह सुनते आये थे इन्होंने खूब बढ़ा चढ़ा कर बखाना है। इन सूक्तों में पर्जन्य और पृथिवी पर भी एक एक सूक्त है। जिस पर से कल्पना की जा सकती है कि भौम अत्रि का संबंध कृषि से होगा। "मित्रावरुणौ" पर पांच सूक्त इन्होंने किये हैं। इस पर से जान पड़ता है कि नीति कल्पनाओं की पर्याप्त वृद्धि इनके समय में हुई थी। यह युग महाभारत युद्ध पूर्व ९२५ से ८०० वर्ष तक का है।

(५) वसिष्ठ युग। वसिष्ठ कुल इस देश में सबसे पहले आ बसा था। यहां वास करने के कारण से ही ये वसिष्ठ कहलाये गये। सैंकड़ों सालों तक ये लोक कोसल राजा के पुरोहित रहे। रामचंद्र के समय तक ये वहीं रहे, पर रामचंद्र के पश्चात् कोसल देश की गिरती स्थिति देखकर ये प्रथम शूरसेन देश में और अनंतर पांचाल देश में गये। उस समय वहां पर सुदास् नाम का राजा था। एक विश्वामित्र उसका पुरोहित था। पांचाल देश में उस समय मंत्ररचना बहुत हो रही थी। तब तक वसिष्ठ कुल में किसी ने भी मंत्र रचना न की थी। परंतु इस समय एक वसिष्ठ बहुत बड़ा सूक्तकार हो गया। इसके मित्रावरुणौ नामक देवताद्वंद्व पर बनाये गये सूक्त लोगों को इतने पसंद पड़े कि लोग इसे मैत्रावरुणि वसिष्ठ के नाम से संबोधित करने लगे। इसी नाम से उसकी प्रसिद्धि हुई। इस अकेले की सूक्तरचना लगभग सौ सूक्तों की अर्थात् पूरे ऋग्वेद के दसवें हिस्से के बराबर है। यह निरा कवि ही न था। यह बड़ा राजकारणी पुरुष था। सबसे प्रथम इसने अपने काव्य प्रभाव से तत्कालीन विश्वामित्र का मुंह बंद कर डाला। सुदास् ने प्रभावित होकर इसे ही अपना पुरोहित बनाया। विश्वामित्र लोक क्रुद्ध हुए और एक जमदग्नि की सहायता से इन लोगों ने सुदास् और वसिष्ठ में कलह पैदा करके उभय पक्ष के बहुत लोग मरवाये और फिर से अपना पौरोहित्य मिलाया। वसिष्ठ पौरवराज संवरण के पास गया और दस बारह छोटे मोटे राजाओं को मिलाकर सुदास् के विरोध में दाशराज्ञ नाम से प्रसिद्ध युद्ध चलाया। पर युद्ध में सुदास् को ही विजय मिली। संवरण को भागना पड़ा पर वसिष्ठ ने उसका साथ न छोड़ा। सुदास् की मृत्यु के पश्चात् उसने संवरण द्वारा सुदास् के वंशजों को परास्त किया और फिर से संवरण को राज्यपद दिलाया। किंतु ये सारे कार्य करते हुए भी उसका सूक्त रचना कार्य चलता ही रहा। उस समय तक के सारे ही प्रसिद्ध देवों पर वसिष्ठ की सूक्त रचना है। किंतु इनके अतिरिक्त दधिक्रा, वास्तोष्पति इत्यादि नवीन देवों को भी इसकी कल्पना ने जन्म दिया है। इस समय मंत्र तंत्र का प्राबल्य बढ़ा हुआ जान पड़ता है। इस प्रकार की कुछ रचना वसिष्ठ की भी है। इसके काव्य में सुभाषित तो जगह-जगह पर मिलते हैं। शब्द, अर्थ तथा अलंकार की दृष्टि से भी ये सूक्तकाव्य ऊंचे दरजे के हैं। इनमें विनोद की भी मात्रा अच्छे प्रमाण में मिलती है। पर इस युग की सारी ही रचना ऐसी उदात्त नहीं थी। क्योंकि इसी समय वसिष्ठ को अपशब्द कहने वाली विश्वामित्र की "सूक्तियां" कितनी दुरुक्तियां हो सकती हैं, इसका भी प्रमाण प्राप्त है। परंतु इस कारण से वसिष्ठ चिढ़ा नहीं। वसिष्ठ लोगों ने इन सूक्तों को नहीं सुनना चाहिये

इतना ही प्रतिबंध उन पर लगाया जो वैदिक परंपरा में आज भी चल रहा है। आज भी वसिष्ठ गोत्रज उन वसिष्ठ विद्वेषिणी ऋचाओं को न पढ़ते हैं और न सुनते हैं। "देव हमारा सदा ही भला करें" यह वाक्य प्रायः इनके सभी सूक्तों के अंत में "यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः" इस रूप में मिलता ही है। यह लगभग सौ साल जीवित रहा और इतनी ही वर्षगणना इस युग की है। महाभारत पूर्व ८०० से ७०० वर्ष तक ही इस युग का समय है।

(६) वसिष्ठ मैत्रावरुणि युग के पश्चात् यह वामदेव युग आता है। इसका परिमाण लगभग दो सौ वर्ष का है। यह अपने को गौतम कहलाता है और अपने सूक्तों में दीर्घतमस् ऋषि का उल्लेख करता है जिस पर से जान पड़ता है कि वह दीर्घतमस् के कुल का है। इसके सूक्तों में अनेक राजाओं के उल्लेख आते हैं। इन पर से स्पष्ट है कि यह उनका परवर्ती है। साथ ही "कुमारः साहदेव्यः दीर्घायुरस्तु सोमकः" इस वाक्य पर से सुदास् का पौत्र और सहदेव का पुत्र सोमक का और वामदेव ऋषि का काल एक ही जान पड़ता है। सामपद्धति इसी के समय से शुरू हुई। यह स्वयं ही कहता है कि "अत्यंत रहस्य ऐसा साम अग्नि ने मुझे कहा"। इसी के पुत्र का नाम है बृहदुक्थ--उक्थ अर्थात् स्तुति को बढ़ाने वाला। सामगान के ही द्वारा उक्थ लंबाया जाता है। बृहदुक्थ ने इस पद्धति का आरम्भ किया और एक सामगान का नाम ही वामदेव्य रख दिया। इस नवीन प्रथा के कारण बुद्धिमानों का ध्यान सूक्त रचना पर से गान पद्धति पर अधिक केंद्रित हुआ। सूक्त रचना का काम थोड़ा शिथिल पड़ा। इसी युग में "ये देवासो अभवत सुकृत्या"—जो अपने अच्छे काम से देव बन गये, ऐसे ऋभु भी प्रसिद्ध हुए। कृषि देवता भी इसी समय आगे आई। छंदों के विषय में इस युग में वृद्धि होकर अष्टि और धृति नाम के ६४ और ७२ अक्षरों के छंद निर्मित हुए। इन छंदों में वे ही शब्द बारबार थोड़े-थोड़े फरक से पाये जाते हैं। जिस पर से सामगायन की छाप उन पर स्पष्टतया जान पड़ती है। इन सूक्तों में कल्पना भरी हुई है और इसी कारण ये सूक्त वास्तव से दूर पड़ते दिखाई देते हैं। इस युग की समाप्ति महाभारत युद्ध पूर्व ५०० वर्ष है।

(७) ऋग्वेद सूक्त रचना काल का यह अंतिम युग। वेद-व्यास के काल तक का ५०० वर्षों का यह युग है। इस युग की रचना भिन्न-भिन्न प्रकार की है। कुछ सूक्तकारों ने पुराने सूक्तकार इस समय होते तो कैसा लिखते इसकी कल्पना कर भी सूक्त बनाये हैं। यह काल विशेषतः एकीकरण को अधिक अनुकूल जान पड़ता है। पुराना वाङ्मय एकत्रित करने का यह काल था। प्राचीन सूक्त केवल एकत्रित ही नहीं किये गये अपितु वे लेखबद्ध होकर उनमें बदल न हो इस

हेतु से उनके पदों की संख्या भी गिन कर अंकित की गई। इस युग का सर्व-श्रेष्ठ सूक्तकार है गृत्समद। शुनहोत्र भरद्वाज का यह पुत्र था। किंतु किसी कारणवश यह शौनक कुल में जाकर मिला और उसी नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी का नाम इस युग को दिया है। यह बड़ा कल्पक था। लोक दूसरे किसी को ही इंद्र समझ रहे हैं और यह उन्हें सत्य समझा रहा है इस कल्पना से "स जनास इन्द्रः", वाक्य की पुनरुक्ति कर इसने एक बड़ा सुन्दर सूक्त रचा है। ब्रह्मणस्पति देव की कल्पना इसी के मस्तिष्क से निकली है। सब मिलाकर देखा जाय तो इस युग में कल्पना साम्राज्य ही अधिक दीख पड़ता है। इस कारण कई असंभाव्य बातों का वर्णन इस युग के सूक्तों में पाया जाता है। बहुत-सी संवादरूप सूक्तरचना इसी युग की है। मंत्र तंत्रों का प्रभाव तो खूब ही फैला हुआ जान पड़ता है। इस कारण "सपत्ननाशन"—शत्रु का नाश करने वाले ही नहीं अपितु सपत्नियों का अर्थात् सौत स्त्रियों का नाश करने वाले भी सूक्त इस युग में रचे गये। फिर अलक्ष्मी अर्थात् दरिद्रता, यक्ष्मा अर्थात् क्षयरोग, और तो क्या रात को बुरा स्वप्न आया तो उसका भी बुरा परिणाम न होने वाले मंत्र रचे गये तो आश्चर्य ही क्या? एक तरफ ऐसी भोली भाली-सी कल्पनाएं मिलती हैं तो दूसरी ओर सूक्ष्मातिसूक्ष्म और उच्चात्युच्च विचारों से भरे सूक्त भी इसी युग की देन हैं। जिन कुछ विचारों के आधार से हम वैदिक संस्कृति की श्रेष्ठता निश्चित करते हैं, उन विचारों को व्यक्त करने वाले कई सूक्त इसी युग में निर्मित हुए। ऐसा है यह अंतिम लगभग पांच शतकों का युग।

२८. सात ही युगों की विशेष बातें संक्षेप में ऊपर दी हैं। ऋग्वेद के सारे १०२८ सूक्त इन सात युगों में विभक्त हैं। किस युग में कौन-सा सूक्त क्यों समाविष्ट किया गया है, इस कारण के साथ प्रत्येक युग में आने वाले सारे ही सूक्तों का विचार आगे किया जाने वाला है। पर उसके भी पूर्व में ऋक्पूर्व युग का भी विचार करना आवश्यक है। क्योंकि यह युगवार विभाजन समझने में उसकी थोड़ी बहुत सहायता मिलने वाली है। अतएव थोड़ा थोड़ा करके भी पर्याप्त रूप में बढ़ा हुआ यह उपोद्घात यहीं समाप्त कर अगले प्रकरण में "ऋक्पूर्व युग" का ही विचार करने का विचार है।

———

द्वितीय प्रकरण

ऋक्पूर्व युग

१. ऋक्पूर्व युग। यह शब्द सुनकर ही कई पाठकों के मुखों पर स्मित रेखा चमकने लगेगी। ऋग्वेद के अनादित्व के विषय में हम लोगों ने जो कल्पनाएं बना रखी हैं उनके कारण से भूतकाल को प्रच्छन्न करने वाली वेदों की एक ऐसी दीवार खड़ी कर दी गई है कि जिसके आड़ में क्या है उसका विचार करना भी एक प्रकार की अश्रद्धता समझी जाती है। पर मुझे यही कहना है कि इसमें अश्रद्धा कुछ भी नहीं है। श्रद्धा और मेधा बिल्कुल भिन्न हैं, पर एक के बिना दूसरी व्यर्थ है। प्रगति के हेतु दोनों का सहकार्य आवश्यक है। इसलिये न मेधा को श्रद्धा से डरना चाहिये और न श्रद्धा को मेधा से। गत उपोद्घात प्रकरण में दिखलाया जा चुका है कि ऋग्वेद अनादि नहीं है। गाथिपुत्र विश्वामित्र के गायत्री मंत्र से उसका आरंभ हुआ तथा वेद व्यास के संहितीकरण के बाद मंत्र रचना के काम को विराम मिला। महाभारत युद्ध के पश्चात् ब्राह्मण ग्रंथ रचे गये, उपनिषद्विद्या का प्रसार हुआ और दर्शन ग्रंथ भी निर्माण हुए। पर वेदव्यास के बाद किसी ने मंत्र रचना करने की धृष्टता नहीं की। इसका कारण खोजने का यह स्थान नहीं। यहां पर विचार करना है केवल विश्वामित्र पूर्व काल का। यह काल आद्यवसिष्ठ तक पीछे जाता है। तब तक की बत्तीस पीढ़ियों की हमें थोड़ी बहुत जानकारी मिलती है। परंतु उसके पूर्व का हमें कुछ भी ज्ञान नहीं या उसका वर्णन करने वाला कोई ग्रन्थ नहीं। अतएव ऐसे अज्ञात और निराधार काल के विषय में कुछ अकल्पनीय कल्पनाएं करने की अपेक्षा आदि वसिष्ठ से लेकर गाथिन विश्वामित्र तक के ही काल का इस प्रकरण में विचार करना है।

२. यह ज्ञान प्राप्त करने का हमारा मुख्य साधन है पुराण और उसमें आये हुए क्रमवार नाम। पर यहां हम लोगों में जो एक मिथ्या कल्पना रूढ हुई है उसका निरास करना नितांत आवश्यक है। हमारे सारे प्राचीन ज्ञान का आधार माना जाता है—श्रुति, स्मृति तथा पुराण। कल्पना यह है कि सबसे पुरानी है श्रुति, स्मृति उसके अनंतर की है, और पुराण तो उसके भी बाद के हैं। आज श्रुति, स्मृति तथा पुराण नाम से जो ग्रंथ विद्यमान हैं, उन ग्रंथों की

दृष्टि से यह कालक्रम ठीक ही है। पर यदि दूसरी दृष्टि से देखा जावे तो यह पूर्वापर क्रम उल्टा हो जावेगा। और यह दृष्टि है आशय की ओर देखने की। पुराण का रूप अवश्य नया है पर उसमें दी हुई बातें "पुराण" संज्ञा के अनुरूप पुरानी हैं। मान लो कि किसी नये लेखक ने किसी पुरानी बात का वर्णन किया है। केवल नये लेखक के द्वारा लिखी जाने के कारण उस पुरानी बात का पुरानापन नष्ट नहीं हो सकता। "पुराण" संज्ञा ही स्पष्ट करती है कि उसमें कथित बातें पुरानी हैं, प्राचीन हैं। उसमें जो व्यक्ति आई हैं। वे पुरानी हैं। अन्यथा उसे "पुराण" कहने की ही आवश्यकता न थी। वे प्राचीन लोक क्या विचार रखते थे, कैसा व्यवहार करते थे, उनका आचार क्या और कैसा था, इन बातों की याद करके जो ग्रंथ रचे गये उन्हें नाम दिया गया "स्मृति"। "स्मृति" संज्ञा ही इस बात को स्पष्ट करती है। अर्थात् स्मृतियों में दिये हुए आचार व्यवहार पुराने काल के हैं, केवल वे ग्रथित किये गये हैं नये शब्दों में? उनकी भाषा नवीन है, पर आशय उन प्राचीन लोगों के बाद का पर फिर भी प्राचीन। लोक पहले होते हैं, उनका आचार व्यवहार पीछे। अंत में ऋषि कवियों ने जैसे रचे, उनके मुख से जैसे सुने, उसमें एक शब्द का भी परिवर्तन न करते हुए जो ग्रथित हुए वे हैं श्रुति ग्रंथ। "श्रुति" संज्ञा भी यही प्रमाणित करती है। श्रुति जैसी सुनी थी वैसी ही बनी। जैसे और जिन शब्दों में सुने वैसे ही नहीं पर यादगारी से बनाई गई स्मृति। इसकी भाषा रचयिता की पर आशय तत्कालीन नहीं। आचार प्राचीन पर उसे कहने वाले शब्द नये, श्रुति के बाद के। उसी रीति से पुराण कथित व्यक्ति उनके नाम तथा कालक्रम सब पुराना। केवल उन प्राचीन कथाओं को कवियों ने अपनी काव्यमय भाषा में और नये रूप में लिखा। यह स्वरूप है स्मृति के बाद का। यह उल्टा पुल्टा दोनों प्रकार का स्वरूप तथा आशय की दृष्टियों से बना हुआ कालक्रम ध्यान में रखना आवश्यक है। इस पर से आगे का विवेचन समझने में सुविधा होगी।

३. किंतु यह विचारणीय विषय है कि इन पुराने नामों पर से जानकारी कैसी मिल सकती है? यह प्राप्त करने की एक रीति है और उसी का अवलंब प्रधानतया यहां किया गया है। किसी भी व्यक्ति को कोई विशिष्ट नाम ही क्यों दिया जाता है, इस प्रश्न का विचार बड़ी गहराई से शौनक के बृहद्देवता नामक ग्रन्थ में किया हुआ है। वैदिक देवताओं का या लौकिक व्यक्तियों का कोई नाम किस कारण से प्रसिद्ध होता है, यह प्रश्न उठाकर, उस पर कई आचार्यों के मत देकर शौनक अपना सिद्धान्त स्वरूप उत्तर देता है—"कर्मतः"—"किसी क्रिया पर से"। आरंभ का नाम प्रसिद्ध होता है उसके किसी काम से।

"न नामास्ति निरर्थकम्"—नाम किसी कार्य के बिना नहीं पड़ता। एक बार उसके रूढ़ हो जाने पर फिर उस नाम की धारणा करने वाला और नाम दिये जाने की क्रिया या गुण इसमें संबंध नहीं रहता। पर वह संबंध प्रारंभिक नाम से अवश्य ही रहता है। आज "गंगाधर" नामक व्यक्ति गंगा को धारण न करता हो, पर जब शंकर को गंगाधर नाम मिला, तब वह गंगा के धारण करने से ही मिला, इसमें संदेह नहीं। पुराण ग्रंथ में विश्वामित्र के पूर्व बत्तीस पीढ़ियों का नाम निर्देश है। इन नामों में लगभग डेढ़ सौ नाम प्रथम प्रयुक्त हैं। इन नामों के अर्थों पर से कर्मों की कल्पना करना और इस प्रकार विकास का क्रम निश्चित करना यही वह रीति है जिसके आधार से उपलब्ध जानकारी इस प्रकरण में दी जाने वाली है।

४. ज्ञात काल के आरंभ में इस देश में वसिष्ठ वर्ग के लोक हिमाचल के उत्तर से आये और कोशल देश में बसे। अपने में से ही इन बुद्धिमान लोगों ने एक बलशाली इक्ष्वाकु नाम का राजा बनाया : उसी समय हिमाचल के दूसरे मार्ग से 'पुरूरवा' नामक बलशाली व्यक्ति ने कोसल देश के किंचित पश्चिम में गंगा नदी के उत्तर तीर पर प्रतिष्ठान नामक नगरी बसाई। पुरूरवा के साथ ही अग्नि निर्माण करने की कला जानने वाले भृगु कुल के लोग आये। कोसल देश में प्रथम बुद्धि और फिर बल का प्रवेश हुआ तो दूसरी ओर प्रथम बल और पश्चात् बुद्धि के लोग आये। पर दोनों प्रकार के लोग आपस में पूरे मेलजोल से रहे जिससे दोनों भी प्रगति कर पाये। पर फिर भी बुद्धिमानों का ही प्रभाव अधिक रहा और बलशाली लोग बुद्धिमानों का ही कहना मानते रहे। वसिष्ठ की सलाह मान इक्ष्वाकु ने अपने शशाद नामक पुत्र को उसके कुकृत्य के लिए राज्य के बाहर निकाल दिया। पुरूरवा जब पागल बन कर बुरे काम करने लगा तो इन्हीं बुद्धिमानों ने उसे दूर हटाकर उसके आयु नामक पुत्र को राजपाट समर्पित किया। कोसलाधीश ककुत्स्थ का पुत्र वेन जब प्रजा पीड़न करने लगा तो बुद्धिमानों ने ही उसे मारा और उसके पुत्र पृथु को राजा बनाया। आयु का लड़का नहुष जब मदमाता बन बुद्धिमानों के सिर पर चढ़ने लगा तब इन्हीं लोगों ने उसे भूमि पर गिरा उसकी टांगें पकड़, जैसे किसी अजगर को खींचते हैं वैसा उसे घसीटा। एवं सर्वत्र बुद्धिमान ब्राह्मणों के आधार से ही बलवान् क्षत्रिय चलते दिखाई देते। इसी कारण से नहुष के एक पुत्र ने राजा बनने से इन्कार किया, एक लड़की ने ब्राह्मण के साथ विवाह किया और दूसरे एक पुत्र ने ब्राह्मणों की सहायता बिल्कुल न ले काशी का राज्य संस्थापित किया और बड़े ठाठ से स्वयं 'क्षत्रवृद्ध' कहलाया।

५. परंतु सारे ही लोगों के बात ध्यान में आ गई कि सारी ही बातें अकेली बुद्धि से, अकेले बल से, या बल और बुद्धि दोनों से प्राप्त नहीं होतीं या हो नहीं सकतीं। आकाश से वृष्टि होना यह उदाहरण के लिए ऐसा काम है जो बल या बुद्धि से नहीं हो सकता : इन दोनों से परे एक ऐसी अदृश्य या अज्ञात शक्ति है जिससे इन दोनों से न मिलने वाले पदार्थ प्राप्त होते हैं या जिसके सामने बल और बुद्धि दोनों का कुछ चल नहीं सकता। इस शक्ति को अनुकूल कैसे किया जाय इसका विचार होने लगा और इसी विचार में से इस अतिमानव शक्ति के दो रूपों की कल्पना निकली—एक घोर और दूसरी शिव। प्रथम रूप को संतुष्ट करने के तथा दूसरे रूप के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के हेतु मनुष्य ने प्राप्त वस्तुओं का कुछ थोड़ा-सा भाग अर्पण करने की कल्पना अपने ही आपसी व्यवहार पर से निकाली। इसी समर्पण क्रिया का नाम यज्ञ है। अतर्क्य शक्ति की तथा उसे कुछ अर्पण करने की दोनों कल्पनाएँ बहुत ही प्राचीन हैं। भगवद्गीता अर्जुन को कहने वाले कृष्ण के मत से तो यह कल्पना बड़ी प्राचीन अर्थात् मनुष्य की उत्पत्ति के ही साथ की है। यह बात "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा" इस वाक्य पर से स्पष्ट ही है। इतनी प्राचीन न भी मानें तो इतना मानने में तो हानि नहीं कि विचार शक्ति मनुष्य में उत्पन्न होने से ही यह कल्पना मनुष्य ने मानी है। अत्यंत प्राचीन समय में उस शक्ति को अर्पित यह भाग कहीं दूर ले जाकर रखते होंगे जिससे कि उस अर्पित भाग का पुनः भोग लेने की बुद्धि पैदा ही न हो।

६. शनैः शनैः बुद्धि और बल के परे रहने वाली और कई अच्छी बातें देने वाली शक्ति विचारकों को सूर्य में दिखाई दी। सूर्य की गति, उसका प्रकाश, उसकी उष्णता इत्यादि बातों पर किसी दूसरे की सत्ता नहीं चलती। यह देखते ही जो शक्ति, अदृश्य, अज्ञात, अतर्क्य थी, उसका प्रतीक बुद्धिमानों ने सूर्य के प्रकाशमय तेजोगोल में देखा। अतएव उस तेजोगोल को देवत्व प्राप्त हुआ। देव शब्द का मूल अर्थ भी चमकने वाला, प्रकाशक यही है। इसी प्रकार प्रकृति में जो अन्य शक्तियां हैं, उन्हें भी देवत्व प्राप्त हो मनुष्य ने अपनी कल्पनानुसार उसे रूप दिया और उसका नाम पुकार उसे इष्ट पदार्थ समर्पित होने लगे। समर्पण के अवसर पर उस देवता के लिये "इदं, न मम" ऐसा कहते होंगे। सबसे प्रथम समर्पण क्रिया में इसी गद्यवाक्य का प्रयोग किया गया होगा। अन्यथा कहीं भी इसका निर्देश न होते हुए भी इसका सार्वत्रिक प्रयोग होने का दूसरा कोई कारण नहीं दीखता। इस क्रिया को "होत्र" नाम प्राप्त हुआ। "हूयते अनेन इति होत्रम्" देवता का आवाहन जिससे होता है, उसी को होत्र कहते हैं।

यह "ह्वे" बुलाना इस धातु का रूप है। सायण ने होत्र शब्द का यही अर्थ किया है। अर्थात् किसी देव का नाम पुकार उसके लिये यह है, यह अब मेरा नहीं ऐसा ही प्रथम कहा जाता होगा। अपनी वस्तु को समर्पण करने की क्रिया सुख से आनंद से करने वाला राजा काशी में हुआ और इसीलिये उसका नाम शुनहोत्र पड़ा।

७. होत्र कर्म का आरंभ इस प्रकार से हुआ। पर "न मम' शब्दों के साथ देवता को अर्पण की हुई वस्तु का उस देवता ने स्वीकार किया या नहीं, यह समझने का कोई निश्चित साधन नहीं था। पक्षान्तर में जब वही वस्तु पशु, पक्षी, कीटक, आदियों का भक्ष्य बनती हुई दीखती तब तो शंका ही उत्पन्न होती थी कि अर्पित वस्तु का स्वीकार उस देव ने किया या इस भक्षक जीव ने। पर आगे जब भृगु ब्राह्मणों ने अग्नि को भी देव माना और "इदं न मम" कह कर अग्नि को अर्पित पदार्थ अग्नि में ही डालने का आरंभ हुआ, तब वह पदार्थ अग्नि रूप हो जाने के कारण उसके अग्नि स्वीकार के विषय में शंका लेने का कारण ही न रहा। इसलिये दूसरी देवताओं के विषय में भी समर्पित वस्तु अन्यत्र कहीं रखने की अपेक्षा अग्नि को ही "उस देवता के लिये कहता हूं, अब यह मेरी नहीं" इस वाक्य के साथ समर्पित की जाती और अग्निदेव उस वस्तु को उक्त देव के पास पहुंचाता है, यह माना जाता। इस प्रकार अग्नि देव हविर्भाग पहुंचाने वाला "वह्नि"—वहन करने वाला बना। अग्नि प्रज्वलित करना और जिस देवता को हवि देना हो उसका नाम लेकर वह पदार्थ अग्नि के स्वाधीन करना, यही प्रथा प्रचलित हुई। स्वयं की इच्छा के अनुरूप होने वाली इस क्रिया को व्यक्त करने वाला "स्वा+आह" मिलकर बना हुआ स्वाहा शब्द रूढ हुआ और पूर्व के इदं न मम" शब्दों के साथ "अमुकदेवतायै स्वाहा, अमुकदेवतायै इदं, न मम" ऐसा कहा जाने लगा। स्वाहा शब्द की यह व्युत्पत्ति कृष्ण यजुर्वेद में अंकित कर ही रखी गई है। इसी कारण से इस क्रिया को स्वाहा कृति या स्वाहाकार यह संज्ञा दी गई। जो कर्म होत्रनाम से प्रसिद्ध था उसी का रूपांतर स्वाहाकार में हुआ।

८. सब देवों को हविर्भाग पहुंचाने वाला अतएव अग्नि का नाम "वह्नि" तथा स्वइच्छानुसार इष्ट देवता का उच्चार कर हविर्भाग देने की क्रिया का नाम "स्वाहा" रूढ होने पर ये नाम भी प्रचलित हुए। यादव वंश के एक राजा का नाम स्वाहाकारों के कारण "स्वाहि" पड़ा और तुर्वसु वंश का एक राजा अपने को वह्नि कहलाने लगा। अब अपनी-अपनी इष्ट देवता को हवि भागअग्नि में डाल कर तृप्त करने का मार्ग निकला और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की इच्छाओं के

अनुसार नये नये देवों की भी कल्पनाएं चलने लगीं। इनमें से किसी भी देवता को कुछ समर्पित करना धर्म अर्थात् कर्त्तव्य माना गया। यह काम कभी कोई स्वयं करता या कभी किसी से करवाता। जब काम दूसरे के हाथों करवाया जाता तो उसे कुछ देना भी पड़ता और इन दान को भी सत्कृत्य ही मानते। इस प्रकार के दान धर्म से पास की वस्तुओं का विभाजन होता और धर्म इस प्रकार समाज का धारण करने वाला भी बनता। स्वयं उपभोग न लेकर व दूसरे को कुछ देकर सुख मानना यह धर्म की एक स्वार्थ निरपेक्ष नयी दृष्टि हुई और इस प्रकार की दृष्टि रखने वाला एक राजा "धर्मनेत्र" इस संज्ञा से ही पहचाना गया। पुराना होत्र कर्म स्वाहाकार में बदला जाने पर वह सुहोत्र बना और एक राजा ने वही नाम धारण किया। शनैः शनैः इस यजन याजन क्रिया का "यज्ञ" ही सर्वमान्य वाचक हुआ। यज्ञ अर्थात् यजन क्रिया--देवता समर्पण कर्म। फिर वह कर्म स्वयं किया हो या किसी अन्य के हाथों करवाया हो।

९. अब यज्ञ का स्वरूप, प्रक्रिया तथा विधि विधान भी विकसित होने लगा। सब ही इस धर्म कार्य को कर्त्तव्य समझ कर करते या करवाते। जिन लोगों के द्वारा यह कर्म करवाया जाता, उन्हें यह कर्म जितने समारोह से हो सके उतना करने के लिये कहा जाता ही होगा। आज भी हम इसी प्रवृत्ति को देखते हैं कि केवल भक्ति पूर्वक ईश्वर स्मरण के स्थान में भक्तों की भक्ति प्रदर्शित हो ऐसे ही समारोह किये जाते हैं। जो किया जाय वह लोगों को भली भांति दिखे और लोगों में करने कराने वाले दोनों की प्रतिष्ठा बढ़े, यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है। तदनुसार पुरोहित लोगों के द्वारा जो राजा लोग यज्ञ करवाते, वे स्वाभाविकतया ही चाहते कि वह यज्ञक्रिया विस्तारपूर्वक हो, स्वयं को तथा अपनी प्रजा को इष्ट पदार्थ प्राप्त कराने के लिये देवताओं को विधि विधान पूर्वक संतुष्ट किया जावे। इसी प्रकार यह यज्ञ कर्म करने वाले पुरोहितों को अच्छे-अच्छे पदार्थ दिये जावें और उनके द्वारा अपनी कीर्त्ति प्रसृत की जावे यह इच्छा भी अस्वाभाविक न थी। इष्ट कामनाएं भी अनेक प्रकार की होती हैं और तदनुसार अपने-अपने इष्ट देवों को भिन्नभिन्न पदार्थ देने की इच्छा होती और इन सभी पदार्थों का समावेश यथासंभव यज्ञ कर्म में किया जाता। देवताशक्ति कुछ समर्पण करने से प्रसन्न होती है या उसका प्रकोप दूर किया जा सकता है, यह कल्पना रूढ होते ही स्वयं जिसे चाहते हैं वही देवताओं को दिया जाय और वही उनसे प्राप्त किया जाय यह प्रदानादान की क्रिया सहज रूप से रूढ हो गई। श्रीमद्भगवद्गीताकार ने तो "इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञ-

भाविताः। तैर्दत्तान् अप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः" इन स्पष्ट शब्दों में यह प्रक्रिया बतलाई है और इस प्रकार समर्पण न करने वालों को "स्तेन" अर्थात् "चोर" कहने को भी कम न किया।

१०. "देवता को दो और उससे लो" इस कल्पना पर से ही यह कल्पना प्रसृत हुई कि यदि पशुधन मिलाना चाहते हो तो पशु को अग्निसमर्पण करो। साथ ही यह भी माना जाने लगा कि देवतार्पण के लिये की हुई हिंसा हिंसा नहीं होती। यज्ञ को इसी कारण से "अध्वर" यह संज्ञा दी गई। अध्वर शब्द का मुख्यार्थ "यत्र ध्वरा न भवति" —जहां हिंसा नहीं होती इतना ही है। पर यदि केवल यही अर्थ लिया जावे तो हिंसारहित सारे ही कामों को अध्वर कहना पड़ेगा। पर वैसा सामान्यतया न कहा जाकर यह अध्वर शब्द यज्ञ का ही वाचक माना जाता है। ऐसा भी नहीं कह सकते कि पहले यज्ञ में हिंसा होती हो और हिंसा बंद करने के बाद यज्ञ को अध्वर कहा गया हो। क्योंकि अध्वर शब्द विशेषकर पशुयज्ञ को ही लगाया जाता है इस पर से यही कल्पना सुसंगत जान पड़ती है कि जहां ध्वरा अर्थात् हिंसा होकर भी हिंसा नहीं मानी जाता, वही अध्वर है। अहिंसा की कल्पना भी संस्कृतिविकास की द्योतक है। इस प्रकार जब अध्वर शब्द यज्ञ के लिए रूढ हो चुका तब अध्वर कर्म करने वाला "अध्वर्यु" कहलाया गया। यज्ञ का यही मुख्य है ऋत्विज। यज्ञ के लिये वेदि तैयार करना, समिधा तोड़ लाना, यज्ञपात्र जमा करना, काष्ठमंथन से अग्निनिर्माण करना, पशु को लाना, उसे मारना, और अग्नि में उसकी आहुति देना ये सारे काम इसी अध्वर्यु के स्वाधीन थे। अब ये सारे काम मनमानी रीति से या चाहो उस क्रम से किये जावें तो वे व्यवस्थित रूप से नहीं हो सकेंगे। अतएव उनकी क्रमबद्ध व्यवस्थित विधि भी इसी समय निश्चित हुई होगी। निश्चित विधि निश्चित क्रम से ही करनी हो तो वह क्रम याद रखना पड़ता है और याद रखने के लिये कुछ वाक्य तैयार कर उन्हें उसी क्रम से बार-बार कहना भी आवश्यक है। इस प्रकार बने गद्यवाक्य यही थे अध्वर्यु को आवश्यक सबसे पहले के मंत्र। इन मंत्रों को ही कहा जाता है "यजुस्" और ये सारे यजुर्मंत्र एकत्रित करके जो ज्ञान सिखाया जाता है उसी को कहते हैं—यजुर्वेद या अध्वर्यु वेद।

११. इस यजुर्वेद का या अध्वर्युवेद का आप चाहो वह भाग लीजिये और पढ़िये। उसमें आपको यही मिलेगा कि यज्ञकर्म कैसे व किस क्रम से करना चाहिये। उदाहरणार्थ समिधा काटते समय अध्वर्यु कहता है—"तिर्यक् पर्व ते रुध्यासम्"—मैं तुझे गांठ के ऊपर टेढ़ा काटता हूं। 'संभरामि'--इकट्ठा

करता हूं। "संनह्ये—बाँधता हूं। इस गट्ठे को "बाहुभ्यामुद्यच्छे"—दोनों हाथों से उठाता हूं। फिर कहता है—"मूर्ध्ना हरामि" सिर पर से ले जाता हूं। मूलभूत इन विधिवाक्यों को एकत्र किया जाय तो प्रारंभिक यजुर्वेद का स्वरूप सहज में समझा जा सकता है। अब कर्म कैसे किये जायं के बजाय क्या करना चाहिये ऐसे विधिवाक्यों को देखिये। यज्ञ के लिये मण्डप खड़ा करना हो तो "प्राचीनवंशं करोति"—जिसका बांस पूर्वदिशा को आगे निकला हो ऐसा बनाता है। "परिश्रयति" उसे चारों ओर से बंद करता है। "दिक्ष्वतीकाशान् करोति"—सब दिशाओं में आकाश दिखता रहे ऐसा खुला रखता है। इत्यादि। आगे देखिये—"अप्सु स्नाति", "तीर्थे स्नाति", "अपोऽश्नाति", "वाससा दीक्षयति" इत्यादि। आज जो यजुर्वेदसंहिता मिलती है, उसमें इन आज्ञाओं के बीच-बीच में इन आज्ञाओं का पालन क्यों करना चाहिये, यह भी उपपत्ति के साथ दिया रहता है। किंतु उस पर से भी स्पष्ट समझा जा सकता है कि उसका प्राचीन मूल रूप कैसा होगा। अब स्पष्टतया दिया हुआ क्रम भी देखें। "पथ्यां स्वस्तिं यजति। पथ्यां स्वस्तिमिष्ट्वा अग्निषोमौ यजति॥ अग्नीषोमाविष्ट्वा सवितारं यजति। सवितारमिष्ट्वा दितिं यजति।" इन वाक्यों में पौर्वापर्य क्रम स्पष्ट ही दिया हुआ है। कहीं-कहीं पौर्वापर्य-सूचक शब्द छोड़कर केवल एक के पश्चात् एक स्वाहाकृति ही कही गई है। उदाहरण—अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, वायवे स्वाहा, अपां मोदाय स्वाहा, सवित्रे स्वाहा, सरस्वत्यै स्वाहा, इंद्राय स्वाहा, बृहस्पतये स्वाहा, मित्राय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा, सर्वस्मै स्वाहा। पूर्वोक्त उदाहरणों पर से मूल यजुर्वेद स्वरूप की कल्पना स्पष्ट हो जाती है। यज्ञ कर्म करते समय जिन शब्दों का या वाक्यों का उच्चार करना पड़ता है, वे शब्द या वाक्य ही "यजुस्" संज्ञक हैं।

१२. यज्ञ का यह विधिविधान और उसे बतलाने वाले वाक्यों का संग्रह ही यजुर्वेद का मूल रूप था। यजुर्वेद की यह रचना राजा जह्नु के पूर्व अर्थात् विश्वामित्र के पूर्व लगभग दस पीढ़ियों के समय में हो चुकी थी। इसी आधार पर कान्यकुब्जदेश के राजा जह्नु ने प्रथम व्यवस्थित यज्ञ करने का विचार किया। गंगा के तट पर सारे यज्ञिय पदार्थ एकत्रित किये गये, कुंड मंडप बनाये गये। पर गंगा नदी को एकदम से पूर आया और उस बाढ़ में सारी तैयारियां बह गईं। यज्ञ संपन्न न हो सका। इसी प्रकार की गई तैयारियां व्यर्थ न होने के हेतु क्या करना चाहिये, इसका विचार हुआ और निश्चय किया गया कि नदी के उद्गम की दिशा में बांध बांधा जाय और उसी बंधे पानी से नहरें निकाली जावें

तथा उस पानी से खेत पिलाये जावें। कल्पना स्वाभाविक थी और राजा जह्नु ने इसे अमल में लाकर गंगा के नहर बनवाये। नहरों के द्वारा कृषि होने लगी। यह कथा प्रसिद्ध ही है। आगे जह्नु का यज्ञ पूर्ण हुआ या नहीं इसकी जानकारी कहीं मिलती नहीं। पर यज्ञविधि में यज्ञ का स्थान कैसा हो और कहां हो इस विषय का विचार प्रविष्ट हो "प्रवते जुहोति"—ऊंची एकसी जगह हो वहीं यज्ञ किया जाय, इस वाक्य को विधिवाक्यों में स्थान मिल गया। राजा जह्नु के पश्चात् यज्ञ सामग्री बह जाने का वर्णन कहीं नहीं मिलता। पक्षांतर में जान तो यही पड़ता है कि यज्ञ भलीभांति होते रहे। इसीलिये तो जह्नु की अगली ही पीढ़ी में यादव वंश का एक राजा सुयज्ञ नाम से ही प्रसिद्ध हुआ। इसी समय द्रुह्यु के वंशज गांधार के भी पश्चिम में पहुंच म्लेच्छाधिप बन रहे थे। पर उन्होंने अपने साथ यहां की संस्कृति, यहां के यज्ञ, यहां के पूरोहित और यहां का धर्म उधर भी फैलाया और इसी कारण द्रुह्यु वंश में "धर्म" नाम से ही एक राजा प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार यहां के यज्ञ और यहां के मित्रवरुणनासत्यादि देव भी म्लेच्छ देशों में पहुंचे और राजधर्म के नाते वहां मान्य हुए।

१३. यज्ञ प्रसार के साथ ही यजुर्वेद का भी विकास होता गया। आरंभ में जब कोई विधि कार्य किया जाता है तब वह करने वाला अपनी इच्छा के अनुसार करता है। वह अकेला ही उस विधि को कैसा करना चाहिये और कैसा न करना चाहिये, इस बात का निश्चय करता है। फिर उसका अनुकरण होता है। अनुकरण होते-होते उसे नियम का स्वरूप प्राप्त होता है। नियम बनाने की आवश्यकता इसलिये प्रतीत होती है कि नियम न हो तो प्रतिवार मनमाना करने से अनवस्था प्रसंग उपस्थित होता है। इसलिये व्यवस्था तथा परंपरा बनी रहने के हेतु से नियम बनाये जाते हैं। किसी भी विधि का निश्चय ऐसे ही किया जाता है। प्रारंभ में विधि के अंगों में कुछ कारण या प्रयोजन रहता है। पर नियम बनने के पश्चात् आरंभिक बातें वैसी ही नहीं रहतीं। बहुत दिनों के बाद तो वैसी रहती भी नहीं। फिर उनकी नये सिरे से खोज की जाती है। कभी कभी असली कारण न मिला तो काल्पनिक कारण का भी सहारा लेना पड़ता है। होते-होते कारणमुक्त होकर वह नियम रूढ़ि के रूप में परिवर्तित होता है। रूढ़ि बन जाने पर जनमानस पर उसकी अमिट छाप बैठती है। रूढ़ी भली है या बुरी इसका विचार करने को भी लोग तैयार नहीं होते। फिर कारण की खोज करना तो दूर ही है। कई बार कुछ भी संबंध न रखने वाली बात केवल किसी निमित्त कारण से किसी विधि से नित्य संबद्ध बन जाती है। यजुर्वेद का अध्ययन करने से ऐसी कई बातें स्पष्ट होती हैं। उदाहरण के स्वरूप में यज्ञ में कुश का संबंध

कैसे आया और बुद्धिमान लोगों ने उसका कैसा अच्छा उपयोग किया यह देखने योग्य है।

१४. सच देखा जाय तो साध्य साधन या कार्यकारण की दृष्टि से कुशों का यज्ञ से कुछ भी संबंध नहीं। उसका प्रयोग न अग्नि प्रज्वलित करने में किया जाता है न आहुति देने में। फिर भी आज वर्तमान स्थिति ऐसी है कि न केवल यज्ञों में किंतु किसी भी धर्मकार्य में कुशों के सिवाय काम नहीं चलता। एकाग्र चित्त करके बैठना भी हो तो गीता "चैलाजिनकुशोत्तरम्" ऐसा ही आसन कहती है। ये क्यों? बात ऐसी है। कान्यकुब्ज देश में गंगा के किनारे कुश इतने ऊगते कि उस देश का कितना भी भाग उसी से भरा रहता। काशी भी पूर्व काल में ऐसे ही कुश जाति के काश नामक घास से व्याप्त थी। लेकिन कालांतर से गंगा का प्रवाह जैसे नीचे-नीचे गहरा होता गया वैसे इनकी उपज कम हुई और काश नामक घास से पूर्ण मुक्त भूमि पर बसाई जाने से ही उसे काशी यह संज्ञा प्राप्त हुई। कान्यकुब्ज देश में गंगा इतनी गहरी न थी। उसमें भी नहरें निकाली जाने के कारण उसकी गहराई और भी कम रह गई थी। अतएव वहां कुश बहुत होते थे। उस देश के एक राजा ने अपने पुरोहित से इन कुशों से छुटकारा कैसे हो और कृषि योग्य भूमि कैसी बनाई जावे इसके विषय में विचार विनिमय किया। बुद्धिमान पुरोहितने खबर उडाई कि "इंद्रो वृत्रमहन्। सोपोऽभ्यभ्रियत। तासां यन्मेध्यं यज्ञियं सदेवमासीत्। तदपोदक्रामत्। ते दर्भा अभवन्।"—इंद्र ने वृत्र को मारा। वह पानी में डूब मरा। उस पानी में जो पवित्र यज्ञार्ह और दैवी अंश था। वह पानी के बाहर निकला। उसी के कुश हुए। काम हो गया। कुश यज्ञार्ह और दैवी अंश से युक्त माने गये। उनका उपयोग सर्वत्र होने लगा। बैठना कुशासन पर। पवित्रक कुश के। अग्नि के चारों तरफ परिस्तरण कुशों का, यज्ञ पात्रों को रखना कुशों पर यहां तक कि यज्ञस्थान झाड़ने के लिये झाड़ू भी कुशों की। दर्भ का उपयोग इस प्रकार बढ़ते ही थोड़े ही काल में बहुत से दर्भ काटे गये। कुश काटने वालों को कुशल कहने लगे। कुशांबु अर्थात् कुश और पानी से भरी हुई जमीन कुशस्थली—कुश से कडी—बनी। उस पर बसी नगरी कौशाम्बी नाम से विख्यात हुई। वह राजा भी केवल कुश नाम से ख्यात न रह उसका पुत्र कुशिक कहलाया गया और उसके वंशज अपने को कौशिक कहने लगे।

१५. इसी समय यज्ञ में एक नया यज्ञ प्रकार प्रसिद्ध हुआ। अब तक जो पदार्थ अपने को इष्ट हो, उसको अपने इष्टदेव को अग्नि द्वारा अर्पण करना और उसके बदले में वह पदार्थ पर्याप्त रूप में देवता से प्राप्त करना ही यज्ञ का उद्देश्य

था। अर्थात् सभी यज्ञ इष्टफल के हेतु से ही किये जाते थे। पर इसी समय जिस अत्रि पत्नी का--अनसूया का--उल्लेख पूर्व में किया गया है उसके मध्यम पुत्र ने अर्थात् दत्त आत्रेय से छोटे पर दुर्वासस् से बड़े सोमनामक पुत्र ने सोमयाग की प्रशस्त प्रथा का आरंभ किया। सोमवल्ली की जानकारी तो हमको पुरूरवा के समय से ही थी। भृगुवंशज इस सोमवल्ली का रस निकाल हवन और सेवन दोनों करते थे। इस रस के सेवन से एक तरह के उत्साह का संचार शरीर में होता था और शरीर की स्मृति भूल जाती थी। इस कारण पराक्रम के कृत्य उस जोश में किये जाते थे। संक्षेप में युद्ध के समय जिस बेपर्वाई की आवश्यकता होती है, वह सोमपान से प्राप्त होती थी। किंतु सोम के उत्पत्ति-स्थान मूजवत् पर्वत से हम जैसे जैसे दूर बसते गये, वैसे-वैसे वह वल्ली हमें दुष्प्राप्य होने लगी। इस कारण उसकी महत्ता भी बढ़ी। इसलिये दूर के बनवासी लोगों द्वारा सोम मंगवाना, उसे मोल लेना, सत्कारपूर्वक उसे घर लाना, फिर ठाठ के साथ उसका रस निकालना और फिर देवताओं को समर्पित कर उसका थोड़ा-थोड़ा सेवन करना इत्यादि क्रियाकलापों से युक्त सोमयाग नामक यज्ञ अत्रिपुत्र सोम ने निर्माण किया। इसी कारण वह "सोम" नाम से ही विख्यात हुआ। सोम विषयक पुरानी दंतकथाओं में कुछ नई बातें जोड़कर उनका संग्रह किया और तत्कालीन यजुर्वेद में उनका समावेश किया। सर्पों की माता कद्रू और पक्षियों की माता सुपर्णी इनके झगड़े के कारण सोम कैसे लाया गया, वह कुशों पर कैसे रखा गया और उन कुशों को चबाने से सांपों की जीभ बीच में से चीरी कैसे गई और उन्हें द्विजिह्व कैसे कहने लगे इत्यादि कथाएं इसी प्रकार से समाविष्ट हैं। ऐसी कथाएँ देकर इस सोम नामक ऋषि ने सोमयाग को विश्रुत किया। परंतु सोमयाग का दृष्ट फल कुछ भी न होने से, यज्ञ अदृष्टफल भी हो सकने की कल्पना इसी सोमयाग ने प्रसृत की।

१६. कुशों का उपयोग करने के लिये या सोम का महत्त्व स्थापित करने के लिये जैसी कुछ कथाएं ऊपर उल्लिखित की गईं, ऐसी अन्य कथाएं भी यजुर्वेद में पाई जाती हैं। देवासुर संग्राम की कथाएं तो कई जगह "देवासुराः संयत्ता आसन्" से ही प्रस्तावित हैं। इंद्र वृत्रवध करता है, उसे ब्रह्महत्या का पाप लगता है, उस पाप को वह कई जगह बांट रखता है, इत्यादि अनेक ऐतिहासिक दृष्टि से अप्रमाण परंतु यज्ञों की कई रीतियों का समर्थन करने वाली कथाएं, यजुर्वेद में भरी हुई हैं। ये कथाएं वर्णन करने वाले वाक्य "यजुस्" संज्ञा से कहे नहीं जा सकते, क्योंकि किसी यज्ञिय कृत्य को करते समय इनका उच्चारण नहीं करना पड़ता। ये कथाएं केवल उपपत्तिप्रतिपादक मानी जाती हैं। किंतु उसके

लिये भी बहुत खींचतान करनी पड़ती है। अतएव कर्म करते समय जिन "यजुस्" वाक्यों का उच्चारण करना पड़ता है, उनसे भिन्नत्व दिखलाने के हेतु इन कथाओं को अन्य संज्ञा से व्यक्त करना आवश्यक ही था। केवल अर्थवादात्मक कथा, पुराणवर्णित ऐतिहासिक पुराणकथा और विधिसमर्थक ये कथाएं, इनमें भिन्नत्व दिखलाने के लिये इन्हें "गाथा" यह नाम दिया गया है। यह गाथा शब्द गानार्थक "गै" धातु से निकला नहीं है, अपितु "गा' अर्थात् आगे आगे बढ़ना इस धातु से साधित है। इसका अर्थ आगे-आगे जाने वाली अर्थात् "भूतकाल से परंपरागत आई हुई" ऐसा होता है। एवं कथा, पुराण-कथा तथा गाथा, ये तीन संज्ञाएं प्रचलित हुईं। अंग्रेज कोशकारों ने भी "जो न ऋक् (छंदोबद्ध) है, न साम (गीतरूप) है और न यजुस् (क्रिया करते समय कहा जाने वाला गद्य), वह गाथा," "ऐसा ही गाथा शब्द का अर्थ किया है। गाथा के पूर्वोक्त रूप से तथा "कथा" शब्द से घटित साम्य से गाथा का यही अर्थ करना उचित जान पड़ता है।

१७. ये गाथाएं उस समय की यजुर्वेदसंहिता में समाविष्ट न थीं। क्योंकि तब केवल "यजुस्" वाक्यों का ही संग्रह किया हुआ था। पुराणकार जिस प्रकार पुरानी ऐतिहासिक कथाओं का संग्रह करते थे उसी प्रकार यज्ञ कर्म में प्रवृत्त जन इन गाथाओं का संग्रह करते होंगे। इन गाथाओं का संग्रह कुछ याज्ञिकों ने किया होगा और यज्ञक्रियाओं के कारण या उपपत्ति कहते समय वे इनका उपयोग करते होंगे। ऐसी गाथाओं का आरंभ कुश राजा ने ही करवाया था। अतएव उसने तथा उसके कुशिक नामक पुत्र ने यह संग्रह एकत्रित करवाया होगा और वह गाथासंग्रह कुशिक पुत्र के पास आने के कारण से ही उसे उस समय गाथिन्—जिसके पास गाथाएं हैं—कहा गया होगा। पुराणकथा कहने वाले जैसे पौराणिक कहे गये उसी प्रकार कुशिक पुत्र गाथिन् के बाद ये गाथा कहने वाले "गाथिन" नाम से प्रसिद्ध हुए होंगे। गाथाओं का आरंभ इंद्र के वृत्रवध से हुआ यह हम देख ही चुके हैं। अधिकांश गाथाओं में इंद्र के ही पराक्रम दिये हुए हैं। अतएव गाथिन लोग इंद्र की ही स्तुति अधिक करते। इन गाथाओं में और इनके बाद जो ऋचाएं निर्माण हुईं उनमें इंद्र की ही स्तुति अधिक है ऐसा इसी गाथिन कुल में पैदा हुआ मधु-छंदस् नाम का सूक्तकार अपने सूक्त में स्पष्ट रूप से कहता है। उसकी ऋचा है—"इन्द्र-मिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्र वाणीरनूषत—" गाथिन लोग इन्द्र की ही स्तुति करते हैं, ऋचा बनाने वाले ऋचाओं से भी इंद्र का ही स्तवन करते हैं। सभी प्रकार की वाणी (गद्य हो या पद्य) इन्द्र की स्तुति में ही लगी हुई

है। यहां यह ध्यान में रखना है कि ऋचाओं के पूर्व गाथाओं का उल्लेख है।

१८. गाथाओं के कारण से जिसे प्रसिद्धि मिली थी, वह कुशिक पुत्र गाथिन् विश्वामित्र का पिता था। यही विश्वामित्र अपना कान्यकुब्ज राज्य छोड़कर तपस्या करने चला गया। हेतु यह था कि ब्रह्म तेज प्राप्त करले। इसी अवसर पर द्वादशवार्षिक अकाल पड़ा। तपस्या पूरी कर विश्वामित्र के वापिस आने पर उसे ज्ञात हुआ कि जिस अयोध्या के राजपुत्र सत्यव्रत त्रिशंकु को वसिष्ठ की सलाह से राज्य के बाहर कर दिया था, उसी ने अकाल के दिनों में विश्वामित्र की स्त्री की तथा पुत्र की रक्षा की थी। इस ऋण को चुकाने के लिये विश्वामित्र ने त्रिशंकु के विषय में वसिष्ठ से बातचीत की और त्रिशंकु को राजपद दिलाया। त्रिशंकु ने भी राजा होते ही विश्वामित्र को पुरोहित बनाना निश्चित किया। इस पर वसिष्ठ के अनुयायी चिढ़ गये और उन्होंने एक महासभा बुलाकर विश्वामित्र को पुरोहित बनने की अपनी योग्यता सिद्ध करने का आह्वान दिया। विश्वामित्र अपनी योग्यता प्रमाणित न कर सका और लज्जित हो अपने स्त्री पुत्र को लेकर अजयमेरु पर्वत पर पुष्कर सरोवर के पास जा बसा। दिनरात यही विचार मन में चलता कि योग्यता बढ़ाने के लिये अपनी बुद्धि को कौनसी प्रेरणा दे। इसी मनःस्थिति में एक दिन सूर्योदय के समय अंतःस्फूर्ति से उसके मुख से ये शब्द निकले। "तत्सवितुर्वरेणियं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।" प्रायः गद्य वाक्य के शब्द जिस क्रम से बोले जाते हैं, वह क्रम इस वाक्य में न पाकर विश्वामित्र को प्रथम तो आश्चर्य लगा, पर विचार करने पर उसे समझा कि इस वाक्य में आठ २ अक्षरों के तीन विभाग समान होते हैं। इस प्रकार इष्टार्थ को पदक्रम बदलकर अक्षरसंख्याबद्ध क्रम से व्यक्त करने की एक नई पद्धति विश्वामित्र के ध्यान में आई। उसने ऐसे अन्य वाक्यों को भी बदलकर देखा और इस अक्षरसंख्याबद्ध रचना को विकसित किया। अपने छंद से वाक्य रचना बदलने की नई छंदोविद्या निकाली। इस नूतनाविष्कृत विद्या को लेकर वह वसिष्ठ के पास गया और अपनी यह नई छंदोरचना उसे दिखलाई। सारे ही विद्वानों ने इस विद्या को तथा विश्वामित्र को माना। यह सन्मान दिखलाने के लिये सारे ही ब्राह्मणों ने यह निश्चय किया कि इस मंत्र की दीक्षा देकर छंदोरचना की शिक्षा दी जावे। तब से प्रत्येक ब्राह्मण को सर्वप्रथम यही मंत्र पढ़ाया जाने की परिपाटी पड़ी जो हजारों वर्षों से आज तक चालू है।

१९. अब सिंहावलोकन न्याय से इस ऋक्पूर्व काल में जो विकास हुआ उसे संक्षेप में देख लें। केवल बल या बुद्धि से काम नहीं निकलता। अतएव इन दोनों के परे एक अतर्क्य शक्ति को मानना पड़ा। इस शक्ति को संतुष्ट करने के

हेतु, या प्रसन्न करने के हेतु उसे मानव कुछ समर्पण करने लगा। इस समर्पण क्रिया के समय "इदं न मम" कहकर अर्पित पदार्थ अलग रखा जाने लगा। समर्पित पदार्थ को शक्ति देवता ने स्वीकार किया या नहीं, यह शंका उठने पर और अग्निदेवता को समर्पित अग्निस्वरूप हो जाता है यह देखकर "स्वाहा" शब्द के साथ किसी भी देवता का भाग अग्नि को ही अर्पित करने की रीति चली। अग्नि "वह्नि" पहुंचाने वाली बनी और अग्नि को अर्पण करने की क्रिया "यज्ञ" नाम से ख्यात हुई। यज्ञ का स्वरूप विकसित हुआ और उसकी हर एक क्रिया के साथ कहे जाने वाले शब्द या वाक्य "यजुस्" कहलाये गये। इनका संग्रह आद्य यजुर्वेद कहलाया गया। इन गद्यवाक्यों का क्रम और तद्द्वारा किये जाने वाले कर्मों का कारण समझाने वाले वाक्य भी रचे गये। कुशोत्पत्ति कथा रची गई और कुशों का यज्ञ क्रिया में पर्याप्त प्रयोग होने लगा। यज्ञ में की गई हिंसा, हिंसा नहीं मानी जाने पर अध्वर शब्द यज्ञार्थ में प्रयुक्त हुआ और यज्ञकृत्य करने वाले को अध्वर्यु कहने लगे। सोमयाग की निर्मिति हुई और सोमविषयक भी काल्पनिक कथाएं गढ़ी गईं। ऐसी कथाओं को "गाथा" संज्ञा दी गई और इनका संग्रह जिसके पास था वह "गाथिन्" कहलाया गया। गाथिन् का पुत्र विश्वामित्र था। गायत्री मंत्र इसी के अंतःकरण में प्रस्फुरित हुआ और इसी के आदर्श से विश्वामित्र ने छंदोबद्ध मंत्ररचना आरंभ की। इस इतिहास पर से स्पष्ट होगा कि "यजुर्मंत्र" प्रथम निर्माण हुए और पश्चात् "ऋक् मंत्र" रचे गये। इसका यह सार कदापि नहीं मानना चाहिये कि सारा ही यजुर्वेद जो आज ज्ञात है, सारे ही ऋग्वेद संस्करण के पूर्व का है। सारांश केवल यही है कि किसी भी छंदोबद्ध मंत्ररचना की निर्मिति के पहले यजुर्वेद का कुछ भाग अस्तित्व में था।

२०. अब अंत में ऋग्वेद, यजुर्वेद के पूर्वापरक्रमविषयक थोड़ा विचार कर यह प्रकरण समाप्त करना है। किंतु उसके भी पूर्व एक और विचारणीय विषय है। यजुर्वेद का सारा आधार इसी पर है। वह है यह देखना कि कर्म करते समय जो किया जाता है, उसे व्यक्त करने वाले शब्दों का उच्चार आवश्यक है या नहीं और अगर है तो क्यों? उदाहरण स्वरूप चंदन चढ़ाने के समय "चंदनं समर्पयामि" कहना अनिवार्य है या नहीं। वैदिक इसे आवश्यक मानते हैं। अतएव अब यही विचार कर्त्तव्य है। कोई क्रिया केवल अपने तक ही सीमित हो तो शब्दों की आवश्यकता नहीं पड़ती। अब कल्पना कीजिये कि दो सज्जन आमने सामने से आते हुए एक दूसरे को देखते हैं और नमस्कार करना चाहते हैं। नमस्कार की क्रिया तो दोनों हाथों को मिलाने से या एक हाथ सिर तक ऊपर उठाने से होती है। पर वह क्रिया करते समय मुख से कहा जाता है "नमस्ते" या

"नमस्कार"। क्यों ? इसलिये कि दूसरे का लक्ष्य खींचा जाय और क्रिया निष्फल न हो। देखते समय संभव है कि दूसरा व्यक्ति अन्यमनस्क हो। अतएव उसका ध्यान आकर्षित करने के हेतु शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। दूसरा उदाहरण लीजिये। रास्ते में जाते समय यदि मुझे साँप दिखता है और मैं चौंक कर हटता हूं तो "साँप" शब्द मुख से कहने की आवश्यकता नहीं है। पर यदि मेरे साथ दूसरा व्यक्ति हो तो उसका पैर साँप पर न पड़े, इस हेतु जब मैं उसका पल्लू खींचकर उसे हटाता हूं, तब अनिवार्य हो जाता है कि मैं "साँप" शब्द कहूं। कारण यह कि उस शब्द के उच्चारण से मेरी उसे खींचने की क्रिया का विपर्यास न किया जावे। और एक उदाहरण। हम लोग चाय पार्टी में बैठे हुए हैं। एक एक प्याली पी चुके हैं और गपशप में लगे हुए हैं। इतने में चायदानी लेकर एक व्यक्ति आता है और कहता है "चाय"। क्या हमें दीखता नहीं है कि वह चाय लेकर आया है ? फिर वह मुंह से "चाय" क्यों कहता है ? हेतु यह कि उसे सुझाना है कि "मैं चाय लाया हूं। आपका ध्यान है कि नहीं ? मैं प्याली में डालता हूं। कितना दूँ ? पूरी या आधी प्याली।" इत्यादि। अतएव यह कहना ठीक होगा कि लक्ष्य आकृष्ट करने के लिये, अपनी क्रिया का विपर्यस्त अर्थ न हो इसलिये वैसे ही अपनी क्रिया का इष्ट परिणाम हो इस हेतु से क्रिया करते समय शब्दों का उच्चारण करना ही पड़ता है। प्रत्यक्ष संमुख व्यक्ति के लिये यदि शब्द कहना आवश्यक है तब यह कहना ठीक न होगा कि परोक्ष शक्ति के लिये शब्दों की या वाक्यों की कुछ आवश्यकता नहीं। और इसीलिये यह कहना भी अनुचित न होगा कि मुख्य यजनक्रिया के लिये जो शब्द प्रयुक्त होते हैं, वे कृतिसूचक वाक्य या शब्द केवल स्तुति के लिये उपयुक्त ऋचाओं के या गानरूप सामों के पूर्व के हैं।

२१. परंतु यदि ऐसा ही है तो ऋग्वेद को ही सर्वत्र प्राथम्य क्यों दिया जाता है ? सायणाचार्य ने पहले यजुर्वेद पर भाष्य किया और अनंतर ऋग्वेद पर। यजुर्वेद भाष्य में वे कहते हैं "भित्तिस्थानीयो यजुर्वेदः। चित्रस्थानीयौ इतरौ"। यजुर्वेद भीत की जगह है। भीत पर निकाले हुए चित्रों का स्थान दूसरे दो वेदों का है। ऋग्वेद के भाष्यारंभ में इसी विषय पर सायणाचार्य ने अधिक प्रकाश डाला है। वे कहते हैं—"ऋग्वेद अभ्यर्हित है अर्थात् श्रेष्ठ है आदरणीय है। उसे सभी जगह प्राथम्य दिया गया है। अध्ययन, पारायण, ब्रह्मयज्ञ आदि सभी कर्मों में ऋग्वेद को प्राथमिकता दी गई है। किंतु ऋग्वेद का अर्थ यदि समझना हो तो यज्ञ के अनुष्ठान विषयक ज्ञान के बिना वह नितान्त असम्भव है यह सब ज्ञान यजुर्वेद में होने के कारण यजुर्वेद का ही व्याख्यान प्रथम करना

युक्तिसंगत था।"इतना कहने के पश्चात् यजुर्वेद की प्रधानता प्रस्थापित करने वाली "ऋचां त्वः पोषमास्ते" ऋचा देकर और उसके अंतिम चरण का यास्ककृत अर्थ देकर फिर सायणाचार्य कहते हैं--"एवं सति अध्वर्युसंबंधिनि यजुर्वेदे निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्यम्। तदपेक्षितौ स्तोत्रशस्त्रावयवौ इतरेण वेद-द्वयेन पूर्येते। इत्युपजीव्यस्य यजुर्वेदस्य प्रथमतो व्याख्यानं युक्तम्।"अर्थात् उपजीव्य आधारभूत यजुर्वेद है। इस पर से भीत प्रथम या चित्र प्रथम। आश्रय प्रथम या आश्रित प्रथम यह स्पष्ट ही जान पड़ता है। पर ये सारे टीकाकार जिन संहिताओं को कृष्णद्वैपायन महर्षि ने विभक्त किया उन्हें उसी स्वरूप में स्वीकार करते हैं और उसे स्वीकार करने पर ऋक्, यजुः साम इसी क्रम को प्रमाण मानते हैं। पर यह हम देख चुके हैं कि यह क्रम महत्वानुक्रम है निर्माणानुसार कालक्रम नहीं।

२२. प्राचीन टीकाकारों की जो स्थिति थी, वही आधुनिक पाश्चात्य पंडितों की है। ये सारे भी जिस रूप में उन्हें ग्रंथ प्राप्त हुए, उसी स्वरूप का विचार करते हैं। इन्होंने इधर कभी ध्यान ही नहीं दिया कि उक्त ग्रंथों का पूर्व रूप क्या होगा या इनमें कहीं विकास दीखता है या नहीं। मैं पहले ही कह चुका हूं कि इसमें इनका दोष नहीं। वे यह उद्योग कर भी नहीं सकते थे। इन लोगों ने जिस दृष्टि से इन ग्रंथों की ओर देखा उस दृष्टि से इतनी छानबीन हो चुकी है कि उसमें अब अधिक कुछ होने की संभावना बहुत कम है। इसी कारण से इन सब आधुनिक पाश्चात्य पंडितों का ध्यान वेदों पर से उड़, अन्य प्राच्य भाषाओं की ओर अधिक आकृष्ट हुआ है। उन्हीं का अनुकरण करने वाले हमारे आधुनिक पंडितों की भी वही स्थिति है। पुराने पंडित वेद वाक्य प्रमाण मानते थे तो आज के हमारे आधुनिक भारतीय पंडित पाश्चात्य पंडितों के ग्रंथों को उतने ही प्रमाण मानते हैं। इन्होंने भी विकास की दृष्टि से कभी देखा ही नहीं। ग्रंथ के शब्दों से अप्रकाशित क्षेत्रों में इन्होंने भी कदम रखने की धृष्टता नहीं की। इस प्रकार क्या पुराने, और क्या नये, सभी विद्वानों को इस अप्रकाशित अज्ञात विकास क्षेत्र में प्रवेश करने की हिम्मत न हुई और इसलिये यह क्षेत्र वैसा ही अज्ञात बना रहा। इस अज्ञात प्रदेश में जिस पर निर्भयता से पैर जमा सकें ऐसे दृढ़ प्रमाणों की आधार भूमि नहीं है। फिर भी कल्पनाओं की कुबड़ियां लेकर संज्ञा खद्योतों के प्रकाश में मार्ग आक्रमण का काम किसी अविनीत को करना ही था? मैंने सतत अभ्यास के बल से एक एक पग और एक एक डग डाल कर यह काम किया है और उसे विद्वानों के सामने रखने की धृष्टता की है। इस प्रकार का यह पहला ही साद्यन्त प्रयत्न है। अतएव

प्रार्थना यही है कि इस पर खूब विचार मंथन हो, इसकी भूलें सुधारी जावें और यह अज्ञात प्रदेश ज्ञात होकर ऋग्वेद का सम्यक् दर्शन सारे ही सज्जन सुविधा-पूर्वक कर सकें।

२३. ऋक्पूर्व युग में सारी ही यजु:संहिता हो जाना असंभवनीय ही था। ऋग्वेद रचना आरंभ होने के पूर्व अत्यन्त आवश्यक ऐसे यजुर्मंत्रों का होना केवल संभाव्य ही नहीं पर निश्चित था। आगे ऋक् और यजुस् दोनों की उन्नति साथ-साथ होती रही। यज्ञों के लिये नये सूक्त रचे गये और साथ ही नये सूक्तों के लिये नये यज्ञ भी निर्माण हुए। सामगान प्रचलित होने पर गद्य, पद्य तथा गीत तीनों ही साथ-साथ और एक दूसरे के बल से विकसित हुए। सूक्त जैसे-जैसे गाये गये वैसी सामों की संख्या बढ़ती गई, ऋचाओं के आवर्तन से स्तोम निर्माण हुए और अग्निष्टोम जैसे यज्ञ भी किये गये। यह विकास महाभारत युद्ध के समय तक चला। वेदों के विभाग वेद व्यास द्वारा किये जाने पर यह विकास बंद हुआ। फिर कुछ समय यज्ञ पद्धति पर विचार हो श्रौत सूत्र लिखे गये और इस कर्मकाण्ड से ऊबकर कुछ विचारकों ने आत्मा और प्रकृति का विचार कर उपनिषद् तथा दर्शन लिखे। पर इनका इस ग्रंथ के विषय से उतना संबंध न होने के कारण उनका विचार करने का यह स्थान न माना गया। इस प्रकरण में वसिष्ठ भृगुकाल से विश्वामित्र तक के अर्थात् महाभारत पूर्व २५०० से १७०० वर्ष तक के काल खंड का विचार किया है। इन ८०० वर्षों में यज्ञ के लिये आवश्यक यजुर्मंत्रों का विकास दिखलाया गया है। इसलिये यह प्रकरण यहीं पर समाप्त कर अब अगले प्रकरण में विश्वामित्र युग में कैसा विकास हुआ उसी का दर्शन दिखलाना है।

तीसरा प्रकरण

विश्वामित्र युग

१. गत प्रकरण में यह दिखलाया गया कि ऋक्पूर्व युग में यज्ञ का विकास किस प्रकार हुआ। यज्ञ कर्म करते समय जिन वाक्यों का उच्चार किया जाता था उन यजुर्मंत्रों को तथा यज्ञ क्रियाओं का समर्थन करने वाली अनैतिहासिक कथा—अर्थात् गाथाओं को मिलाकर यजुर्वेद का प्रारंभिक रूप प्रकट हुआ। वसिष्ठ, विश्वामित्र के विवाद में विश्वामित्र को नीचे देखना पड़ा और इस कलंक को दूर करने का दिन रात चिंतन करते-करते उसके मुख से एक प्रातःकाल पुष्कर सरोवर के तीर पर "तत्सवितुर्वरेणियम्" इस वाक्य का स्फुरण हुआ। गद्य वाक्य में जिस क्रम से पद आते हैं उससे भिन्न क्रम इस वाक्य में था। इस के आठ-आठ अक्षर के तीन विभाग भी हो सकते थे। विश्वामित्र ने इसी प्रकार के और भी कुछ अक्षर संख्या में बंधे वाक्य बनाये जिन्हें उसने छंद नाम दिया। अपनी यह नई वाङ्निर्माण कला उसने और भी कुछ लोगों को सिखाई। इसके पश्चात् वह वसिष्ठादि ब्रह्मवृंद के पास गया और अपनी यह काव्य कला उन्हें उसने दिखलाई। सभी ब्राह्मणों ने इस कला की नवीनता को मान्य किया और इस गायत्री मंत्र की दीक्षा हर एक ब्राह्मण के लिये आवश्यक कर दी। विश्वामित्र को पौरोहित्य का अधिकार भी मिल गया। पर अध्वर्यु जो काम करता था वही करना विश्वामित्र को ठीक न लगा। इसलिये जिन देवों को हविर्भाग देते हुए, "अमुकाय स्वाहा। अमुकाय इदं न मम" कहा जाता था, उन देवों की छंदोबद्ध स्तुति, हविः प्रदान करने के पहले कहने का प्रघात विश्वामित्र ने डाला। इन स्तुति मंत्रों को "याज्या"—यजन करने में उपयुक्त ऋचा का नाम दिया गया। इन ऋचाओं से देवों का आवाहन करने का एक स्वतंत्र ही काम बना और इन मंत्रों से आवाहन करने वाला होता कहा गया। यज्ञ में जहां एक ही अध्वर्यु नामक ऋत्विज से काम चलता था, वहां अब अध्वर्यु और होता ऐसे दो ऋत्विजों की आवश्यकता पड़ने लगी। हवन कर्म को इस मंत्र घोष की जोड़ मिलने से यज्ञ में एक नया ही गंभीर वातावरण पैदा हुआ।

२. परंतु विचार करने पर यह जान पड़ता है कि उस समय का मंत्र पाठ आज हम जिस प्रकार मंत्र पाठ करते हैं, वैसा न था। क्योंकि इन मंत्रों

की विशेषता थी पादबद्ध रचना में तथा प्रतिपाद आने वाले अक्षरों की संख्या में। अतएव प्रथम तो इन मंत्रों के श्रोता लोग इस बात पर अधिक ध्यान देते होंगे कि अक्षरों की संख्या में कहीं अनाधिक्य तो नहीं हो रहा है। ऐसे समय गायत्री छंद के एक चरण में आठ अक्षरों के स्थान पर यदि कोई होता सात ही अक्षरों का चरण कहता होता तो उस पर छंदोभंग करने का दोष अवश्य ही आया होता। अब आज का हमारा गायत्री मंत्र ही देखा जावे तो उसके पहले ही चरण में आज हम उसे "तत्सवितुर्वरेण्यम्" ऐसा सात ही अक्षरों से युक्त कहते हैं। कल्पना कीजिये कि "आठ आठ अक्षर के तीन चरण वाला गायत्री छंद मैंने निर्माण किया है", यह कहने वाला विश्वामित्र गायत्री छंद कहने लगे और उसके प्रथम ही पाद में सात ही अक्षर कहे, तो वह "प्रथमग्रासे मक्षिका-पातः" के समान होगा या नहीं ? अतएव यही मानना पड़ता है कि उस समय आज हम इस प्रथम पाद को जैसा सप्ताक्षरी कहते हैं वैसा न कहते हुए "तत्सवितुर्वरणियम्" ऐसा आठ अक्षरों का ही कहते होंगे। "वरेण्य" शब्द ऋग्वेद में अनेकों स्थानों पर आया है। पर प्रत्येक स्थान में उसे चतुरक्षरी न माना जाय तो छंदो-भंग हुए बिना नहीं रहता। गायत्री का उदाहरण ऊपर दिया ही है। अब अनुष्टुप् छंद का उदाहरण लीजिये। इस छंद में चरण चार होते हैं, पर प्रत्येक चरण में आठ आठ ही अक्षर रहते हैं। वसूयव आत्रेय कहता है—"अग्ने रायो दिदीहि नः सुवृक्तिभिर्वरेण्य"। यहां भी "वरेण्य" शब्द त्र्यक्षरी ही कहा जाय तो छंदोभंग होता है। वही "वरेणिय" कहने से नहीं होता। त्रिष्टुप् छंद के प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर होते हैं। अब इसी छंद का "सत्रासाहं वरेण्यं सहोदाम्" यह पाद देखिये। इसके अक्षर होते हैं दस। यहां भी "वरेणियं" कहने से, छंदोभंग नहीं होता। अतएव यही मानना उचित जान पड़ता है कि जब इन मंत्रों की रचना हुई तब "वरेण्य' शब्द "वरेणिय" ही कहा जाता था।

३. यह भेद केवल वरेण्य शब्द तक ही सीमित नहीं है। अन्यत्र भी कई जगह ऐसा पाठ भेद मानना ही पड़ता है। "अभ्यर्ष स्वायुध सोम द्विबर्हसं रयिम्" इस पवमान मंत्र में तो सात भी नहीं छह ही अक्षर प्रथम चरण में हैं। इस प्रकार का गायत्री मंत्र उन दिनों कभी माना न जाता। अतएव यहां "अभि अर्ष सुआयुध" यही कहना उचित जान पड़ता है। संयुक्ताक्षर में य और व हों, तो कई जगह इस प्रकार इकार या उकार का विश्लेष अनुक्रमतः करके ही छंदोभंग टाला जा सकता है। किंतु यह भी केवल यहीं तक मर्यादित नहीं है। पवमान मंत्रों में से ही और एक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ। "अभ्यर्ष महानां

देवानां वीतिमंधसा" इस अर्थ के प्रथम चरण में भी छह ही अक्षर हैं। "अभ्यर्ष" को पूर्वकथनानुसार "अभि अर्ष" कहने पर भी सात ही अक्षर होते हैं। "य" या "व" से युक्त कोई दूसरा भी अक्षर नहीं है। इस छंदोभंग को टालने के लिये अतएव "महानां" को "महा अनाम्" कहने के बिना कोई मार्ग नहीं। और भी एक उदाहरण। अगस्त्य के अन्नसूक्त का पाठ प्रायः श्राद्धकर्म में वैदिक ब्राह्मण करते हैं। इसका, सिवाय इसके कि इस सूक्त में अन्नवाचक पितु शब्द को कई बार प्रयुक्त किया गया है, और इस पितु का पितृ शब्द से संबंध लगाया गया है, अन्य कारण नहीं दीखता। इसका छठा अनुष्टुप् छन्द का मंत्र है—"त्वे पितो महानां देवानां मनोहितम्"। इसके प्रथम चरण में हैं छह अक्षर और दूसरे चरण में हैं सात। यहां भी छंदःशुद्धि की दृष्टि से "तुवे पितो महाअनां देवाअनां मनोहितम्" ऐसा ही कहा जाता होगा। किंतु "देवानाम्" शब्द सदा ही "देवाअनाम्" नहीं होता। यह अभी हम "अभ्यर्ष" मंत्र में देख ही चुके हैं। तात्पर्य यह कि छंदों का महत्त्व जिन दिनों माना जाता था—और प्रारंभ काल में तो उसे मानना ही पड़ेगा—उन दिनों में छंदोभंग न करने की चिन्ता ऋचा रचने वाले अवश्य ही लेते होंगे और उस समय जो शब्दों के वैकल्पिक रूप थे, उनका प्रयोग ही उन्होंने किया होगा। अन्यथा छंद का कुछ महत्त्व ही न रहता। अतएव छंदोभंग न करने का दंडक वे अवश्य ही पालते होंगे। इसी नियम का प्रतीक आधुनिक साहित्य शास्त्र में "अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभङ्गं न कारयेत्" नियम में दीखता है।

४. प्राचीन मंत्र पाठ वर्तमान पाठ से भिन्न होने का और भी एक प्रमाण दिया जा सकता है। आज के पाठ प्रघात में यदि छंद तीन चरणों का हो तो पहले दो चरण तथा यदि चार चरणों का हो तो पहला अर्ध और दूसरा अर्ध चरण मिलाकर कहे जाते हैं। इस रीति से जब प्रथम तथा तृतीय चरण आगे के चरण से मिलाकर—अर्थात् अंत का स्वर अगले स्वर से संधियुक्त होकर कहा जाता है, तब छंदोभंग अनिवार्य रूप से ही हो जाता है। उदाहरण के लिये आज हम कहते हैं—"एष स्य मद्यो रसोऽवचष्टे दिवः शिशुः।" पर थोड़े ही विचार से समझ पड़ेगा कि छंद के अनुरोध से "एष स्य मदियो रसः अवचष्टे दिवः शिशुः" कहना ही ठीक है। आज कहा जाता है "चरुर्न यस्तमींखये-न्दो न दानमींखय। वधैर्वधस्नवीं खय"। किंतु यहां भी ऐसा ही कहना ठीक होगा कि—चरुर्न यस्त मींखय, इन्दो न दानमींखय। वधेर्वधस्नवींखय।" ईंखय और इन्दो का संधि कर कहने से न केवल छंदोभंग होता है, अपितु अंत्य यमक भी भग्न होता है। एक और उदाहरण लें। यह प्रसिद्ध शांति सूक्त से लिया है।

इसके तेरहवें मंत्र का प्रथम चरण है—शं नो अज एकपाद्देवो अस्तु। यहां नो+ अजः और देवो अस्तु यहां पूर्वरूप छंद की दृष्टि से नहीं किया गया। यह ठीक ही है। परंतु वही वसिष्ठ सूक्तकार आगे के ही चरण में "शन्नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः" कहकर एकादशाक्षरी त्रिष्टुप् छंद में ठीक जमने वाला "शं नो अहिर्बुध्नियः शं समुद्रः" चरण संधि कर बिगाड़ देगा, यह तर्कसंगत नहीं है। जिसने पहले चरण में संधि न कर छंद नियम को पाला वही दूसरे चरण में संधि कर छंदनियम भंग करे, यह बात जंचती नहीं है। उसी प्रकार अगली ही ऋचा में "आदित्या रुद्रा वसवो जुषन्तेदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः" कहकर अपना नया सूक्त दिखलाने वाला "इदं" शब्द "जुषन्त" के साथ संहित कर देगा, ऐसी कल्पना करना भी ठीक नहीं लगता। अतएव यही कहना युक्तियुक्त जान पड़ता है कि शांति सूक्त का रचयिता "आदित्या रुद्रा वसवो जुषन्त इदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः" ही कहता होगा।

५. एक और भी प्रमाण इस बात का दिया जा सकता है कि सूक्तरचना काल में ऋचाएं आज की-सी न कही जाती थीं। विश्वामित्र ने गद्यभिन्न नई अक्षरबद्ध रचना निर्माण की। उसके शिष्यों ने तथा दीक्षित सूक्तकारों ने अक्षरसंख्या में प्रतिचरण वृद्धि कर नये नये छंद निर्माण किये। पर इन सबों का मूल अक्षरसंख्या नियमन में था। यह "त्रिष्टुप् गायत्री छंदासि सर्वा ता यम आहिताः" अर्थात् त्रिष्टुप् गायत्री, सारे छंद अक्षरनियम में रखे गये हैं, इस वाक्य पर से स्पष्ट ही समझता है। पर यह गद्यपद्यभेद केवल रचना में ही था या उनकी पाठपद्धति में भी था ? इस प्रश्न का विचार करते समय अग्रिम वाक्य याद आता है कि "यत्र ब्रह्मा पवमान छंदस्यां वाचं वदन्" और लगता है कि यह छंदस्या वाक् गद्यभिन्न रीति से कही जाती होगी। अन्यथा वाक् को "छंदसि भवा" यह विशेषण लगाना अनर्थक या निरर्थक ही होगा। इसका अर्थ यही निकलता है कि ऋचाओं का छंदस्त्व केवल अक्षरसंख्यानियमन पर ही न था। अर्थात् केवल अक्षर गिनकर भाग करने से कोई गद्य वाक्य छंद नहीं बनता था। जिस धातु से छंद शब्द बना है उसका अर्थ ढांकना, आच्छादित करना है। इसलिये यह देखना पड़ेगा कि यह आच्छादन कौन-सा है, जिससे ढकते ही गद्य का पद्य तत्काल बन जाता है। यह काम केवल शब्दपरिवर्तन से या अक्षरनियमन से नहीं होता। देखना पड़ेगा कि वह किससे होता है।

६. इसका स्पष्टीकरण करने के हेतु मैं आगे लिखा हुआ गद्य वाक्य लेता हूं। वाक्य है—"मैं श्री सीताराम का स्मरण नित्य दिनरात करता हूं।

फिर हृदय में ? सुख की ही बरसात।" यहां जिस प्रकार वाक्य के विभाग किये हैं, उस प्रकार से वाक्य का उच्चारण किया जाय तो इसके गद्य न होने की किसी के मन में शंका भी न आवेगी। पर अब इसी वाक्य के "मैं श्री सीता-राम का। स्मरण नित्य दिन-रात।। करता हूँ फिर हृदय में। सुख की ही बरसात।। इस प्रकार विभाग कर पढ़ूँ तो तत्काल ही श्रोता इसे दोहा कह उठेंगे। विचार कीजिये कि यह भेद किस बात पर से पहचाना गया ? केवल विराम स्थान के बदलने से। गद्य में अर्थ के अनुरोध से विराम किया जाता है, पर पद्य में वही विराम उच्चारण काल के अनुरोध से होता है। इस काल-बद्धता के कारण से पद्य में एक नई गति, चाल पैदा होती है। इसी चाल का आस्वादन पड़ते ही गद्य को पद्य का रूप मिल जाता है। यह कालबद्धता निश्चित करने के लिये ही छंदःशास्त्र ने लघु गुरु ठहराये और लघु स्वर की एक मात्रा तथा गुरु स्वर की दो मात्राएं निश्चित कर हर एक चरण की मात्रा-संख्या निश्चित की। इसीलिये पूर्वोक्त वाक्य की ४८ मात्राओं को यदि २, १४, ८, ६, ७, २१ इन मात्राओं के पश्चात् विराम कर पढ़ा जाय तो यह कानों को गद्य सा लगेगा। परंतु यदि यही १३, ११, १३, ११ इन मात्राओं के पश्चात् विराम—जिसे छंदःशास्त्र में यति कहा जाता है—देकर पढ़ा जाय तो यह छंद बन जावेगा। मात्रा वृत्तों में मात्राएं गिनी ही जाती हैं। गणवृत्तों में यद्यपि गणों का बंधन दिया जाता है तथापि प्रत्येक गण की मात्राएं नियत होने से वहाँ भी हर एक चरण मात्राबद्ध अर्थात् कालबद्ध होता ही है।

७. अब एक ऐसा वैदिक वाक्य लें जो यजुर्वेद में भी है तथा ऋग्वेद में भी है। यज्ञ के लिये कुश काटने के पश्चात् अध्वर्यु कुश की प्रार्थना करता है—"देवबर्हिः शतवल्शं विरोह, सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम।"—हे देवताओं के लिये काटे हुए कुश, तुम सैंकड़ों शाखाओं से बढ़ो, हजारों शाखाओं से हम भी बढ़ें। आगे सोमयाग की विधि निश्चित होने पर जिस पेड़ को काटकर यूपस्तंभ बनाया जाता, उस पेड़ की भी यही प्रार्थना की जाती। केवल देवबर्हिः" के स्थान में "वनस्पते" कहा जाता और वनस्पति शब्द पुंल्लिंगी होने से "शतवल्शं" की जगह "शतवल्शो" कहा जाता। यज्ञ में वही या वैसी ही अनेक क्रियाएँ करनी होती हैं और इसलिये ऐसे शब्द बदल कर मंत्र कहे जाते हैं। पर जब यही "वनस्पते शतवल्शो विरोह, सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम" वाक्य ऋग्वेद के तृतीय मंडल के अष्टम सूक्त की अंतिम ऋचा में मिला, तब यह प्रश्न मन में उठा कि "अध्वर्यु जिस प्रकार इस मंत्र का उच्चारण करता है, उसी प्रकार से यदि "होता" भी करता है तो दोनों में भेद क्या होता था जिसके कारण से

इसका यजुष्ट्व या ऋक्त्व जान पड़ता था ? क्या होता की मंत्र की चाल वही रहती थी या दूसरी ? और अगर दूसरी थी तो कौन-सी ? वह चाल सारे ही त्रिष्टुप् छंद को एक-सी ही लगनी चाहिये, जिस कारण से उसका त्रिष्टुप् छंद में होना श्रोताओं को स्पष्टतया प्रतीत हो।" आज के वैदिक ऋग्वेद पाठक जिस प्रकार से वेदपाठ करते हैं, उनके पाठ पर से छंद प्रतीत नहीं होता। इन सारी बातों पर सालों विचार करने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि पुरानी पाठपद्धति अलग थी। आज मराठी और अन्य कुछ भाषाओं में जिस प्रकार कुछ वार्णिक छंद प्रत्येक वर्ण को, चाहे वह लघु हो या गुरु, द्वि-मात्रक कह कर ही बोले जाते हैं, उसी प्रकार कहे जाते होंगे। और किसी भी दूसरी रीति से उनका गद्य से भेद नहीं दिखाया जा सकता। यदि वैदिक छंद का प्रत्येक अक्षर द्विमात्रक कहा जाय, तो जितने अक्षरों का छंद हो उसकी दूनी मात्राओं का नियत काल उसके उच्चार में लगेगा और इस कालबद्धता के कारण उसका छंदस्त्व प्रतीत होता रहेगा। बिना इस कल्पना के किये, ऋक् मंत्र, यजुर्मंत्रों से अलग पहचाने नहीं जा सकते।

८. मैं भली भांति समझता हूं कि यह मेरी कल्पना एकदम से किसी को भी मान्य न होगी। सालों तक मुझे ही वह ठीक न लगती थी। कारण यह था कि वेदपाठपद्धति की विशिष्टता केवल स्वरों में मानी जाती थी। उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित इन तीन प्रकार के स्वरों से युक्त शब्दों का उच्चार वेदपाठ में किया जाता है। और स्वर बदल गया तो अर्थ भी बदलता है। इन स्वरों का ठीक उच्चारण करने के लिये ही वेदग्रंथों में स्वर भी अक्षरों के साथ लिखे रहते हैं। "मा" केवल लिखा होगा तो उसका अर्थ "नहीं" होगा, पर यदि "मा" लिखा होगा तो उसका अर्थ होगा "मुझे"। 'इन्द्रशत्रुः' लिखा होगा तो उसका अर्थ होगा—इंद्र के द्वारा मारा गया शत्रु। पर यदि 'इन्द्रशत्रुः' कहा जाय तो अर्थ होगा—इन्द्र को मारने वाला शत्रु। पहला है आद्योदात्त और दूसरा है अन्त्योदात्त। स्वरों से अर्थ बदलने वाली वेदवाणी में, प्रत्येक अक्षर लघु-गुरु का विचार न करते यदि द्विमात्रक कहा जाय, तो क्या उसके कारण से उदात्तादि त्रैस्वर्य में बाधा न आवेगी ? यह शंका मेरे मन में बराबर उठती रही और इसी कारण से मेरी द्विमात्रक उच्चारण करने की कल्पना मुझे ठीक न लगती। पर एक दिन विचार करते-करते मेरे ध्यान में यह बात आई कि उदात्तादि त्रैस्वर्य तीव्रतामापक है, कालमापक नहीं। ह्रस्व उदात्त स्वर के उच्चारण को जो काल लगता है, उतना ही ह्रस्व अनुदात्त या ह्रस्व स्वरित के उच्चारण में लगता है। ह्रस्व स्वर उदात्त कहने में द्विमात्रक नहीं होता या अनुदात्त कहने

में उसका काल एकमात्रा से कम नहीं होता। अतएव यदि "वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम" यह वाक्य गद्य पद्धति से कहा जाय तो उसका त्रिस्वरात्मक रूप न बिगाड़ते उसका उच्चारण काल बत्तीस मात्रा का होगा। किंतु यदि इसी वाक्य में प्रत्येक अक्षर द्विमात्रक कहा जाय तो स्वर यथास्थित देकर भी उसका उच्चारण काल चवालीस मात्रा का होगा। इस प्रकार यदि यह वाक्य गद्यरूप में कहना हो तो उसकी मात्राओं का विचार आवश्यक नहीं। किंतु यदि उसे पद्यरूप में कहना हो तो ह्रस्व दीर्घ का विचार न कर प्रत्येक अक्षर द्विमात्रक कह कर चवालीस मात्राएं करनी होंगी। ऐसा करने से ही उसका उच्चारण कालबद्ध होगा और उसका जो छंदस्व है वह ध्यान में आवेगा। सार यह कि ऐसा अनुमान करना अनुचित नहीं है कि ऋक्काल में प्रत्येक अक्षर द्विमात्रक रूप से ही कहा जाता होगा।

९. परंतु क्या ऋग्वेद में और कहीं इस प्रकार ह्रस्व स्वर का उच्चारण एकमात्रक न हो कर द्विमात्रक होता है? प्रश्न का उत्तर यही देना पड़ेगा कि होता है। उदाहरण देता हूं। पुरुषसूक्त में एक ऋचा है "यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत"। अंत में जो "त" है, वह लघु और एक-मात्रक ही है। परंतु वैदिक परंपरा में उसे कहा जाता है द्विमात्रक। यह क्यों? इसका मूल यह है कि प्राचीन काल में ऋग्वेदपाठी सारे ही अक्षरों का गुरु अर्थात् दीर्घ नहीं पर द्विमात्रक उच्चारण करते थे। आगे वैयाकरणों के प्रभाव से तथा कृष्ण-यजुर्वेद के स्वाभाविक उच्चारण के उदाहरण से हम ह्रस्व स्वर का एकमात्रक तथा दीर्घ स्वर का द्विमात्रक उच्चार करने लगे, किंतु पादांत में स्वाभाविक ही जो द्विमात्रक उच्चार होता है, उसे हमने नहीं बदला। उसे वैसा ही रहने दिया। उच्चार की तथा व्याकरण की दृष्टि से शुद्धता अवश्य आई परंतु छंद की दृष्टि से कालबद्धता न रहने के कारण हानि हुई। अंत्य स्वर यदि ह्रस्व हो तो केवल वही द्विमात्रक बना रहा: कृष्ण यजुर्वेद का यह परिणाम जैसे ऋचाओं पर हुआ उसी प्रकार ऋग्वेद पाठ में जो अंत्य स्वर द्विमात्रक कहा गया उसका परिणाम यजुर्वेद पर होकर यजुर्मंत्रों में भी अंत्यस्वर ह्रस्व होते भी वह द्विमात्रक कहा जाने लगा। शुक्ल यजुर्वेद में तो आज भी ह्रस्व वर्णों का उच्चार द्विमात्रक ही किया जाता है।

१०. पर यह सारा हुआ कैसे? इसका कारण है हमारी वर्णमाला की अपूर्णता। इस वर्णमाला में हम ह्रस्व दीर्घ भेद दिखला सकते हैं, पर न स्वर भेद दिखा सकते हैं जैसे उदात्तादि, या न मात्राभेद दिखा सकते हैं यथा द्विमात्रक लघु या एकमात्रक गुरु। स्वर भेद से अर्थ भेद होता था इसलिये

वैदिक लेखन में नीचे तथा ऊपर, आड़ी और खड़ी लकीर देकर स्वर के लिये तो हमने व्यवस्था की, परंतु उच्चारण काल से अर्थ में अंतर न पड़ने के कारण हमने तब भी कुछ अलग चिन्ह करना आवश्यक न समझा, न आज भी। यह कल्पना मुझे एक गांव में सावन के महीने में झूला झूलती एक लड़की के गाने से सूझी। वह कह रही थी। "झूला झूले झूले, हाथ, पांव थके। ऊंचे न जा सके जरा सा भी।" उसके शब्द मैंने लिख लिये। पर मेरी लड़की जब उसे पढ़ने लगी तो उसे चाल मालूम न होने से जैसा लिखा था वैसा ही पढ़ने लगी तो कानों को बुरा लगा। क्योंकि झूलने वाली बच्ची हाथ, का "थ", पांव का "व", थके का "थ", "न" और जरा सा का "ज" द्विमात्रक कहती थी। यहां अगर इन अक्षरों को द्विमात्रक न कहा जाय, तो चाल नहीं लगती और गाना गद्यप्राय जान पड़ता है। पर हमारी वर्णलिपि में ऐसा द्विमात्रक चिन्ह लिखा नहीं जाता। "कण्ह" तथा "कन्हाई" दोनों शब्द संस्कृत "कृष्ण" पर से बने हैं। दोनों में "क" का उच्चार एकसा नहीं होता। "कण्ह" में द्विमात्रक किंतु "कन्हाई" में एकमात्रक होता है। यह भेद दिखलाने के लिये आज भी हमारे पास कुछ साधन नहीं है। तुलसीदास जी कहते हैं "मोहि उपदेश दीन्ह गुरु नीका"। यहां पर आद्याक्षर "मो" गुरु होते हुए भी एक मात्रक कहा जाता है। व्याकरण की दृष्टि से यदि मैं मोहि के "मो" को द्विमात्रक पढ़ूं तो छंदोभंग होकर चौपाई का चौपाईपन ही नष्ट हो जावेगा। अतएव केवल लेखबद्ध होने से कविता कही नहीं जा सकती। पुरानी चालें भूल जाने के कारण आज के हमारे प्राध्यापक कविता कहते नहीं हैं। वे कविता पढ़ते हैं। मानों गद्य और पद्य में कुछ भेद नहीं। वेदपाठी जब स्वरयुक्त पाठ करते हैं तो उनकी सुस्वरता के कारण वैदिक छंदों का भग्न ध्यान में नहीं आता। पर इनकी संख्या भी दिन प्रतिदिन कम हो रही है और डर है कि स्वरयुक्त वेद कहने की प्रथा उठती जा रही है पुरानी छंदस्था वाणी इसी प्रकार से विस्मृति पंक में फंस कर अदृश्य हुई-सी जान पड़ती है।

११. अब थोड़ा उदात्तादि त्रिस्वर पद्धति का विचार करें। प्रत्येक भाषा में विशिष्ट स्वर कुछ रहते ही हैं। स्वरभेद से अर्थभेद भी हर एक भाषा में होता ही है। कई बार उसके कारण अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है। पर इसलिये सारी ही भाषाओं में सारे ही स्वर चिन्हित नहीं किये जाते। अंग्रेजी भाषा में ये स्वर प्रायः कोश ग्रंथ में ही दिये रहते हैं। फ्रेंच, जर्मन इत्यादि कुछ भाषाओं में उच्चार भेद दिखलाने के कुछ स्वराक्षरों पर विशिष्ट चिन्ह दिये जाते हैं और इन्हें लिखना भी पड़ता है। हिंदी में भी कुछ स्वरों पर अर्ध चंद्र देकर हम उच्चार भेद दिखलाते हैं। भाषा जब बोलचाल में रहती है तो प्रायः बोलने वालों को कहां आघात देना यह ज्ञात ही है। उन्हें किस स्वर का

कहां उच्चारण कैसा करना चाहिये, पदच्छेद कहां करना आवश्यक है, इत्यादि बातों के लिये विशेष प्रकार के चिन्ह नहीं करने पड़ते। चिन्हों के न रहते हुए भी लोक ठीक-ठीक उच्चार करते ही हैं। परंतु जब भाषा में बहुत बदल हो जाता है, उसका रूप भी थोड़ा बहुत पलट जाता है, उसके शब्द भी अप्रयुक्त हो जाते हैं, तब इन सारे चिन्हों की आवश्यकता प्रतीत होती है। केवल इसी दृष्टि से देखा जाय तो जिन थोड़े स्थानों पर अर्थान्तर होने का डर हो, उतने ही स्थानों पर विशिष्ट चिन्ह कर काम चल सकता है। पर हमारे कुछ पूर्वज पंडितों ने आवश्यकता हो या न हो, वेद का प्रत्येक पद लेकर लोगों के उच्चारण में कहां स्वर या आघात है, इसका निःशेष विचार किया और सारी संहिता प्रत्येक पद के स्वर के साथ लिख भी डाली। कितना प्रचण्ड कार्य और कितना परिश्रम! आज मुखपाठ संहिता करने वाले वैदिक ब्राह्मणों के पाठान्तर श्रम देखकर भी हम आश्चर्यचकित होते हैं। किंतु जिन विद्वानों ने सारी संहिता का प्रत्येक पद विचारपूर्वक स्वर सहित लिखा उनके परिश्रम तो कल्पना के परे हैं। जिस समय सूक्तों की रचना हुई उस काल में यह काम नहीं हुआ तब आवश्यकता ही न थी। किंतु जब सूक्तों का संग्रह होकर उसे संहिता का रूप दिया और जब उसकी भाषा थोड़ी-थोड़ी पुरानी होती गई तब इस संहिता को यथास्थित रखने के जो प्रयत्न किये गये, उनमें यह प्रयत्न प्रमुख था। इस प्रकार का प्रयत्न करने वालों में वैयाकरण ही प्रमुखतया थे। इन्हीं लोगों ने व्याकरण के प्रयोजन बतलाते हुए "रक्षोहागम" इत्यादि में रक्षा अर्थात् वेदमंत्रों की रक्षा को प्रथम स्थान दिया। इसी रक्षण क्रिया के हेतु पद और क्रम ये दो विकृतियां मुख्यतः बनाई गईं। इस प्रकार उन्हें वेदों में के प्रत्येक अक्षर का जो ज्ञान था उसे उसी श्रुतस्वरूप में रखकर उन्होंने हम लोगों पर जो अनंत उपकार कर रखे हैं उनमें से उऋण होना असंभव है।

१२. पर क्या इसके लिये कुछ प्रमाण है कि प्रारंभिक काल में ऋग्वेद की ऋचाएं स्वरसहित न कही जाती थीं? या यह कोरी आकाश पुष्प के समान कल्पना ही है? विश्वामित्र के और उसके अनुयायियों के संमुख ऋचाएं रचते समय एक विशेष हेतु था। वह था प्राप्त पौरोहित्य कर्म अध्वर्यु कर्म की अपेक्षा भिन्न है यह दिखाना। इस हेतु यज्ञ में जिन-जिन देवताओं को आहुतियां दी जाती थीं उन २ देवताओं की स्तुति पर ऋचाएं रचना और उन्हें अध्वर्यु द्वारा आहुति दी जाने के पूर्व पढ़ना यही काम इस होतृवर्ग ने अपना समझ कर रखा था। "वेदा हि यज्ञार्थमभि प्रवृत्ताः" इसी अर्थ से कहा जाता था। उस समय उनका छंदस्त्व प्रतीत हो इस प्रकार से ये ऋचाएं पढ़ी जाती थीं।

वैयाकरण पाणिनि ने जहां उदात्तादि स्वरों का विचार किया है वहीं इन स्वरों की ओर ध्यान न देकर एक श्रुतिपाठ का भी विवरण किया है। "उदात्तानुदात्तस्वरितानां परः संनिकर्ष ऐकश्रुत्यम्"—अर्थात् उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वर परस्पर में ऐसे मिल जावें कि उनका स्वतंत्र अस्तित्व ही न रहे इसे ऐकश्रुत्य कहते हैं। पाणिनि का सूत्र—"यज्ञकर्मण्यजपन्यूङखसामसु" यह कहता है कि यज्ञकर्म इत्यादि समय मंत्र एकश्रुतिक ही कहे जाते थे। फिर स्वरत्रय युक्त कब कहे जाते थे ? तो वैयाकरण ही कहते हैं कि स्वाध्यायकाले —अर्थात् अध्ययन करते समय। इस पर से स्पष्ट है कि जब ऋचाओं का प्रणयन हुआ तब यज्ञकर्म में उनका विनियोग इन तीनों स्वरों से रहित होता था। आज भी जब प्रत्यक्ष यज्ञ कर्म में उनका विनियोग होता है, तब वे मंत्र एक ही स्वर में कहे जाते हैं।

१३. प्रारंभिक काल में ऋचाएं कैसी कही जाती थीं, इसका यहां तक सामान्य विवेचन हुआ। अब विश्वामित्र युग की ऋचाओं का विशेष विचार करने के पूर्व एक ही सामान्य बात और कहनी चाहिये। विशेष अवसरों पर जो विशेष ऋचाएं निर्माण हुई होंगी उनका महत्त्व भी उतने ही समय तक रहा होगा। मान लो कि इंद्र को समर्पण करना है। बना ली इंद्र की स्तुति करने वाली एक ऋचा। कह दी उसे याज्या के रूप में और दी आहुति "इंद्राय स्वाहा" कह कर। ऐसी फुटकर फुटकर रचना यद्यपि पद्य रूप में अवश्य थी, फिर भी अनिबद्ध रहने के कारण उन्हें सूक्तत्व प्राप्त न हुआ होगा। उनमें किसी प्रकार की सूत्रबद्धता न रहने से ये सारी ऋचाएं एकत्रित न की गई होंगी। यह स्वाभाविक भी जान पड़ता है। जब कोई नई पद्धति निकलती है तो उसके अनुसार जो अकस्मात् निर्मिति होती है उसकी तुलना उस हरियाली से की जा सकती है, जो पहिली वर्षा होते ही जमीन पर दिखने लगती है। किंतु इन हरित अंकुरों को वृक्षों का तो रहने ही दीजिये, तृण का स्वरूप भी नहीं प्राप्त होता। थोड़े ही समय में ये अदृश्य हो जाते हैं। सूत्रबद्ध ऋक्समूह–अर्थात् सूक्त की रचना होने के लिये तात्कालिक क्षणजीवी आवश्यकता की अपेक्षा हृदय में कुछ विशिष्ट कारण से उथल-पुथल मचनी होती है, जिस चित्त-क्षोभ से एक के बाद एक कल्पनाएं परस्पर निबद्ध होकर निकलती हैं और सभी उन ऋचाओं का सूक्त बनता है। विश्वामित्र के थोड़े ही समय पश्चात् एक ऐसा अवसर उपस्थित हुआ जब सारा हृदय निचोड़ कर कुछ ऋचाएं निर्माण हुईं और उन्हें सूक्त स्वरूप मिला।

१४. वह अवसर ही बड़ा रोमहर्षण था। एक तरुण ब्राह्मण युवक एक राजा ने अपने पुत्र के स्थान पर वरुण देवता को बलि चढ़ाने के लिये मोल लिया था। मां-बाप के तीन लड़कों में मध्यम होने के कारण ज्येष्ठ के समान यह न पिता का लाड़ला था, न माता का लाल था। इसी से इसे बेचने में पिता और माता दोनों की अनुमति थी। बेचारा पशु के समान यूप को बांधा गया। इसे मारने के लिये कोई ऋत्विज तैयार न होता देख राजा ने इसके पिता को ही और धन देकर इस काम के लिये सिद्ध किया। यूप को बंधा हुआ है व प्रत्यक्ष जन्म देने वाले पिता जी मारने के लिये तलवार उठा सामने खड़े हैं। ऐसे अवसर पर सिवाय भगवान के किसकी याद आ सकती है? और इस दयनीय दशा में हृदय के मूलस्थान से अन्तःकरण को निचोड़कर जो शोक शब्द बाहर पड़ते हैं, उनको यदि श्लोकत्व प्राप्त न हो तो दूसरे कौन से शब्द काव्य बन सकते हैं? अगतिक बने हुए इस तरुण ने–शुनःशेप ने–विचार किया कि इस प्राणहारक प्रसंग में किसे पुकारना चाहिये और निज की अंतःप्रेरणानुसार उसे जो देव ज्ञात थे उनकी स्तुति से भरी हुई ऋचाएं भर-भर रचता गया और मुख से कहता गया। ये ऋचाएं केवल आहुति पूर्व याज्याओं के रूप में कहने के लिये नहीं बनी थीं। न उनमें ऐसा विचार था जो ऊपर-ऊपर ही कहा गया और कथन के साथ ही समाप्त हो गया। हृदय से निकली हुई बातें ही हृदय तक पहुंचती हैं। इन्हीं शुनःशेप की ऋचाओं को सूक्त रूप प्राप्त हुआ। ये सूक्त यथार्थतया ही "सु+उक्त" थे। आहत हृदय से निकला हुआ यह आर्त्तस्वर यदि श्रोताओं के हृदय को न पिघलाता, तो ही आश्चर्य था। सारे ही ऋत्विजों ने शुनःशेप को तो बंधमुक्त किया है, पर उसके शब्दों का परिणाम इतना प्रबल हुआ कि भविष्य के लिये नरबलि चढ़ाने की प्रथा ही समाप्त हो गई। शुनःशेप ने केवल स्वयं को ही मुक्त नहीं किया अपितु आगे होने वाले सारी ही नरबलियों को मुक्ति दिला दी। विश्वामित्र जैसा प्रथम मंत्रकार वैसा ही शुनःशेप हुआ प्रथम सूक्त कार। विश्वामित्र के प्रायः सभी तत्कालीन वंशजों ने इसे अपना अग्रणी बनाया और "देवरात"—देवों द्वारा दिया हुआ—नाम इसे दिया। देवरात ने भी अपना पैतृक "आजीगर्ति" नाम को त्याग दिया और स्वयं को वह "वैश्वामित्र" कहलाने लगा।

१५. पूर्वोक्त विवेचन पर से यह स्पष्टतया जान पड़ता है कि विश्वामित्र युग के शतवार्षिक कालखंड में सूक्त रचना अधिक न हुई।

रचना हुई फुटकर याज्यारूप होतृमंत्रों की । इसलिये अब यह देखना है कि ऋग्वेदसंहिता में दिये हुए कौन से सूक्त इस युग में रचे गये । प्राचीन परंपरा के अनुसार ऋग्वेद का तीसरा मंडल विश्वामित्र का माना जाता है । बृहद्देवताकार शौनक कहता है—"प्रशास्य गां यस्तपसा ऽभ्यगच्छद् ब्रह्मर्षिताम्" "स गाथिसूनुस्तु जगाद"। इस प्रस्तावना के साथ उसने तीसरे मंडल के ऋषि और देवताओं का वर्णन किया है । उपर्युक्त वर्णन आद्य विश्वामित्र का ही हो सकता है क्योंकि उसके बाद विश्वामित्र कुल में किसी ने भी भूमि पर शासन ही नहीं किया । किंतु सूक्तों के गहरे अभ्यास के साथ इसी निर्णय पर पहुंचना पड़ता है कि यह रचना आद्य विश्वामित्र की हो ही नहीं सकती । आगे "विश्वामित्र नदी संवाद सूक्त" कहते हुए शौनक ने कहा है कि "पुरोहितः सन्निज्यार्थं सुदासा सह यन् ऋषिः"–पुरोहित रहने के कारण यज्ञ के हेतु सुदास् राजा के साथ जाते-जाते–"विपाट् छुतुद्र्योः संभेदं"—विपाशा और शुतुद्रि नदी के संगम पर पहुंचा । सायण इसी बात को स्पष्ट करते समय कहता है "पैजवनस्य सुदासः" । अर्थात् उसके मत से यह सुदास् पिजवन पुत्र है । विश्वामित्र राजा था वह सत्यव्रत त्रिशंकु के समय और पिजवन पुत्र सुदास् राजा था रामचन्द्र के प्रपौत्र के समय, इनमें कम से कम पैंतीस पीढ़ियों का अन्तर है। अतएव ये दोनों विश्वामित्र एक माने ही नहीं जा सकते । इसके अतिरिक्त सूक्त में आया हुआ भारत शब्द भी सूक्त काल का भरत के समय से परवर्ती होना ही सिद्ध करता है । तृतीय मंडल के सूक्तों का परीक्षण करते समय स्पष्ट जान पड़ता है कि इनमें बहुत से सुदास् कालीन ही हैं अर्थात् वसिष्ठ युग के हैं । अतएव अब तृतीय मंडलांतर्गत सारे के सारे बासठ सूक्तों का परामर्श कर पश्चात् ही आद्य विश्वामित्र युग के सूक्तों का विचार करना अनुचित न होगा।

१६. इन बासठ सूक्तों के ऋषि नाम जो अनुक्रमणिका में दिये हुए हैं, उन नामों पर से यदि कालक्रम लगाया जाय तो वह नीचे लिखे अनुसार होगा ।

(श्री) कुशिक ऐषीरथि या विश्वामित्र–	सूक्त क्रमांक	३१
(वे) गाथी कौशिक–	,,	१९–२२
(द) विश्वामित्र गाथिन–	,,	१–१२
,,	,,	२४–३०
,,	,,	३२–३५
,,	,,	३७

	सूक्त क्रमांक
	,, ३९–५३
	,, ५७–६१
(पु) विश्वामित्र गाथिन और घोर आंगिरस	,, ३६
(रु) विश्वामित्र गाथिन और जमदग्नि	,, ६२
(षा) ,, अथवा प्रजापति वैश्वामित्र किंवा प्रजापति वाच्य	,, ३८
,, ,,	,, ५४–५६
(य) ऋषभ वैश्वामित्र	,, १३–१४
(त) कत वैश्वामित्र	,, १७–१८
(मः) उत्कील कात्य	,, १५–१६

क्र० २३ पर जो सूक्त है उसका विश्वामित्र कुल से कुछ संबंध नहीं है। इसके ऋषि हैं–देवश्रवा और देववात जो अपने को भारत कहलाते हैं। ये सूक्त संहिता में जिस क्रम से दिये हुए हैं उसका भी कारण ज्ञात नहीं है। कल्पना यही की जा सकती है कि सूक्तों का संग्रह होते समय जिस-जिस समूह रूप में वे संग्राहक के पास पहुंचे उसी क्रम से संगृहीत किये गये। ऊपर दिया हुआ क्रम पितृपरंपरा मानकर दिया हुआ है और उसी के अनुसार नीचे परामर्श किया जाता है।

(श्री) यह कुशिक ऐषीरथि यदि विश्वामित्र का पितामह माना जाय तो क्र० ३१ का सूक्त या तो पितामह का है या पौत्र का है। विश्वामित्र का पितामह कुशिक, कुश का पुत्र था। यह पहले बतलाया ही जा चुका है। इषीरथ नाम कान्यकुब्ज राजवंश में कहीं पाया भी नहीं जाता। फिर यदि विश्वामित्र का पितामह सूक्त रचना करता तो वह अपने सूक्त को "नव्यं" न कहता। यह सूक्त सुसंबद्ध भी नहीं है। इसकी पहली दो ऋचाओं में यह बतलाया गया है कि पुत्री रिक्थभागिनी नहीं हो सकती। उसे भाई न हो तो उसे पुत्रिका समझकर उसका पुत्र मातामह की संपत्ति प्राप्त करने का हकदार होता है। इन ऋचाओं का अगली ऋचाओं से कुछ भी संबंध नहीं है। "अपुत्रस्य लोको नास्ति" की कल्पना रूढ़ होने पर यह सूक्त लिखा गया स्पष्ट जान पड़ता है। यह कल्पना दशरथ के समय रूढ़ हुई। अतएव विश्वामित्र के अनंतर बत्तीस पीढ़ियों के बाद जो कल्पना अस्तित्व में आई वह विश्वामित्र का पितामह कैसे कह सकेगा ? यह कुशिक ऐषीरथि इस पर से राम के बाद के वसिष्ठ युग का ही समझना चाहिये। साथ ही विकल्प से माना हुआ विश्वामित्र भी आद्य विश्वामित्र नहीं हो सकता।

(वे) गाथी कौशिक के नाम पर इस मंडल की १९ से २२ तक के चार सूक्त अनुक्रमणिकाकार देता है। किंतु यह गाथी कौशिक विश्वामित्र पिता नहीं माना जा सकता। इसके किये हुए देव वर्णन में "दधिक्रा" देवता है। इस देवता का निर्माण कर्त्ता वसिष्ठ है। अतएव इस कुशिकसुत गाथिन् को भी उसी युग का ही मानना उचित है।

(द) विश्वामित्र गाथिन जिन सूक्तों का कर्त्ता माना गया है, वे सारे सूक्त एक ही क्रम से न रहते हुए अलग-अलग क्रम से रखे गये हैं। पहला समूह १ से १२ तक के बारह सूक्तों का है। इनमें अग्निदेव की स्तुति है। किंतु यह अग्नि सर्व साधारण नहीं, अपितु पानी में लुप्त होने के बाद ढूंढ़ निकाली हुई सौचीक नामक अग्नि है। यह कथा स्वयं सौचीक अग्नि नामक ऋषि ने मंडल १० सूक्त ५१ में वर्णित की है। इसके अतिरिक्त ३३३९ देवों की संख्या कहने वाली ऋचा सौचीक ऋषि के ही एक सूक्त में और इन बारह सूक्तों में से नवम सूक्त में एक अक्षर का भी भेद न होते हुए मिलती है। देवों की इतनी प्रचण्ड संख्या आद्य विश्वामित्र के समय होना असंभव है। इस पर से निःशंकतया कहा जा सकता है कि आद्य विश्वामित्र की कई पीढ़ियों के पश्चात् दूसरे ही किसी विश्वामित्र की यह रचना जान पड़ती है। दूसरा समूह है २४ से ३० तक के सात सूक्तों का। इसमें अग्नि को ब्रह्मरूपक मान २६ वें सूक्त में जो नवीं ऋचा हैं उसके विषय में सायण कहता है—"यस्मादुपाध्यायाद्विश्वामित्रो वैश्वानराख्यं परं ब्रह्म अज्ञासीत्तामिममुपाध्यायं स्तौति"। ब्रह्म की कल्पना इतनी प्राचीन मानी ही नहीं जा सकती। तीसरा समूह है ३२ से लेकर ३५ तक के चार सूक्तों का। इसी में विश्वामित्र नदी संवाद है जो पैजवन सुदास् के समय का पूर्व में बतलाया ही गया है। ३७ वें सूक्त में पंचजनों का उल्लेख है। इतिहास के आधार पर पंचजन गणना इतनी प्राचीन नहीं है। ३९ से ५३ तक के सूक्तों का समूह वसिष्ठ विश्वामित्र का सुदास् कालीन संघर्ष सुझाता है। इस कारण से वह भी सुदास् के पूर्व के समय का नहीं हो सकता। अंतिम समूह जो अकेले विश्वामित्र गाथिन के नाम से दिया हुआ है वह है ५७ से ६१ तक के पाँच सूक्तों का। इसमें भी पंचजनों का उल्लेख रहने से ये सूक्त भी आद्य विश्वामित्र के नहीं माने जा सकते।

(पु) ३६ वें सूक्त की रचना में घोर अंगिरस सहभागी है। अतएव इस सूक्त का काल और घोर अंगिरस का काल एक ही अर्थात् कण्व युग-काल है।

(रु) यह ६२वाँ तृतीय मंडल का अंतिम सूक्त विश्वामित्र और जमदग्नि दोनों का मिलकर है। संभव है कि आखरी तीन ऋचाएं जमदग्नि की हों। इस सूक्त में इंद्रावरुण, बृहस्पति तथा पूषन् ये देवताएं विश्वामित्र-कालीन नहीं हैं। पूषन् की स्तुति को तो स्वयं सूक्तकार ही "नव्यसी सुष्टुति" कहता है। विश्वामित्र जमदग्नि की जोड़ी सुदास् काल में हम देख चुके हैं। अतएव यह सूक्त भी विश्वामित्र युग में नहीं रखा जा सकता।

(षा) विश्वेदेवों ने अनेक काल्पनिक देवों का वर्णन तथा "त्रि" शब्द की कृत्रिम रीति से की हुई पुनरुक्ति सिद्ध करती है कि ये सारे सूक्त आद्य विश्वामित्र युग के न होते हुए बहुत पीछे के युग के अर्थात् वसिष्ठ युग के हैं।

(य) ऋषभ वैश्वामित्र अपने सूक्त में "उत्तानहस्ता नमसोपसद्य" लिखता है। हथेलियां ऊपर करके नमस्कार करने की रीति भरद्वाज युग में प्रचलित हुई। विश्वामित्र युग में न थी। अतएव यह ऋषि और उसके सूक्त भरद्वाज युग के पश्चात् के समय में स्पष्टतया पहुंचते हैं।

(न) कत वैश्वामित्र अपने सूक्तों में "शं" व "योः" पदों का प्रयोग करता है। ये दोनों पद, विदथिन् भारद्वाज के "शंयु" नामक पिता के षष्ठ्यन्त रूप के दो भाग हैं। शंयु की नई यज्ञपद्धति के कारण ये भाग स्वतंत्र रूढ़ हुए। इस पर से कहना ही पड़ता है कि कत वैश्वामित्र शंयु का परवर्ती है अर्थात् भरद्वाज युग के बाद का है।

(मः) अब यदि "कत" ही शंयु का परवर्ती है तो यह कहना ही पड़ेगा कि कत वंशज उत्कील विश्वामित्र युग का नहीं और १५ तथा १६ क्रमांक के उसके सूक्त भी उस युग के नहीं।

१७. इसी जगह विश्वामित्र के नाम पर ऋग्वेद के अन्य मंडलों में जो ऋचाएं या सूक्त दिये गये हैं उनका भी विचार करना योग्य होगा। विश्वामित्र के नाम से तीसरा मंडल प्रसिद्ध है, पर ऐसी कुछ ऋचाओं का कर्तृत्व अनुक्रमणिका में विश्वामित्र के नाम से अंकित है जो तीसरे मंडल में समाविष्ट नहीं हैं। ये हैं

मंडल	९	सूक्त	६७	ऋचाएं	१३ से १५
,,	९	,,	१०७	,,	५ वीं
,,	१०	,,	१३७	,,	,, योग ५ ऋचाएं।

पूर्वोक्त पांचों जगह विश्वामित्र को सप्तर्षियों में माना है। इन सात ऋषियों का क्रम है—१. भरद्वाज, २. कश्यप, ३. गौतम, ४. अत्रि, ५. विश्वामित्र

६. जमदग्नि और ७. वसिष्ठ। न ये सातों ऋषि समकालीन हैं और न इनका क्रम ही कालानुक्रम से ठीक दिया हुआ है। स्पष्ट समझ में आ सकता है कि आकाश के सप्त ऋक्ष को जब सप्त ऋषि बनाया गया, तब उनके नाम से रचित इन ऋचाओं की रचना हुई और इनके नामों से सूक्त ग्रथित किये गये। इनमें से प्रथम अर्थात् ९-६७ की पहली २१ ऋचाएं इन सात नामों में प्रति ऋषि तीन-तीन दी गई हैं। अन्य दो सूक्तों में उसी क्रम से विश्वामित्र का नाम पांचवाँ दिया हुआ है। यह सारी कल्पना ही कृत्रिम है। यह विश्वामित्र इसलिये आद्य विश्वामित्र नहीं हो सकता। इस विकास की कृत्रिमता इस पर से भी समझी जा सकती है कि ९-६७ में इन ऋषियों के नाम पितृवाचक नाम के साथ दिये हैं, ९-१०७ में इन्हें सप्तर्षयः बना दिया है और १०-१३७ में पितृनाम के बिना ही ये नाम दिये हुए हैं।

१८. इसी प्रकार दशम मंडल का १६७वां "तुभ्येदमिंद्र" सूक्त विश्वामित्र जमदग्नी इस नामयुगुल पर दिया है। किंतु यह ३-६२ में उल्लिखित विश्वामित्रजमदग्नी का नहीं ज्ञात होता। उस सूक्त में प्रथम १५ ऋचाएं विश्वामित्र की और अंतिम ३ जमदग्नि की कही गई हैं। पर यहां दोनों को सूक्तकार बनाया गया है। कारण केवल एक ही दिखता है। चतुर्थ ऋचा में विश्वामित्रजमदग्नी यह द्वंद्ववाचक द्विवचनांत नाम आया है। किंतु यह नाम संबोधन है। सूक्तकार स्वयं ही अपने को संबोधन करे यह की प्रथा प्रायः नहीं दीखती। किंतु केवल उस पर से ही इसका प्राचीनत्व असिद्ध नहीं हो सकता। नवीनत्व के लिये जो प्रमाण है, वह यह है कि इसमें जिस अनुमति नामक देवता का उल्लेख है, यह बहुत प्राचीन नहीं। राजसूय यज्ञ का पर्याप्त विकास होने के बाद उसमें यह देवता मिलती है। ऋग्वेद में इस देवता का उल्लेख और एक ही १०-५९ क० के सूक्त में असुनीति देवता के साथ आया है। अतएव यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सूक्त विश्वामित्र युग का नहीं।

१९. अब जो सूक्तकार अपने को वैश्वामित्र कहलाते हैं पर जिनके सूक्तों को विश्वामित्र मंडल में स्थान नहीं मिला ऐसे सूक्तकारों के सूक्तों का विचार करना चाहिये। ऐसे सूक्तकार पांच हैं, जिनमें प्रथम है मधुच्छंदस् वैश्वामित्र। पीछे कहा ही गया है कि नवम मंडल केवल सोम पवमान देवता का ही है। इस मंडल का प्रथम सूक्त तथा जिस मंडल से ऋग्वेद का आरंभ किया जाता है उस मंडल का प्रथम सूक्त इसी ऋषि का है। प्रथम मंडल में दस-दस ऋचाओं के दस सूक्त इसी मधुच्छंदस् के होने से यह शर्तचिन है। प्रथम तथा नवम दोनों मंडलों में मधुच्छंदस् मेधातिथि, शुनःशेप और

हिरण्यस्तूप इन चारों ऋषियों का एक सा ही क्रम देखने पर विचार आता है कि इन दोनों मंडलों की रचना जमाने में मधुच्छंदस् का हाथ रहा होगा। भाषा पर से यह सूक्तकार प्राचीन नहीं जान पड़ता । तमप् वाचक या इष्ठ प्रत्ययांत श्रेष्ठत्व सूचक शब्दों का प्रयोग इसे बहुत भाता है। स्वादिष्ठ, मदिष्ठ, मंहिष्ठ तथा रत्नधातम, वीरसातम, चित्रश्रवस्तम, सोमपातम इत्यादि शब्द इसके सूक्तों में बहुत पाये जाते हैं। इसकी अनुप्रासप्रियता भी वाजेषु वाजिनं वाजयामः, मंदिमिद्रांय मंदिने, स नः पितेव सूनवेग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये, इत्यादि उदाहरणों से स्पष्टतया सिद्ध होती है। जेता माधुच्छांदस तथा अघमर्षण माधुच्छंदस् नाम के दो ऋषियों के सूक्त १-११, तथा १०-१९० क० पर हैं। इनमें से अघमर्षण का "ऋतं च सत्यं" सूक्त का पद-पाठ नहीं पाया जाता जिस पर से सिद्ध है कि शाकल ऋषि ने पद-पाठ करने के पश्चात् यह सूक्त ऋग्वेद संहिता में समाविष्ट किया और इस बात को दिखलाने के लिये ही उसका पदपाठ किसी ने किया नहीं। इन सारी बातों पर से मधुछंदस् प्राचीन नहीं जान पड़ता।

२०. दूसरा है रेणुवैश्वामित्र । इसका "इंद्रस्तव" नाम का सूक्त दशम मंडल का ८९ वाँ है। यह भी नवीन ही है । यह स्वयं ही अपने सूक्त को "नव्यं" कहता है और १७ वीं ऋचा में "नवा सुमति"। इसी पर से इसका अप्राचीनत्व स्पष्ट जान पड़ता है। उसी प्रकार "इंद्रो दिव इंद्र ईशे पृथिव्या इंद्रो अपामिंद्र इत्पर्वतानाम्' इत्यादि में इंद्र की तथा १३ वीं ऋचा में की गई "अनु" शब्द की पुनरावृत्ति कृत्रिमता की दर्शक है । ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं न आने वाला "ओगण" शब्द, यजुर्वेद के रुद्राध्याय में आये हुए "उगण" शब्द से लिया हुआ है। इस पर से भी यह प्राचीन नहीं जान पड़ता। तीसरा ऋषि है अष्टक वैश्वामित्र । यह अपने "असावि सोमं" सूक्त में ९९ नदियों का उल्लेख करता है। यह हिरण्यस्तूप ऋषि के (१-३२)सूक्त से लिया हुआ है। यजुर्वेद में वृत्रवधरूप ब्रह्महत्या के पाप से डरा हुआ इंद्र खूब दूर भाग गया, ऐसा वर्णन आता है। हिरण्यस्तूप ऋषि ने इस दूरी को "९९ नदियों के पार" वर्णन किया है और इसी का अनुवाद अष्टक ने किया है । अतएव आद्य विश्वामित्र युग में अष्टक नहीं रखा जा सकता। चौथा है (१०-१६०) सूक्त रचने वाला पूरण वैश्वामित्र। यह तो स्पष्ट ही कहता है कि "आ भूषन्तस्ते सुमतौ नवायां वयमिन्द्र त्वा शुनं हुवेम"। यह "नवा सुमति" ही इसका नयापन सिद्ध करती है। पाँचवाँ ऋषि है प्रजापति वैश्वामित्र या वाच्य। इसका विश्वामित्र युग में न होना देख ही चुके हैं। उस प्रमाण के अतिरिक्त एक और भी प्रमाण

है (१०-१२९) नासदीय सूक्त का ऋषि प्रजापति परमेष्ठी है। इस सूक्त का संशयवाद अर्वाचीनत्व ही सिद्ध करता है। इसी प्रजापति के कारण प्राजापत्य कहलाने वाला (१०-१८४) का विष्णु, (१०-१८३) का प्रजावान् (१०-१७७) का पतंग, (१०-१३०) वाला यज्ञ, (१०-१२१) सूक्त का हिरण्यगर्भ तथा (१०-१०७) की दक्षिणा ऋषि का, ये सारे किसी भी युग के हों पर विश्वामित्र युग के नहीं माने जा सकते।

२१. इस प्रकार देखा गया कि विश्वामित्र के नाम से प्रसिद्ध तृतीय मंडल में विश्वामित्र के नाम पर दिये हुए सूक्तों में से तथा अन्य मंडलों में विश्वामित्र से संबंध रखने वाले सूत्रकारों के सूक्तों में से किसी भी सूक्त को विश्वामित्र युग में रचा हुआ नहीं कह सकते। उस युग के ऋषियों ने कुछ फुटकर ऋचाएं याज्यारूप में बना उनका पाठ किया होगा और परवर्ती उसी गोत्र के सूक्तकारों ने उनमें से किन्हीं ऋचाओं को अपनी रचना में समाविष्ट किया होगा। इस प्रकार की कल्पना असंभव नहीं। आद्य वाल्मीकि का क्रौंच-वध देखते ही अंतःप्रेरित "मा निषाद" श्लोक परवर्ती रामायणकारों ने जैसा अपने ग्रंथ में समा लिया, उसी प्रकार इन ऋचाओं का, परवर्ती सूक्तों में समाविष्ट होना संभवनीय है। "तत्सवितुर्वरेणियम्" यह विश्वामित्र की अंतःस्फुरित प्रथम ऋचा है। पर आज यह (३-६२) सूक्त में इंद्रावरुण, बृहस्पति और पूषा इन तीन देवों पर बनी हुई ऋचाओं के बाद ही दी गई है। सूक्तकार ने पूषन् देव की यह स्तुति केवल "नवा" ही नहीं, अपितु "नवीयसी" न कही होती तो उसे अलग निकालना कठिन ही पड़ता। पुराना नाम देकर नई कविता प्रवृत्त करना, कुछ नई बात नहीं। "तुलसी" शब्द का प्रयोग कर अपनी कविता तुलसीदास के नाम से चलाना या स्वयंकृत श्लोक में "मनुरब्रवीत्' मिलाकर उसे मनुस्मृति का बतलाना पर्याप्त तथा परिचित है। पुराने में नया मिलाकर उस मिलावट को पुराने नाम से ही आगे रखना अज्ञात नहीं है। प्राचीन अनिबद्ध ऋचाओं के साथ इस प्रकार की नई रचना की मिलावट ढूंढ़ निकालना बड़ा कठिन होता है। चौबीस हजार श्लोकों का भारत ग्रंथ बढ़ते-बढ़ते लक्षश्लोकात्मक महाभारत ग्रंथ बना। इसे कौन नहीं जानता? इस महाभारत में से मूल भारत निकालने के प्रयत्न भी थोड़े नहीं हुए। पर उनमें सफल कितने हुए? सबल प्रमाण जब तक नहीं मिलता तब तक ऐसे प्रयत्न सफल होने की आशा बहुत कम होती है। आद्य विश्वामित्र ने गायत्री मंत्र को प्रसिद्धि दी और तभी से ऋग्रचना का आरंभ हुआ। यह ज्ञात होने के कारण उस मंत्र को अलग निकालना कठिन नहीं। उसी प्रकार से

१२१५०

जहां कोई ऋचा असंबद्ध रीति से किसी सूक्त में जोड़ी हुई दीखती है, वहां भी उसे चुनकर अलग करना सुलभ होता है। यथा (३-८) में यूप का वर्णन करते-करते "युवा सुवासाः" मंत्र जोड़ा गया है। वास्तव में यह ऋचा उपनयन पर है, किंतु "उन्नयति" पद पर से यह यूप से जोड़ दी गई है। तरुण पुरुष वाचक "युवन्" शब्द का प्रयोग यूप के साथ करने में शब्द की ही नहीं पर अर्थ की भी खूब खींचातानी करनी पड़ती है। इस पर से यह ऋचा स्वतंत्र ही समझी जा सकती है। पर ऐसी ऋचाओं को ढूंढ़ निकालना दुष्कर है। अतएव उस विचार को छोड़, सूक्तों का स्वरूप जैसा है वैसा ही मान, उनका काल-निर्णय यहाँ किया जाने वाला है।

२२. संक्षेप में इस बात का विचार पूर्व में किया ही गया है कि आद्य विश्वामित्र युग में सूक्त रचना कम क्यों हुई। सूक्त के लिये ऋचाएं एक दूसरे से सुसंबद्ध रीति से ग्रथित होनी चाहियें। ऐसा होने के लिये बाह्य परिस्थिति तथा ऋषि की मनःस्थिति दोनों की अनुकूलता लगती है। विशिष्ट बाह्य परिस्थिति के कारण जब अंतःकरण में विचारों का मंथन होता है और उस मंथन से विकसित नवनीत मन में न समाकर शब्दरूप से जब बाहर पड़ता है, तब ही उन्हें सूक्त स्वरूप प्राप्त होता है। ऐसे सूक्त हृदय से ही निकलते हैं और इसीलिए अन्य हृदयों को हिला देने का सामर्थ्य उनमें रहता है। श्रोताओं के केवल हृदय ही नहीं हिलते सिर भी डोलने लगते हैं और मुख से साधु-साधु शब्द स्वयं ही बाहर पड़ते हैं। ऐसी प्रशंसा सुन अन्य कवियों के हृदय भी स्फुरने लगते हैं और वे भी सूक्त रचना करने लग जाते हैं। परंतु अपने शब्दों के पीछे अर्थ को दौड़ाने वाले वश्यवाक् कवि कहां और इधर उधर से कुछ समेटकर झोली भरने वाले भिक्षुक कविब्रुव कहाँ? फिर भी संसार में इन दूसरे प्रकार के लोगों की ही भरमार दीखती है। ऋग्वेद की भी यही स्थिति है। हृदय के लोहे को छू कर उसका सुवर्ण बनाने वाले पारस के से, प्रतिभा की ऊंची उड़ान भरे हुए; जगत् का गूढ़तत्व प्रकट कर दिखलाने वाले या तत्त्व ज्ञान के परमोच्च शिखर पर पहुँचाने वाले सूक्त ऋग्वेद में अवश्य हैं। पर ऐसे सूक्तों की संख्या बहुत बड़ी नहीं है। बहुसंख्य सूक्त साधारण ही हैं। अन्न मिले, पशु बढ़ें, धन संग्रह हो, शत्रुओं का नाश हो, संतान विपुल हो, ऐसी ही प्रार्थनाओं से भरे सूक्तों की भरती अधिक है। विश्वामित्र युग के सूक्त तो बहुत ही कम। इनमें भी कहने योग्य सूक्तकार तो एक ही। उसका नाम शुनःशेप—नहीं नहीं देवरात।

'आजीगर्ति' यह उसका पैतृक नाम । पर उस नाम को छोड़ यह बना वैश्वामित्र । अपने को बेचने वाला ही नहीं अपितु मारने के लिये भी केवल धन-लोभ से सिद्ध, ऐसे घृणित पिता का जन्मजात नाम छोड़कर जो देवरात वैश्वामित्र नाम से प्रसिद्ध हुआ, वही विश्वामित्र युग का एकमात्र सूक्तकार। अतः अब इसी के सूक्तों का परिशीलन कर इस विश्वामित्र युग का विवरण पूरा करें ।

२३. इस शुनःशेप या देवरात वैश्वामित्र के नाम से ऋग्वेद के प्रथम मंडल में २४ से ३० तक के क्रमांक के सात तथा नवम मंडल में क्रमांक ३ पर दिया हुआ एक, ऐसे आठ सूक्त पाये जाते हैं। नवम मंडल स्थित यह सूक्त पवमान सोम पर होने से उसका समावेश नवम मंडल में किया जाना उचित ही था। किंतु अन्य सात सूक्तों की गणना विश्वामित्र मंडल में न किये जाने का कारण यह था कि विश्वामित्र गोत्र में देवरात के मिल जाने से उस गोत्र के लोगों में दो भाग पड़े । कुछ अहंकारी लोगों ने देवरात को अपने में मिलाना स्वीकार न किया । तब जिन तरुण लोगों ने देवरात की सूक्तरचनाशक्ति देख उसे अपना अगुआ बनाया था, उन्होंने वैश्वामित्र नाम ही छोड़ दिया और वे अपने को कौशिक इस प्राचीनतर नाम से कहलाने लगे। तृतीय मंडल में वैश्वामित्रों के ही सूक्त संगृहीत होने के कारण, वहां देवरात के सूक्तों का समावेश न कर, उनको प्रथम मंडल में स्थान दिया गया । प्रथम मंडल में शतर्चिन् लोगों के सूक्त हैं। देवरात के सारे सूक्तों की ऋक्संख्या नीचे लिखे अनुसार है:—

प्रथम मंडल	सूक्त क्रमांक	२४	ऋक्संख्या	१५
,,	,,	२५	,,	२१
,,	,,	२६	,,	१०
,,	,,	२७	,,	१३
,,	,,	२८	,,	९
,,	,,	२९	,,	७
,,	,,	३०	,,	२२
नवम मंडल	,,	३	,,	१०
			योग	१०७

अतः उसके सातों सूक्तों को प्रथम मंडल में स्थान दिया जाना उचित ही था ।

२४. आद्य सूक्तकार होने के कारण से कहिये, सूक्त रचना का बंध मुक्त हो जाने के कारण से कहिये, अथवा एक कुल से दूसरे कुल में जाकर प्रसिद्ध होने के कारण से कहिये, पर शुनःशेप अपने समय में बड़ा ख्यातनाम हुआ। प्रायः एक सूक्तकार दूसरे के नाम का उल्लेख क्वचित् ही करता है। किंतु शुनःशेप का उल्लेख दूसरे एक सूक्तकार ने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में किया है। अत्रिकुल का कुमार आत्रेय अपने 'कुमारं माता' इस (५-२) सूक्त की सातवीं ऋचा में अग्नि की प्रार्थना इस प्रकार करता है--"हे अग्निदेव, तुमने शुनःशेप को जैसे बंधनों से मुक्त किया उसी प्रकार से मेरे बंधनों को तोड़ डालो।" शुनःशेप ने अपने सूक्त में पाशछेदन करने के लिये मुख्यतः वरुणदेव की प्रार्थना की है। तथापि बद्धस्थिति में किये हुए प्रथम ही सूक्त में 'अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम' कहा है। इस पर से अग्नि ने उसे बंधमुक्त किया, ऐसा यदि कुमार आत्रेय ने माना तो आश्चर्य नहीं। विस्मयोत्पादक बात यह है कि वह 'शुनःशेपं' न कहते हुए 'शुनश्चिच्छेपं' कहता है। पदकार इस ऋचा के पद देते समय 'शुनः। चित्। शेपं' नहीं देते अपितु 'शुनःऽशेपं चित्' देते हैं। सायण के ध्यान में यह बात आई और उसने अपने भाष्य में लिखा कि "चित् इति पूरणः"। किंतु पूरणार्थक निपातों में यास्क 'चित्' की गणना नहीं करता। मान भी लें कि वह पूरणार्थक है तथापि सूक्तकार 'शुनश्चिच्छेपं निदितं' के स्थान में 'शुनःशेपं चिन्निदितं' कह सकता था। फिर सीधा ऐसा न कहकर 'शुनश्चिच्छेपं निदितं' क्यों कहा। सायण कहता है 'शुनः शेपमिति पदस्य मध्ये पदान्तरस्य संहितायां व्यत्ययेनावस्थितिः'। पर ऐसा क्यों? ऐसे कहीं अन्यत्र एकाध निपात पद के दो विभागों में रखा गया है क्या? प्रायः ऐसा कहीं होता नहीं है। चिंतन करते ऐसी कल्पना हुई कि ऊपर ही कहे शुनः शेप के (१-२४) सूक्त में 'चित्' यह निपात चार बार आया है। क्या इसी की कुत्सा करने के लिये, यास्क ने कुत्सितार्थ में कहा 'चित्' निपात शुनःशेप के नाम के ही बीच में, इस सूक्तकार ने जानबूझकर रख दिया है? यदि ऐसा हो तो 'शुनश्चिच्छेपं' का अर्थ 'चित्' से ख्यात 'शुनःशेप' ऐसा अर्थ हो सकता है। शुनःशेप के सात सूक्तों में 'चित्' पद ११ बार आने से यह कल्पना बिल्कुल निर्मूल नहीं जान पड़ती।

२५. महिदास ऐतरेय ने अपने ब्राह्मण ग्रंथ में शुनःशेप विषयक एक पूरा का पूरा अध्याय (७-३) दिया है। सूक्तों में जिनका उल्लेख नहीं है,

ऐसी कई बातें इसमें कही गई हैं। सात ही सूक्तों का वर्णन इसमें आता है। ब्राह्मणकार कहता है कि यूप को बंधे-बंधे ही शुनःशेप ने सारी देवताओं की स्तुति की । एक देवता की स्तुति करने पर उस देवता ने अब अमुक देवता की स्तुति कर, 'अथ त्वोत्स्रक्ष्यामः' फिर तुझे छोड़ देंगे, ऐसा आश्वासन दिया। उससे दूसरी देवता की स्तुति कराने का क्रम ब्राह्मण में पाया जाता है। अंत में 'उषस्' की स्तुति की अंतिम ऋचा शुनःशेप ने कही और वह बंधमुक्त हो गया तथा हरिश्चंद्र रोगमुक्त, यह कहा गया है। सूक्तों का यथार्थ अध्ययन करने पर ऐसा नहीं लगता कि सारे ही सूक्त यूप को बंधे हुए शुनःशेप ने उसी स्थिति में कहे होंगे। प्रथम दो सूक्त ही उसने बद्ध स्थिति में कहे हैं क्योंकि उनमें बंधन तोड़ने की प्रार्थना ही है। पर इन सूक्तों में भी ब्राह्मणकार ने अपनी रसिकता खोकर वेदाभ्यासजडता ही दिखाई है। हर एक ऋचा की देवता अर्थात् उसका विषय कुछ होना ही चाहिये ऐसे नियम के अनुसार अनुक्रमणिकाकार या बृहद्देवताकार कहते हैं कि 'कस्य नूनं तु काय्याद्या।' मैं इसका अर्थ करता हूं कि "पहली 'कस्य नूनं' ऋचा 'कायी' अर्थात् किंविषयक है। इसमें प्रथमार्ध में 'कस्य' यह प्रश्नार्थक सर्वनाम तथा द्वितीयार्ध में 'कः' यह प्रश्नार्थक सर्वनाम है। अतः उसे 'कायी' —कौन से संबद्ध कहना अशुद्ध नहीं है। किन्तु ब्राह्मणकार (३-२१) ने 'को वै नाम प्रजापतिः' कहने के पश्चात् यहां तो 'स प्रजापतिमेव प्रथमं देवतानामुपससार कस्य नूनं कतमस्यामृतानामित्येतयर्चा 'ऐसा स्पष्ट कह कर इस ऋचा में प्रजापति स्तुति है यह भी कहते हैं। परंतु किसी भी काव्यालोचक को यह बात अखरे बिना न रहेगी । बेचारा शुनःशेप किस प्राणदापक प्रसंग में है इसका चित्र मनश्चक्षु के संमुख खड़ा कीजिये और कहिये कि मौत मुंह फाड़े उसके सामने खड़ी रहने के प्रसंग में यदि उसके मुख से

"कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च।"

यह ऋचा निकलती है तो 'किसका नाम लूं, कौन मुझे फिर से पृथिवी पर लायेगा ?' यह स्वाभाविक अर्थ होगा कि प्रजापति का नाम लेता हूं, वही मुझे पृथ्वी पर लायेगा यह स्वाभाविक अर्थ होगा। पहला अर्थ लेने से दूसरी ऋचा की भी सरसता जान पड़ती है क्योंकि केवल कस्य की जगह अग्नि रखने से उसके मन में जो प्रश्न उठा उसका उत्तर उसी प्रकार उसे मिलता है। परन्तु यदि ब्राह्मणकार के कथनानुसार अर्थ किया जाय

तो न केवल स्वाभाविकता ही नष्ट होती है अपितु दूसरी ऋचा केवल पिष्टपेषण करनेवाली जान पड़ती है। अतएव यहां 'कस्य' और 'कः' 'इन दोनों पदों को प्रश्नार्थक ही लेना उचित है। प्रजापति संज्ञावाचक अर्थ लेने से सूक्त का सरस उभार ही नष्ट होता है। अस्तु।

२६. यूपबद्ध स्थिति में शुनःशेप के हृदय से निकले हुए ये ही दो सूक्त (१–२४ तथा २५) हैं। उसके हृदय की उदारता इस कठिन प्रसंग में भी साफ झलकती है। मोल लेने वाले राजा के या बेचने वाले मातापिताओं के विषय में एक भी शब्द इसमें नहीं। अपरंच इस दुःस्थिति को पहुँचाने वाले कुछ पापकर्म अपने ही हाथों हुए होंगे, ऐसा मान इन्ही पापों के बंधन शिथिल करने की ही प्रार्थना शुनः शेप करता है। कुछ उपमाएं तो इस सूक्तद्वय में अत्यंत ही सुंदर हैं। शुनःशेप कहता है––'हे वरुण देव, पंछी जैसे अपने घोंसले की ओर उडते हैं या गायें जैसे अपनी गोष्ठों की ओर दौडती हैं, वैसे ही मेरे विचार तुम्हारी ओर दौड़ते जाते हैं। रथ चलाने वाला जैसा अपनी इच्छानुसार घोड़ों को मोड़ता है वैसे ही मेरे शब्द तुम्हें अपनी ओर मोड़ रहे हैं। इन सूक्तों में तीन तीन ऋचाओं में एक एक कल्पना गुंथी हुई है। इसी पर से तीन ऋचाओं का तृच् बनाने की कल्पना प्रादुर्भूत हुई दिखती है। तीन ऋचाओं में यहां वरुण का ज्ञान बतलाया है। पुराणेतिहास बतलाता है कि इसी समय यादवों में एक सोने का कवच धारण करने वाला 'रुक्मकवच' नाम का राजा होगया। शुनःशेप भी वरुण को 'बिभ्रद्द्रापिं हिरण्ययम्' कहता है। ऐसा नहीं कह सकते कि ये दोनों बातें एक दूसरे से संबद्ध होंगी ही नहीं।

२७. अब शुनःशेप के दूसरे सूक्तों पर थोड़ा ध्यान दें। महिदास ने यद्यपि पूर्वोक्त दोनों सूक्तों के साथ ही शुनःशेप के (१-२६, २७, २९, ३०) ये चार सूक्त भी यूपबद्ध स्थिति में ही कहना बतलाया है और ये स्तुतियां भी उसे बंधमुक्त करने में सहायक हुईं ऐसा कहा है, तथापि सूक्तों के अध्ययन से ऐसा नहीं जान पड़ता। इन चारों सूक्तों में बंधन का कहीं भी उल्लेख नहीं। मृत्युमुख में जो पड़ रहा है वह बंधमुक्ति की तो बात कर सकता है, पर यह अस्वाभाविक जान पड़ता है कि इस स्थिति में कोई अग्नि की 'चनो धाः'—अन्न दो, या घोड़ों की सहायता से विजय मिला दो इस प्रकार की प्रार्थना करे। एवं इन्द्र की प्रार्थना कि 'हजारों घोड़े और बैल हमें प्राप्त हों' अश्विनौ देव की कि 'सोना मिले' या उषस् की कि 'अन्न और धन दो'

अप्रासंगिक और अप्रयोजक जान पड़ती हैं। (१-२८) सूक्त तो स्तुति पर है ही नहीं । इस सूक्त का सम्बन्ध उन दिनों 'अंजःसव' नामक सोमरस के निकालने की विधि से है। यहीं पर ब्राह्मणकार यह भी बताते हैं कि पूर्वोक्त शुनश्चिच्छेपं वाली ऋचा आहवनीय अग्नि की स्थापना में प्रयुक्त की जाती थी तथा वामदेव युग की ४-१-४ तथा ५, ये दो ऋचाएं अवभृथ स्नान के समय उपयोग की जाती थीं। इस पर से स्पष्ट ही दीख पड़ता है कि ब्राह्मणकार महिदास का ध्यान कालानुक्रम की ओर बिल्कुल ही न था। उसी प्रकार (९-३) इस शुनःशेप के सूक्त का विचार भी इस ब्राह्मणान्तर्गत शौनःशेप के आख्यान में कहीं नहीं किया गया है।

२८. शुनःशेप के सूक्तों का विमर्श करते समय ऐसा जान पड़ता है कि (१-२८, २९) तथा (९-३) के सूक्त शुनःशेप ने बेचे जाने के पूर्व बनाये थे। सूक्तरचना का थोड़ा बहुत अभ्यास न होते एकदम से अच्छे सूक्त शीघ्र कवि हो तो भी मुख से नहीं निकल सकते। विश्वामित्र ने होतृ कर्म प्रचलित किया और तबसे अध्वर्यु तथा होता यज्ञकर्म में आवश्यक माने गये। त्रिशंकु ने जो सोमयाग किया उसके बाद कई सोमयाग हुए। उस समय सोमवल्ली ऊखली में डाल पृथुबुध्न मूसल से अर्थात् नीचे बड़ा भाग होने वाले मूसल से कूटी जाती थी। कूटते समय जो इसके बिंदु ऊपर उडते थे वे व्यर्थ न जावें इसलिए बैल का चमड़ा ऊखली के नीचे रखते थे। ऊखली को नीचे एक मुख रहता था जिसमें से बहता हुआ सोमरस नीचे रखे पात्रों में इकठ्ठा किया जाता था। बहते हुए सोमरस को ही पवमान सोम कहते हैं और इसी के वर्णन पर सूक्त नवम मंडल में संगृहीत हैं। ऊखली और मूसल का वर्णन करने वाला (१-२८) यह शुनःशेप का प्रथम सूक्त होगा। क्योंकि यहाँ सोमरस निकालने की प्रक्रिया का ही वर्णन है। आगे के सूक्तकारों ने उनके समय जैसे-जैसे इस प्रक्रिया में फेरबदल हुए, उसी रीति का वर्णन किया है। शुनःशेप के ये सूक्त किसी अनभ्यस्त और नवशिक्षित कवि की कविता के से हैं। शब्द तथा कल्पना दोनों की पर्याप्त पुनरावृत्ति है। २८ वें सूक्त की चार ऋचाएं "यत्र" पद से आरंभ होती हैं और इन चारों का उत्तरार्ध 'उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः' है। २९ वें सूक्त में तो पंक्ति छंद के अंतिम तीन चरण आ तू न इन्द्र शंसय, गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु, सहस्रेषु तुवीमघ' सारे सूक्त में भरे हुए हैं। (९-३) सूक्त में प्रत्येक ऋचा का एष शब्द से आरंभ होता है। अन्य तीन २६, २७ तथा ३० शुनःशेप देवरात हो जाने के बाद के प्रौढ भाषा में रचे हुए हैं।

२९. अब शुनःशेप या देवरात के सूक्तों की कुछ विशेषताएं दिखाकर इस सूक्तकार से तथा विश्वामित्र युग से विदा मांगी जावेगी। ये विशेषताएं दो प्रकार की हैं—शब्दसम्बन्धिनी और छन्दःसम्बन्धिनी। शब्दों के विषय में शुनःशेप के सूक्तों में ऐसे अनेक प्राचीन शब्द आते हैं जिनका प्रयोग ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं पाया नहीं जाता। कधप्रिया, जराबोध, तुविप्रति, गर्भधि, कृकलाश्व तथा कुण्डृणाची ये ऐसे शब्दों के उदाहरण स्वरूप दिये जा सकते हैं। ठीक ही है कि इन प्राचीन शब्दों के विषय में टीकाकार भिन्न-भिन्न अर्थ करते हुए दिखाई देते हैं। सारे ही टीकाकारों का ऐकमत्य नहीं पाया जाता। उसी प्रकार एकाक्षरी उपसर्ग या निपात पादपूरण के लिये पर्याप्त रूप में पाये जाते हैं। शुनःशेप के सूक्तों में आगे दिये हुए एकाक्षरी पद मिलते हैं :— आ, उ, घ, तु, न, नि, नु, प्र, मा, वा, वि, और सु। कभी कभी तो एक एक ऋचा में दो या तीन बार भी इनका प्रयोग पाया जाता है। उदाहरण के लिये—'उत यो मानुषेष्वा यशश्चक्रे असाम्या। अस्माकमुदरेष्वा।' चित् के बारे में पीछे लिखा ही गया है। द्यविद्यवि, गृहेगृहे, योगेयोगे, वाजेवाजे इस प्रकार की शब्दों की पुनरुक्ति भी इसके सूक्तों में मिलती है।

३० छन्दःसम्बन्धी विशेष इन सूक्तों में पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। इन पर विचार करने से जान पड़ता है कि शुनःशेप सन्धि न करते हुए ही शब्दों का प्रयोग करता था। वैयाकरणों के संस्कार कर यदि ये छन्द पढ़े जावें तो उनमें छन्दोदोष भरपूर मिलेगा। पर उन्हीं को यदि सन्धि न करके पढा जावे तो यह दोष बिल्कुल ध्यान में न आवेगा। उदाहरणार्थ 'उत यो' यह पूर्वोल्लिखित ऋचा ही लीजिये। इसका अन्तिम आ जिसकी सन्धि तीनों पादों में की हुई है, यदि अलग निकालकर ऋचा का पाठ 'उत यो मानुषेषु आ यशश्चक्रे असामि आ। अस्माकमुदरेषु आ, ऐसा किया जाए तो छन्दोदोष अदृश्य हो जाएगा। वरेण्य जैसा वरेणिय कहा जाता था उसी प्रकार से यहां भी कहने पर पूरी २४ अक्षरी त्रिपदा गायत्री होती है। आगे छन्दःशास्त्रकारों ने इसे पादनिचृद्गायत्री नाम दिया है। पर यह गायत्री शुनःशेप के समय मानी नहीं जाती थी। अनुक्रमणिका में यह नाम न होते केवल गायत्री ही छन्द का नाम दिया है। पूर्व में देवा अनाम् इस वैकल्पिक रूप के विषय में कहा ही गया है। उसी प्रकार सखीनाम्, शिप्रिणीनाम् और सोमपाव्नाम् ये शब्द यदि सखी इनाम्, शिप्रिणी इनाम् यथा सोमपावनाम् कहे जाएँ तो पाद निचृद्गायत्री शुद्ध गायत्री सहज में हो सकती है। इस पर से अनुमान यही निकलता है कि

शुन:शेप के समय ये शब्द इसी प्रकार से कहे जाते होंगे। एक ही और मनोवेधक उदाहरण देकर इस विषय को समाप्त किया जाएगा। 'वयं हि ते अमन्महान्तादापराकात्। अश्वे न चित्रे अरुषि' (१-३०-२१) यह ऋचा लीजिये। यहां प्रथम चरण के आठ अक्षर अलग निकाले जाएँ तो दूसरे चरण में पांच ही अक्षर बचेंगे। एक एक चरण स्वतंत्रतया कहा जाय तो 'वयं हि ते अमन्महि। आन्तादापराकात् 'यहां दूसरा चरण षडक्षरी रहेगा 'आ अन्तादा पराकात्' ऐसा पढ़ा जाए तो भी सात ही अक्षर होंगे। किंतु यदि 'आ अन्तादापरा अकात्' कहा जाए तो गायत्री का अष्टाक्षरी चरण बन जाएगा। छन्दोदोष के ऐसे उदाहरण इन हाथ की उंगलियों पर गिने जाने वाले सूक्तों में चालीस से भी अधिक हैं। इसलिये यह कहने की अपेक्षा कि देवरात ऋषि ने इतने छन्दोभङ्ग किए यही मानना अधिक उचित होगा कि उस समय सन्धि आवश्यक नहीं मानी जाती थी और षष्ठी बहुवचन के पूर्व का स्वर बढ़ाकर कहा जाता था। विश्वामित्र युग का विचार यहां समाप्त होता है। अग्रिम प्रकरण में भरद्वाज युग का दर्शन किया जावेगा।

चतुर्थ प्रकरण

भरद्वाज युग

१. विश्वामित्र युग की स्फुट तथा सूक्त मंत्ररचना प्रायः कान्यकुब्ज अयोध्या और काशी के राज्य में ही हुई । किन्तु विश्वामित्र युग के अन्त में अर्थात् महाभारत युद्ध के लगभग साठ पीढ़ियां पूर्व के काल में राजकीय दृष्टि से इन प्रांतों में बड़ी भारी उथल-पुथल हुई। परशुराम ने इक्कीस जगह जिन हैहयों का पराभव कर उन्हें दबा डाला था, वे ही हैहय लोग सब स्थानों में शांति देख नर्मदा तीर पर से, जहां वे दबे हुये थे, फिर चढ़ाई करने निकल पड़े । पहली चढ़ाई उन्होंने काशी पर की और वहां के हर्यश्व नामक राजा को मार डाला । इन चढ़ाइयों के कारण जो अशांति मची, उसे देख पूर्व काल में जो द्रुह्यु वंशज भारत के बाहर वायव्य तथा पश्चिम दिशा में एशिया मायनर तक जा पहुंचे थे वे भी लौटे और राज्य स्थापना का फिर इसी देश में प्रयत्न करने लगे । विश्वामित्र के अनन्तर कान्यकुब्ज राज्य कोसल में मिला लिया गया था । अतएव उन्होने बेरोक टोक कोसल देश पर चढ़ाई की और कोसलराज "बाहु" को विन्ध्य पर्वत की ओर भगा दिया । थोड़े ही दिनों के पश्चात् इन लोगों ने विदेह राज्य को भी जीत लिया । यह आक्रमण और भी पूर्व की ओर बढ़ता किन्तु वैशाली राज करंधम ने इन आक्रामकों का सामना किया इतना ही नहीं अपितु अपनी फौज की सहायता से इन्हें अच्छा ही हाथ दिखाया । इस कारण न हैहय न द्रुह्यु इनकी ओर फिर से मुड़े । वे वैशाली राज्य के पश्चिम में ही अशांति मचाते रहे । एवं भरद्वाज युग के आरम्भ में अर्बुद पर्वत से लेकर काशीराज्य तक का सारा देश अशांतिपूर्ण ही रहा । शांतता थी केवल वैशाली में । अतएव इस युग के आरम्भ में जो रचना हुई, वह वैशाली में और वैशाली के ही पुरोहित वर्ग द्वारा । यह स्वाभाविक भी था । यज्ञयागादि कर्मों की तथा उसके लिये आवश्यक सूक्तों की वृद्धि जहाँ शाँतता हो, वहीं हो सकती है ।

२. परन्तु ऐसे अशान्ति काल में ही कुछ समस्याएं प्रमुखता से अग्रेसर होती हैं । युद्ध में जब अनेक लोग मारे जाते हैं तब इन सैकड़ों मृत देहों की योग्य तथा अहानिकारक रीति से व्यवस्था करना, एक समस्या बन जाती

है। आरम्भ में मनुष्य मरने पर उसका देह कहीं तो भी दूर ले जाकर रख देते थे। इसे 'परावपन' कहते। बिल्कुल पहले युग में यही मार्ग लोगों को सूझा। परन्तु उस मृत देह की गीधों या श्वापदों द्वारा की हुई बुरी दशा देखकर उन्होंने गाड़ने की विधि निकाली, जो "निखनन" कहलाया गया। प्रेत गाड़े जाते और उस स्थान के ऊपर एक प्रस्तर रखा जाता। किन्तु लड़ाई में मारे गये सैकड़ों, हजारों मृत लोगों के देहों की इस प्रकार व्यवस्था करना सुलभ भी न था। वैशाली के से छोटे देश में इस कार्य के लिये रखा हुआ स्थान सीमित था और उससे अधिक भूमि इस काम के लिये देना संभव न था क्योंकि वैसा करने से कृषि योग्य भूमि कम होने वाली थी। सारी ही बातें ध्यान में रख वैशाली राज्य के दो पुरोहित अंगिरस और विवस्वान् ने खूब विचार किया और उनके मन में अग्निदाह संस्कार की कल्पना प्रकट हुई। विवस्वत् पुत्र यम ने इसलिये यम, पितर इत्यादि देवताओं की कल्पना निकाली और उसी के नामपर से यह पौराणिक कल्पना आगे प्रसृत हुई कि मृत्यु के देवता यमदेव विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र थे। प्रेतों का अग्निसंस्कार क्रूर कर्म नहीं, अपितु एक प्रकार का यज्ञ है, इस कल्पना को रूढ़ करने में, अङ्गिरस पुत्र अथर्वन् ने भी खूब सहायता दी। इस यज्ञ को "पितृमेध" नामक प्रतिष्ठित संज्ञा इसी ने मिला दी। अन्य यज्ञों की अपेक्षा इसकी भिन्नता दिखाने के हेतु यज्ञविधि में जो बातें जिस प्रकार से की जाती थीं वे इस यज्ञ में व्युत्क्रम रीति से होने लगीं। उदाहरण स्वरूप यज्ञविधि में जो उपवीत बाँए कंधे पर रखा जाता था वह दाहिने कंधे पर रखा जाने लगा और जो यज्ञसाधन देवयज्ञ में उत्तर और पूर्व में रखे जाते थे, वे इस "पितृयज्ञ" में दक्षिण में स्थापित होने लगे। देवों को हविर्भाग पहुंचाने वाला हव्यवाहन अग्नि इस यज्ञ में कव्यवाहन नामक हुआ और स्वाहाकार का रूप स्वधाकार ने लिया। अच्छे प्रकार से बुलाने का वाचक स्वाहा शब्द, अच्छे प्रकार से रखने का वाचक हुआ। यम की दिशा दक्षिण समझी गई क्योंकि वैशाली का यह स्थान दक्षिण दिशा में था। पूर्वजों की स्मृति जागृत रखने के लिये जमदग्नि ऋषि ने जिस श्राद्ध विधि का निर्माण किया था उसके लिये भी मंत्रों की रचना इसी समय हुई। इन मंत्रों के रचयिता शंख, दमन, देवश्रवस्, संकुसुक तथा मथित सारे यामायन अर्थात् यमवंशज हैं। इन सूक्तकारों का वर्ग अधिक बढ़ना संभव ही न था, परन्तु जिन पांच चार पीढ़ियों में ये मन्त्र रचे गये उनका ऋग्वेद सूक्तों में एक अलग ही समूह निःसंदेह रीति से बन जाता है।

३. ऊपर जिस अथर्वन् ऋषि का उल्लेख किया गया है, वह कंरधम

नाम के वैशाली राज्य का मुख्य पुरोहित था। गृह में संभालकर जो अग्नि रखी जाती थी उसका उपयोग प्रेतसंस्कार के लिए होता हुआ देख, देवयज्ञ कर्म के लिये उस अग्नि को न लेकर दो अरणी और एक मंथा की सहायता से मंथन द्वारा अन्तरिक्षस्थ अदृश्य उष्णता को दृश्य स्फुलिंगों के रूप में उत्पन्न कर उसी का उपयोग यज्ञविधि में करने की कल्पना इसी अथर्वन् की थी। एक भृगुवंशज ऋषि ने दोनों अरणियां जोर से दबा रखीं और अथर्वन् ने मंथा घुमाकर घर्षण से अग्नि का प्रथम निर्माण किया। यही बात एक भरद्वाज ऋषि ने अपनी एक ऋचा में (६-१६-१३) स्पष्ट की है। वह कहता है "त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥" ऋचा के उत्तरार्ध से स्पष्ट है कि यहाँ पुष्कर शब्द विश्व के सिर पर रहने वाले अन्तरिक्ष के अर्थ में प्रयुक्त है। निघंटुकार ने अन्तरिक्ष वाचक शब्दों में पुष्कर शब्द की गणना की है। पर सायण के यह ध्यान में न रहने के कारण उसने अपने भाष्य में पुष्कर का अर्थ कमल पत्र लेकर व्यर्थ में ही खींचातान की है। अथर्व ऋषि की बहुसंख्यक रचना दुःख विमोचक बातों के लिये थी। प्रत्यक्ष यज्ञविधि के लिये वह उपयुक्त न थी। ऐसे मंत्रों का आरंभ इसी ने किया और इसी कारण ये मन्त्रसमूह अथर्वाङ्गिरस् नाम से ख्यात हुए। इन मन्त्रों का संग्रह "आपव" नामक वसिष्ठ वंशज एक ऋषि ने किया जिस पर से उसे लोग अथर्वनिधि कहने लगे।

४. अथर्वन् का पुत्र उशिज् नाम का था। उशिज् के तीन पुत्र हुए—उचथ्य, बृहस्पति और संवर्त। उचथ्य की स्त्री थी ममता। इसे जो पुत्र हुआ, वह जन्म से ही दृष्टिहीन होने के कारण दीर्घतमस् कहलाया गया। दीर्घतमस् के बचपन में ही उसका पिता उचथ्य इस लोक से चल बसा। उचथ्य की स्त्री ममता ने चिता पर पति के साथ "सती" होना चाहा। पर उसे इस कर्म से उसके देवर बृहस्पति ने परावृत्त किया और स्वयं ही उसके साथ विवाहबद्ध हुआ। ममता को परावृत्त करने का वर्णन (१०-१८-८) पर "उदीर्ष्व नारि" इस ऋचा में संकुसुक यामायन ने बिल्कुल आंखों से देखा सा किया है। बृहस्पति से ममता को जो पुत्र हुआ उसका नाम था भरद्वाज। ममता के इन दोनों पुत्रों ने—दीर्घतमस् और भरद्वाज ने कई मन्त्रों की रचना की। किन्तु इन दोनों के नाम से जो सूक्त मिलते हैं वे इन्हीं दो ऋषियों के नहीं जान पड़ते। दीर्घतमस् नाम का दूसरा ऋषि इतिहास में नहीं मिलता है। किन्तु भरद्वाज नाम के तीन ऋषि इतिहास प्रसिद्ध हैं। प्रथम भरद्वाज है पूर्वोक्त बृहस्पति को ममता से प्राप्त पुत्र। भरत सम्राट् ने जिसे अपना उत्तराधिकार

दिया था वह था द्वितीय भरद्वाज। यह विदथिन् कहलाया जाता था और इसी के समय से क्षत्रोपेत ब्राह्मण अस्तित्व में आये। इसी के समय ऋग्वेद का प्रथम चयन हुआ जिसके बाद बने सूक्त नव्य कहलाये गये। तभी से पूर्व ऋषि और नूतन ऋषि यह भेद हुआ। इस दूसरे भरद्वाज में और प्रथम भरद्वाज में चार पीढ़ियों का अन्तर है। तीसरा भरद्वाज अजमीढ़ राजा के समय अर्थात् और नौ पीढ़ियों के पश्चात् हुआ। ये तीनों भरद्वाज इस ३७५ वर्ष की अवधि में हुए। सूक्तों के अध्ययन पर से और भी एक भरद्वाज सुदास् के समय हुआ सा जान पड़ता है किन्तु उसके विषय में इस युग का विचार करने के समय कुछ कहना आवश्यक नहीं है।

५. ममतापुत्रों के अर्थात् दीर्घतमस् और भरद्वाज के सूक्तों पर दृष्टिपात करने के पूर्व एक और मन्त्रकार का विचार करना है। वैशाली के राजाओं द्वारा हैहयों का पराभव देखकर काशीराज प्रतर्दन ने भी हैहयों का सामना किया और उनके वीतिहोत्र नामक गण को परास्त किया। इसी गण में से वीतहव्य नामक एक पुरुष प्रतर्दन के भय से भागता हुआ एक भृगु-वंशज ऋषि के आश्रम में पहुंचा। प्रतदन के वहाँ पहुंचने पर, इस वीतहव्य को भृगु लोगों ने यह कहकर बचा लिया कि यह तो हमारा ही है। इस प्रकार वीतहव्य ब्राह्मण कहलाया गया और वह बृहस्पति के घर आकर रहा। यह अपने को आङ्गिरस कहलाने लगा। इसका एक सूक्त ऋग्वेद के षष्ठ मंडल में १५ क्रमांक पर विद्यमान है। सूक्त अग्नि देवता पर रचा गया है। कालानुक्रम से यह भरद्वाज या दीर्घतमस् के पूर्व का है। अतएव इस सूक्त का विचार प्रथम किया जाना योग्य है।

६. यह सूक्त एक बड़े सुन्दर काव्य का नमूना है। अथर्वन् ने जिस प्रकार की अग्निमन्थन क्रिया की थी उसी प्रकार की क्रिया इसने स्वयं देखी थी। इसका प्रमाण 'इममु त्यमथर्ववदग्निं मथ्नन्ति वेधसः' इस ऋंगर्घ में मिलता है। इसके पूर्व की ही ऋचा में 'कुलायिनं' इस एक ही पद से इसने बड़ा ही मनोहर चित्र सूचित किया है। अण्डे में से शावक बाहर निकलने के पूर्व शुक अपना घोंसला (कुलाय) ऊन के टुकड़े, नरम नरम सूखा घास इत्यादि को रख जैसे मृदु मृदु बनाता है, वैसे ही, ऊन, घृत इत्यादि लगाकर ऋत्विजों ने अधरारणि को भी बहुत मृदु किया है। अतएव हे अग्निदेव, तुम भी अदृश्यता से अब शीघ्र ही बाहर निकलो, इस प्रकार की हृदयग्राहिणी यह प्रार्थना है। इसी सूक्त में वीतहव्य का पूर्वोक्त वृत्त भी सूचित होता है। श्लेष से भृगु लोगों ने मित्र के समान इसे रखा, यह बात 'मित्रं न यं सुधितं भृगवो दधुः' इस चरण पर से व्यक्त होती

है। शुनःशेप या देवरात के अग्नि सूक्त की छाप इसके सूक्त पर स्पष्टतया जान पड़ती है। 'अर्यः परस्यान्तरस्य तरुषः' दूर के या पास के शत्रु से बचा, इस प्रार्थना में उसके मन में जो भय है वह तो व्यक्त होता ही है पर साथ ही 'तरुषः' पद शुनःशेप प्रयुक्त 'तरुता' की भी स्मृति जागृत करता है। 'त्वमग्ने वनुष्यतो नि पाहि त्वमुनः सहसावन्नवद्यात्' यहां पर भी पीछा करने वाले शत्रुओं से बचाने की प्रार्थना के साथ यह भी प्रार्थना है कि 'ब्राह्मण कहकर बचाने के समान अवद्य बातों से भी बचाओ।' वीतहव्य की मनोदशा और मनोव्यथा दोनों यहां स्पष्ट रूप से जान पड़ती हैं।

७. देवरात के अग्निसूक्त का प्रभाव ऊपर कहे अनुसार केवल 'तरु' शब्द के रूपों पर से ही नहीं दीखता अपितु अन्यत्र भी दृष्टिगोचर होता है। शुनः-शेप देवरात के 'अथा न उभयेषाममृत मर्त्यानाम्' का ही अनुवाद 'विभूषन्नग्न उभयान्' तथा 'देवासश्च मर्तासश्च' इन वीतहव्य के शब्दों में स्पष्ट जान पड़ता है। वीतहव्य का 'स्पृहयाय्यः' रूप देवरात के 'श्रवाय्यः' के समान है। 'विश्वे-भिरग्ने अग्निभिः' का ही स्पष्टीकरण वीतहव्य के 'अग्ने विश्वेभिः स्वनीकदेवैः' में होता है। जिस प्रकार शुनःशेप ने 'देवंदेवं' तथा 'विशेविशे' द्विरुक्ति करके कहा है, उसी प्रकार वीतहव्य ने दिवेदिवे, अग्निमग्निम् प्रियंप्रियं, युगेयुगे भी द्विरुक्ति कर कहा है। देवरात ने अग्नि को 'सहसो यहो' या 'सूनुः शवसः' इस प्रकार संबोधित किया है। किन्तु वीतहव्य का 'सूनो सहसो' यह अग्नि संबोधन निःसंशय काव्यगुण की दृष्टि से अधिक विकसित है। वीतहव्य ने 'उषर्बुध' और 'त्रिवरूथ' 'अर्थात् उषःकाल में जागृत होने वाला तथा तीन जगह रहने वाला ये तीन विशेषण अग्नि को नये प्रदान किये हैं। स्वयं अपने को अविद्वान् तथा अग्नि को विदुष्टर कह विरोधाभास साधा है। अग्नि के पास वीतहव्य ने जो मांग की है, वह तो उसके अत्यंत अनुरूप है। रायः अर्थात् धन तो सभी मांगते हैं किन्तु यह उसके साथ 'छर्दिः'—निवास स्थान भी मांगता है। और वह भी केवल अपने लिये ही नहीं, अपितु जिस बृहस्पति के घर में इसे निवास करना पड़ा था उसके पुत्र भरद्वाज के लिये भी। वीतहव्य की उदारहृदयता इस पर से भली भांति सूचित होती है। इसकी अन्तिम याचना तो क्षत्रियोचित महत्वाकांक्षा भी बतलाती है। यह याचना केवल वीतहव्य ने ही की है। यह कहता है—'अस्थूरि नो गार्हपत्यानि सन्तु'। स्थूरि उस शकट को कहते हैं जिसमें एक ही बैल या घोड़ा जोता जाता है। यह ऋषि इस प्रकार के छकड़े नहीं चाहता। वह चाहता है इनसे बड़े रथ जिनमें एक से अधिक बैल या घोड़े जोड़े जावें।

८. वीतहव्य के सूक्तों का अध्ययन करते समय इस बात का बड़ी सुलभता से पता चलता है कि नये छन्द कैसे निर्माण होते हैं। रचना हो रही थी अठतालीस अक्षरों के जगती छन्द में। तीसरी ऋचा रची जाने के बाद जब वीतहव्य ने देखा कि आखरी चरण बना 'छर्दिर्यच्छ वीतहव्याय सप्रथः' उसके मन में आया कि यही मांग भरद्वाज के लिये क्यों न की जाय और सहज ही में 'भरद्वाजाय सप्रथः' ये आठ अक्षर उस ऋचा में जोड़े गये। इनके जुड़ते ही छप्पन अक्षरों का नया शक्वरी छंद निर्माण हुआ। शक्वरी नामक छन्द पहले ही था और फिर वीतहव्य ने उस छन्द में रचना की, ऐसा नहीं। अपितु वीतहव्य को यह अष्टाक्षरी चरण सूझा और उसने इसको जगती में जोड़ दिया। अब एक ऐसा छन्द बना कि जिसके तीन चरण तो थे बारह २ अक्षरों के और चौथा चरण था बीस अक्षरों का। इसी प्रकार छठवीं ऋचा का अन्तिम चरण प्रथम बना 'देवो देवेषु वनते हि वारियम्'। वीतहव्य की इच्छा हुई कि इसी में एक और द्वादशाक्षरी चरण जोड़ दिया जाए। यह चरण बना–'देवो देवेषु वनते हि नो दुवः'। किन्तु इसके जुड़ जाने से छप्पन अक्षर भी नहीं किन्तु साठ अक्षर का एक नया छन्द बना जिसमें पांच द्वादशाक्षरी चरण थे। पंद्रहवीं ऋचा तीसरी के समान छप्पन अक्षरों की है। किन्तु यहां अन्तिम बीस अक्षरों का चरण अन्तिम आठ अक्षरों को जोड़ने से नहीं बना है। यहां 'विश्वानि दुरिता तरेम, तातरेम, तवावसा तरेम' ऐसा स्वतंत्र ही बीस अक्षरों का चौथा चरण बना है। शास्त्रकार प्रयोगशरण होते हैं। अर्थात् जो उनके सामने होता है उसी को नियमबद्ध तथा संज्ञाबद्ध बनाना उनका काम होता है। इसके अनुसार पीछे के छन्दः शास्त्रकारों को इस छप्पन अक्षरों के नये छन्द को 'जिसकी रचना भलीभांति हो सकती है' इस अर्थ का शक्वरी नाम देना ठीक लगा और इससे चार अक्षर अधिक होने वाले छन्द को 'अतिशक्वरी' बड़ी शक्वरी नाम दिया गया। वीतहव्य के एक ही सूक्त का जितना असंक्षिप्त विवरण दिया है, उतना दीर्घ विवरण हर एक सूक्त के विषय में यहां लिखना संभाव्य नहीं। परन्तु प्रत्येक सूक्त का अध्ययन इसी प्रकार से किया गया है। अध्ययन की दिशा दिखलाने के लिये यह पर्याप्त माना जा सकता है।

९. कालक्रमानुसार अब दीर्घतमस् ऋषि के सूक्तों का विचार करना है। कवि का इतिहास मालूम हो तो उसकी कविता पर अधिक प्रकाश पड़ता है। इसलिये संक्षेप में इस सूक्तकार का इतिहास देने का प्रयत्न यहां किया गया है। बृहस्पतिपुत्र भरद्वाज से यह वय के कारण बड़ा था। इसलिये इसे प्राथम्य देना उचित

ही है। यह अन्धा था पर शरीर से सुन्दर और बलिष्ठ तथा मन से सरल और बुद्धिसंपन्न था। कहा जाता है कि ईश्वर जब एक शक्ति कम देता है, तो उसकी भरपाई अन्य रीति से करता है। तरुण होने पर तरुणी स्त्रियां इस पर लुब्ध और मुग्ध होतीं और इसे अपने वश करतीं। परन्तु इस कारण से निन्दा इस गरीब की होती। यज्ञ कर्म का विरोध करने वाले विशेषतः द्रुह्य लोगों के साथ वाणिज्य कर्म के लिये पश्चिमी देश से आये हुए 'पणि' लोग इसके इस कर्म से केवल इसकी ही नहीं अपितु इसके धर्म की या देवों की भी निन्दा करते। आखिरकार इन लोगों ने तथा इसके कारण त्रस्त अन्य लोगों ने इसे कई प्रकार से सताया और उसका भी परिणाम न हुआ देख कर एक नौका में इसे बांधकर रख दिया और नदी की धारा में उस नौका को छोड़ दिया। बहते बहते वह नाव एक किनारे के पास फंसकर अड गई। उस देश का राजा इसे अपने महल में ले गया और इसे भली प्रकार वहां राजा ने रखा। पर वहां की रानियां भी इस पर मोहित हुईं और राजा को इसके द्वारा पांच पुत्रों की प्राप्ति हुई। वृद्धावस्था में अपनी साल संभाल करने वाली एक राजदासी से इसे विवाहबद्ध कर दिया गया। इस दासी से इसे जो पुत्र हुआ उसका नाम कक्षीवत् रखा गया। इसके ऐसे आचरण से ही 'गवां घर्माद् दीर्घतमा गोतमः समपद्यत'। लोग इसे गोतम कहने लगे। दीर्घतमस् के सूक्तों के अध्ययन के समय यह इतिहास ध्यान में रखना चाहिये।

१०. दीर्घतमा औचथ्य के नाम से ऋग्वेद के प्रथम मंडल में १४० से लेकर १६४ क्रमांक तक पच्चीस सूक्त दिये हुए हैं। देवतावार निम्न प्रकार से इनका विभाजन किया गया है –

१	अग्नि	सूक्त	११	ऋ० १४० से १५०
२	मित्रावरुण	,,	३	,, १५१ से १५३
३	विष्णु	,,	३	,, १५४ से १५६
४	अश्विनौ	,,	२	,, १५७ से १५८
५	द्यावापृथिवी	,,	२	,, १५९ से १६०
६	ऋभु	,,	१	,, १६१
७	अश्व	,,	२	,, १६२ से १६३
८	संकीर्ण	,,	१	,, १६४
		योग	२५	

पीछे कहा ही गया है कि ये सारे सूक्त एक ही दीर्घतमस् के नहीं लगते। अतः जो वैसे न हों, उनके कारण देकर और उसी समय उनका विचार न कर शेष सूक्तों का ही विचार यहां करना है।

(१) सूक्त १४० में 'नित्यारित्रा' अर्थात् एकसा बिना ठहरे डांड चलने वाली तथा वीर, धनी, और सामान्य सभी लोगों को सुख से पार ले जाने वाली नौका का वर्णन है। पूर्व में कहा ही गया है कि मामतेय दीर्घतमस् के समय नौका नयन शास्त्र में इतनी प्रगति नहीं हुई थी। इस पर से जान पड़ता है कि यह सूक्त भरद्वाज युग का नहीं है। नौकानयन शास्त्र में हमारी प्रगति दाशरथि रामचन्द्र के पश्चात् हुई। अतः यह १४० वां सूक्त आत्रेय युग के अन्त समय का होना चाहिये। १४१ वां सूक्त नव्य कहा गया है जिस पर से वह भरत के पश्चात् काल का स्पष्टतया प्रतीत होता है। क्र० १४२ को आप्रीसूक्त कहते हैं। आप्री का अर्थ है पूरक, पूरा करने वाला। यज्ञविधि पूर्णतया निश्चित होने के अनन्तर जिन काल्पनिक देवताओं को आवश्यक माना गया, उन देवताओं का वर्णन करने वाली ऋचाएं भिन्न-भिन्न संप्रदाय के ऋषियों द्वारा रची गईं और उनका समूह आप्री सूक्त नाम से प्रसिद्ध हुआ। उक्त समूह में आङ्गिरस संप्रदाय का यह आप्री सूक्त बहुत पीछे से रचा गया है। सूक्त क्र० १४३ के आरंभ में ही उसे 'तव्यसी नव्यसी धीति'—समर्थ और अधिक नई स्तुति कहा है। अतएव यह नवीयस् सूक्त प्राचीन नहीं माना जा सकता। सूक्त क्र० १४४ 'अपामुपस्थे बिभृतः'—पानी में निवास करने वाली अग्नि का है। यह कल्पना भी प्राचीन न होने के कारण यह सूक्त भी प्राचीन नहीं है। इस प्रकार १४० से १४४ तक के पाँच सूक्त छोड़ने पर जो शेष छह सूक्त हैं, ये प्रथम दीर्घतमस् ममतापुत्र दीर्घतमस् के ही हैं।

(२) सूक्त १५१ में अजमीढ का भाई पुरुमीढ़ का उल्लेख स्पष्ट होने से वह अजमीढ से परवर्ती काल का है। बाकी दो दीर्घतमस् प्रथम के हैं।

(३) विष्णु का क्र० १५४ वाँ सूक्त दीर्घतमस् का ही है। उसी प्रकार क्र० १५६ का भी उसी का है, परन्तु १५५ वाँ सूक्त ९४ चक्कर के चक्रवर्णन पर से दीर्घतमस् प्रथम के काल का नहीं। क्योंकि ज्योतिर्गणित उस समय इतनी सूक्ष्मता को नहीं पहुंचा था।

(४) सूक्त १५७ अश्विनौ विषयक है और वह प्रथम दीर्घतमस् का ही जान पड़ता है। लेकिन १५८ वां सूक्त किसी अन्य ऋषि ने बनाकर दीर्घतमस् के नाम चढाया जान पड़ता है। इसका कारण है इसमें दिया हुआ काल्पनिक इतिहास तथा औचथ्य, दीर्घतमस् और मामतेय इत तीनों शब्दों का प्रयोग। पहले दोनों नाम किसी भी अन्य सूक्त में पाये नहीं जाते। पर यहाँ ये दोनों मामतेय के साथ आते हैं। यह एक ही कारण इस सूक्त की अन्यकर्तृकता सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है।

(५) सूक्त ऋ० १५९ और १६० प्रथम दीर्घतमस् के ही हैं।

(६) १६१ वां सूक्त ऋभुदेवता स्तुति पर है। अपने अच्छे कामों से देवत्व को पहुंचे हुए ऋभुओं की कल्पना ही इतनी प्राचीन नहीं। इसलिये यह सूक्त भी प्राचीन नहीं हो सकता।

(७) ऋ० १६२ और १६३ अश्व वर्णन पर है और उसमें दिये हुए वर्णन से ये भरद्वाज युग के प्रतीत नहीं होते।

(८) १६४ वां 'अस्यवामस्य' नाम का सूक्त एक कूट सूक्त है। अनेकों ने इसके अनेक प्रकार से अर्थ किये हैं। मेरे एक मित्र श्री र. वि. वैद्य ने इसका ज्योतिष के आधार पर बहुत सा संतोषजनक अर्थ लगाया है। पर उस पर से मेरा निश्चित मत हुआ कि यह सूक्त बहुत प्राचीन नहीं अपितु ज्योतिषशास्त्र की बहुत ऊंची प्रगति होजाने के बाद का है।

११. इस पर से निर्णीत किया है कि अग्नि के छह सूक्त (१४५ से १५० तक), मित्रावरुणौ के दो (१५२, १५३), विष्णु के दो (१५४, १५६), अश्विनौ का एक (१५७) और द्यावापृथिवी के दो (१५९,१६०) एवं तेरह सूक्त मामतेय दीर्घतमस् के हैं और उन्हीं का आगे विचार किया जाने वाला है।

(१) अग्नि :—जबसे अथर्वन् ऋषि ने अग्निमन्थन क्रिया को यज्ञ में महत्व प्रदान किया, तबसे कई सूक्तकारों ने अपने सूक्तों में इसका खूब वर्णन किया। उस विषय का कुतूहल भी कम न था। अरणी में से मंथन कर जो, अग्नि निकलती थी उसे 'शिशु' कहने लगे। इसी कारण से जो अग्नि 'मंहिष्ठ' मानी जाती थी, वह एक रीति से 'यविष्ठ' भी बन गई। दीर्घतमस् ऋषि ने तो यह सारा वर्णन किया ही है पर बहती हुई सोमधारा के समान आगे भी इसका पर्याप्त वर्णन किया गया। इसमें कल्पनाओं का विकास स्पष्ट दीखता है। यही शिशु अग्नि संस्कार्य होने से 'द्विज' बन गई। वीतहव्य ने जिसे 'त्रिवरूथ' कहा, वही दीर्घतमस् द्वारा 'त्रिमूर्धा' बनी। दीर्घतमस् कहता है 'आविरेभ्यो अभवत्सूर्यो नॄन्—सूर्य ही अग्निरूप से प्रकट हुआ। अतएव सूर्य का सा वह भी 'सप्तरश्मि' हुआ। वीतहव्य ने अग्नि को केवल 'विदुष्टर' कहा, तो दीर्घतमस् ने 'सवेद, सचिकित्वान्' कहकर, तुम्हें जो कुछ पूछना हो, वह 'तं पृच्छत' कहा और अग्नि की सर्वज्ञता वर्णन की। दीर्घतमस् के मत से अग्नि 'विद्वान्' है, 'ऋतचित्' मन की खरी बात जानने वाला है। और सत्यस्वरूप है। ऋत और सत्य के संधान में ही देवों को आनंद मिलता है। यही अग्नि मार्गदर्शक है। अग्निदेव तुम्हारी जिन शक्तियों ने इस अंधे का

--ममतेय--का रक्षण किया, उन्होंने ही इसे पापकर्म से बचाया । 'माकिर्नो दुरिताय धायीः'-कोई भी मुझे पापकर्म के लिये प्रवृत्त न करे, यह इसकी मनःपूर्वक प्रार्थना है । पर हाय ! लोगों को इसके मन की बात समझ में नहीं आती और इसी कारण लोग इससे 'द्वयेन'--भीतर एक बाहर एक इस प्रकार के बर्ताव करते हैं । पर 'उनके बुरे विचार उन्हीं को फलें' यह इसकी करुणापूर्ण प्रार्थना है। किन्तु जब वह देखता है कि लोग भलीभांति नहीं चलते तब यह अग्नि से कहता है कि जो 'अदेवयु'--देवों की ओर मुड़ने वाले न हों, 'अनिनधनी'--स्वामित्व का अधिकार न रखते हों धनवान हों, 'प्रहोषे चिदररुषः'--अच्छे काम के लिये दान न देते हों और 'कदाचनप्रजिगत्'--कभी तुम्हारा नाम न लेते हों, उन लोगों पर हे अग्निदेव आप कृपा न करें। दीर्घतमस् के अग्निसूक्तषट्क का यह सार है ।

१२. भाषा की दृष्टि से अब थोड़ा देखें । 'सहसः सूनुः' वीतहव्य ने कहा तो दीर्घतमस् ने उसी को 'सहस्य' इस छोटे से शब्द में व्यक्त किया । 'स्वधा' की कल्पना रूढ होने पर अग्नि 'स्वधावत्' बना, इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है । 'मर्तो यो अस्मै सुतुको ददाश'--जो आदमी इस अग्निदेव को कुछ अर्पण करता है उसे अच्छा लड़का होता है, यह वाक्य तो उन दिनों कई लोगों ने कहा होगा । 'धीरासः पदं कवयो नयन्ति' कहते ही 'तं धीरासः कवय उन्नयन्ति' इस विश्वामित्र वाक्य की याद आये बिना रह ही नहीं सकती। देवरात ने कहा 'नकिः' तो दीर्घतमस् कहता है 'माकिः'। यह केवल शब्दों की नहीं, अपितु उपसर्गों की भी द्विरुक्ति करता है। 'जीवपीतसर्गः' यह त्रिपदी समास भी इसके सूक्तों में मिलता है। दन्, चाकन्, दमन्, विधन्, के से रूप तथा दिदृक्षेण्य, जेन्य, ईलेन्य ऐसे साधित शब्द इसकी भाषा में बहुत आते हैं । छंद के विषय में इसने दस या ग्यारह अक्षरों के तीन चरण के छंद का प्रयोग किया। वास्तव में इसे त्रिचरणी त्रिष्टुप् ही कहना चाहिये किंतु छन्दःशास्त्र में इसे विराट् नाम दिया गया है। विराट् के लक्षण के विषय में सारे छन्दःशास्त्रियों का एक मत नहीं है । कुछ इसे 'त्रिचरणी' मानते हैं तो अन्य कुछ इसे ४० अक्षरों का तथा चार चरणों का । प्रातिशाख्यकार तो कहते हैं कि किसी छन्द में दो अक्षर कम हों तो वह विराज् होता है। सार संग्रह यह है कि 'विराज्' कहीं भी शोभादायक नहीं, किसी विशिष्ट लक्षण में बैठता नहीं ऐसा छन्द है ।

(२) मित्रावरुणौ :— यह आद्य युग्मदेवता है। यद्यपि दीर्घतमस् के पूर्व इस देवता का कोई सूक्त नहीं पाया जाता, तथापि इसे मान्यता देवरात के समय भी थी। उसके वरुण सूक्त का 'तदित्समानमाशाते वेनन्ता न प्रयुच्छतः' 'तुम दोनों बराबर बांट लेते हो, कभी भूल नहीं करते' यह ऋगर्घ इसका प्रमाण है। देवरात ने 'वसिष्व वस्त्राणि'—कपड़े पहनो—यह अग्निप्रार्थना में कहा। दीर्घतमस् मित्रावरुणौ की प्रार्थना में कहता है—"युवं वस्त्राणि वसाथे"। यह युगल ऋत से संबंध रखने वाला, उसे संभालने वाला तथा अनृत से दूर रहने वाला माना गया है। यह जोड़ी समानगुण वाली है। दीर्घतमस् को 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' इस सिद्धान्त का अनुभव जीवन में पर्याप्त आने के कारण 'त्रिरश्रिं हन्ति चतुरश्रिरुग्रः— सबल चार हथियार वाला तीन हथियारी को मारता है यह एक सत्य मंत्र उसने कहा है। 'अच्छी चाल चलने वाली स्त्रियों में से उत्तम स्त्री भी ऐसी चलती है, मानो उसे पैर ही नहीं', 'वह इसके गर्भ का भार ढोती है' कुमारिकाओं को भ्रष्ट करने वाला—'जारः कनीनाम्' इत्यादि दीर्घतमस् द्वारा प्रयुक्त वाक्यों पर से इसके जीवन की बातें व्यक्त होती हैं। हव्यादि साधनों से जिस प्रकार यज्ञ होता है, उसी प्रकार नमस्कारों से भी वह संपन्न होता है, और यज्ञक्रिया की कल्पना भी मुझे तुम्हारे पास ले जाने के लिये समर्थ है, उस के लिये प्रत्यक्ष प्रयोग की आवश्यकता नहीं—'प्रस्तुतिर्वां धाम न प्रयुक्तिः' यह दीर्घतमस् बड़े ठाठ के साथ कहता है। और यह कहना उसके लिए अनुरूप ही है। अन्धा होने के कारण यह प्रत्यक्ष प्रयोग कर ही नहीं सकता था।

(३) विष्णु :—चर्मचक्षुहीन परंतु ज्ञानचक्षुयुक्त दीर्घतमस् ने केवल ज्ञात देवताओं पर ही सूक्त नहीं बनाये। अपनी निज की कल्पना से इसने एक नवीन देवता को जन्म दिया। आज अनेक वैदिक देवों को भूल जाने पर ही हम इसका नाम लेते हैं। कालप्रवाह के साथ इसका रूप बदल गया है, पर नाम वही चला आया है। इस देव का नाम विष्णु है। दीर्घतमस् की इस देव के विषय में निम्न लिखित कल्पना है। तीन कदमों में इसने त्रैलोक्य का आक्रमण किया है। "विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः"—विष्णु के सर्वोच्च स्थान में मधु का स्रोत है। सारे जगत् को इसका आधार है। इसके भक्त इसके आनंद में इस लोक में रहते हैं। इस कल्पना से स्पष्ट रूप में नहीं ज्ञात होता कि दीर्घतमस् किस देव को व्यक्त कर रहा है। फिर भी और्णवाभ ऋषि का जो मत निरुक्तकार ने दिया है, उसके अनुसार यह वर्णन उदय, मध्य तथा अस्त

इन तीन स्थितियों से आकाश का आक्रमण करने वाले सूर्य के विषय में ठीक बैठता है। पर्वत पर रहने वाले तथापि पृथ्वी पर घूमने वाले और मन में भय पैदा करने वाले सिंह की उपमा इस ऋषि ने विष्णु के लिये दी है। "भव मित्रो न शेव्यः" मित्र के से सुखकर हो, "सप्रथा एवयाः"–सर्वव्यापी पर हमारा रक्षक बनो, इस प्रकार की प्रार्थना विष्णु से दीर्घतमस् ऋषि ने की है। वह स्वयं ही विष्णु को नवीयस् तथा "सुमज्जानि" अर्थात् स्वयमेव उत्पन्न किया हुआ कहता है। इस पर से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दीर्घतमस् इस देव को स्वयमेव ही निर्माण किया मान रहा है। इसकी स्तुति करने वालों को वह कहता है कि "आस्य जानंतो नाम चिद्विवक्तन"–इसे पहचानने वाले तुम इसी का नाम लो। इसे शरण जानेवालों को यही ठीक हिस्सा बाँट देगा। इसने विष्णु को उरुगाय, उरुक्रम, तथा त्रिविक्रम भी कहा है।

(४) अश्विनौ :—देवरात शुनःशेप के (१-३०) सूक्त में तीन ऋचाएं अश्विनौ देवों के विषय में दी हुई हैं। इनका क्रम १७ से १९ तक है। उनमें केवल इतना ही कहा गया है कि ये दोनों एक ही रथ में बैठते हैं और उस रथ का एक चक्र पर्वत शिखर पर तथा दूसरा आकाश में है। दीर्घतमस् ऋषि ने यही कल्पना थोड़ी और विस्तृत की। यह कहता है–"अग्नि जग गई। आह्लादक ऊषा के तेज से सारी पृथ्वी जगमगा उठी। सूर्य ऊपर चढ़ा। अब आप भी अपना रथ जोडिये"। इसी पर से आगे इन देवों के आवाहन का समय निश्चित हुआ। देवरात वर्णित रथ दो पहियों का था। वह रथकल्पना के विकास के साथ केवल त्रिचक्र ही नहीं, पर त्रिबंधुर–तीन बैठकों का हुआ। दीर्घतमस् को शहद बहुत भाता सा दीखता है। विष्णु के श्रेष्ठ लोक में शहद का स्रोत कहा ही था। अब अश्विनौ का रथ भी मधुवाहन–शहद ले जाने वाला–बना। जगत् पर शहद और घी की वर्षा करने के लिये यह देवों की प्रार्थना करता है। जान पड़ता है कि आज की घी शक्कर का स्थान उन दिनों घी शहद को दिया जाता था। ऐसी वर्षा होती थी तभी तो शहद और घी की नदियां–मधुकुल्या घृतकुल्या–वहती थीं इस देश में। और एक प्रार्थना पर ध्यान दीजिए। "मीठी मीठी फटकारों से (कशाओं से) सुखी करो, जीवन बढ़ाओ, पातकों को धो डालो, प्रेम न करने वालों को दूर रखो और हे अश्विनौ-देव हमारे साथ सतत रहो।" दुनिया में कटु शब्दों की फटकारें खाना जिसे नसीब हुआ हो वही इन मीठी फटकारों का मर्म समझ सकेगा। "युवं ह स्थो भिषजा भेषजेभिः" यह अश्विनौ का वर्णन सबसे पहले दीर्घतमस् ऋषि ने ही किया। आगे चलकर इनका यह विशेष गुण ही समझा गया। "अस्माकं ब्रह्म

पृतनासु"–जनता में हमारे द्वारा की हुई स्तुति–यह शब्द प्रयोग इसी ऋषि के रचे हुए मित्रावरुणौ तथा अश्विनौ देवों के सूक्तों में एक सा ही पाया जाता है। इन दोनों सूक्तों के एककर्तृत्व का यह अन्तःप्रमाण माना जा सकता है।

(५) द्यावापृथिवी :–दीर्घतमस् ने जिस प्रकार विष्णुदेवता की कल्पना की, उसी प्रकार इसने एक और देवताओं की जोड़ी निर्माण की। वह है आकाश और पृथ्वी की। इस पर से यह कह सकते हैं कि मित्रावरुणौ पर प्रथम सूक्त रचना इसी की है और विष्णु की नई देवता तथा द्यावापृथिवी की युग्मदेवता की दुनिया को देन इसी की है। पूर्व में कहा ही जा चुका है कि दीर्घतमस् को जीवन में सत्य तथा मिथ्या कई बातों का अनुभव आया। इसी कारण इसे ऋत के प्रति प्रेम तथा अनृत के प्रति क्रोध लगता था। मित्रावरुणौ के समान द्यावापृथिवी की यह जोडी भी इसके द्वारा ऋतावत् तथा ऋतावृध्—ऋत से युक्त तथा ऋत से ही वर्धित कही गई। इस समानता से ही आगे चलकर यजुर्वेद में कहा गया कि "द्यावाभूमी वै मित्रावरुणौ"। यह युग्म विश्वशंभुव है–सबका कल्याण करने वाला है। यही युगल "पिता माता च भुवनानि रक्षतः"–मां और बाप बनकर तीनों भुवनों की रक्षा करता है। इन दोनों के बीच में ही "सुदितयः कवयः"–तेजोयुक्त कवि-'नव्यं नव्यं तन्तुमातन्वते' नई-नई कल्पनाओं के जाल बिछाते हैं। 'मनस्येकं वचस्येकं' के द्वय का उल्लेख इसके अग्निसूक्त में हम देख चुके हैं। इन सूक्तों में यह अपने को 'अद्वयाविन्' इस द्वय से संबंध न रखने वाला बतलाता है और कहता है कि पुत्रस्य पाथः पदमद्वयाविनः'–इस अद्वयावी पुत्र के स्थान की तुम ही दोनों रक्षा करते हो। इस माता पिता का एक एक पवित्रवान् तथा बुद्धिमान् पुत्र 'पुनाति भुवनानि' तीनों लोक पवित्र करता है। इस जोड़ी को निर्माण करने वाला 'अपसाम-पस्तमः" सबसे श्रेष्ठ कर्म करने वाला कहा जाता है। आकाश तथा पृथिवी दोनों का वाचक शब्द 'रोदसी' दीर्घतमस् का परिचित है। अपने अग्नि सूक्त में उसने उस शब्द का प्रयोग भी किया है। पर ध्यान में रखना होगा कि वह पृथ्वी तथा आकाश इन दोनों महाभूतों का वाचक है, देवतावाचक नहीं।

१३. दीर्घतमस् ऋषि के सूक्तों का विचार करने के पश्चात् अब भरद्वाज के सूक्त देखें। पूर्व में कहा ही गया है कि भरद्वाज नाम के कई सूक्तकार हुए। ये सारे ही अपने को बार्हस्पत्य कहलाते हैं। इनके सूक्त ऋग्वेद के छठे मंडल में दिये हुए हैं। देवतावार इनका अनुक्रम निम्नलिखित प्रकार से है :—

सूक्त	१ से १४	देवता	अग्नि
,,	१६	,,	,,
,,	१७ से ३०	,,	इन्द्र
,,	३७ से ४३	,,	,,
,,	५३ से ५६ और ५८	,,	पूषन्
,,	५७	,,	इन्द्रापूषणौ
,,	५९, ६०	,,	इन्द्राग्नी
,,	६१	,,	सरस्वती
,,	६२, ६३	,,	अश्विनौ
,,	६४, ६५	,,	उषस्
,,	६६	,,	मरुतः
,,	६७	,,	मित्रावरुणौ
,,	६८	,,	इन्द्रावरुणौ
,,	६९	,,	इन्द्राविष्णू
,,	७०	,,	द्यावापृथिवी
,,	७१	,,	सविता
,,	७२	,,	इन्द्रासोमौ
,,	७३	,,	बृहस्पति
,,	७४	,,	सोमारुद्रौ

इन ५८ सूक्तों को पूर्वोक्त निकषों पर जांचने से जिस प्रकार विश्वामित्र या दीर्घतमस् ऋषि के सूक्त चुने गये इसी प्रकार प्रथम भरद्वाज के भी सूक्त अलग निकाले जा सकते हैं। हर एक सूक्त की यह निकषपरीक्षा देना यद्यपि शक्य है और की भी गई है, फिर भी वह दी जाय तो ग्रन्थ का विस्तार कल्पना के बाहर बढ़ेगा। अत एव परीक्षाविधि न देते हुए केवल परिणाम ही अब देने का विचार है। उक्त परीक्षा के पश्चात् प्रथम भरद्वाज के क्र० ३७ से ४३, ५६, ६४, ६७, ७० और ७१ ये बारह सूक्त निश्चित रूप से कहे जा सकते हैं। इसलिये प्रथम इन्हीं का विचार करें।

१४. भरद्वाज प्रथम दीर्घतमस् का सा ममता का ही पुत्र था। किंतु यह स्वयं को बार्हस्पत्य कहलाता और दीर्घतमस् मामतेय। ममता के इन दोनों पुत्रों के सूक्त तुलना करने योग्य हैं। इस तुलना में जो पहली बात ध्यान में आती है वह यह है कि दीर्घतमस् ने इन्द्र पर एक भी सूक्त न बनाया और भरद्वाज ने अग्निविषयक सूक्त एक भी न रचा। इन्द्र पर भरद्वाज के सात सूक्त

हैं। देवरात शुनःशेप ने इन्द्र का जो वर्णन किया है, वही थोड़े विस्तार से भरद्वाज सूक्तों में पाया जाता है। देवरात के समान भरद्वाज भी इन्द्र का आवाहन "शतक्रतु" नाम से करता है और साथ ही इसे "पुरुहूत" भी कहता है। शुनःशेप ने इन्द्र का रथ "नानदद्भिः प्रोप्रुथद्भिः शाश्वसद्भिः"—नथनियाँ फुलाकर श्वास लेने वाले और हिनहिनाने वाले घोड़ों से खिंचा हुआ वर्णन किया है तो उन्हीं घोड़ों को भरद्वाज ने "ऋतयुजः" कहा है। देवरात इन्द्र को "सोमपा" कहता है तो भरद्वाज उसे कहता है—"सोमपातम"। शुनःशेप ने इन्द्र को वाजों के साथ आवाहन किया है। भरद्वाज उसे 'इन्द्रो वाजस्य स्थविरस्य दाता'—चिरकाल रहने वाले धन को देने वाला कहता है। इस पर से स्पष्ट दीखता है कि पुरानी कल्पनाएं नये ऋषियों के हाथ कैसे विकसित होती थीं। रचना में भी भरद्वाज देवरात का अनुकरण करता है। जिस प्रकार शुनःशेप चार ऋचाओं के अंत में "उलूखल सुतानामवेदु इन्द्र जल्गुलः" यही चरण ध्रुवपद के समान रखता है, उसी प्रकार भरद्वाज के भी एक सूक्त में चारों ऋचाओं का अन्त "अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिब" इसी चरण से किया गया है।

१५. दीर्घतमस् और बृहस्पति इन दोनों भाइयों की भाषा में भी बहुत साम्य है। यह स्वाभाविक भी लगता है। दोनों एक ही घर में पले और बढ़े। दोनों की परिस्थिति भी एक सी ही थी। अतएव यदि वैसा साम्य न होता तो ही आश्चर्यजनक बात थी। भाषा तो एक सी है ही, रचना और कल्पना भी एक सी है। दोनों पृतना तथा विश् दोनों शब्दों का अपने लोगों के लिये प्रयोग करते हैं। दीर्घतमस् ने जैसे सूर्य पर आधारित विष्णुनामक देवता की कल्पना की, वैसे ही भरद्वाज ने भी सूर्य पर ही आधारित "पूषन्" नामक देवता का निर्माण किया। मित्रावरुण तथा द्यावापृथिवी इन युग्म देवताओं पर दोनों के सूक्त हैं। रोदसी शब्द दोनों ने द्यावापृथिवी नामक देवता द्वन्द्व के अर्थ में प्रयुक्त न कर आकाश तथा भूमि इन सृष्ट पदार्थों का ही वाचक रखा है। दोनों में एक विशेष यह भी है कि दीर्घतमस् का एक भी उषःसूक्त नहीं और भरद्वाज का एक भी अश्विनौ सूक्त नहीं। दृष्टिहीन ऋषि को उषस् की सुन्दरता न समझना जैसा स्वाभाविक है, वैसा ही इन्द्र स्तुति करने वाले भरद्वाज को अश्विनौ सूक्त की आवश्यकता न लगना। "माकिः" शब्द का प्रयोग दोनों ने किया है।

१६. भरद्वाज ऋषि के इन्द्र सूक्तों में एक विशेषता यह है कि यहां 'दिवोदास' राजा का नाम आता है। अपने 'यस्य त्यत्' से आरंभ होने वाले (६-४३) सूक्त में भरद्वाज कहता है कि शम्बरं दिवोदासाय

'रन्धयः'—दिवोदास के लिये तूने शंबर को पीटा। यह दिवोदास काशी का राजा था। इसी के पुत्र प्रतर्दन के हाथों से वीतहव्य हैहय को भृगुलोगों ने बचाकर ब्राह्मण बना लिया था। यह कथा पूर्व में कही ही है। नरभक्षक राक्षसों के आक्रमण से इसी दिवोदास ने काशी को बचाने का प्रयत्न किया और उसमें थोड़ी बहुत सफलता भी प्राप्त की। इसी युद्ध में नरभक्षक लोगों के एक अधिपति को इसने मार डाला जिसका नाम शम्बर था। इस युद्ध में वैशाली के उत्तर में रहने वाले मरुत् नाम के लोगों का राजा, जिसका नाम इन्द्र था, दिवोदास का सहायक था। इन्द्र के इस सहाय को ही भरद्वाज ने इन्द्र देवता की कृपा से मिलाया विजय कहा है। इस प्रकार देवताओं के नामसादृश्य के आधारपर देवताओं की स्तुति में प्रत्यक्ष इतिहास का मिश्रण भरद्वाज द्वारा प्रथम किया गया। यह प्रवृत्ति बहुत ही बढ़ी। शम्बर के हाथों से भूमि छुड़ाने की ऐतिहासिक कथा का रूपांतर मेघों के हाथों से रुका हुआ पानी वृत्रासुर को मार इन्द्रद्वारा मुक्त कराने की दैवी कथा में किया गया। इस प्रकार इन्द्र देव के आसपास काल्पनिक दैवी कथाएं गूंथी गईं। द्वेवनिन्दक पणि लोग भी इसी सादृश्य के आधार पर असुरों में समाविष्ट हुए और ऐतिहासिक मरुत् लोगों का इन्द्र के मरुद्गणों में रूपान्तर हुआ। 'सजोषाः पाहि गिर्वणो मरुद्भिः' प्रथम भरद्वाज ने ही कहा। इन्द्र विषयक सूक्तों का अध्ययन करते समय दैवी और ऐतिहासिक घटनाओं के सङ्कर की प्रवृत्ति का ध्यान रखना पड़ता है।

१७. इन्द्रविषयक सूक्तसप्तक के पश्चात् भरद्वाज के अन्य सूक्तों पर दृष्टिपात करें। पूषा देवता भरद्वाज निर्मित होने के विषय में पूर्व में कहा ही जा चुका है। जल को अवरोध कर रखनेवाले वृत्र को मार इन्द्र द्वारा जब भूमिपर पानी ही पानी हुआ तब ओषधि वनस्पति पुष्ट करने वाले सूर्य के रूप को 'पूषन्' देव के रूप में समझा गया। इसी पूषा के लिये इसी कारण से भरद्वाज ने कहा कि 'इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते'। देव रथों में बैठने के कारण 'रथी' कहलाये जाते थे। किन्तु भरद्वाज ने इस पूषन् को 'रथीतम' बना दिया। गरमी के दिनों में सूखकर नष्ट हुई ओषधि तथा वनस्पतियों की प्राप्ति इसी देव के कारण हमें होती है। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न चित्र आंखों के सामने खड़े करने के लिये अनेकार्थ शब्दों का प्रयोग बड़ा सहायक होता है। उदाहरण स्वरूप इसी (६-५६-५) का 'गवेषणं' शब्द लीजिये। गो शब्द के 'गाय', 'पानी', तथा 'वनस्पति' तीनों अर्थ होते हैं। इन अर्थों

के अनुसार इसका अर्थ गौओं की, जल की या वनस्पतियों की खोज होगा और प्रत्येक अर्थ भिन्न २ दृश्यों को व्यक्त करेगा । इसी सूक्त की अंतिम ऋचा से सहज में समझ सकते हैं कि गायत्री छंद अनुष्टुप् में कैसे परिवर्तित हुआ होगा। 'अद्या च सर्वतातये' इस प्रकार पिछले पांच मन्त्रों के समान गायत्री छंद में रचना हो गई। किन्तु भरद्वाज के मन में आया होगा कि जो कुछ मांगना है उसे 'अद्य' तक ही मर्यादित क्यों रखा जाए । उसे 'श्वः 'कल के लिये भी क्यों न मांगा जाए । 'अद्या' के बजाय 'श्वः' रखा और प्रार्थना पूरी की । यह चरण बढ़ते ही त्रिचरणी गायत्री का रूपांतर चार चरणों के अनुष्टुप् में हो गया । 'अद्या' यह छांदस दीर्घ है और 'श्वः' को छांदस अक्षरपूरण के लिये 'शुवः' करना पड़ेगा। यह रूपान्तर स्पष्टतया ध्यान में आ सकता है ।

१८. इसी मंडल में क्र. ६४ पर 'उदुश्रियः' नामक सूक्त ऊषा पर रचा गया है। यह सूक्त बड़ा सुंदर है और ऊषा की कल्पना का विकास बड़े अच्छे ढंग से सुझाता है । देवरात के समान यह भी 'ऊषा' को 'दिवो-दुहिता' —आकाशकन्या—कहता है । भरद्वाज के समय रथ प्रतिष्ठित लोगों का वाहन समझा जाता था । इसलिये सारे देव रथी होते थे । और तो क्या आदि काल में जब रथ नहीं थे तब 'घोड़े पर बैठने वाले' इसी नाम से जो 'अश्विनौ' देव विख्यात हुए, वे भी मंत्ररचना काल से 'समान योजन' रथ में से फिरने लगे। फिर 'उषस्' देवता ही रथ के बगैर कैसी रह सकती थी । देवरात ने इसे रथ में नहीं बिठलाया किन्तु भरद्वाज ने इसे घोडों के नहीं पर लाल बैल जुते हुए रथ में बिठलाही दिया । वह कहता है— 'वहन्ति सीमरुणासो रुषन्तो गावः सुभगाम्' इस सुन्दरी को चमकीले लाल रंग के बैल खींच ले जाते हैं । शुनःशेप ने 'कं नक्षसे विभावरि'—यह सारी तैयारी किसलिये ? इस प्रकार का प्रश्न 'उषस्' को किया । भरद्वाज उसका उत्तर दे रहा है । ऊषा का सारा ठाठ सबको मार्ग दिखलाने के लिये है । पंछी अपने घोंसलों में से बाहर निकले और पेट पालन के लिये अन्न मिलाने वाले अपने अपने कामों में रत हो जाएँ, इसी हेतु उषस् तैयारी करती है । अपनी काव्ययुक्त भाषा में कहता है—'आविर्वक्षः कृणुषे शुंभमाना' —सज धज कर तू अपना उरोभाग ज़रा सा खुला दिखाती है और इस प्रकार सबका चित्त आकृष्ट कर अपने-अपने कामों में उन्हें प्रवृत्त करती है। तेरी सारी सुंदर बातें अपनी प्रशस्ति गाने वालों के लिये ही तू अपने पास रखती है ।

१९. मित्रावरुणौ विषयक भरद्वाज का सूक्त उसके अन्य सूक्तों की अपेक्षा अधिक लंबा है। इसमें ग्यारह ऋचाएं है। इस पर से कहा जा सकता है कि भरद्वाज का देवतावर्णन अधिकाधिक विस्तृत होता जा रहा था। वह स्वयं ही कहता है--'इयं मद्वां प्रस्तृणीते मनीषा' तुम दोनों की यह स्तुति मेरे द्वारा अधिक विस्तृत हो रही है। तथा हमारे शब्दों से मित्रावरुण भी अधिकाधिक समृद्ध हो रहे हैं। इन्द्रसूक्त की एक ऋचा (६-३८-४) में यह देवता वृद्धि की कल्पना पाई जाती है, परंतु यहां पर उसका उल्लेख अधिक स्पष्ट शब्दों में हुआ है। शुनःशेप ने वरुण को केवल 'क्षत्रश्री' नामसे संबोधित किया था। इस सूक्त में भरद्वाज कहता है --'विश्वे यद्वां मंहना वन्दमानाः क्षत्रं देवासो अदधुः सजोषाः'-तुम दोनों को महत्व के कारण नमस्कार करने वाले सारे ही देवों ने एकसाथ ही अपना 'क्षत्र' --दुःखमुक्त करने का बल तुमही में रख दिया है। मित्रावरुण सूक्तों में दीर्घतमस् तथा भरद्वाज दोनों ने पृथ्वी को अदिति संज्ञा प्रदान की है। देवरात ने वरुण 'स्पशों' का वर्णन किया ही है। स्पश अर्थात् गुप्त वार्ताहर। भरद्वाज भी उनका वर्णन 'सन्ति स्पशो अदब्धासो अमूराः' यहां जिन्हें कोई नुसकान नहीं पहुंचा सकता या मार नहीं सकता इन दो विशेषणों से उन स्पशों को विशेषित किया है। इसी सूक्त में भरद्वाज ने 'कीस्तास' शब्द का प्रयोग किया है जिसके विषय में आगे विवेचन किया ही जाने वाला है। यहां केवल उल्लेख ही कर रखा है।

२०. दीर्घतमस् ऋषि ने जिस 'द्यावापृथिवी' नामक देवताद्वन्द्व को निर्माण किया उस पर भी इस प्रथम भरद्वाज का एक सूक्त है (६-७०)। बड़े भाई से दिये हुए 'सुदंससा' तथा 'विश्वशंभुवे' विशेषणों का तो यह उपयोग करता ही है, पर साथ ही उस जोड़ी को 'घृतवती' तथा 'मधुदुघे' भी कहता है। केवल विशेषणात्मक शब्दों का ही प्रयोग भरद्वाज नहीं करता, अपितु उन शब्दों का विस्तृत स्पष्टीकरण भी देता है। वह कहता है 'घृतेन द्यावापृथिवी अभीवृते घृतश्रिया घृतपृचा घृतावृधा'। तथा 'मधुनो द्यावा-पृथिवी मिमिक्षतां मधुश्चुता मधुदुघे मधुव्रते'। इस विवरण से अधिक स्पष्टतया हम कल्पना कर सकते हैं कि पूर्व में कहे अनुसार घृतमधु को घी शक्कर का सा ही महत्त्व था। भरद्वाज ने कहा है कि यह देवतायुग्म माता-पिता के समान है। देवरात इन्द्र से प्रार्थना करता है कि वह 'वाज' के साथ आए व 'रयि' दे। भरद्वाज की 'वाज' विषयक प्रार्थना अविशिष्ट नहीं

है । वह सुवीर्य वाज अर्थात् पुत्रोत्पादनसमर्थ बल मांगता है । साथ ही इच्छा करता है कि 'महिश्रवः' बड़ी कीर्ति की, ऊर्ज अर्थात् तेज की तथा 'सनिरयि' की--एकत्रित किये हुए धन की और जीतकर लाये हुए धन की। कल्पनाओं के साथ मांगें भी बढ़ती जाती हैं।

२१. भरद्वाज प्रथम का अन्तिम सूक्त है--सवितृदेव विषयक । सविता तो ऋग्वेद की आद्य देवता ठहरी । विश्वामित्र की बुद्धि को इस ने प्रेरणा दी । उसी की दृष्टि से 'वरेणिय' देव यही । देवरात ने इसे वार्य अर्थात् वरणीय बातें देने वाला और सदावत्--सदा ही रक्षण करने वाला कहा । परन्तु भरद्वाज का वर्णन अधिक वैयक्तिक है । दीर्घतमस् ने अग्नि को 'त्रिमूर्धन्' कह उसके शरीर के शिरोभाग की ही कल्पना की । किन्तु भरद्वाज ने इस सवितृ देव के जितने अंगों का वर्णन किया, उतने अंगों का वर्णन तबतक किसी भी देवता के बारे में किसी ऋषि ने नहीं किया था। इसने सवितृदेव के बाहु, पाणि, जिह्वा और हनु इतने अंगों का वर्णन किया है । सवितृदेव हिरण्यबाहु तथा हिरण्यपाणि तो है ही । पर साथ ही वह हिरण्यजिह्व और मंद्रजिह्व भी है। इसके अतिरिक्त वह 'अयोहनु' है, अर्थात् इसकी हनु भी सोने से ढकी है । सुवर्ण तथा सुवर्ण्य सवितृदेव की सारी ही बातें सुवर्णसंबद्ध होनी ही चाहिएँ । दीर्घतमस् ने अग्नि के 'पायु' का अर्थात् संरक्षक शक्ति का वर्णन किया तो भरद्वाज ने सवितृदेव के 'पायु' की स्तुति की । भरद्वाज इस सवितृदेव को 'सुक्रतुः' विशेषण प्रदान करता है । यही सुक्रतु शब्द पश्चिम में पहुंच प्रथम 'सुकरात' बना और अधिक पश्चिम में जाकर सुकरातिस्--सोक्राटिस बना । भाषा विकास की दृष्टि से यह विचारणीय विषय है । 'वाम' शब्द भरद्वाज ने खूब ही प्रचलित किया । वाम अर्थात् अच्छी अच्छी, सुंदर-सुंदर इष्ट बातें । इन वामों को अब भरद्वाज केवल पूर्वकथनानुसार 'अद्य' "श्वः" ही नहीं मांगता, अपितु दिवेदिवे--प्रतिदिन मांगता है । सूक्त के अन्त में भरद्वाज की प्रार्थना है--'वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवेदिवे वाममस्मभ्यं सावीः । वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम' । यही वाम शब्द आगे चलकर संस्कृत वाङ्मय में 'वामनयना' शब्द में प्रविष्ट है । स्त्रियां केवल बायें ही आंख से देखती हैं, इसलिये उन्हें वामनयना नहीं कहा गया है । उनके नेत्र सुंदर होने के कारण से ही उन्हें यह नाम दिया गया है ।

२२. प्रथम भरद्वाज के सूक्तों का विचार करने के पश्चात् अब कालक्रम के अनुसार कक्षीवत् ऋषि के सूक्तों का अध्ययन करना है। पर यहां पर भी आपत्ति यह है कि कक्षीवत् नाम के दो सूक्तकार प्रसिद्ध हुए हैं। प्रथम कक्षीवत् है, जिस दीर्घतमस् ऋषि के सूक्त हम देख चुके हैं, उसे राजदासी से विवाह करने के बाद जो पुत्र हुआ, वह। अनुक्रमणिकाकार इसे केवल 'कक्षीवान् दैर्घतमसः' न कह कर एक 'औशिज' शब्द इसके नाम के साथ और जोड़ देते हैं। औशिज शब्द पर से कुछ लोगों की कल्पना हुई है कि दीर्घतमस् की स्त्री का अर्थात् कक्षीवत् की माता का नाम उशिज् होगा। किन्तु यह परमावश्यक नहीं जान पड़ता। पूर्व में कहा ही गया है कि अथर्वन् ऋषि के पुत्र का नाम उशिज् ही था। इसी के वंश में भरद्वाज और दीर्घतमस् दोनों थे। अतएव ये दोनों या इनके वंशज 'औशिज' कहलाये जाने के अधिकारी थे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उशिज शब्द केवल पुरुष-वाचक या केवल स्त्रीवाचक ही था। शरद्, कुमुद इत्यादि नाम आज भी दोनों लिंगों के समझे जाते हैं। पर फिर भी ऐसी संभावना कम ही दिखती है। इसलिये कक्षीवत् की माता का नाम उशिज ही मानना आवश्यक नहीं। दीर्घतमस् का यह पुत्र कक्षीवत् दुष्यन्त का समकालीन था। द्वितीय कक्षीवत् इसके पश्चात् बाईस पीढियों के अनन्तर हुआ। यह स्वयं अपने को पज्रिय कहलाता है। एक सूक्त में वह अश्विनौ देवों की प्रार्थना करता है कि 'युवं नरा स्तुवते पज्रियाय कक्षीवते अरदतं पुरान्धिम्' तो दूसरे एक सूक्त को ही 'पज्रियेण कक्षीवता शंस्यम्' कहता है। इस आधार पर यह मानना उचित है कि यह कक्षीवत् दीर्घतमस् का पुत्र न होकर पज्र ऋषि का पुत्र है। परन्तु अनुक्रमणिकाकार के ध्यान में यह न आने के कारण, उसने प्रथम मंडल के ११६ से १२७ तक के बारह के बारह सूक्त कक्षीवान् दैर्घतमस औशिज के ही समझे। परंतु निकष परीक्षा करने पर केवल १२३ तथा १२४ क्रमांक के दो ही सूक्त प्रथम कक्षीवत् के कहे जा सकते हैं। द्वितीय कक्षीवत् के अर्थात् ही शेष ११६ से १२२ ये सात और १२५ से १२७ तक के तीन, सब मिलाकर दस सूक्त इस भरद्वाज युग के न होने से उनका विचार यहां न कर केवल १२३ और १२४ इन्हीं दो उषःसूक्तों का विचार करना है। पज्रिय कक्षीवत् के दस सूक्त अश्विनौ तथा विश्वेदेवों पर हैं और विश्वे-देव की कल्पना प्रथम कक्षीवत् के समय अस्तित्व में न होने से उनपर की रचना इसकी हो ही नहीं सकती।

२३. यह पहले कहा ही गया है कि दीर्घतमस् दृष्टिहीन था। अतएव उषस् देवता का सौन्दर्य उसे दृष्टिगोचर ही न हुआ। इसी कारण से इसका एक भी उषःसूक्त संभाव्य नहीं। पर कहना पड़ेगा कि पिता की यह कमी पुत्र ने बहुत ही योग्य रीति से पूरी की। इसके केवल दो ही उषःसूक्त ऐसी योग्यता के हैं कि जिनके कारण से प्रथम सूक्तकारों की श्रेणी में कक्षीवत् गिना जा सकता है। पूर्वसूरियों के समान यह उषस् को दिवोदुहिता तो कहता ही है। पर इस नाते के अतिरिक्त इसने उषस् का नाता और भी देवों से जोड़ा है। शुनःशेप ने अपने (१-२४-५) में सवितृदेव को 'भगभक्त' कहकर 'भग' देवता का अप्रत्यक्ष उल्लेख किया है। जान पड़ता है कि इस समय यह 'भग' देवता अधिक प्रचार में आ रही थी। क्योंकि कक्षीवत् ऊषा को 'भगस्वसा' भग की भगिनी कहता है। भग के समान उसका वर्णन कक्षीवत् ने 'वरुणस्य जामिः' भी किया है। जामि का अर्थ है संबंधी नाते की। किन्तु वरुण की जामि रहते भी यह उषोदेवता अपना प्रकाश देते समय 'नाजामिं न परिवृणक्ति जामिम्—जामि अथवा अजामि मान किसी को दूर नहीं टालती। अर्थात् सब को एकसा ही प्रकाश देती है। जान पड़ता है कि कक्षीवत् को अपनी पितामही 'ममता' का 'पुनर्भूत्व'—पुनर्विवाह करना भली भांति ज्ञात था। संभव है कि यही दिखलाने के लिये उसने उषस् को भी 'पुनर्भू' शब्द से संबोधित किया हो और इस प्रकार विधवा विवाह के प्रति अपना आदर व्यक्त किया हो। यह उषस् देवी 'ससतो बोधयन्ती'—सोने वालों को जगानेवाली है। लोगों का मार्गदर्शन यह करती है और इसी के पीछे पीछे 'देवो नो अत्र सविता न्वर्थं प्रासावीद् द्विपत्प्रचतुष्पदित्यै' —हमारा सवितृ देव द्विपाद तथा चतुष्पाद प्राणियों को अपने अपने कामों के अनुसार उद्योगों में प्रवृत्त करता है। यह ऊषा अंधकार में से प्रकाश रूप बनकर जन्म लेती है, अन्धकार नष्ट होने पर जो दिन होता है, उसे प्रवृत्त करती है तथा अन्धेरे में छिपी हुई अनेक स्पृहणीय बातों को प्रकाश में लाती है। कन्या के समान यह धीरे से घर में प्रवेश करती है, स्मित मुख तरुणी के समान योंही अपना वक्षःस्थल खुला सा कर दिखाती है और फिर मां के समान कल्याणकारिणी बनती है। साल संभाल करने वाला भाई जिसे नहीं होता है ऐसी तरुण स्त्री जिस प्रकार समाज के अभिमुख स्वयं होती है उसी प्रकार यह भी दुनिया के सामने आती है और भर्तृकामा स्मेरमुखी पत्नी जैसा अपना रूप पति को खुला कर दिखाती है, वैसे ही वह ऊषा भी अपना रूप प्रदर्शित करती है। अब अध्ययनशील पाठक भली

भांति समझ सकता है कि भरद्वाज की कल्पना कक्षीवत् ने कैसी पुष्ट कर दिखाई है। भरद्वाज के उषःसूक्त का इस कक्षीवत् पर इतना प्रभाव पड़ा था कि 'उत्ते वयः' यह भरद्वाज की ऋचा एक शब्द का भी फरक न कर वैसी की वैसी ही अपने सूक्त में समाविष्ट कर दी है। अपने सूक्त के अन्त में यह कहता है कि "मुझ से किये हुए स्तोत्रों से उषोदेवी की स्तुति करो और उसका माहात्म्य वृद्धिंगत करो"।

२४ भरद्वाज युग के आरंभ में यद्यपि यहां अशाँति थी, तथापि वैशाली के राजाओं का साहस और पराक्रम देख विदेह, कोसल तथा काशी के राजा लोग भी प्रस्फुरित हो उठे और थोड़े ही वर्षों में दिवोदास तथा प्रतर्दन इन काशी के राजाओं ने तथा अयोध्या के सगर नामक राजा ने हैहय तथा द्रुह्युओं के अनुयायी लोगों को या तो पूर्णतया परास्त कर भगा दिया या अपने अधीन कर छोड़ा। जिधर उधर शान्तता का साम्राज्य स्थापित हुआ। इसी कारण से आगे आने वाली पांच चार पीढ़ियों को स्वास्थ्य प्राप्त हुआ। इस स्वास्थ्य समय में ही मन्त्ररचना भी हुई और यज्ञविधि का भी विकास हुआ। पूर्वोक्त सूक्त इसी काल के रचे हुए हैं जिनमें से प्रथम कक्षीवत् के उषःसूक्त तक के सूक्तों के विषय में विचार हो चुका है। अब क्रमप्राप्त शंयु बार्हस्पत्य के नाम से प्रसिद्ध सूक्त विचार विषय है। इस नाम पर छठे मंडल में ४४ से ४६ ऐसे तीन और क्रं ४८ का एक, सारे मिलाकर चार सूक्त पाये गये हैं। लेकिन अध्ययन के अनन्तर ये एक ही शंयु के नहीं जान पड़ते। ४८ वां सूक्त अनुक्रमणिका में ही 'तृणपाणि' नाम से विशिष्ट शंयु का कहा गया है। अन्य तीन भी एककर्तृक नहीं है। हमें इस समय जिस शंयु का विचार करना है, वह प्रथम शंयु प्रथम भरद्वाज का पुत्र है। जिस वेदि पर यज्ञ किया जाता है, उसकी एक विशिष्ट पद्धति से रचना की जाती है जिसे वेदिचयन कहते हैं। वेदिचयन का निर्माता यह शंयु है। बृहस्पति का पुत्र भरद्वाज और भरद्वाज का शंयु। वेदि को जो ईंटें लगती हैं, उनके आकार, उनकी संख्या और स्तर इत्यादि विषय में इसने मुख्यतः विचार किया। निश्चित सूक्त एक ही (६-४६) है। अग्निमंथन की यज्ञिय पद्धति अथर्वन् ने निश्चित की। इसीलिये मथित अग्नि अथर्वन् नाम ही प्रथम प्रसिद्ध हुआ। ठीक उसी कारण से चिति पर रखा हुआ अग्नि शंयु नाम से ख्यात हुआ। विशिष्ट प्रकार से बनाई हुई वेदि को चिति कहा गया और चिति विषयक अग्नि को चित्याग्नि कहने लगे। शंयु जीवित और रहता तो

हमें उसके रचे कुछ सूक्त और मिलते तथा यज्ञविधि में भी और विकास होता। परंतु शंयु अल्पायुषी होकर अपनी स्त्री सत्या और भरद्वाज नाम का पुत्र पीछे छोड़ परलोक सिधारा।

२५. इतिहास पर से पता चलता है कि दीर्घतमस् ऋषि केवल सूक्तकार ही न था। उस समय तक का इतिहास जमाकर उसने अपने पुत्र कक्षीवत् को पढ़ाया था। कक्षीवत् के मुख से शंयु को इतिहास का ज्ञान होना स्वाभाविक था क्योंकि बचपन में पुरानी बातें सुनने में मज़ा आता है। इसका कुछ प्रमाण इसके सूक्त से मिलता है। अपने पिता भरद्वाज के रचे हुए इन्द्र-सूक्तों में इसकी भी एक सूत्ररचना ने वृद्धि की। इस शंयु के इन्द्र सूक्त में इतिहास की ध्वनि निकलती है। शंयु ने इस सूक्त में खेती करने वाले लोगों को "नाहुषी" कहा है जो नाहुष की याद दिलाता है। द्रुह्यु पुरु इत्यादि उल्लेखों पर से शंयु की पुराणेतिहास प्रियता ही सूचित होती है। वीतहव्य ने अपने लिये तथा बृहस्पति के लिये की हुई "छर्दि" विषयक प्रार्थना हम देख चुके हैं। शंयु भी "छर्दि" चाहता है पर इसकी गृहविषयक कल्पना विकसित है। यह "त्रिधातु" अर्थात् मिट्टी, लकड़ी और घास, तीन बातों से बना हुआ घर चाहता है और वह भी छोटा नहीं "त्रिबंधुर"–तीन अलग-अलग स्थानों से युक्त हो, "शरण" हो अर्थात् अच्छा आश्रय देने वाला हो और स्वस्तिमत् हो–उसमें अच्छी अच्छी बातें भरी रहें। अपने साथ मित्रता न रखने वाले "अमित्र" और अपने पर प्रेम न करने वाले "द्वेष" लोगों का विनाश इंद्र द्वारा हो, यह शंयु की इन्द्र के पास की गई मांग है।

२६. शंयु ने इन्द्र को "तुविनृम्ण "और" सहस्रमुष्क" ये नये दो विशेषण दिये हैं। इन्द्र के घोड़े कैसी तेजी से दौड़ते हैं इसके लिये शंयु ने दो बड़ी सुन्दर उपमायें दी हैं। पहली है भक्ष्य पर झपटने वाले गीध की "श्रवस्यव श्येन" की। और दूसरी है "प्रवणे सिंधु"–अर्थात् नीचे की सतह को बहती हुई नदी की। किन्तु इसका रचना कौशल्य है छंदोनिर्मिति में। इसके पूर्व रची हुई सारी ऋचाएं किसी भी शुद्ध छंद में थीं। इसने छंदों को मिलाना आरम्भ किया। आज की उपजाति छंद का मूल स्रोत यही है। शंयु सूक्त की चौदह ऋचाओं में विषम ऋचाएं ऐसी हैं जिनमें प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरण हैं आठ अक्षरों का किंतु बीच का तीसरा चरण है बारह अक्षरों का। अन्य समसंख्यक ऋचाओं में पहला और तीसरा चरण है द्वादशाक्षरी किन्तु दूसरा तथा चौथा अष्टाक्षरी। इन्हीं संयुक्त छंदों को छन्दःशास्त्रकार आगे चल कर

कहते हैं बृहती और सतोबृहती। मिश्र छन्द प्रगाथ कहा जाता है। शंयु अधिक काल तक जीवित रहता तो अधिक अच्छी रचना करता, यह हम इसके एक सूक्त का अध्ययन कर अनुमान कर सकते हैं। बारहवीं ऋचा में "पितृणाम्' पद है, जो देवों से भिन्न समूह का वाचक है। अतएव पूर्व में केवल नामनिर्दिष्ट कर छोड़ दिये सूक्तों का विचार किया जाना चाहिये, जो हैं अथर्वन् से लेकर शंयु तक के ही समय के और यज्ञकर्म से संबद्ध न होते भी ऋक्संहिता में समाविष्ट किये गये हैं।

२७. ये सूक्त ऋग्वेद के दसवें मंडल में ऋ० १० से १९ तक दिये हुए हैं। इनमें से पहले चार अर्थात् १० से १३ एक कर्तृक जान पड़ते हैं। अतएव उनका विचार प्रथम किया गया है। दसवां सूक्त यमयमीसंवाद के नाम से प्रसिद्ध है। यह तो स्पष्ट ही है कि इस सूक्त का रचयिता यम या यमी के अतिरिक्त दूसरा ही कोई होगा। यम या यमी के मुख से निकले हुए ऋग्रूप वाक्य प्रत्यक्ष यम या यमी के रचे हुए नहीं हैं वरन् दूसरे किसी सूक्तकार ने बनाकर उनके मुख से बुलाये हैं। इसके बाद जो तीन सूक्त हैं, उनकी भाषा तथा शब्दप्रयोग का इस सूक्त से जो साम्य दीखता है, उस पर से चारों सूक्तों का कर्त्ता एक ही अनुमित होता है। इसका नाम विवस्वान् आदित्य होना चाहिए, तेरहवें सूक्त का अनुक्रमणिका के अनुसार वैकल्पिक रचयिता यही है। १० व ११ वें सूक्तों का ऋषि अनुक्रमणीकार के मत से "आङ्गि हविर्धान" है, जो तेरहवें सूक्त का भी विकल्प से सूक्तकार कहा ही गया है। तेरहवां सूक्त 'हविर्धान" विषयक है। इसलिये यदि उसका रचयिता "हविर्धान" नामक मानना हो तो १२ वें सूक्त में विवस्वान् का प्रत्यक्ष निर्देश होने से उसे ही क्यों सूक्तकर्त्ता न माना जाए ? उचित तो यही जान पड़ता है कि विवस्वान् आदित्य ही सूक्त रचयिता है।

२८. नीचे दिये हुए उदाहरणों से स्पष्ट होगा कि इन चारों सूक्तों की भाषा कैसी एक सी और भरद्वाज युग की भाषा से मिलती जुलती है।

(१) "सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति" यह वाक्य जैसा यमयमी संवाद में है, वैसा का वैसा ही बारहवें सूक्त में पाया जाता है।

(२) यमयमीसंवाद में "अप्या च योषा" शब्द प्रयोग है तो ग्यारहवें सूक्त में "अप्या च योषणा" कहा गया है।

(३) इसी प्रकार यमयमीसंवाद का "महस्पुत्रासः" तेरहवें सूक्त के "अमृतस्य पुत्राः" का मूल जान पड़ता है।

(४) "रप् "धातु का अनेक वार प्रयोग" भवाति" शब्द की पुनरुक्ति, "अदिति" शब्द का विशिष्ट अर्थ, इत्यादि प्रमाणों पर से निश्चित होता है कि ये चारों सूक्त एककर्तृक ही हैं।

(५) प्रथम अहन्, द्यावापृथिवी देवता, "उभे यतेते उभयस्य पश्यतः, माकिः, तथा नकिः, गीधों की झपट, सूक्त द्वारा देवों की वृद्धि इत्यादि बातें भरद्वाज युग की हैं, यह पूर्व विवेचन से स्पष्ट ही है। "जार आ भगम्" की उपमा तो विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है।

२९. इस सूक्तकार के पूर्व अग्नि को किसी ने रथ में न बिठलाया था। किन्तु इस विवस्वत् ने "युक्ष्वा रथममृतस्य द्रवित्नुम्" ऐसी अग्नि की विनय की है। अग्नि तो रथस्थ है ही, किन्तु जो मानव अग्निपरिचर्या करता हैं, वह मृत्यु के पश्चात् संसार प्रसिद्ध होता है, घोड़े उसे भी खींच ले जाते हैं और चिरकाल तक वह आकाश में प्रकाशमान रहता है। मृत्यु के बाद की कल्पना इन्हीं सूक्तों में प्रथम बार दीखती है। इन्हीं में राजा यह विशेषण अग्नि के लिये प्रयुक्त हुआ है। "धूमकेतु" तथा "भाऋजीक" ये दो विशेषण अग्निदेव को इसी सूक्तकार ने प्रदान किये। अक्षरों से गिनी जाने वाली छंदस्या वाणी जो मूल में त्रिपदा थी, वह चतुष्पदी होकर पंचपदी तक पहुंच चुकी ऐसा विवस्वान् के (१०-१३-३) से सूचित होता है। इस पर से सहज ही में अनुमान किया जा सकता है कि गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती ये सात ही छंद इसके समय उपलब्ध होंगे। यमयमीसंवाद का 'जामि' शब्द तथा "किं भ्राता सद् यदनाथं भवाति" पढ़कर कक्षीवत् का "जामि" शब्द तथा "अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची" हठात् स्मृतिपथ में आ ही जाते हैं।

३०. इसी विवस्वत्पुत्र यम ने अगला (१०-१४) सूक्त रचा है। इसी ने यम देव की तथा उसी के साथ पितृदेवताओं की कल्पना प्रसृत की। ऐसा जान पड़ता है कि जिस प्रदेश से विवस्वत् और यम सूक्तकार आये थे, उस वैशाली के दक्षिण प्रदेश की संस्कृति विकसित न थी। वहां भाई बहिन विवाह बद्ध हो सकते थे। पर इस पितापुत्र की जोड़ी ने वह प्रथा त्याज्य ठहराई। ये दोनों बातें यम-यमी-संवाद सूक्त से अनुमित होती हैं। यम यमी से कहता है:– "आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि"–अब ऐसे दिन आ रहे हैं कि जब बहनें भाइयों से विवाहबद्ध न होंगी। उसी प्रकार "पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्"–जो भगिनी के साथ विवाह करेगा, वह पापी ठहराया जाएगा। उसी देश में कुत्ते पालने की प्रथा होगी जिस पर से यमदेव के दो कुत्तों की कल्पना की गई होगी। आरंभ में मृत्यु की देवता यम शुभ न मानी गई होगी

पर "पितृमेध" के प्रतिष्ठित नाम से इन्होंने देवों के साथ पितरों को स्थान मिला दिया। आज भी शुभ कर्मों में नांदीश्राद्ध जो किया जाता है, उसका श्रेय इन्हीं को समर्पित करना चाहिए। इसी ने अग्नि के साथ यम को भी राजा नाम दिया और मृत्यु के पश्चात् सबको साथ लाने वाला बनाकर यज्ञ में हवि-भाग भी उसे दिलाया। पितृवर्ग में अथर्वाणः और भृगवः-अथर्वन् तथा भृगु के वंशजों को स्थान देकर इन दोनों कुलों की सहानुभूति प्राप्त की और उनकी सहायता से केवल हविर्भाग ही नहीं अपितु सोमरस में भी पितरों को सहभागी किया। "यमाय सोमं सुनुत" और "यमाय जुहुता हविः" दोनों प्रकार के आदेश दिये जाने लगे। 'याँश्च देवान् वावृधुर्ये च देवान्" ऐसी परस्पर जोड़ी भी लगाई और "स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति" इस प्रकार का पृथक्त्व भी बना रखा।

३१. शंख नामक ऋषि इसी यम का पुत्र है। इसका पितृविषयक सूक्त क्र० १५ पर दिया हुआ है। इसने पितरों के तीन वर्गों की कल्पना की:- अवर, मध्यम और पर-जिन्हें मरे बहुत दिन नहीं हुए वे अवर अर्थात् पास के, उनके पूर्व मरे हुए और नाम शेष बचे हुए मध्यम और बहुत पुरातन काल के पर। कालान्तर से ये तीन विभाग पितृ, पितामह तथा प्रपितामह ऐसे तीन वर्गों में समाविष्ट हुए। त्रिविध इन पितरों का और विष्णु के तीन विक्रमणों का संबंध इसी ने जोड़ा। पूर्व में कहा ही गया है कि शंयु चित्याग्नि का ही नाम पड़ा। इसी शंयु की षष्ठी का एकवचनान्त रूप शंयोः है। शंयु की मृत्यु के पश्चात् इस शंयोः रूप के दो स्वतंत्र अव्यय बने। सबसे प्रथम शंख ऋषि ने ही अपने सूक्त में इनका प्रयोग किया। पितरों के विषय में इसने एक और प्रघात रूढ़ किया। वह था घुटने मोड़ कर "आच्यजानु" बैठने का। धीरे-धीरे अन्य समय भी हम "मितज्ञु" घुटने मोड़कर बैठने लगे। यही प्रथा पश्चिम में जाकर नम्रतासूचक बनी। सोमयाग में देवों तथा पितरों के साथ सोमरस यम को अर्पण करने की कल्पना एक वसिष्ठ ऋषि की थी। इस काल तक वसिष्ठों ने मन्त्र रचना नहीं की थी। किन्तु अथर्वमन्त्रों का संग्रह और नई देवताओं को पुरानी देवताओं में स्थान मिला देने का काम वसिष्ठों ने कुशलता-पूर्वक किया यह इस शंख सूक्त की आठवीं ऋचा पर से अनुमित होता है। पितरों को इन्द्र के साथ सोमपान के लिये रथ में बैठकर आने की इसने प्रार्थना की। अन्त में अनग्निदग्ध पितरों को भी उनकी इच्छा के अनुसार स्थान देने की प्रार्थना कर अपने अग्निसूक्त की समाप्ति शंख ऋषि ने की है। पितरों से संबद्ध सूक्तों की शृंखला यहीं समाप्त होती है। आगे के चार सूक्त इस

कालखंड में नहीं पड़ते। अतएव उनका विचार स्थगित कर फिर भरद्वाज सूक्तों की ओर मुड़ना चाहिए।

३२. शंयु अपने जिस पुत्र को छोड़ कर परलोक को चल बसा, उसका नाम भी भरद्वाज था। अतः इसे दूसरा भरद्वाज कहना चाहिये। छठे मंडल में इसके नाम से दिये हुए १ से १४ सूक्तों में क्र० ८ तथा ९ छोड़ शेष बारह सूक्त इसी के हैं। आठवां "नव्यसीमतिः" होने के कारण तथा नवम की दूसरी तथा तीसरी ऋचा में जो कल्पना है वह प्राचीन न होने के कारण, ये दोनों सूक्त इस भरद्वाज के नहीं कहे जा सकते। प्रथम भरद्वाज ने अग्निविषयक सूक्त नहीं रचा। यह कमी पूरी करने के लिये मानो इस भरद्वाज ने अपने बारहों सूक्त अग्नि देवता पर बनाये। इस भरद्वाज को प्रथम भरद्वाज के ही नहीं, अपितु तब तक के रचित सूक्तों का अच्छा ज्ञान था। यह बात इसकी रचना पर से स्पष्ट व्यक्त होती है। घुटने मोड़ कर बैठने का वर्णन इसके "उप ज्ञुबाधो नमसा सदेम" में स्पष्ट ही किया गया है। "ज्ञुबाधः" का अर्थ सायण ने जानुनी बाधयन्तः, अवनतजानवः ही किया है। प्रथम भरद्वाज ने वाम शब्द को खूब प्रचलित किया था। वह सवितृ देव के पास "वाम" की याचना करता है तो यह भरद्वाज अग्नि के विषय में कहता है कि "विश्वेत्स वामा दधते त्वोतः' तुम जिसकी रक्षा करते हो उसे सारे ही वाम प्राप्त होते हैं। विवस्वत् का धूमकेतु, भरद्वाज द्वितीय की रचना में "यज्ञस्य केतुः" बन गया। इसका "अग्ने पशुर्न यवसे" विवस्वत् के "सदासि रण्वो यवसे वपुष्यते" की याद दिलाता है। इसके 'नव्यसा यज्ञेन' पर से इसके पिता शंयु की नई यज्ञपद्धति सूचित होती है। अग्नि को दिया हुआ "प्रेतीषणि"–मृत को उत्तम लोक को पहुंचाने वाला–विशेषण तथा अमृत, अमृत्यु इत्यादि इसके सूक्तस्थ शब्द विवस्वत्कुल के सूक्तकारों का इसका ज्ञान ज्ञापित करते हैं।

३३. ऐसा लगता है कि इस भरद्वाज के समय से भाषा अलंकृत होने लगी। इसके "तपा तपिष्ठ तपसा तपस्वान्" या "स चित्र चित्रं चितयन्तमस्मे चित्रक्षत्र चित्रतमम्" इत्यादि उदाहरणों पर से इसकी अनुप्रासप्रियता व्यक्त होती है। वीतहव्य के "दुरिता तरेम, तातरेम, तवावसा तरेम" का उपयोग तो इसने जैसा का तैसा ही किया है। उपमालंकार का उपयोग तो इसने प्रचुर मात्रा में किया है। एक "अग्ने स क्षेषत्" इस (६-३) सूक्त में चौदह उपमानों का उपयोग केवल आठ ऋचाओं में किया है। अपने ही कुल के "ममता" व "औशिज" नाम से प्रसिद्ध माता व पुत्र को उपमान बना इसने अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त करा दी है। ममता का निर्दुष्ट मंत्रोच्चार तथा औशिज्

दीर्घतमस् का सर्वसंचार उन दिनों पर्याप्त रीति से प्रसिद्ध था ऐसा जान पड़ता है। "वायुर्न राष्ट्री" वायु की सा सब पर सत्ता चलाने वाली, अग्नि को कहा है। इस भरद्वाज द्वारा वर्णित अग्नि जैसे यज्ञ में प्रकाशमान है, वैसे ही या उससे भी अधिक वन को जलाकर चमकने वाली है। इस सूक्त से वन जलाकर साफ करना और फिर वहां जाकर निवास करना ध्वनित होता है। और "तुविम्रक्षासो दिव्या नवग्वा वना वनन्ति धृषता रुजन्तः"–अनेक वस्तुओं का हाथों से उपयोग करने वाले अलौकिक "नवग्व" अपने साहस कर्म से वनों को नष्ट करते हुए आपस में बाँट लेते हैं–इस ऋगर्घ पर से वह ध्वनि पुष्ट होती है। यहां "नवग्व" शब्द का सायणकृत अर्थ ठीक नहीं बैठता। वैश्वानर अर्थात् सबको उपयुक्त अग्नि पर भी इस भरद्वाज का एक सूक्त है जिसमें उसने इस अग्नि को "सुक्रतु" तथा "अमृतस्य रक्षिता" कहा है। अन्य ऋषियों के समान यह भी अग्नि के पास से कई बातें प्राप्त करने की इच्छा रखता है। अग्निसेवा करने वाले पुरुष को 'प्रदृप्ति'–गर्व, दर्प नहीं होता ऐसा कहते हुए भी अपने स्वयं को बुद्धिमान् तथा 'मधुछंद"–मीठी कविताएं रचने वाला समझता ही है। दूसरे सूक्तकारों ने अन्य देवों के दिखलाये हुए गुण यह अग्नि में बतलाता है और इस प्रकार देव भिन्न-भिन्न होते हुए भी उनके गुण समान ही होते हैं इस सिद्धान्त की नींव डालता है। सवितृ देव के समान जैसे अग्नि सुक्रतु है उसी प्रकार 'वृत्रतूर्ये' वृत्र को मारने के लिये बल भी अग्नि ही देती है, ऐसा कह कर इन्द्र के गुण भी अग्नि पर स्थापन करता है। छन्द के बारे में इसकी एक ऋचा दशाक्षरचरणा विराट् छंद के दो ही चरणों की है और उसमें भी एक चरण अन्यत्र प्रयुक्त 'मदेम शतहिमाः सुवीराः' ही है। द्विपदा विराट् छंद का अनुकरण बाद के कई ऋषियों ने किया। पूर्वोक्त 'प्रेतीषणि' विशेषण के अतिरिक्त इसके अग्नि को दिये हुए कुछ और भी विशेषण ध्यान में रखने योग्य हैं। वे हैं–पुर्वणीक-बड़ी फौज रखने वाली, कृष्णाध्वन्–मार्ग को काला करने वाली, और 'द्रवन्न' पेड़ खाने वाली, तोक अर्थात् पुत्र तनय अर्थात् पौत्र ये जोड़ी के शब्द इसी ने प्रथम प्रयुक्त किये और अपनी मांगों में इन्हें समाविष्ट किया।

३४. अग्नि और इन्द्र के गुणों को संमिलन करने की क्रिया जो इस भरद्वाज ने की उससे भी अधिक धृष्टता का और एक काम इसने किया। वह थी ब्राह्मण और क्षत्रियों को एकरूप करने की। शाकुन्तलेय भरत सम्राट् ने जब किसी ब्राह्मण को युवराज बनाकर अपना उत्तराधिकारी करना चाहा, तब यही

द्वितीय भरद्वाज, अन्य ब्राह्मणों का सा राज्य संचालन की उत्तरदायिता को स्वीकार करने में डरा नहीं। इसने खुशी से उसे स्वीकारा और इस शर्त पर कि वह तथा उसके वंशज दोनों वर्णों के माने जाएँ, उसने भरत का उत्तराधिकारी बनना मान लिया। क्षत्रोपेत ब्राह्मणों का अस्तित्व तभी से माना गया। तब से ही भरद्वाज अङ्गिरस् कुल के अतएव आङ्गिरस और भरत कुल के अतएव भारत कहलाए गये। तभी से इस द्वितीय भरद्वाज की विदथिन् भरद्वाज नाम से प्रसिद्धि हुई। विदथिन् का अर्थ शासक होता है। किन्तु प्रत्यक्ष राज्य शासन करने का इसे अवसर न मिला। सम्राट् भरत दीर्घ काल तक जीवित रहा। विदथिन् भरद्वाज प्रत्यक्ष में विदथिन् होने के पूर्व ही परलोक सिधारा और भरत के पश्चात् पौरवराज बना इस भरद्वाज का पुत्र वितथ।

३५. विदथिन् बना पर हुआ नहीं इस अवस्था में भी भरद्वाज का सूक्त-रचना का काम चल ही रहा था। इन्द्र विषयक छह सूक्त (६-१७ से २२) इसी काल में रचे हुए हैं। प्रथम भरद्वाज के सूक्तों में दिवोदास और शंबर का उल्लेख आया है और वहीं ऐतिहासिक तथा काल्पनिक बातों का मिश्रण किया गया दीख भी पड़ता है। दिवोदास और शम्बर का युद्ध ऐतिहासिक था। इसी की विशेष जानकारी भरद्वाज द्वितीय को राजप्रासाद में रहते-रहते हुई होगी जिसका उपयोग इसने अपने इंद्रसूक्तों में पर्याप्त रूप में किया है। शंबर को साहाय्य देने वाले और इसीलिये इन्द्र द्वारा नष्ट किये हुए चुमुरि, धुनि, पिप्रु, शुष्ण, नमुचि, वेतसु तथा तुग्र इत्यादि नाम इसे ज्ञात हुए से जान पड़ते हैं। उसी प्रकार इन्द्र से रक्षित कुत्स, नमि, ऋजिष्वन्, द्योतन, तुजि इत्यादि। परन्तु ये सारे व्यक्तिनाम ही होने के कारण इनके नाम आगे के संगृहीत इतिहास में अधिक सुनाई नहीं पड़ते। इन्हीं युद्धों में गायें चोरी गई होंगी और उन्हें मरुद्गणाधिपति इन्द्र ने छुड़ाया होगा। जिन नवग्वों का अग्निसूक्त में उल्लेख हुआ था, उन्हें यहां भरद्वाज ने स्पष्ट शब्दों में "पितरो नवग्वाः" कहा है।

३६. भरद्वाज विदथिन् की 'ब्राह्मण्यात् क्षत्रियोऽभवत्' यह कृति सूक्तकारों को भली भाँति अच्छी न लगी होगी। इसी कारण से क्षत्रोपेत ब्राह्मणों की रचना से अलग दिखलाने के लिये तत्पूर्व के सारे सूक्तों का चयन भरत के समय में ही उसके राज्य के बाहर, कोशल देश के श्रुत राजा के समय वहीं हुआ होगा। इन सूक्तों में भरद्वाज के अग्नि सूक्तों का तो समावेश हुआ पर इन्द्रसूक्तों का नहीं हुआ। तथा इसके बाद के सूक्त नवीन कहलाये गये। भरद्वाज द्वितीय पर यह एक प्रकार का बहिष्कार ही था।

परंतु विप्रविरुद्ध क्षत्रोपेत बनने वाला भरद्वाज भी कोई 'ऐसा वैसा' आदमी न था। अतएव अपने इन्द्रसूक्तों में भी वह 'मेरी रचना नई है' इस बात को अनेक पर्यायों से दुहराता है । सत्रहवें सूक्त में वह इस सूक्त को 'नव्य ब्रह्म' कहता है तो अगले ही सूक्त को 'नवीन उक्थ' का नाम देता है उन्नीसवें सूक्त में 'यथाचित्पूर्वे जरितार आसुः' जैसे पहले सूक्तकार थे, वैसा ही मैं हूं यह स्वाभिमानपूर्वक कहता है। बाद में सूक्तों में भी स्वयं को 'नव्यः स्तवन्तः' कहलाता है। इक्कीसवें सूक्त में फिर, 'जो प्रत्न, मध्यम या नूतन सूक्तकार हैं, उन सब में मैं अवम अर्थात् अर्वाचीन हूं' ऐसा कहकर बाईसवें सूक्त में अपनी 'धी' अर्थात् स्तुति को नव्यसी कहता है। क्रम से सारे छह सूक्तों में किये गये ये निर्देश अकारण ही किये गये होंगे, यह कहना तर्कसंगत नहीं है ।

३७. विदथिन् भरद्वाज की इसके बाद की रचना अधिक महत्व की है । ब्रह्मक्षत्र मिलन के साथ उसने देवताओं का भी संमिलन करके युग्म देवताएं निर्माण कीं । इन्द्र तथा अग्नि के पृथक् गुण एक दूसरे के वर्णन में मिलाकर ही यह न रहा अपितु इसने मित्रावरुणौ के समान 'इंद्राग्नी' नामक देवताद्वन्द्व निर्माण कर इस पर ५९ और ६० क्रमांक पर दिये हुए दो सूक्त भी रच डाले । पूर्व में दर्शित किया ही है कि दीर्घतमस् ने केवल अग्नि पर ही सूक्त रचे, इन्द्र पर नहीं। उसी प्रकार प्रथम भरद्वाज ने अग्नि पर एक भी सूक्त न बना इन्द्र पर ही सूक्त रचे । किन्तु भरद्वाज ने पहले अग्निसूक्त और पीछे से इन्द्रसूक्त ऐसे दोनों देवों पर सूक्त बनाये थे । इसीलिये इन्द्राग्नी के सूक्त में वह कहता है कि मैं 'समानो वां जनिता'—दोनों का एक सा निर्माता हूं । इस द्वन्द्व को वह 'इहेह मातरौ' जिनकी माता यहीं-यहीं पर है—कहता है। नवनिर्मित इस द्वन्द्व देवता की कुछ लोगों ने निन्दा भी की होगी। पर ऐसे निन्दकों को यह 'जोषवाकं वदन्तः' मनमाना कहने वाले की उपाधि प्रदान करता है और ऐसे लोगों का दिया हुआ सोमरस स्वीकार न करने के लिये इन्द्राग्नी की प्रार्थना करता है। इस जोड़ी की 'सपर्या' करने वाला शत्रु पर विजय मिलाता है और 'वाज' प्राप्त करता है इस प्रकार की फल-श्रुति कहने को भी यह कम नहीं करता।

३८. विदथिन् भरद्वाज का वितथ नाम का पुत्र भरत की मृत्यु के बाद राजगद्दी पर बैठा । इसी नयी उत्तरदायिता के कारण न इसने या न इसके पुत्र भुवमन्यु ने सूक्तरचना की । पर वितथ के प्रपौत्र नर नामक ऋषि

ने इन्द्र पर दो सूक्त बनाये। छठे मंडल के क्र० ३५ तथा ३६ पर ये सूक्त अंकित हैं। ३५ वें सूक्त के आरंभ से ही यह कल्पना की जा सकती है कि इन दो पीढ़ियों में भरद्वाजों ने सूक्त नहीं रचे। तभी तो नर कहता है 'कदा धियो न नियुतो सुवासे'--हमारी बुद्धि अब तुम्हारी ओर कब मुड़ेगी? आगे वह कहता है कि 'हमारी' 'सुदुघा वाणी' हे इन्द्रदेव, अब भरद्वाज वंश में भली भांति चमकने दो"। वाणी को केवल 'सुदुघा' ही यह नहीं कहता, अपरंच 'शुक्रदुघा' भी कहता है और आशा व्यक्त करता है कि ऐसी वाणी से भरद्वाज दूर न रहे। हमारे सूक्त 'विश्वजन्य' सब दुनिया को हितकर हों और नदियां जैसी समुद्र से मिलती हैं उसी प्रकार से सूक्त इंद्रस्वरूप हों। इस प्रार्थना पर से ध्वनि निकलती है कि कुछ दिन भरद्वाजों की वाणी इन्द्र से दूर हो गई थी। शंयु ने 'छर्दि' अर्थात् घर को जो त्रिधातु विशेषण जोड़ा था, वही विशेषण 'नर' दूध, दही और घी ऐसी तीन चीजें देने वाली गाय के विषय में प्रयुक्त करता है। आंगिरसों का और गायों का संबंध बहुत पुराना जान पड़ता है। इनके पूर्वज् 'नवग्व'--नौ गायें रखने वाले, इनके युद्ध गायों के लिए और वाणी को उपमा भी गाय की। नर ऋषि ने दुवोयु, खा, खज, अकरारि ऐसे कुछ बिल्कुल नये शब्द अपने सूक्तों में रखे हैं।

३९. आङ्गिरस-भारत कहलाने वाले शासकों को सूक्तकार ऋषि होते देख अयोध्या के श्रुतराजा के प्रपौत्र सिंधुद्वीप आंबरीष राजा ने भी एक सूक्त रचा, जो बहुत ही विख्यात हुआ। अंबरीष पुत्र सिंधुद्वीप रोगों की जल-चिकित्सा करने वाला था। अनेकों रोगों को यह केवल पानी के द्वारा दूर करता था। इस सूक्त का नाम है--'आपो हि ष्ठा' यह सूक्त इतना लोकप्रिय हुआ कि वैदिक धर्मकृत्यों में मार्जन करने के प्रत्येक अवसर पर इसका उपयोग किया जाता है। नित्य संध्यावंदन में भी इसका समावेश किया गया है। इसकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इसके बाद सात पीढ़ियों के अनंतर 'मेधातिथि' ने अपने 'तीव्राः सोमासः' (१-२३) सूक्त में 'आपो हि ष्ठा' (१०-९) सूक्त के 'अप्सु मे सोमो अब्रवीत्' 'इत्यादि चार मंत्र ज्यों के त्यों समाविष्ट किये। इन चार मंत्रों की पहली ऋचा में 'सिंधुद्वीप' ऋषि कहता है कि 'सोम ने मुझे बताया कि पानी के भीतर सारी दवाइयां हैं तथा विश्व का कल्याण करने वाली अग्नि भी है'। संभव है कि यह सोम और कोई न होकर काशी का तत्कालीन राजा हो। काशी के गंगा जल की यह ख्याति है कि वह सर्व रोग दूर करता है। पानी में अग्नि की वसति

की कल्पना समुद्र जल पर से आई है और इसी पर से अग्नि ने जल प्रवेश किया यह कल्पना बाद में रूढ हुई है।

४०. नर ऋषि का दूसरा एक भाई शुनहोत्र नाम का था। इसके भी इन्द्र पर दो सूक्त (६-३३ और ३४) हैं। तेतीसवें सूक्त में 'अकवेभिः' शब्द आया है और 'गौओं का भाग हमें मिले'—'स्याम पार्ये गोषतमाः' यह प्रार्थना है। चौंतीसवें में कवि कहता है कि 'यदि स्तोतारः शतं यत् सहस्रं गृणन्ति गिर्वणसं शं तमस्मै।' इंद्र की स्तुति सैकड़ों या हजारों लोगों ने की, फिर भी यह कल्याण ही करने वाली है। इसी शुनहोत्र का पुत्र गृत्समद। किंतु अनुक्रमणीकार ने यह गृत्समद शौनहोत्र और गृत्समद शौनक इन दोनों को मिलाकर और एक ही समझ कर सारे ही गृत्समद सूक्त द्वितीय मण्डल में संगृहीत किये हैं। उन सूक्तों में क्र० ३३ और ३४ के सूक्त इस गृत्समद शौनहोत्र के हैं। ज्ञात होता है कि इस गृत्समद का पूर्वोक्त मरुत् नामक लोगों के साथ बहुत संपर्क था। इन मरुत् लोगों में एक रुद्र नाम की देवता प्रसिद्ध थी। याज्ञिक लोगों ने इसे 'रुद्रो वा एष यदग्निः' कहकर अग्नि-स्वरूप मान इसे यज्ञ में स्थान दिया था और इसे आहुति भी दी जाती थी। इस पर 'रुद्राध्याय' नामक गद्यपद्यात्मक भाग रचा भी गया था। परंतु होतृसूक्तों में इसे स्थान नहीं दिया गया था। यह काम गृत्समद ने रुद्र पर सूक्त बनाकर किया। रुद्र थी मरुतों की देवता। स्वाभाविकतया ही मरुतों का पिता रुद्र और रुद्र के पुत्र मरुत् बने। यह रुद्र सूक्त पढ़ने पर निःसंदेह जान पड़ता है कि गृत्समद के सामने पूर्वोक्त का रुद्राध्याय था। रुद्राध्याय में रुद्र को 'प्रथमो दैव्यो भिषक्' कहा है। इसे सुनकर ही गृत्समद कहता है 'भिषक्तमं त्वां भिषजां शृणोमि'। रुद्राध्याय में रुद्र को सर्व स्वरूप मान कुम्हार, लुहार, चोर, डाकू और तो क्या कुत्ते भी मानकर नमस्कार किये हैं। गृत्समद कहता है—'मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिः' अर्थात् ऐसे नमस्कारों से हम तुझे हे रुद्रदेव क्रुद्ध नहीं करना चाहते। 'स्तुहि श्रुतम्' यह इस सूक्त की ग्यारहवीं ऋचा तो रुद्राध्याय से शब्दशः ली है। उसी प्रकार 'परि णो रुद्रस्य' यह चौदहवीं ऋचा बहुत थोड़े फरक से रुद्राध्याय में मिलती है।

४१. रुद्र के समान ही मरुतों पर एक सूक्त लिख कर उन्हें भी इंद्रनिरपेक्ष स्वतंत्र देवत्व दिया है इसी गृत्समद ने। मरुतों पर स्वतंत्र रूप से लिखा हुआ यह प्रथम ही सूक्त है। इस (२-३४) सूक्त की प्रथम ऋचा में ही मरुतों को

'मृगा न भीमाः' कहा है । दीर्घतमस् ने यह उपमा विष्णु को दी । रुद्रसूक्त में रुद्राध्याय से जो 'स्तुहि श्रुतं गर्तसदम्' ऋचा ली गई है, उसमें यही उपमा गृत्समद ने रुद्र को दी और अब मरुत् भी 'मृगा न भीमाः' इसी उपमा से अलंकृत किये गये । वैदिक परंपरा इस प्रकार पाली गई । मरुतों का वर्णन सवितृ देव की अपेक्षा भी अधिक विशिष्ट है । प्रथम भरद्वाज ने सवितृ देव के पाणि, जिह्वा, हनु इत्यादि अवयवों का ही वर्णन किया । इस सूक्त में तो वर्णन किया है कि मरुतों के हाथों में 'ऋष्टि' भाले थे, 'खादी' नामक सोने का कड़ा वे पहनते थे और 'भृमि' नामक वाद्य मुख से बजाते थे । गायों को छुड़ाने वाले इनका समूह 'हंसासो न' हंसों के समान दिखता था। मरुत् नामक पर्वतीय लोगों पर से यह वर्णन किया हुआ स्पष्ट ही जान पड़ता है । 'त्रित' नाम के एक व्यक्ति का निर्देश द्वितीय भरद्वाज के व्यक्ति विशेषों के समान केवल नाम से ही किया गया है ।नवग्वों का सा दशग्वों का भी उल्लेख इस मरुत्सूक्त में मिलता है । अन्तिम पन्द्रहवीं ऋचा में 'ओ षु वाश्रेव सुमतिर्जिगातु'—रंभाती हुई (वत्स की ओर) जैसी गाय दौड़ी जाती है, वैसे ही सद्बुद्धि हमारी ओर दौड़ती आये— यह उपमा पाई जाती है । कितनी सुंदर है यह उपमा । वृकताति, एवयावन्, रामी, निमेद्यमान इत्यादि बिल्कुल नये शब्दों का प्रयोग, नर ऋषि के समान इस गृत्समद ने भी किया है ।

४२. ऋग्वेद संहिता में जिस क्रम से सूक्त पाये जाते हैं उसी क्रम से देखा जाये तो अभी तक निम्नलिखित सूक्तों को भरद्वाज युग का मान कर विचार किया गया है :—

मण्डल	सूक्त क्रमांक	ऋषि	देवता	सूक्तसंख्या
१	१२३, १२४	कक्षीवत्	उषस्	२
"	१४५ से १५०	दीर्घतमस्	अग्नि	६
"	१५२, १५३	"	मित्रावरुणौ	२
"	१५४, १५६	"	विष्णु	२
"	१५७	"	अश्विनौ	१
"	१५९, ६०	"	द्यावापृथिवी	२=१५
२	३३	गृत्समद	रुद्र	१
"	३४	"	मरुत्	१=२

मण्डल	सूक्त क्रमांक	ऋषि	देवता	सूक्त संख्या
६	१ से ७	भरद्वाज (२)	अग्नि	७
"	१० से १४	"	"	५
"	१५	वीतहव्य	"	१
"	१७ से २२	भरद्वाज (२)	इंद्र	६
"	३३, ३४	शुनहोत्र	"	२
"	३५, ३६	नर	"	२
'	३७ से ४३	भरद्वाज (१)	"	७
"	४६	शंयु	"	१
"	५६	भरद्वाज (१)	पूषन्	१
"	५९, ६०	" (२)	इंद्राग्नी	२
"	६४	" (१)	उषस्	१
"	६७	"	मित्रावरुणौ	१
"	७०	"	द्यावापृथिवी	१
"	७१	"	सवितृ	१=३८
१०	९	सिंधुद्वीप	अप्	१
"	१०	विवस्वत्	यम यमी संवाद	१
"	१० से १३	"	अग्नि	३
"	१४	यम	यम	१
"	१५	शंख	पितृ	१=७
				६२

इस प्रकार प्रथम मंडल के १५, द्वितीय के २, षष्ठ के ३८ और दशम के ७=६२ ।

४३. ऋग्वेद के षष्ठ मंडल में सब मिलाकर ७५ सूक्त हैं । उनमें से उपरिनिर्दिष्ट ३८ सूक्त जाने पर शेष ३७ सूक्त बचते हैं । इनमें से परीक्षा निकष लगाने पर क्र० ८, ९, १६, २७ से ३०, ४४, ४५, ४७ से ५२, ६१ से ६३, ७३ और ७५ ऐसे बीस सूक्त भरद्वाज युग में न आने के कारण बाकी १७ सूक्तों का ही विचार अब इस प्रकरण में करना है । इन सत्रह सूक्तों में दो (६-३१, ३२) नर के भ्रातृपुत्र सुहोत्र रचित हैं । अन्य पंद्रह भरद्वाज तृतीय के हैं। इस युग का यह अंतिम सूक्तकार है। भरद्वाज द्वितीय के पश्चात् इन सूक्तों में प्रगति के स्थान थोड़ी परागति ही जान पड़ती है । नर तथा

शुनहोत्र के सूक्तों में यह इतनी चुभती नहीं है। परंतु इनके पश्चात् तो रचना नीरस ही होती गई। सुहोत्र के दो और तृतीय भरद्वाज के चार (६-२३ से २६) ऐसे छह इंद्रविषयक सूक्तों में एक भी नई बात पाई नहीं जाती। द्वितीय भरद्वाज ने जिस व्यक्ति विशेषों का निर्देश किया है उनमें पिठीनस् का नया नाम जोडा जा सकता है। यह नई बात है।

४४. इंद्र के सूक्त बहुत हो चुके थे। अतएव उसमें जोड़ने के लिये कुछ था ही नहीं, ऐसी भी बात नहीं। अन्य सूक्तों की भी यही दशा है। भरद्वाज तृतीय ने पूषन् पर चार सूक्त (६-५३ से ५५ तथा ५८) रचे। इनमें पूषन् के हाथ में 'आरा गोओपशा' चमड़े का चाबुक दिया गया है और गायों को संभाल कर वापस ले आने की प्रार्थना की है। यह भरद्वाज इस देव को 'स्वसुर्जारः' के साथ 'मातुर्दिधिषुः' भी कह डालता है। भाषा में प्रचलित, माँ बहन पर से जो अपशब्द होते हैं, उनमें सत्य का अंश नहीं होता। इस बात को मानते हुए भी इतना तो माना ही जा सकता है कि ये शब्द प्रयोग ग्राम्य तथा अवनति के द्योतक हैं। पूषन् का रथ न घोड़े खींचते हैं और न बैल। इसे खींचते हैं बकरे। सूर्य का दूत बनकर यह सूर्या के पास जाता है। अपने उषः सूक्त में इसके पूर्व के पुराने भरद्वाज का—प्रत्न भरद्वाज का उल्लेख तृतीय भरद्वाज ने किया है। आगे के मरुत्-सूक्त में 'मेरी मनीषाएं मेघों से होड लगाती हैं' यह विधान व्यर्थ की आत्मप्रौढी दिखाने वाला है।

४५. तृतीय भरद्वाज की विशेष बात यही है कि द्वितीय भरद्वाज का आदर्श देख कर इसने कई नये देवता द्वंद्व निर्माण किये। प्राचीन देवतायुग्म दो ही थे—अश्विनौ तथा मित्रावरुणौ। द्वितीय भरद्वाज ने इंद्राग्नी का देवता-युगल निर्माण किया जिसमें कहीं दोनों मिलकर एक देवता मानी है तो कहीं केवल एक वाक्य में इंद्र और दूसरे वाक्य में अग्नि इस प्रकार केवल दो वाक्य जोड़कर ही वर्णन किया है। इसी प्रकार के इंद्र के साथ जुड़े चार देवता द्वंद्व तृतीय भरद्वाज ने निर्माण किये। वे हैं इंद्रापूषणौ, इंद्रावरुणौ, इंद्राविष्णू और इंद्रासोमौ। इन चारों पर तृतीय भरद्वाज का एक एक सूक्त है। इंद्रापूषणौ पर क्र० ५७ वां सूक्त है। प्रथम भरद्वाज ने पूषन् को 'करंभात्' कहा है। उसी के अनुसार यह भी कहता है कि 'सोममन्य उपासदत् करंभमन्य इच्छति'। एक सोम प्राप्त करता है, दूसरा करंभ की इच्छा करता है। करंभ कहते हैं—घी मिले हुए जौ के आटे को। यह पूषन् का प्रिय भक्ष्य है। पूषन् का रथ बकरे खींचते हैं और इंद्र का घोड़े। इंद्रावरुणौ की स्तुति क्र० ६८ पर है।

ऐसे देवताओं में सामान्य गुण प्रायः न होने से इनका अलग २ वर्णन करके केवल जोड दिया जाता है। इस सूक्त में भी 'वज्रेणान्यः शवसा हंति वृत्रं सिषक्त्यन्यो वृजनेषु विप्रः'—एक ताकत से वज्र मार वृत्र के प्राण हरण करता है तो दूसरा बुद्धिमान् संकटों में साह्य करता है। दोनों में कुछ साम्य नहीं। केवल दो वाक्य जोड़ दिये गये हैं। 'ग्नाश्च यन्नरश्च' स्त्रियां तथा पुरुष दोनों मिलकर स्तुति करते हैं, इस भरद्वाज तृतीय के वर्णन पर से यज्ञ कर्म में स्त्रियों को भाग इसी समय से दिया हुआ जान पड़ता है। इसकी बनाई हुई तीसरी जोड़ी है 'इंद्राविष्णू' की। यह सूक्त है—(६-६९) क्रमांक का। इसमें सूक्तकार इतना ही कह सका कि 'हम तुमको साथ साथ बुलाते हैं। तुम दोनों साथ आकर हम जो देते हैं उसका स्वीकार करो'। अंत में केवल इतना ही कह कर छुट्टी ली कि 'उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः'—तुम दोनों साथ ही विजय मिलाते हो कभी हारते नहीं। दोनों में से अकेला भी कोई पराजित नहीं होता। यही है संयुक्त स्तुति। चौथी इंद्र-संबद्ध युग्म देवता है—इंद्रासोमौ। इसका सूक्त है ऋ० ७२ का। इस सूक्त में तो सचमुच एक के वस्त्र दूसरे को पहनाये गये हैं। इंद्र के सारे ही पराक्रम सोमकृत कहे गये हैं। पराक्रम करने के लिये इन्द्र को सोमपान करना पड़ता है। केवल इसी प्रमाण पर कहा जा सकता है कि उसके सारे पराक्रम सोम के किये हुए हैं।

४६. तृतीय भरद्वाज वर्णित जो आखरी जोड़ी है वह तो ऐसे दो देवों की है जिनमें सख्य के लिये आवश्यक जो समान शील लगता है, वह भी नहीं है। सोम है सौम्य और रुद्र है रौद्र। पर परस्परविरुद्ध इन दो गुणों से युक्त देवों का युग्म बनाकर इस सूक्तकार ने 'सोमारुद्रौ' की कल्पना की और उस पर चार ऋचाओं का एक सूक्त रचा (६–७४)। इसमें जो प्रार्थना की है वह किसी भी देव से की जा सकती है। कल्याण हो, कीर्ति का लाभ हो, अनारोग्य दूर हो और धन की प्राप्ति हो, ये चार प्रार्थनाएं हैं जो सोमारुद्रौ को की गई हैं। अंतिम ऋचा में कवि कहता है-'प्र नो मुञ्चतं वरुणस्य पाशात्'। प्रत्यक्ष वरुण पाश में बंधे हुए शुनःशेप की प्रार्थना काल्पनिक वरुण पाश से बंधा यह तृतीय भरद्वाज करता है। घटना आकस्मिक होते हुए भी परंपरा-दर्शक है।

४७. भरद्वाज युग यहाँ समाप्त होता है। इस युग के ७९ और विश्वामित्र युग के ८, ऐसे केवल ८७ सूक्तों का अभी तक विचार प्रदर्शन हुआ। अभी विचार के लिये ९४१ नौ सौ इकतालीस सूक्त हैं। उन पर

विचार तो इसी पद्धति से वर्षों तक किया है। परंतु उस पद्धति का दर्शन कराते समय जिस रीति का अवलंब किया है, उसी रीति से विचार करना न आवश्यक है और न शक्य है। आरंभ-आरंभ में जिस विस्तार से विचार किया है और जितने प्रमाण दिये हैं, उसी विस्तार से उतने प्रमाण देना असंभव है। क्योंकि इस दर्शन ग्रंथ की लंबाई की कुछ मर्यादा तो डालनी ही पड़ेगी। इसलिये जितना दिग्दर्शन आवश्यक ज्ञात हो उतना ही देकर काम चलाना पड़ेगा। अतएव अगले कण्व युग का प्रकरण आरंभ करने के पूर्व थोड़ा सा उपसंहार कर यह प्रकरण समाप्त किया जावेगा।

४८. इस युग में सूक्त की ऋक्संख्या में वृद्धि हुई। अर्थात् सूक्तकारों की कल्पना एक ही विषय पर अधिक स्थिर होने लगी। नियत छंदों में रचना होते २, सहज ही नये छंदों की निर्मिति हुई और जैसे ५६ या ६० अक्षरों के छंद हुए, उसी प्रकार से चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री से कम अक्षरों की द्विपदा विराट् भी बन गई। बृहती तथा सतोबृहती के मिश्रण से प्रगाथ नामक नया छंद निर्माण हुआ। अग्नि, सवितृ, इंद्र, वरुण, सोम, अश्विनौ तथा मित्रावरुणौ और उषस् इन विश्वामित्र युग की देवताओं पर जैसे सूक्त रचे गये, उसी प्रकार इस युग के नवनिर्मित–विष्णु, द्यावापृथिवी, पूषन्, रुद्र, मरुत् ये अकेले अकेले देव तथा इंद्राग्नी, इन्द्रापूषणौ, इन्द्रावरुणौ, इन्द्राविष्णू, इन्द्रासोमौ और सोमारुद्रौ ये देवयुग्म-देवों पर भी इस भरद्वाज युग में सूक्तरचना हुई। स्त्रियाँ और पुरुष मिलकर यज्ञकर्म में भागी होने लगे। ऐतिहासिक तथा काल्पनिक दैवी बातें एक दूसरे में मिलने लगीं और कल्पना की वृद्धि के साथ ही सूक्तकार वास्तविकता से दूर जाने लगे। सुनी हुई दंतकथाओं का भी समावेश सूक्तों में होने लगा। नये नये शब्द बनाये जाने लगे और प्रयुक्त होने लगे। भाषा अलंकारों से भूषित करने की प्रवृत्ति बढ़ी और अनुप्रास तथा उपमा का पर्याप्त प्रयोग होने लगा। संवाद सूक्तों की जड़ डाली गई। मृत्यु, यम, पितर इत्यादि कल्पनाएं प्रसृत होने के साथ ही अमृतत्व की कल्पना का भी अरुणोदय झाँकने लगा।

४९. इन्हीं का विकास अगले कण्व युग में कैसा हुआ इसका दर्शन अगले प्रकरण में कराया जावेगा।

पञ्चम प्रकरण

कण्व युग

१. भरद्वाज युग में हम देख चुके हैं कि विदथिन् भरद्वाज ने सम्राट् भरत का उत्तराधिकारी बनना इस शर्त पर माना कि उसके वंशज चाहें तो ब्राह्मणों का और चाहें तो क्षत्रियों का कर्म करें। विदथिन् भरद्वाज भरत के दीर्घायुष्य के कारण राजा न हुआ। भरत के पश्चात् भरद्वाज पुत्र वितथ राजा हुआ। वितथ के पश्चात् चौथी पीढ़ी में राजा हस्तिन् हुआ। इसने हाथी को पालतू बनाकर हाथियों को सेना का एक अंग बनाया। हस्तिनापुर का नगर इसी ने बसाया। हस्तिन् के तीन पुत्र थे—अजमीढ, द्विमीढ और पुरुमीढ। अजमीढ के समय इस पौरव राज्य के तीन भाइयों के कारण तीन विभाग हुए। इन्हीं का चौथा भाई था घोर। इसने राजा बनना पसंद न कर ब्राह्मण धर्म को स्वीकार किया। इसी घोर के केशिनी नामक स्त्री को अजमीढ से जो पुत्र हुआ उसका नाम कण्व था। इसी के समय से कण्व युग का आरंभ होता है। इसके सूक्त ऋग्वेद प्रथम मंडल में क्रमांक ३६ से ४३ तक दिये हुए हैं। नवम पवमान मंडल में भी ९४ क्र० का सूक्त इसी का है। इन्हीं सूक्तों से हम प्रारंभ करें।

२. प्रथम मंडल के कण्व के आठ सूक्तों में प्रथम सूक्त अग्नि पर है। सूक्त शब्द 'सु+उक्त' इस अर्थ में वचस् का विशेषण इसी ने प्रयुक्त किया। इस सूक्त के विरोध में दुरुक्त शब्द भी इसी ने प्रथम प्रयुक्त किया। 'सूक्तैरभि गृणीमसि' कह कर सूक्त का ऋक्समुच्चयवाचक अर्थ भी इसी के कारण निश्चित हुआ। इस सूक्त में तथा अन्य कुछ सूक्तों में यह मेध्यातिथि कण्व कहकर अपना निर्देश करता है जिस पर से अनुमान किया जा सकता है कि इसके घर बुद्धिमान् लोग घूमते-घूमते आ पहुंचते थे। मित्र, वरुण, अर्यमन् तथा मनु ने अग्नि का आधान किया था, ऐसा यह कहता है। बृहद्भानु तथा कघप्रिय शब्दों से ज्ञात होता है कि इसे शुनःशेप के सूक्त परिचित थे। पहला विशेषण यह अग्नि को ही प्रदान करता है। परन्तु कघप्रिय शुनःशेप के समान उषस् के विषय में न देकर मरुतों के विषय में प्रयुक्त करता है। ३७ से ३९ तक के तीन सूक्तों में मरुतों का वर्णन है। इसके रथवर्णनानुसार ज्ञात होता है कि उसके समय

रथ को तीन घोड़े जोड़े जाते थे। गृत्समद के वर्णन से पता चलता है कि उसके पास पृषदश्वों की अर्थात् चितकबरे घोड़ों की जोड़ी थी। पर इन दोनों के बीच जो घोड़ा जोड़ते थे वह अकेला 'प्रष्टि' रोहित अर्थात् लाल रंग का रहता। इस मरुद्गण के फटकारे हुए चाबुकों की आवाज इसे यही सुन पड़ता था। इन्हीं सूक्तों में इस खिलाडी देवसमूह के लिये 'ब्रह्मणस्पति' शब्द का प्रयोग किया गया और उसी शब्द पर से 'उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते' यह ४० वाँ सूक्त ब्रह्मणस्पति देव की कल्पना कर बना डाला। 'ब्रह्मणस्पति' देव का कर्त्ता कण्व है। यह स्वयं अपने को इस देव का 'देवयत्' देवत्व को पहुंचाने वाला कहता है। अग्नि का प्रसिद्ध विशेषण 'सहसस्पुत्र' है। किन्तु कण्व ब्रह्मणस्पति को ही 'सहसस्पुत्र' कहता है। मन्त्राधिपति इस देव के साथ कण्व सूनृता अर्थात् सत्य और प्रिय वाणी का भी आवाहन करता है। बड़ी दृढ़ता से यह कहता है कि मंत्रों को कहलाने वाला ब्रह्मणस्पति ही है। अग्निगुणों के से इन्द्रगुणों को भी यह ब्रह्मणस्पति के ही गुण बतलाता है। इसके मत से 'वज्रिन्' भी ब्रह्मणस्पति है। इस पर से यह समझ सकता है कि सभी देव अपना विशिष्ट स्वरूप छोड़ रहे थे और सभी का साधारणीकरण शनैः शनैः हो रहा था। इसके बाद का सूक्त 'वरुणमित्रार्यमन्' इन तीन देवों पर रचा गया है। देवता द्वय का स्थान देवतात्रय को मिला। इसी में आदित्यविषयक ऋचाएं मिल गईं और 'विश्वेदेव' कल्पना का मार्ग खुल गया। 'न दुरुक्ताय स्पृहयेत्'—बुरा बोलने की इच्छा नहीं करनी चाहिये, ऐसा दुरुक्त शब्द युक्त वाक्य इसी सूक्त में है। बाद में ४२ वाँ सूक्त रचा गया है 'पूषन्' देवता पर। इस देवता के निर्माण कर्त्ता भरद्वाज का 'आदिदेशति' प्रयोग इसमें भी है। इसकी प्रार्थना में द्वयाविन् ओर अघशंस् लोगों को पैरों तले रोंदने को कहा है। कण्व कहता है कि यह देव पितरों को भी प्रेरणा देता है। इस सूक्त की तीन ऋचाओं के अंत में 'पूषन्निह क्रतुं विदः'—हे पूषन् यहां किया हुआ हमारा काम समझ लो-यही वाक्य है। अंतिम सूक्त की देवता है—रुद्र। यहां रुद्र को 'जलाषभेषज' कहा गया है। 'जलाष' शब्द का अर्थ दो प्रकारों से किया जाता है—सुख देने वाला या जल सेवन करने वाला। दूसरा अर्थ लिया जाय तो सिंधुद्वीप की जलचिकित्सा की स्मृति जागृत होती है। 'शंयु' ऋषि का यहां स्पष्ट निर्देश है। पुरुष, स्त्रियां, गायें, घोड़े, बकरे इत्यादि सारे द्विपदचतुष्पदों का कल्याण कण्व चाहता है। ऋत का परं धाम अमृत यही समझा गया है।

३. नवम मंडल का ९४ क० का सूक्त इसी कण्व ऋषि का है। इस

सूक्त की गणना उत्तम सूक्तों में हो सकती है। केवल धारारूप में बहने वाले सोम रस का पुनः पुनरुक्त वर्णन इसमें नहीं। पांच ऋचाओं के इस छोटे से सूक्त में पाँच से भी अधिक उपमाएं मिलती हैं। 'ऋतस्य धाम पर-ममृतम्' ही यहां अमृतस्य धाम कहा गया है। इस सूक्त में एक सुन्दर सुश्लिष्ट उपमा मिलती है। ऋषि कहता है–'पिन्वाना ऋतायन्ती' अर्थात् पुष्ट और सीधे रास्ते से जाने वाली गायों के समान हमारी 'पिन्वाना ऋतायन्ती' अर्थात् समृद्ध और सत्य से चलने वाली हमारी बुद्धि सोम की ओर दौड़ती है। स्वयं को नव्य कवि बतलाकर कण्व कहता है कि शूर पुरुष अपना रथ चाहे जिधर को जैसे फेरता है, वैसा ही यह नव्य कवि अपने काव्यों को सर्व स्थानों में प्रसारित करता है। चौथी ऋचा में 'श्री' का वर्णित माहात्म्य देखिये–लक्ष्मी मिलाने के लिये जन्म लेने वाला पुरुष उसे प्राप्त करने के लिये ही घर से बाहर निकलता है। जो उसकी स्तुति करता है उसे वह धन और अन्न देता है। इस प्रकार लक्ष्मी का आश्रय लेने वाले सभी लोक अमृतत्व को पहुंचते हैं। यह ऋचा बड़ी लोकप्रिय हुई। आज भी पुण्याहवाचनविधि के समय जब यजमान की आरती उतारी जाती है और उसे वस्त्र इत्यादि उपायन दिये जाते हैं तब इसी मंत्र का उपयोग करते हैं। नीलकण्ठ नाम के टीकाकार ने 'कण्व' शब्द 'सुखद' अर्थ में लिया है। उसके अनुसार यह घौर कण्व का काव्य सचमुच आनंददायक है।

४. कण्व का पिता घोर ऋषि अपने को आंगिरस कहलाता था क्यों कि उसे दीक्षा देने वाला आंगिरस् कुल का था। इसी कुल का एक अयास्य आंगिरस कण्व घौर का समकालीन था। इसके पांच सूक्त मिलते हैं। तीन हैं नवम मंडल में ४४ से ४६ तक के और दो हैं दसवें मंडल में क्र० ६७ व ६८ के। सौम्य सूक्तों में विशेष बात यह है कि इसने पुरानी भग देवता के साथ 'वायु' देवता को भी हविर्भाग दिया है। 'भग' तो पुराना ही देव था। पर 'वायु' को अभी तक देव न माना गया था। देवत्व के लिये इसी ने इसे चुना। इसी बात का निर्देश करने के लिये अयास्य अपनी आलंकारिक भाषा में कहता है कि पिता अपनी पुत्री को अलंकृत कर जैसे किसी वर को समर्पित करता है उसी प्रकार मैं इस आहुति को सजाकर वायुदेव को अर्पित करता हूं। वायु तो प्रकृति की एक प्रत्यक्ष शक्ति थी, जिसे इसने ही प्रथम देवत्व दिया किंतु अप्रत्यक्ष ऐसी बृहस्पति नामक एक देवता की कल्पना करके उस पर भी दो सूक्त रचे। कण्व ने ब्रह्मणस्पति देवता की कल्पना कर उसमें अग्नि तथा इंद्र दोनों के गुणों का मिश्रण किया पर वह उस देवता की कुछ

विशेषता न बतला सका । अयास्य ने देवगुरु बृहस्पति की दंतकथा का आधार लिया और इसे आंगिरस बृहस्पति कहकर पणियों के हाथ से गायें छुड़ाने का इंद्र का पराक्रम बृहस्पति को अर्पण किया । इसकी कल्पित कथा निम्न प्रकार की है । 'पणि लोगों ने गायों को चुराया और 'वल' नामक असुर के राज्य में प्रकाशहीन गुहा में बंद कर रखा । इंद्र ने मरुतों के साथ बृहस्पति को उन्हें छुड़ाने के लिए भेजा । बृहस्पति वहां गया और सूर्य की सहायता से अधकार को दूर कर तथा वल और पणि लोगों को परास्त कर गायें मुक्त कीं। कण्व ने केवल 'वज्रिन्' विशेषण ही ब्रह्मणस्पति को लगाया पर अयास्य ने इंद्र का सारा विक्रम ही बृहस्पति को समर्पित किया। इसी कथा का आधार अयास्य के सूक्तों को है । बृहस्पति को अयास्य ने 'भीममृग' की उपमा तो दी ही है पर उससे सिंहनाद भी कराया है । हवा के झोंके से जलाशय के पृष्ठ पर का शैवाल का आवरण जैसे फट से दूर हट जाता है, उसी प्रकार सूर्य का प्रकाश होते ही अंतरिक्ष का अंधेरा एकदम दूर हो गया, यह उपमा बहुत ही मनोहर है । दोनों सूक्तों में प्राय: प्रत्येक ऋचा में बृहस्पति शब्द का प्रयोग कर ६७ वें सूक्त की ७ वीं ऋचा में धीरे से बृहस्पति के स्थान में ब्रह्मणस्पति को रख दिया और दोनों का एकत्व सुझाया । अपना वर्णन काल्पनिक न समझा जाय इसलिये यह अयास्य प्रार्थना करता है कि 'सत्यामा-शिषं कृणुत'—मेरी कल्पनाएं सच करो । कल्पनाएं सच हो उठीं और ब्रह्मणस्पति तथा बृहस्पति दोनों एकरूप बन गये ।

५. अयास्य ऋषि ने जिस वायु को देवत्व प्रदान किया उस पर मंत्र बनाया मेधातिथि नाम के कण्व पुत्र ने । मेधातिथि के नाम से ऋग्वेद में सोलह सूक्त दिये हुए हैं-प्रथम मंडल में १२ से २३ तक बारह, अष्टम मंडल में २, ३२, ३३ के तीन और नवम मंडल में दूसरा एक । परन्तु इन सोलह सूक्तों का अध्ययन करने पर कहना पड़ता है कि ये सारे एक ही मेधातिथि के नहीं हैं । अर्थात् 'मेधातिथि' नाम के एक से अधिक सूक्तकार हुए होंगे । ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं । राजा लोगों के नाम जितनी दक्षता से संगृहीत किये जाते हैं, उतनी दक्षता ऋषियों के नामों का संग्रह करने में न बरती गई होगी । राजा लोगों के काम बहुविध होने से बहुत से राजा अपने-अपने कामों के कारण विख्यात हुए । परंतु ऋषियों के काम केवल दो—सूक्त रचना या यज्ञ योजना । इसमें एकविधता ही अधिक है । इसके अतिरिक्त कुल या गोत्र के नाम से ही ऋषिवर्ग अधिक प्रसिद्ध हुआ । व्यक्तिनामों को महत्व कम मिला । इससें भी एक-एक नाम के एक से अधिक सूक्तकार होने की संभावना पर्याप्त है ।

सिवाय राजा लोगों के अधीन उनका इतिहास जमाकर रखने वाले लोग भी रहते थे। ऋषियों के पास न ऐसे लोग थे और न इन्होंने नाम की परवाह की। इस कारण ऋषियों के नामों में गड़बड़ी बहुत पायी जाती है। केवल कई पीढ़ियों के बाद सूक्तों के साथ नाम अंकित हुआ, इस आधार पर वह ऋषि किस कालखंड में विद्यमान था, यह निश्चय नहीं हो सकता। अतएव इस बहिःप्रमाण की अपेक्षा अंतःप्रमाण को ही प्राधान्य दिया गया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि घोर कण्व के पुत्र–मेधातिथि के सूक्त केवल प्रथम मंडलस्थ ही हैं और उनमें भी क्र० १३, १५ तथा २० छोड़ कर शेष नौ ही हैं। इन्हीं का विचार अब करना है।

६. ऋग्वेद संहिता में दिया हुआ सूक्तक्रम कालक्रमानुसार नहीं है। साधारणतया संहिता में एक ही ऋषि के सूक्त देते समय प्रथम अग्नि के, फिर इंद्र के और उसके पश्चात् अन्य देवताओं के सूक्त दिये हुए रहते हैं। पर यह आवश्यक नहीं कि इनका रचनाक्रम यही हो। आज भी जो कविता संग्रह होते हैं उनमें भी रचनाक्रम सदा पाला नहीं जाता। मेधातिथि काण्व के सूक्तों पर से ज्ञात होता है कि मंत्ररचना कैसी होती होगी। इस समय सोमयाग को व्यवस्थित रूप दिया जा रहा था। इसमें आहुतियों का क्रम भी निश्चित हो रहा था। कण्व कुल के ऋषियों ने इस कार्य में बहुत सहायता दी। मेधातिथि कण्व का २३ क्र० पर दिया हुआ सूक्त इस बात को स्पष्ट करता है। यह विचारणीय विषय है कि इसे सूक्त संज्ञा ही क्यों दी गई। अयास्य ऋषि ने वायुदेव की कल्पना की थी। पर उस पर कोई मंत्र न था। अतएव वायुदेव को सोमपान करने के लिये आवाहन मंत्र कण्व पुत्र मेधातिथि ऋषि ने बनाया। अयास्य ने जो सोम की आहुति परिष्कृत कर रखी थी उसी को ध्यान में रखकर मेधातिथि कहता है–'तीव्राः सोमास आगहि आशीर्वन्तः सुता इमे। वायो तान् प्रस्थितान् पिब॥' हे वायुदेव, कल्पनानुसार किये हुए तीक्ष्ण सोम रस ये हैं। यहां आओ और ठीक तरह से रखे हुए इनका पान करो। सोमयज्ञ में वायु के साथ इंद्र के लिये भी सोमग्रह रखा जाता है। अतएव इंद्रवायू इस देवता की कल्पना कर उस द्वंद्व पर दो ऋचाएं रचीं। आगे का एक-एक तृच्–तीन ऋचाओं का समूह, मित्रावरुण, मरुत्वान्, इंद्र, मरुत् और पूषन् के विषय में बनाया गया। फिर आठ ऋचाएं जल देवता पर तैयार कीं और इन्हीं में पूर्व में कही हुई सिंधुद्वीप की चार ऋचाएं समाविष्ट कर दीं। अंत में अग्नि पर ऋचा

बनाकर सूक्त समाप्ति की । भिन्न २ ऋक्समूहों को बाँध कर बनाया हुआ यह सूक्त है । २२ वां सूक्त भी ऐसा ही है । इसकी २१ ऋचाओं में ४ हैं अश्विनौ पर, ४ हैं सवितृदेव पर और दो हैं अग्नि पर । दस ऋचाएं रचने के पश्चात् संभवतः मेधातिथि को स्त्रियों की याद आई सी दिखती है । भरद्वाज युग के अन्त में स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर यज्ञ में भाग लेने लगे थे । कण्व ऋषि ने भी अपनी प्रार्थना में नारियों को समाविष्ट किया । एक पैर आगे रखकर मेधातिथि ने अग्नि से विनती की कि 'अग्ने पत्नीरिहावह देवानाम्' —'हे अग्निदेव देवस्त्रियों को भी यहां ले आओ ।' आगे की एक ऋचा में 'नृपत्नी'–पुरुषों का पालन करने वाली और 'अच्छिन्नपत्रा'–जिनके वाहन ठीक हैं, ऐसी देवियों को–देव स्त्रियों को स्वयं ही आवाहन किया । अगली ही ऋचा में इंद्र, वरुण तथा अग्नि की पत्नियों को सोमरस पान करने के लिये बुलाया । फिर दो ऋचाओं से 'द्यावापृथिवी' की तथा एक ऋचा से पृथिवी की प्रार्थना की और अंतिम छह ऋचाओं में विष्णुस्तव किया । ऐसी भिन्न २ ऋचाओं की गठड़ी के रूप में यह सूक्त है । अठारहवां सूक्त भी इसी प्रकार का है । इसमें ब्रह्मणस्पति, इंद्र और सोम के साथ 'सदसस्पति' अर्थात् यज्ञ मंडप की रक्षा करने वाली नई ही देवता की कल्पना कर उस पर भी चार ऋचाएं हैं । अंतिम ऋचा में इसी सदसस्पति को नराशंस कहकर भ्रम भी उत्पन्न किया है कि यह कोई नई देवता तो नहीं है ।

७. ऐसी अलग २ तथा विशृंखल ऋचाओं की रचना और उनके समूह रूप सूक्त बनाते समय मेधातिथि को यह कल्पना सूझी होगी कि इन देवों को मिलाकर 'विश्वेदेव'–सब देव, जो इष्ट हों '–इसी नाम से एक नई देवता निर्माण क्यों न की जाय । यही कल्पना कर उसने चौदहवां सूक्त रचा सा दिखता है । देवस्त्रियों का आवाहन करने की ही रीति का यहां अनुसरण किया । प्रथम अग्नि को सारे देवों के साथ बुलाया, फिर उन देवों को सपत्नीक कराया और फिर उन्हें स्वतंत्र रूप से आने को कहा । 'विश्वेदेव' के नाम में आदित्यों का भी समावेश सहज में कर डाला । इस प्रकार 'मेधातिथि' ने वायु, इंद्रवायू, देवस्त्रियाँ, पृथिवी, सदसस्पति और आदित्य, ऐसे नये-नये देवों की कल्पना की और सबका समावेश करने वाली 'विश्वेदेव' की कल्पना सर्वोपरि रख दी । इसका प्रयुक्त किया हुआ 'वषट्कृति' शब्द इस बात का द्योतक है कि याजकवर्ग ने 'स्वाहा' के स्थान में 'वषट्' का प्रयोग आरंभ कर दिया था । अग्नि, इंद्र, इंद्रावरुण, और इंद्राग्नी इन पुरानी

देवताओं पर भी मेधातिथि का एक-एक स्वतंत्र सूक्त है। यह अग्नि को 'अमीवचातन'–रोगनाशक कहता है। 'ध्यानपूर्वक तुम्हारी स्तुति करें' ऐसी इंद्र से विनती करता है। इन्द्रावरुणौ की प्रार्थना में इच्छा प्रदर्शित करता है कि यज्ञ, तप और दान से हम तुम दोनों के भक्त 'युवाकु' बनें। साथ ही 'अप्रजाः सन्तु अत्रिणः' 'हमारा ग्रास करने वाले संतान रहित हों–ऐसा भी जल भुनकर कह डालता है। इसके पूर्व के काल में इंद्र और मरुतों का साथ था। इसने अब 'मरुद्भिरग्न आगहि' कहकर मरुतों को अग्नि का भी साथी बना डाला।

८. मेधातिथि के सूक्तों का इस प्रकार विचार करने पर कालक्रम के अनुसार विचारणीय ऋषि है 'प्रगाथ'। यह अपने को 'काण्व' केवल न कहते हुए 'घौर काण्व' कहता। है यह था मेधातिथि का समवयस्क, पर नाते से 'घोर' का पुत्र होने से था उसका चाचा। घौर कण्व का अर्थात् मेधातिथि के पिताका यह था छोटा भाई। एक बार अपनी भ्रातृजाया 'घौर कण्व' की स्त्री से इसने भूल से अनुचित वर्तन किया। किंतु उसके पश्चात् पश्चात्तापदग्ध हो जन्मभर उन दोनों को माता पिता के समान मानता रहा और इसी कारण से अपने को 'प्रगाथ घौर काण्व' कहता रहा। अष्टम मंडल में ऋ० १०, ४८ और ६२ क्रमांकों पर इस 'प्रगाथ घौर काण्व' के सूक्त विद्यमान हैं। पहिले १० वें का विषय है अश्विनौ, दूसरे का सोम, और तीसरे का इंद्र। अश्विनौ के सूक्त में प्रगाथ कहता है–'असूरे संति सूरयः'। अर्थात् स्तुति करने वाले जहां नहीं हैं ऐसे स्थान में भी इस देव की स्तुति करने वाले होते ही हैं। अनुमान किया जाता है कि अन्य देशों में जहां वैदिक देवताएं नहीं मानी जाती थीं, वहां भी हमारे पूर्व सूरि पहुंचते थे। सोम सूक्त पर से लगता है कि इस ऋषि ने प्रत्यक्ष सोमपान का अनुभव किया था। तभी तो वह कहता है कि 'मा नो निद्रा ईषत मोत जल्पिः'–नींद या बकबक मुझ पर सवार न हो। क्या यह प्रार्थना सोम रस से एक प्रकार का नशा चढ़ने की सूचक नहीं है ? मेधातिथि का सा यह भी अपने को 'स्वाध्यः'–भली भांति विचार करने वाला बतलाता है। इसी के सूक्त में 'ऋ' धातु का अर्लति रूप मिलता है। इंद्र सूक्त में यह कहता है 'सत्यामिद्वा उ तं वयमिंद्रं स्तवाम नानृतम्'–हम इंद्र की स्तुति जो खरी हो, वही करते हैं, खोटी नहीं करते। 'भद्रा इंद्रस्य रातयः 'इंद्र के द्वारा प्राप्त सुख कल्याणकर ही होते हैं, यह ध्रुवपद इस सूक्त में प्रत्येक ऋचा के साथ जोड़ा गया है।

९. प्रगाथ घौर काण्व के भर्ग, कलि तथा हर्यत ये तीन पुत्र थे। इनमें से भर्ग प्रागाथ के एक अग्नि का और एक इंद्र का ऐसे दो सूक्त अष्टम मंडल में ६०, ६१ क्र० के हैं। कलि प्रागाथ का ६६ क्र० का इंद्रसूक्त है तथा उसी मंडल में हर्यत प्रागाथ का अग्निसूक्त है ७२ क्रमांक पर। ये चारों सूक्त साधारण ही हैं। इनमें विशेषता कुछ भी नहीं। भर्ग 'सहसः सूनुः' के साथ ही अग्नि को 'सहसो यहुः' भी कहता है। 'ऊर्जो नपात्' नाम भी इसने अग्नि को प्रदान किया है। 'पाहि नो अग्न एकया पाह्युत द्वितीयया। पाहि तिसृभिर्गीभिरुर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो' इस प्रकार सा नीरस शुष्क है यह स्तोत्र। अद्रि याने पहाड़ को फोड़ने का इंद्रगुण यहां अग्नि पर आरोपित किया गया है। इंद्र का सूक्त भी ऐसा ही निर्विशेष है। 'यद्यद्यामि तदा भर', "यत इंद्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि'–जो जो मांगूं वह दे, जिसका डर लगता हो उससे अभय दे। इसी प्रकार की बिल्कुल सामान्य याचनाएँ। इसने नये शब्दों का प्रयोग पर्याप्त रीति से किया है। पूर्व में 'यहु' शब्द आया ही है। इंद्र के विषय में प्रभंगी, ऋणकाति, अक्षकृत्वन्, अप्रामिसत्य इत्यादि शब्द अभ्यसनीय हैं। 'कलि' का इंद्रसूक्त भी वैसा ही है। इसकी ४ थी ऋचा में धन गाड़ रखने का निर्देश है। ६वीं ऋचा में प्रयुक्त 'ब्रह्मकृत्' शब्द 'ऋषयो मंत्रद्रष्टारः न मंत्रकर्तारः' कहने वालों का स्पष्ट शब्द में निषेध करता है। हर्यत प्रागाथ का ७२ क्र० का अग्निसूक्त भी सामान्य ही है। इसकी सातवीं ऋचा में सात ऋत्विजों का उल्लेख है। टीकाकारों ने इन सातों में उद्गाता का नाम नहीं दिया है। इस पर से तब तक सामगान न होने की कल्पना को पुष्टि मिलती है। अग्नि को 'त्रिधातु' इसी ने ८ वीं ऋचा में कहा है। यह शब्द त्रिधातु छर्दि तथा त्रिधातु धेनु की याद दिलाता है। सात ऋत्विज, तीन अग्नि, तथा १० से १२ तक की ऋचाओं में प्रयुक्त 'अवत' शब्द यज्ञविधि का विकास सुझाता है। अवत नाम है उस बड़े पात्र का जिसमें प्रवर्ग्य विधि के लिये दूध तपाया जाता है।

१०. सोमयाग का जब इस प्रकार विकास हो रहा था, तभी भृगुवंश का सोमाहुति नाम का यथार्थनामा एक ऋषि इसी युग में हुआ। इसके अग्निविषयक चार सूक्त दूसरे मंडल में क्र० ४ से ७ तक दिये हुए हैं। पूर्व में कहा ही गया है कि अग्निदेव को रथस्थ किया विवस्वत् ऋषि ने। उसी आधार पर सोमाहुति अग्नि को 'जीराश्व'–वेगवान् घोड़ों से युक्त

कहता है। अग्नि अपनी ज्वालाओं को चारों ओर हिलाती है। घोड़ा भी अपनी दुम के बालों को इधर उधर घुमाता है। यह सादृश्य देखकर अग्नि को अश्व की आकर्षक उपमा सोमाहुति ने दी है। द्वितीय भरद्वाज ने अग्नि को कृष्णाध्वा कहा। सोमाहुति भी उसे यही विशेषण देता है। यह गृत्समद का भी निर्देश करता है। इस पर से स्पष्ट समझता है कि सोमाहुति इन दोनों का परवर्ती है। हर्यत ऋषि के समान यह भी प्रथम सात ही ऋत्विजों का उल्लेख करता है और 'अष्टमं पोता' कहता है। इस आधार पर निःशंकतया कहा जा सकता है कि हर्यत के पश्चात् किंतु सोमाहुति के पूर्व 'पोता' नाम का आठवां ऋत्विज यागकर्म में लिया गया। 'यवो वृष्टी न मोदते' की उपमा इसका सृष्टि निरीक्षण सुझाती है तो 'दूतो जन्येव मित्र्यः' यह उसके तत्कालीन राजकारण शास्त्र का परिचय कराती है। अंगिरस्, शंयु, अथर्वन् इत्यादि नाम से जैसा ऋषियों के कारण कहा गया वैसे ही भरत के कारण अग्नि को भारत भी कहने लगे। भरद्वाज द्वितीय के 'द्रवन्न' शब्द का प्रयोग सोमाहुति भी अग्नि के विषय में करता है। किंतु इसके सूक्त का अष्टापदी शब्द अधिक महत्व का है। अष्टापदी का अर्थ है गर्भिणी गाय। चार पैर स्वयं के तथा चार गर्भस्थ जीव के मिलकर आठ होते हैं और इसलिये इसे अष्टापदी कहता है। सायण ने दिया हुआ यह अर्थ इसी शब्द के साथ प्रयुक्त वशा या उक्षन् शब्दों पर से ठीक जान पड़ता है। वशा कहते हैं वंध्या गाय को और उक्षन् है सेचनसमर्थ बैल।

११. मेधातिथि काण्व ने 'विश्वेदेव' की नई कल्पना करने के पश्चात् इस देवता पर बहुत से सूक्त रचे गये। कुछ सूक्तकारों ने केवल विश्वेदेवों पर ही सूक्तरचना की। एक दृष्टि से यह आसान भी था। जिस देव के विषय में इच्छा हुई उस पर बन सकें इतनी ऋचाएं लिखीं और यदि कुछ आगे न सूझा तो उतनी ही ऋचाओं का एक सूक्त बना डाला। फिर एक ऋचा में एक ही देव का वर्णन करना भी आवश्यक नहीं। एक ऋचा में गूंथे जावें इतनी देवताओं को गूंथा और ऐसी कुछ ऋचाओं को एक सूक्त में बांध डाला। इस विश्वेदेव की कल्पना ने सबसे बडी सहूलियत यह दी कि नव कल्पित देवता पर भी एकाधी ऋचा लिख उसे विश्वेदेव सूक्त में सहजसमाविष्ट किया जाता। क्योंकि विश्वेदेवों की संख्या नियमित थोड़ी थी। ऋग्वेद संहिता के सूक्तों में यह संख्या 'त्रिंशत् त्रयश्च' अर्थात् तैंतीस से लेकर 'त्रीणि शता त्री सहस्राणि त्रिंशच्च नव च' तीन हजार तीन सौ उनतालीस तक पहुंची है। इन सारे कारणों से सुलभ मंत्ररचना कर सूक्तकार ऋषि बनना हो तो विश्वेदेव के समान सुविधाजनक दूसरी कोई देवता ही न थी। इसीलिये उस

समय इस देवता पर बहुत मंत्र रचे गये । इस प्रकार के रचनाकारों में विवस्वत् पुत्र मनु को प्राधान्य देना चाहिये । अतएव अब उसी के मंत्रों को लें ।

१२. सबसे प्रथम इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि कालिदास ने जिस वैवस्वत मनु का वर्णन "आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवः छंदसामिव" किया या 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान्' 'विवस्वान्मनवे प्राह' जिस मनु के विषय में कहा, वह मनु इस सूक्तकार मनु से भिन्न है। वह है इतिहासारंभ काल का और यह है कण्व युग का । जिस विवस्वत्पुत्र यम ने यम, पितर इत्यादि कल्पनाएं प्रस्तुत कीं, उसी कुल के एक और विवस्वान् का 'मनु' नाम धारण करने वाला यह सूक्तकार है। ऋग्वेदसंहिता के आठवें मंडल में ऋ० २७, २८, ३०,तथा ३१ ये चार सूक्त इसके हैं । इनमें तीन विश्वेदेव पर हैं। प्रथम २७ वें सूक्त की दूसरी ऋचा में यह कहता है—विश्वे च न वसवो विश्ववेदसो धीनां भूत प्रवितारः' । यह स्पष्टतया नहीं समझता कि 'वसवः' और "विश्ववेदसः" दोनों शब्द विशेषण हैं या विशेषसंज्ञावाचक। सायण टीका में लिखता है कि विश्वे शब्द है विश्वेदेवों का वाचक और आगे के दोनों शब्द हैं 'वासयितारः' और 'सर्वधनाः' इस अर्थ के । किंतु आगे की ऋचाओं पर से कम से कम 'वसवः' शब्द विशेष संज्ञा है, यही कहना पड़ता है। क्योंकि 'वसु' नामक देवगण का निर्देश प्रथम इसी सूक्त में पाया जाता है । आगे नवम मंडल में तो इनकी प्रार्थना ही की है कि 'हे वसुओ, दूर से या पास से कोई भी कहीं से आकर हमारा घर हमसे छीन न ले' । इस सूक्त में एवं अग्नि, मरुत्, ब्रह्मणस्पति, वसु, आदित्य, अदिति, विष्णु, अश्विनौ, पूषन्, इंद्र, सविता, मित्र, वरुण और अर्यमन्, इन देवों की प्रार्थना है जिसमें 'धन, पुत्र, अन्न, तथा घर न छीने' ऐसा कहा गया है।

१३. अठ्ठाईसवें तथा तीसवें सूक्त में यह ऋषि देवों की संख्या तैंतीस देता है । तीसवें सूक्त में तो वह स्पष्ट रूप से कहता है कि 'इति स्तुतासो असथा रिशादसो, ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च, मनोर्देवा यज्ञियासः' । मनु जिन देवों को अपने यज्ञिय तथा 'रिशादसः' अर्थात् अहिंसक देव मानता है और जो तीस और तीन हैं, उनकी इस प्रकार स्तुति की गई है । यदि ऐसा है तो मनु के सूक्त में ही इन तैंतीस देवों का निर्देश होना चाहिये । पर ऊपर दिये हुए अग्नि आदि देवों की संख्या केवल चौदह ही होती है । अश्विनौ दो

मानने पर भी यह संख्या होगी पन्द्रह । अब यजुर्वेद में वसु, रुद्र व आदित्य नाम के गणदेव हैं । वसु हैं आठ, रुद्र हैं ग्यारह और आदित्य हैं बारह । पूर्वोक्त देवों में वसु तथा आदित्य एक एक न गिन यदि 'अष्टौ वसवः । द्वादशादित्याः' के आधार पर आठ वसु और बारह आदित्यों की गणना की जाती है तो इन देवों की संख्या ठीक तैंतीस होती है । मनु के सूक्तों में रुद्रों का वर्णन कहीं नहीं है । इसका कारण यह जान पड़ता है कि मनु केवल उन्हीं देवों की स्तुति कर रहा है जो यज्ञिय हैं तथा रिशादस् अर्थात् अहिंसक हैं। रुद्रगण यज्ञिय अवश्य है पर अहिंसक नहीं। सत्ताईसवें सूक्त की नौवीं ऋचा में 'अद्रुहः' शब्द आया भी है । इस पर से स्पष्ट जान पड़ता है कि मनु को वसु तथा आदित्य संज्ञक गणों के साथ रुद्रगण का ज्ञान तो था किंतु वे 'अद्रुहः'—अहिंसक न होने से उसने अपने यज्ञिय देवों में उन्हें स्थान नहीं दिया।

१४. इस मनु का इकतीसवां सूक्त अन्य सूक्तों से भिन्न प्रकार का है। इसकी प्रथम चार ऋचाओं में यज्ञस्तुति है । आगे की ऋचाओं में यजमान तथा यजमानपत्नी इस दंपतीविषयक वर्णन है । इस जोड़ी को अन्न कमी की कभी नहीं पड़ती, पुत्र कन्याएं होकर जीवन भर इन्हें सुवर्ण लाभ होता रहता है, और ईश प्रार्थना करते हुए ये दोनों कीर्ति रूप से अमर हो जाते हैं। सब प्रकार की कल्याणकारक बातें इन्हें प्राप्त होकर यह जोड़ी जन्म भर सन्मार्गगामी होती है। 'यज्ञ न करने वालों की अपेक्षा देवों के यज्ञ करने वाले—और मनःपूर्वक करने वाले कहीं श्रेष्ठ हैं' इस अर्थ का 'देवानां य इन्मनो यजमान इयक्षत्यभीदयज्वनो भुवत्' ध्रुव चरण अंतिम चार ऋचाओं में है । अठ्ठाईस और तीस क्रमांक के सूक्तों के बीच जो उनतीसवां सूक्त है वह इस विवस्वत्पुत्र मनु का नहीं। उसका विचार आगे समुचित स्थल पर किया जायेगा।

१५. भरद्वाज युग में ब्राह्मण क्षत्रोपेत बनने लगे और तबसे गोत्र और गण बढ़ने लगे । मन चाहो तो क्षत्रिय और मन मानों तब ब्राह्मण होने के कारण परंपरा नहीं रही और छोटे छोटे गण बनते गये । इसी प्रकार अलग बना हुआ एक गण 'रहूगण' कहलाया जाता था । इस गण में गौतम नामका एक प्रसिद्ध सूक्तकार हुआ । प्रथम मंडल में इसके बीस सूक्त हैं (७४ से ९३) जिनमें छह हैं अग्नि पर, ५ इंद्र पर, ४ मरुतों पर, २ विश्वेदेवों पर तथा सोम, उषस्, और अग्नीषोमौ पर एक एक ऐसे हैं। भर्ग ऋषि के सूक्त से इसने अग्नि का 'सहसो यहु' नाम उठाया और स्वयं उसे 'देवप्सरस्तम' कहा। सोमाहुति

भार्गव के समय जो पोतृकर्म यज्ञविधि में समाविष्ट हुआ उसका भी निर्देश इसके सूक्त में पाया जाता है । इसका अग्नि अद्भुतस्य रथीः--जो न हो उसे मिला देने वाला है । दो सूक्तों में द्युम्नैरभिप्रणो नुमः' और 'अर्चन्ननु स्वराज्यम्' ये ध्रुव पद हैं। यजुर्वेद गाथा के आधार से दध्यङ ऋषि तथा गरुड ने किया हुआ सोमहरण इसके सूक्तों में निर्दिष्ट है। 'न त्वावाँ इंद्र कश्चन जातो न जनिष्यते' ऐसी है इसकी इंद्र-स्तुति। एक सूक्त में 'योजान्विंद्र ते हरी'--हे इंद्र जल्दी से दोनों घोड़े जोड़ो--यह ध्रुवपद है । इसके स्तोत्र केवल नव व नवीयस् ही नहीं अपितु नविष्ठ हैं। यह इन्द्र को यहां तक कह डालता है कि 'महाराज अब घर पधारो और पत्नी के साथ मौज करो'। इसके सूक्तों से जान पड़ता है कि इसके समय इंद्र के लिये धान भरा हुआ एक पात्र यज्ञ में आवश्यक था, जिसे 'हारियोजन कहते थे। एक तृच में 'इंद्रो अंग', शब्दों का प्रयोग एक अभिनव रीति से किया गया है । अकर्तृक वाक्य रूप ऋचा बनाना और उस ऋचा में प्रयुक्त क्रियापद से इंद्र शब्द का कर्ता के नाते और अंग शब्द का क्रियाविशेषण के नाते संबंध जोड़ देना । दूसरे एक तृच में 'वस्वीरनु स्वराज्यम्'--जैसा राज्य वैसी गायें—ही ध्रुवपद है।

१६. मरुतों पर इसके चार सूक्त हैं। वर्णन वही, पर शब्द केवल भिन्न। किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से एक उपमा महत्वपूर्ण है। राजा रन्तिदेव के राज्य में चमड़ा कमाने का काम एक नदी में भिगो २ कर किया जाता था जिस पर से उस नदी को 'चर्मण्वती' ही कहने लगे थे । 'चर्मेवोदभिर्व्युंदंति'—चमड़ा जैसा पानी से आर्द्र करते हैं वैसी जमीन पानी से आर्द्र की जाती हैं, यह उपमा ध्यान देने योग्य है। क्योंकि इसका प्रयोग प्रथम इसी गोतम के सूक्त में मिलता है । दसवीं तथा ग्यारहवीं ऋचा में 'ऊर्ध्वं नुनुद्रेऽवतं', 'जिह्मं नुनुद्रेऽवतम्' यही अवत शब्द सायण ने कूप के अर्थ में लिया है और कूप को ही ऊपर उठा तथा टेढाकर गोतम की प्यास को बुझाया यह अर्थ किया है । किंतु हर्यंत ने अवत शब्द का 'बड़ा पात्र' अर्थ किया है जिसका पूर्व उल्लेख आया ही है। यहां भी अवत शब्द का वही अर्थ लिया जाय तो बड़े पात्र से पानी खींचा और उस पात्र को टेढ़ा करके पानी पिलाया यह अर्थ स्वाभाविक जान पड़ता है और कुएँ को ऊपर उठाने की या टेढा करने की असंभाव्य कल्पना करनी पड़ती है । मरुतों के तथा आगे चलकर विश्वेदेवों के सूक्त में वर्ष के लिये गोतम ने 'शरत्' शब्द का प्रयोग किया है। भरद्वाज 'मदेम शतहिमाः' कहता था वहां अब गोतम 'शतं शरदः' सौ साल के अर्थ में कहता है। हेमन्त ऋतु से जो वर्षारंभ माना जाता था

वह अब शरद ऋतु से माना जाने लगा सा जान पड़ता है । गोतम के मरुद्गण जो वाद्य मुख से बजाते थे उसे यहां "वाण" कहा गया है । गृत्समद ने उस वाद्य को "भृमि" कहा था । यह कहना कि 'ऋषियों ने वृक्षों के समान यज्ञों को ऊँचा किया' इस बात को सुझाता है कि यज्ञों का विकास शनैः २ होता गया ।

१७. आगे के दो सूक्त (१-८९,९०) विश्वेदेवविषयक हैं । अब ऋषिगण यज्ञ करते कराते सरस्वती नदी के तीर पर पहुंचे । अतएव इस नदी का प्रवेश गोतम सूक्तों में हुआ और सोम लानेवाले 'तार्क्ष्य' गरुड को भी इंद्र, पूषन् तथा बृहस्पति के साथ स्वस्तिक देवों में स्थान मिला । पृथ्वी 'अदिति' तो पूर्व में ही कही गई थी । गोतम ने अब 'अदिति ही सब कुछ है' कह डाला । भद्रकारक, स्वस्तिकर और 'शं' कल्याणप्रद ऐसे शब्दों से ये मंत्र भूषित हैं । हवाएं, नदियां, औषधि, रात, उषःकाल, सारी भूमि, आकाश, वनस्पति, सूर्य तथा गायें, सारी हमारे लिये 'मधु'—मीठी मीठी रहें ऐसी मीठी प्रार्थना गोतम ने की है । यहां द्यौः को पिता माना है । यही 'द्यौष्पिता' और पश्चिम में जाकर 'जूपिटर' बना सा जान पड़ता है । क्र० ९१ का सूक्त सोम पर है । पिछले सूक्त में जैसे 'अदिति ही सब कुछ है' कहा गया उसी प्रकार सोम भी सब कुछ है ऐसा कहा गया है । इस पर से 'एकं सत् बहुधा वदन्ति' की प्रवृत्ति सूक्तकारों में बढ़ती हुई दृष्टिगोचर होती है । बीसवीं ऋचा में पुत्र के गुण बहुत ही अच्छे प्रकार से कहे गये हैं । वह वीर होना चाहिये । सर्व कर्म निपुण, घर में भली भांति बरताव करने वाला, यज्ञ में अपनी छाप बिठाने वाला, सभा में अच्छा भाषण करने वाला तो वह होना ही चाहिये किंतु पिता का कहना मानने वाला और पिता की कीर्ति बढ़ाने वाला भी रहना चाहिये । ऐसा पुत्र देने वाला सोम जिस प्रकार गाएं यव क्षेत्र में या आदमी अपने अपने घरों में रहते हैं, उसी प्रकार हमारे मन में निवास करे ।

१८. क्र० ९२ का सूक्त ऊषा पर है । किसी नर्तिका के समान यह नटती थटती है और गाय के स्तनाधार के समान उभरा हुआ अपना वक्षःस्थल धीरे से दिखलाती है । पूर्व के उषस् वर्णन से यह भिन्नता स्पष्ट ही दीख पड़ती है । इसके स्मित हास्य को यहाँ उपमा दी गई है उस खुशमस्खरे की जो अर्थ प्राप्ति के लिये किसी धनी स्वामी के सामने कृत्रिम हास्य करता ही रहता है । उपमा मनोहर है । यह सूक्त ही उपमाओं से भरा हुआ है । इसकी समाप्ति भी 'विश्वा सौभगान्यावह'–सारी अच्छी चीजें हमें ला दो इस सामान्य प्रार्थना

से की हुई है। अगला सूक्त है–अग्नि तथा सोम का द्वंद्व बनाकर जो अग्निषोमौ की युग्म देवता हुई उस पर गोतम राहूगण का यह अंतिम सूक्त है। पणि लोगों से गायें छुड़ा लाने का पराक्रम मूल में इंद्र का था। अयास्य ने उसे समर्पित किया बृहस्पति को और अब गोतम कहता है कि वह था 'अग्निषोमौ' का। नयी देवता निर्माण करने पर उसके स्तोत्र की फलश्रुति कहनी ही चाहिये। इस रीति के अनुसार गोतम कहता है कि जो इस देवता को हविर्भाग प्रदान करता है उसे संतान, बल तथा पूर्णायुष्य की प्राप्ति होती है। गोतम अंत में अग्निषोमौ की प्रार्थना करता है कि 'अग्निषोमा पिपृतमर्वतो न आप्यायंता-मुस्रिया हव्यसूदः' हमारे घोड़ों की रक्षा करो और हमारी गायें जो खूब दूध दही देती हैं पुष्ट बनाये रखो।

१९. सोमाहुति भार्गव के सूक्तों का आलोचन हो ही गया है। अब उसी भार्गव कुल के इसी युग में जो प्रयोग, जमदग्नि और नेम, तीन सूक्तकार हुए, उनके सूक्तों की ओर दृष्टि डालें। प्रयोग ही 'रलयोरभेदात्' प्लयोग कहलाया गया होगा। इसका पुत्र प्लायोगि आसंग। इस आसंग के साथ संगी आये होंगे। अभी प्रयोग का ही विचार करना है। इसका सूक्त क्रमाँक है ८–१०२। इस सूक्त के कर्तृत्व का अधिकार विकल्प से बहुत कवि अपनी ओर खींचते हैं। पहला वैकल्पिक सूक्तकार है अग्निर्बार्हस्पत्यः। इसी के साथ 'पावको वा' यह भी विकल्प अनुक्रमणिका में ग्रथित है। और भी दो सहसः पुत्रौ गृहपति–यविष्ठौ अपना हक जताते हैं। दो नहीं तो इन दो में से एक 'तयोर्वाग्यतरः' अनुक्रमणिका कहती है। सूक्त का विषय है अग्नि। जिस जलस्थ अग्नि का सिंधुद्वीप ने निर्देश किया था, उसीको अब स्पष्ट रूप से समुद्रवासस् कहकर उस पर तीन ऋचाएं इस सूक्त में है। उनमें यथार्थ वर्णन है कि इस समुद्रस्थ अग्नि की गर्जना या तो हवा की सनसनाहट या वर्षा की खड़खड़ाहट की सी होती है। इस अग्नि को भृगुकुल के और्व और अप्नवान के समान यह 'प्रयोग' आहुति समर्पित करता है। अपनी साधनहीनता की हीन दशा इसने इस प्रकार कही है–'नहि मे अस्ति अघ्निया न स्वधितिर्वनन्वति। अथैतादृग्भरामि ते' मेरे पास न है गाय न लकड़ी काटने की कुल्हाड़ी। इसलिये जैसी लकड़ी मिलती हैं उन्हीं से तुझे प्रज्वलित करूंगा। आगे यह ऋषि कहता है कि इन लकड़ियों में जो कृमि वगैरह होंगे उन्हें ही अग्निदेव तुम घी के समान समझ लो। अन्त में तो यहां तक कह डालता है कि यदि सच्ची इच्छा हो तो केवल मन से कर्म करने से ही काम चल सकता है। इस गरीबी पर से ही जान पड़ता है कि इसके पुत्र आसंग ने खूब धन मिलाया और खूब दान भी दिया।

गरीबी का ब्राह्मणधर्म छोड़ इसने राज्य प्राप्त किया। किन्तु उसके विषय में आगे लिखा जायेगा।

२०. इसके पूर्व का १०१ क० का सूक्त जमदग्नि भार्गव का है। कहना आवश्यक नहीं कि यह जमदग्नि परशुराम का पिता नहीं है। इसका यह सूक्त लकड़हारे के सिर पर के लकड़ी के बोझ का सा है। इसकी ऋचाएं मित्रावरुणौ, आदित्य, अश्विनौ, वायु, सूर्य, उषस् पवमान सोम और इन्हीं के साथ गाय पर भी रची हुई हैं। मित्रावरुणौ के सूक्तों में उनके स्पशों को अयःशीर्ष–जिरह टोप पहिने हुए वर्णन किया है। वट् इस अव्यय का प्रायः इत्था के साथ प्रयोग ऋग्वेद में पाया जाता है पर इस सूक्त में सूर्य पर जो दो ऋचाएं हैं, उनमें केवल 'वट्' 'सचमुच' का ही प्रयोग है। पूर्व में हम देख चुके हैं कि अष्टापदी शब्द गर्भिणी गौ के अर्थ में प्रयुक्त होता था। उस निर्देश पर से ऐसा जान पड़ता है कि उस समय ऐसी गाय भी यज्ञविधि में मारी जाती थी। प्लयोग और जमदग्नि के समय इस वध के विरोध में जन-मत तैयार होता सा दीखता है। तभी तो प्लयोग ने गाय को अघ्निया–जिसे मारना ठीक नहीं है, यह नाम दिया। यह जमदग्नि सूक्तकार तो उसका संबंध वसु, रुद्र तथा आदित्य तीनों गणों से जोड़ता है। वह कहता है–गाय 'माता रुद्राणां, दुहिता वसूनां, स्वसादित्यानाम्' है। वह उसे 'अमृतस्य नाभिः –अमृत का मूल स्थान बतलाता है और 'मा गामनागामदितिं वधिष्ट' ऐसी समझदार लोगों से प्रार्थना करता है। जमदग्नि के समान ही नेम भार्गव का सौवां सूक्त अनेक विषय पर रची ऋचाओं का बना हुआ है। पर यह थोड़ा विनोद पर वर्णन करता है। प्रथम इंद्र की स्तुति करता है और फिर कहता है कि 'नेंद्रो अस्तीति नेम उ त्व आह'–यह नेम बोला कि इंद्र है ही कहां? क्योंकि होता तो किसी ने देखा होता। 'क ईं ददर्श' पर किसने इसे देखा है? तब इंद्र इसके सामने प्रकट हुआ और उसने कहा 'अयमस्मि जरितः पश्य मेह'–हे कवे, यह मैं तुम्हारे सामने हूं। देख लो ठीक से मुझे'। तब से नेम के मन में इंद्र के प्रति विश्वास पैदा हुआ। पारावत लोगों ने मिलाया हुआ धन, नेम के एक कुटुंबी–शरभ को मिला यह ऐतिहासिक बात भी इसके सूक्त में उल्लिखित है। गरुड़ द्वारा सोम लाये जाने की कथा का भी वह उल्लेख करता है। आगे वाणी पर गाय का रूपक कर वह अन्न और बल देती है, यह कहा है। अन्तिम ऋचा विष्णु पर है। इन तीन सूक्तों के सिवाय इसी मंडल में 'कृत्नु भार्गव' नामक ऋषि का एक सोम पर सक्त है। कृत्नु ऋषि

के मत से सोम नग्न लोगों को वस्त्र देता है, बीमारों को व्याधिहीन करता है, अंधों को दृष्टि देता है तथा लंगड़ों को चलाता है। पेट में जाने के अनंतर 'हे सोम मुझ में कंप उत्पन्न न हो, मन में डर पैदा न हो, हमारे मन को अचेतन न बनाओ' यह प्रार्थना प्रगाथ की मानो 'निद्रा ईशत मोत जल्पिः' की सी है।

२१. कण्व युग के भार्गव ऋषियों के सूक्तों का विचार विमर्श करने के पश्चात् उसी दो तीन पीढ़ियों के काण्व ऋषि सूक्तों का विचार क्रमप्राप्त है। कुरुसुति नाम के काण्व ऋषि के तीन सूक्त (८-७६, ७७, ७८) हैं। तीनों का विषय इंद्र ही है। प्रथम में एकादश ऋचाएं साधारण सी ही हैं। किंतु अंतिम बारहवीं ऋचा का अर्थ स्पष्ट नहीं। गायत्री छंद की यह ऋचा है– वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम्। इंद्रात्परि तनुवं ममे।' यहाँ वाणी को, पद शब्द का अर्थ पैर और स्रक्ति शब्द का अर्थ कोण कर, सभी टीकाकार आठ पैर की और नौ कोणों की बतलाते हैं। किंतु वे आठ पैर और नौ कोण कौन से? इसका स्पष्टीकरण समाधानकारक रीति से कोई भी नहीं करता। सोमाहुति भार्गव का अष्टापदी का गर्भिणी यह रूढार्थ लिया जाय और स्रक्ति का अर्थ सृष्टि या निर्मिति तथा नव का अर्थ नूतन लिया जाय तो इस ऋक् का अर्थ आगे दिये अनुसार होगा। 'अर्थगर्भा और नूतन निर्मिति करने वाली किंतु सत्य को स्पर्श करने वाली भाषा से मैं इन्द्र का थोड़ा कम ऐसा रूप दिखलाता हूं'। अब तक भाष्यकारों के किये हुए अर्थों से यह भिन्न अवश्य है किंतु अगले वर्णन का उपोद्घात इस दृष्टि से अधिक समाधानकारक है। क्योंकि इस वर्णन में इंद्र विषयक एक नितांत नई कल्पना की हुई है। जन्म होते ही इन्द्र ने माता से प्रश्न किया 'विख्यात बलवान् यहां कौन है?' माता बोली–"और्णवाभ। उन्हें तू मार डाल।" इंद्र ने वैसा ही किया। पर उन्हें मारा वज्र से नहीं तो धनुष बाण से। इस बाण को भी तब तकअप्रयुक्त ऐसा शब्द रखा 'बुंद'। यह भी 'हिरण्यय' सोने का। इस वर्णन की नवीनता को 'नवस्रक्ति' शब्द का नया अर्थ पुष्ट ही करता है और इसीलिये पूर्वोक्त अर्थ समुचित जान पड़ता है। अगले सूक्तों में गायें, घोड़े, अलंकार, अंजन तथा अभ्यंजन, कर्ण-भूषण इत्यादि विषयक याचना की हुई है। सभी नई प्रकार की याचनाएं हैं। विशेष कर काजल, उबटन और कर्णभूषण तो अन्य किसी ऋषि ने मांगा ही नहीं है। अंतिम ऋचा भी देखिये। ऋषि कुरुसुति कहता है–हे 'इंद्रदेव, तुम्हारी ही आस रखकर मैंने खेत काटने के लिये हाथ में

हंसिया लिया है। पहले काटे हुए और आज काटे जाने वाले अनाज में तुम भी मुट्ठी पर डाल उसे पूरा भरो।'

२२. आठवें मंडल में क्र० ३९ से ४२ तक के चार सूक्त हैं नाभाक काण्व ऋषि के रचे हुए। एक है अग्नि पर, एक इंद्राग्नी पर, और एक वरुण पर। चौथा यद्यपि नाभाक काण्व के नाम पर दिया है, तथापि सूक्त में अत्रि ऋषि का स्पष्ट निर्देश होने के कारण अनुक्रमणीकार ने दिया हुआ वैकल्पिक अर्चनानस् आत्रेय ही उस सूक्त का रचयिता समझना उचित है। शेष तीन नाभाक के हैं। तीनों एक ही छंद में हैं जिसे छंदःशास्त्रकार महापंक्ति कहते हैं। पांच अष्टाक्षरी चरणों की होती है पंक्ति। उसी में एक अष्टाक्षरी चरण जोड़ने से बनेगी महापंक्ति। एवं महापंक्ति में छह अष्टाक्षरी चरण होते हैं। अर्थात् डेढ़अनुष्टुप् की महापंक्ति होती है। तीनों सूक्तों की सारी ऋचाओं का अंतिम चरण एक ही है। वह है–'नभन्तामन्यके समे'–दूसरे सारे मरें। पंक्ति छंद में ऋचा तैयार होती है और यह ध्रुवचरण जोड़ दिया जाता है। ऐसी है यह सारी की सारी रचना। नई बात बिल्कुल नहीं। ऋषि स्वयं ही कहता है कि 'या नु साधना नो धियः'–जिन्होंने हमारी स्तुतियां सजाईं वे 'पूर्वीष्ट इंद्रोपमातयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः' सारी प्रशस्तियां और उपमाएँ पूर्व की ही हैं। इन सूक्तों में आये हुए नभाक, मंधातृ तथा अंगिरस् शब्द विशेष व्यक्तियों के वाचक न होकर स्वर्गस्थ, विचारवान् और तेजोयुक्त अर्थ में गुणवाचक विशेषण हैं। उन्हें लगाया हुआ वत् प्रत्यय भी उपमावाचक नहीं किन्तु उस गुण से युक्त इस अर्थ में है। ४२ वाँ सूक्त अर्चनानस आत्रेय का होने से उसका विचार आगे किया जायेगा।

२३. नाभाक काण्व के सूक्त का सा ही महापंक्ति छंद में है एक सूक्त इसी अष्टम मंडल में जिसका ऋषि है 'त्रित आप्त्य' और जिसका क्रमांक है (८-४७)। इसमें आदित्य स्तुति है। ध्रुवचरण एक न होकर दो हैं–'अनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः'–अपार आपकी कृपा, है बड़ी भली कृपा। अर्थात् अनुष्टुप् छंद बनाया और ये दो चरण जोड़ दिये। एवं है यह सूक्त रचना। 'पक्षा वयो यथोपरि'–पंछी अपने पंखों से पिल्लों को ढांक कर उनकी रक्षा करते हैं उसी प्रकार तुम मुझे अपने रक्षण में रखो। यह उपमा हृद्य है। और भी एक अच्छी उपमा है गाडीवान की। वह जिस प्रकार ऊंचे नीचे भूभाग छोड़ गाड़ी हांकता है, उसी प्रकार तुम भी मुझे धक्के न लगें ऐसे ले जाओ। 'योद्धा को जैसा कवच वैसे ही हमें तुम' यह कल्पना भी इस सूक्त में है। त्रित आप्त्यने मित्र, वरुण, और अर्यमन् की माता अदिति को कहा

है और इस रीति से सभी देवों की माता कहलाई जाने का उसका मार्ग खुला कर दिया है। यह ऋषि अंतःकरण से प्रार्थना करता है कि आदित्य देव उसे प्रकट या अप्रकट उभयविध पापों से बचावें। इसी सूक्त की अंतिम पांच ऋचाओं में 'दुःष्वप्न्य शब्द आया है। इसका मूल अर्थ है 'स्वप्न में देखी गई बुरी बातें'। प्रकट या अप्रकट पापों से भी बुरी बातें स्वप्न में अपने हाथों होती हैं। इनसे भी बचाये रखने की मूल की प्रार्थना होगी। पर आगे जब कुछ स्वप्न अनर्थसूचक माने गये तब से ये पांच ऋचाएँ उस अनर्थ का नाश करने वाले मंत्र समझी गईं। अनुक्रमणिका में भी इन्हें 'दुःष्वप्नघ्न' ही कहा गया है। ऐसा मानने पर 'दुष्टः स्वप्नेभवः' 'दुःष्वप्नः' न होकर 'दुःस्वप्न एवं दुष्ष्वप्नः' यह सायणकृत अर्थ ही मानना पड़ेगा। इस ऋक्पंचक में एक ऋचा त्रितने अथर्ववेद से ली हुई जान पड़ती है। अथर्वमंत्रों की पुनःसंहिता फिर से एक वसिष्ठ ऋषि ने की। यह अथर्वनिधि दूसरा वसिष्ठ है। मंत्र है- 'यथा कलां, यथा शफं, यथा ऋणं संनयंति। एवा दुःष्वप्नियं सर्वं द्विषते संनयामसि'—जिस प्रकार सोलहवां या चौथा हिस्सा दे देकर ऋण चुकाया जाता है वैसा ही हम दुःष्वप्न शत्रुओं को चुकाते हैं। इस अथर्वमंत्र में प्रथमार्ध का 'यथा ऋणं संनयन्ति' को त्रित ने 'यथर्णं संनयामसि' में बदला तथा उत्तरार्ध में द्विषते' को 'आप्त्ये' में बदल दिया। यहां आप्त्ये सप्तम्यन्त रूप मानकर 'आप्त्य में जो दुःस्वप्न्य आ गया हो उसे दूर करते हैं' यह अर्थ करना पड़ेगा। दोनों पाठों में यह निश्चय करना कठिन नहीं है कि मूल पाठ कौन सा होगा। कैसा भी हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि एक दूसरे से प्रभावित है। ऋग्वेद की रचना ऐसे मंत्रों के हेतु नहीं और अथर्ववेद में इसी प्रकार के मंत्र रहते हैं। इस दृष्टि से इस प्रश्न का निर्णय सहज में हो सकेगा।

२४. त्रित आप्त्य ऋषि के अष्टममंडल के बाहर भी दस सूक्त हैं। नवम मंडल में हैं तीन क्र० ३३, ३४ और १०२। दसवें में हैं सात क्र० १ से ७ तक। नवम के सूक्त हैं पवमान सोम पर और दशम के हैं सारे अग्नि पर। इस युग में याज्ञिक यज्ञ करते-करते सरस्वती नदी के तीर पर पहुंचे थे। आप्त्य के समय ये लोग उसी नदी का लोप जहाँ रेगिस्तान में हुआ, वहाँ तक जा पहुंचे। इस प्राँत में गरमी बहुत और इसीलिये अन्य प्रान्तों की अपेक्षा यहाँ पानी का महत्व अधिक था। अतएव पानी देख ही ये लोग बसते। आप्त्य शब्द का अर्थ ही पानी के पास रहने वाला है। इसीलिये तो यहां अग्नि को विरोधाभासयुक्त उपमा दी गई कि 'धन्वन्निव प्रपा असि'—रेगिस्तान में पानी की जगह के से तुम हो। 'अपो वृषभो न'—बैल जैसा पानी की ओर या

'गाव उष्णमिव व्रजम्'–धूप में गायें जैसी गोष्ठ की ओर इत्यादि उपमाएं यही सूचित करती हैं। भैंस का दर्शन सबसे प्रथम त्रित आप्त्य के ही सूक्त में होता है। सोमधारा नदी पर उठने वाली लहरों के समान कई सूक्तकारों को दिखी होंगी, किंतु यहाँ जब 'वनानि महिषा इव' उपमा दिखती है, तब पीठ से पीठ लगे हुए इन प्राणियों के समूह जिसने देखे होंगे उसको समझेगा कि यह उपमा कितनी योग्य है। इसके सूक्तों में यह भी वर्णन पाया जाता है कि उस जमाने में पड़े और घोड़ियां एक ही वाड में रहते थे।

२५. त्रित आप्त्य की प्रिय देवता अग्नि। इसके अग्नि पर सात सूक्त हैं। 'अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम्'–बाप सगा संबंधी, भाई, मित्र, मैं अग्नि को ही समझता हूं, यही उसकी भावना है। यजुर्वेद में से त्वष्टृ देवता लेकर यह कहता है कि 'त्वष्टा यं त्वा सुजनिमा जजान! अर्थात् यह अग्नि का निर्माण करने वाला त्वष्टा को मानता है। यज्ञ में आठवें ऋत्विज का पोत्र कर्म इसे ज्ञात है। देवरात शुनःशेप ने अग्नि को 'वसिष्वा हि मियेध्य वस्त्राणि' इतना ही कहा। त्रित आप्त्य 'वस्त्राणि अध पेशनानि वसानः' वस्त्र और अलंकार धारण करने वाला–इस प्रकार का अग्नि वर्णन करता है। कभी-कभी यह कुछ बातें स्पष्ट नहीं करता। उदाहरण–स्वरूप 'सप्त मर्यादा कवयस्ततक्षुः' यहाँ सयाने लोगों को अनुल्लंघ्य जो सात मर्यादाएं कहीं, वे कौनसी हैं यह स्पष्ट नहीं किया गया है। इसी प्रकार पितरों का 'पितृयाण' मार्ग भी स्पष्ट समझता नहीं। तृतीय भरद्वाज के समान 'स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात्' यह भी कहता है किन्तु इसका जार शब्द बुरे अर्थ में नहीं है यह 'अध्वरस्य जारं' पर से समझ में आता है। जार का अर्थ यहां प्रिय मित्र है। इसी जार पर से फार्सीयार शब्द निकला है। इसका 'पाक' शब्द भी ध्यान में रखने योग्य है। पाक का अर्थ अप्रबुद्ध, अदना। 'किं ते पाकः कृष्णवदप्रचेताः' और 'यत्पाकत्रा मनसा दीनदक्षाः' दोनों जगह पाक शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है। अपने ही नाम में आया हुआ 'त्रि' शब्द तथा 'सप्त' ये दो संख्याएं इसे प्रिय लगती हैं। तीन सवनों और तीन प्रकार की वाणी का भी यह वर्णन करता है। सोमपान करने के लिये यह केवल इंद्र, वायु, वरुण, मरुत् और विष्णु इतने ही देवों को बुलाता है। 'सुता इंद्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः सोमा अर्षन्ति विष्णवे।' यही (९-३३-३) ऋचा केवल 'सुत' और 'सोम' का एकवचन करके (९-३४-२) बनी है। इसी के द्वित नामक भाई का भी पवमान सूक्त ऋ० (९-१०३) है। इस सूक्त की पाँच ऋचाओं का आरम्भ परिशब्द से होने के अतिरिक्त कुछ विशेष इसमें नहीं।

२६. लगभग इसी समय कृष्ण आंगिरस नाम का ऋषि हो गया। इसके पुत्र का नाम विश्वक और पौत्र का नाम विष्णापू। एक समय पौत्र कहीं खो गया। दो घोड़े सवारों को वह मिला और उन्होंने उसे लाकर उसके पिता के सुपुर्द किया। अश्विनौ देवों की ही कृपा इसे समझ कृष्ण आंगिरस ने 'अश्विनौ' पर (८-८५, ८६, ८७) ये सूक्त बनाए। 'अश्विनौ' के विषय में कल्पित कथाओं का आरंभ कृष्ण आँगिरस के सूक्त से ही होता है। प्रथम सूक्त का ध्रुवपद है 'मध्वः सोमस्य पीतये'–मीठा सोमरस पीने के लिये। यह 'अदाभ्यं छर्दिः' चाहता है। 'अदाभ्यं' का अर्थ है जिसे कोई तोड़ फोड़ न सके। अश्विनौ का रथ खींचने के लिये इसने रासभों का–खच्चरों का उपयोग किया है। दूसरे सूक्त का ध्रुवपद है–'मा नो वि यौष्टं सख्या मुमोचतम्'–हमें अलग-अलग न करो, मित्र से दूर न करो। इसके पहिले तीन मंत्रों में है–'ता वाँ विश्वको हवते तनूकृथे'–तुम दोनों को विश्वक अपने पुत्र के लिये पुकार रहा है। तीसरे सूक्त में 'क्रिविर्न सेके'–पानी सींचने के लिये जैसा कुआं काम आता है वैसे ही तुम आते हो कहा गया है। इसी सूक्त की तीसरी ऋचा में प्रयुक्त प्रियमेध शब्द विशेष व्यक्तिवाचक नहीं अपितु यज्ञप्रिय ऋत्विज के अर्थ में आया है। प्रियमेध नामक ऋषि अब तक हुआ नहीं था। वह बाद का है और उसने अश्विनौ पर सूक्त रचे भी नहीं। यहाँ भी 'गौरा-विवेरिणम्' उपमा दो बार प्रयुक्त है। गौर एक प्रकार का महिष जाति का जानवर है। धन्व और इरिण समानार्थक हैं। इन सब निर्देशों से जहां वालुकामय प्रदेश है और भैंसे मिलती हैं ऐसे प्रांत में इन सूक्तों की रचना हुई होगी ऐसा अनुमान किया जा सकता है। अश्विनौ को 'वल्गु'–सुन्दर, इसी ने प्रथम कहा।

२७. कश्यप कुल का मूल पुरुष इस देश में परशुराम के समय आया। शकुंतला का लालनपालन जिसने किया वह कण्व इसी कुल का था। परंतु इन काश्यपों में बहुत ही थोड़े सूक्तकार हुए। रेभ काश्यप इन्हीं में से एक है। इसका रचा सूक्त अष्टम मंडल में ऋ० ९७ पर अंकित है। सूक्त की देवता है इंद्र। इसकी इंद्रस्तुति यद्यपि साधारण छाप की ही है, तथापि कुछ बातें इसमें विशेष रूप से पाई जाती हैं। सबसे पहले अति-जगती छंद की रचना इसी की है। जगती छंद ४८ अक्षरों का होता है। प्रत्येक चरण में बारह अक्षर रहते हैं। जगती चरण में एक एक अक्षर बढाने से ५२ अक्षरों का यह छंद बनता है। इस छंद की एक ऋचा

इस सूक्त में है। आदमी अपने ही बुरे कामों से मरने लगता है, यह सिद्धांत इसने 'स्वैः प एवैर्मुमुरत्' शब्दों में कहा है। तीन ऋचाएं ऐसी हैं जिनका प्रथम और चतुर्थ चरण एक ही है। पहली ऋचा का आरंभ और अन्त 'मा न इंद्र परा वृणक्' पदों से है। इसी प्रकार दूसरी में 'अस्मे इंद्र सचा सुते' तथा तीसरी में 'न त्वा देवास आशत'—देव तुमसे बड़े नहीं हो सकते इस अर्थ का चरण आदि और अंत में है। स्पृहयाय्य शब्द तो पुराना ही है पर विश्वप्स्न्य यह चतुरक्षर संयुक्तान्त शब्द इसी का बनाया हुआ है।

२८. पर्वत नारद की जोडी इसी समय की है। इस युग्म का निर्देश ऐतरेय महिदास ने अपने शुनःशेपाख्यान में किया है। पर ऐसा करने में उसके ध्यान में नहीं आया कि यहां कालविपर्यास हो रहा है। शुनःशेप के और इसके समय कम से कम तैंतीस पीढियों का अंतर है। दोनों हैं ये कण्व वंश के। खडी चोटी रखने वाले पौराणिक कलहप्रिय नारद इस ऋषि से भिन्न हैं। इसमें और उसमें नाममात्र के सिवाय कोई संबंध नहीं। नारद तथा पर्वत का तैंतीस ऋचा वाला, एक एक सूक्त आठवें मंडल में क्र० १३ और १२ पर है। सूक्त पर्याप्त बड़े हैं पर उनमें सार बहुत छोटा है। पूर्व निर्दिष्ट अंगिरसों के दशग्व पूर्वजों में पर्वत ऋषि के कथनानुसार एक का नाम 'अघीगु' था। त्रित आप्त्य का उल्लेख यह करता है। पर्वत की रचना में विशेष यह है कि इसमें ८ तृच हैं। प्रत्येक तृच के अन्त में वेही शब्द हैं। जैसे पहिली ऋचा के अन्त में यदि 'तमीमहे' आता है तो दूसरी तथा तीसरी के अन्त में भी वे ही शब्द आयेंगे। आखरी दो तृचों में शब्द ही नहीं पर चरण ही वही आता है। नारद अपने सूक्त में कहता है कि 'स्तुति करने वाला जब स्तुति के शब्द बढाता है तब हे इंद्र वृक्षों की शाखाओं के समान तुम्हारे गुण भी अधिकाधिक बढते ही जाते हैं। आगे वह कहता है कि 'अब और क्या कहूं?' प्रत्नवज्जनया गिरः 'प्राचीन लोगों के से हमारे मुख में से भी शब्द निकलने दो। तथा उन पर जिस प्रकार से कृपा की, वैसी ही मुझ पर भी करो। नारद के भी अन्तिम तृच के आरंभ में 'वृषा' और अन्त में 'वृषा हवः' यह शब्द आये हैं। इस पर से कल्पना हो सकती है कि रचना अधिकाधिक कृत्रिम हो रही थी।

२९. अब हम ऐसे कालखण्ड में आ पहुंचे हैं कि उस समय का थोडा राजकीय इतिहास समझे विना हमारा काम न चलेगा। आगे के सूक्तकारों

ने दान देने वाले राजाओं के नाम अपने सूक्तों में ग्रथित किये हैं और इन राजाओं के नामों पर से सूक्तों का कालानुक्रम निश्चित करने में सुविधा प्राप्त होती है। अतएव इस इतिहास का ज्ञान आवश्यक है। पूर्व में कहा ही गया कि 'घोर' ऋषि के समय पौरव हस्तिन् का राज्य अजमीढ, पुरुमीढ तथा द्विमीढ इन तीन भाइयों में विभक्त हुआ। एक की राजधानी हस्तिनापुर, दूसरे की कांपिल्य और तीसरे की अहिच्छत्रा। तीन पीढियों के पश्चात् अहिच्छत्रा का राजा भृम्यश्व हुआ। इस ने अपना राज्य पांच पुत्रों में बाँटा तबसे वह भूभाग पंचाल नाम से प्रसिद्ध हुआ। पांचाल राजाओं के समय यज्ञक्रिया का खूब विकास हुआ और यजुर्वेद की प्रथम संहिता तैयार हुई। भृम्यश्व के पाँच पुत्रों में से एक था मुद्गल। इसी के समय फौलाद बनाया गया। क्षुर, खड्गादि उसी समय निर्माण हुए। आज जो क्षुरकर्म नित्य हो बैठा है उसका प्रवर्तक मुद्गल ही था। यज्ञविधि में क्षौरकर्म तभी से आवश्यक हुआ। मुद्गल के पौत्र वध्र्यश्व ने घोड़ों को बधिया बनाया। वध्र्यश्व का पुत्र दिवोदास। यह दिवोदास उस दिवोदास से भिन्न है जो काशी का राजा था और जिसके बारे में पहिले ही कहा गया है। वह दिवोदास था भरद्वाज युग के आरंभ में और यह है कण्व युग के अन्त में। परिचित ऐतिहासिक पुरुषों के निर्देश से कहा जाय तो इस दिवोदास के समय राम जन्मा भी नहीं था। इस समय राम का पितामह राघव अज अयोध्या में राज्य कर रहा था।

३०. इस दिवोदास को 'अतिथिग्व' कहते थे। पर आये हुए अतिथि को यह गोदान करता और इसी पर से उसका नाम 'अतिथिग्व' पड़ा था। भृम्यश्व का समकालीन हस्तिनापुर का राजा था पुरुकुत्स। इसके पिता का नाम था गिरिक्षित् और पितामह का नाम था दुर्गह। वैदिक वाङ्मय में यह गैरिक्षित् पुरुकुत्स दुर्गहा के पौत्र के नाते ही प्रसिद्ध है। पुरुकुत्स के पश्चात् यह राज्य भी तीन जगह बांटा गया जिसका एक हिस्सा त्रसदस्यु के पास रहा। त्रसदस्यु पुरुकुत्स का पुत्र था। किन्तु इन पितापुत्रों को इसी नाम के इक्ष्वाकु कुल के अयोध्याधीश पुरुकुत्स और तत्पुत्र त्रसदस्यु से मिलाना नहीं चाहिये। बहुत से टीकाकारों ने इतिहास के इस अज्ञान से इन्हें मिला दिया है। अतएव यह सूचना है। इन दोनों जोडियों में लगभग चालीस पीढियों का अंतर है। दूसरे हिस्से का राज्य मिला अश्वमेध नामक राजा को। इसने अश्वमेध किया जिस पर से इसका वही नाम ख्यात हुआ। तीसरे हिस्से का राजा हुआ ऋक्ष। इस ऋक्ष के समय ही मुद्गल का जो दूसरा सृंजय नाम का भाई था

वंशज प्रस्तोक हुआ । इस प्रकार पांच राजा समकालीन थे—ऋक्ष, त्रसदस्यु, अश्वमेध, दिवोदास और प्रस्तोक । इसी समय एक छोटा सा राजा और हुआ जिसका नाम था अभ्यावर्तिन् चायमान । कण्व कुल के सोभरि काण्व और भरद्वाज कुल का पायु भारद्वाज भी इसी समय थे। दिवोदास का काल है कण्व युग का और अत्रियुग का संधिकाल । अर्थात् इसी के राज्यकाल में कण्वयुग समाप्त होता है और अत्रियुग का प्रारंभ होता है। सूक्तों का ठीक कालानुक्रम समझने के लिये इस इतिहास का ज्ञान आवश्यक है ।

३१. भरद्वाज युग के सूक्तों का विचार करते समय छठवें मंडल के कुछ सूक्त उस युग के न होने से छोड़ दिये थे। उनमें से जो कण्वयुग में हैं, उनके विषय में अब विमर्श करें। इसमें से क्र० ८, २८, २९, ३०, ६१, ६२, ६३, ७३ के आठ सूक्त जिस भरद्वाज के हैं, वह है भरद्वाज चतुर्थ। क्र० ८ का सूक्त अग्नि वैश्वानर पर है । इस अग्नि को पूर्व के भरद्वाज ने प्रदान किये हुए 'सुक्रतुः' इत्यादि विशेषणों से अलंकृत तो यह भी करता है । गोतम राहूगण की चर्मविषयक उपमा यह भी देता है । उस भरद्वाजस्तुति की अपेक्षा यह वैश्वानरस्तुति नव्यसी है। 'अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत' में महिषों का निर्देश है। अपने विषय में बुरा कहने वाले अघशंस लोगों को मारने के लिये अग्नि के हाथ में यह वज्र नहीं देता, पर 'पव्येव' वज्र के समान ही किसी आयुध से उन्हें काट गिराने के लिये प्रार्थना करता है। क्र० २८ का सूक्त गायों के विषय में है। अंगिरस् पहले ही से गायें पालने वाले थे। भार्गव जमदग्नि की गौओं पर रची दो ऋचाएं पहले आ ही चुकी हैं। यह भरद्वाज चतुर्थ उनका संबंध केवल वसु, रुद्र और आदित्यों से नहीं जोड़ता अपितु उनका व्यावहारिक और वास्तविक उपयोग दिखलाता है। उसका कथन है—'यूयं गावो मेदयथा कृशं चित् अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्'—अरी गायों, तुम दुबले पतले को मोटा ताजा बनाती हो और जिसका शरीर शोभादायक न हो उसे सुडौल बनाती हो । 'मा वः स्तेन ईशत माघशंसः' वाक्य तो ज्यों का त्यों यजुर्वेद से लिया है और वहीं का 'रुद्रस्य हेतिः परि वो वृणक्तु' वाक्य ऋग्रूप में करने के लिये 'परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः' में बदल दिया है । इंद्र के सूक्त में प्रागाथ कलि के समान 'इंद्रं नरः स्तुवंतो ब्रह्मकाराः' वाक्य में सूक्तरचना करने वालों को ब्रह्मकार ही कहता है।

३२. पहले कहा गया है कि जिस सरस्वती नदी के तीर पर यज्ञ किये गये, उस सरस्वती नदी का समावेश राहूगण गोतम ने विश्वेदेवों में किया।

किंतु सरस्वती पर स्वतंत्र सूक्त लिखा इसी चतुर्थ भरद्वाज ने । इस सूक्त का आरंभ ही होता है ऐतिहासिकवृत्ति से । वध्र्यश्व को दिवोदास पुत्र की प्राप्ति हुई सरस्वती की कृपा से । पूर्वोल्लिखित पारावत लोगों का इसी के किनारे पराभव होने के कारण यह कहलाई गई पारावतघ्नी । सरस्वती पूषन् के समान धनदात्री है । उस समय की ज्ञात सात नदियों की बहन होने से यह है सप्तस्वसा । पंचजन लोगों की वृद्धि हुई इसी के तीरों पर । ऐसी स्तुति करने के बाद भरद्वाज प्रार्थना करता है कि 'मा त्वक्षेत्राण्यरणानि गन्म'— तुम्हारे खेत हमसे मुख न मोड़ें । ऋ० ६२ व ६३ में अश्विनौ देवों का वर्णन है। इनके आसपास काल्पनिक कथाएं एकत्रित होने लगी थीं । यह कृष्ण प्रवृत्ति कृष्ण आंगिरस के समय से शुरू हुई और इस चतुर्थ भरद्वाज के समय वह और भी बढी हुई दिखती है। इसी सूक्त में तीन नई कथाएं हैं । तुग्र का पुत्र भुज्यु एक बार पानी में डूब रहा था, वह घोड़ों की सहायता से बचाया गया, एक बधिया आदमी की स्त्री की पुकार सुनी गई (उसकी कामनापूर्त्ति की गई) और शयु नामक व्यक्ति की गाय के दूध में वृद्धि हुई । तीनों बातें संभाव्य कोटि की हैं । पर यहां पर भरद्वाज वर्णन करता है कि ये बातें अश्विनौ की कृपा से हुईं । ये बातें नई हैं यह कहने के लिये ही मानो चतुर्थ भरद्वाज कृष्ण आंगिरस के शब्दों में अश्विनौ को 'वल्गू दस्रा' कहकर बतला रहा है कि 'प्रत्ना नव्यसा वचसा निवासे' इन पुराने देवों को नई बातों के द्वारा मैं प्रकाशित करता हूं । अगले ६३ वें सूक्त में 'उत्तानहस्तो युवयुर्ववन्द' शब्दों से हाथ सीधे रखकर वंदना करने की रीति कही गई है । घुटने मोड़ने की और खुले सीधे हाथ रखकर नमस्कार करने की यह पद्धति यहीं से पश्चिम में जाकर रूढ हुई या उधर से इधर आई यह बात अभी विचारार्ह है । सूर्य की सूर्या, हे अश्विनौ, तुम्हारे रथ पर चढ़ी और फबने लगी । ऐसा वर्णन भरद्वाज ने किया किंतु इस पर से आगे के सूक्तकारों ने एक नई कथा निर्माण की जिसका विचार आगे किया ही जाने वाला है। इसी भरद्वाज ने घोड़े, नौकर, अन्न इत्यादि का इसे दान देने वाले पुरय, सुमीढ, पेरुक, शांड तथा पुरुपंथ व्यक्तियों के नामों का निर्देश किया है, परंतु इनका अन्यत्र कहीं निर्देश न होने के कारण से ये व्यक्ति केवल नामशेष ही रह गए हैं। ऋ० ७३ का सूक्त बृहस्पति पर है । अयास्य ऋषि के समान भरद्वाज भी इंद्र के सारे पराक्रम बृहस्पति को ही अर्पित करता है । अश्विनौ के दूसरे सूक्त की अंतिम ऋचा एकपदा त्रिष्टुप् अर्थात् ग्यारह ही अक्षरों की है।

३३. इसी भरद्वाज चतुर्थ का २७ क्र० का सूक्त, इसी के गर्ग तथा पायु नाम के दो पुत्रों के क्र० ४७ तथा ७५ सूक्तों के साथ, विचार के लिये लेना चाहिये। इन तीनों सूक्तों में से आगे दिया हुआ इतिहास मिलता है। इन सूक्तों में उस समय के एक युद्ध का वर्णन है। एक पक्ष में थे पार्थव लोग और उनका नेता अम्यावर्ती चायमान और सृंजय कुल का दैववात। दूसरे पक्ष में थे वृचीवत् लोग और उनका वरशिख नाम का एक राजा तथा तुर्वश कुल का एक राजा। लड़ाई हुई यव्यावती नदी के किनारे 'हरियूपीया' नामक स्थान पर। इस लड़ाई के पूर्व काल में प्रथम पक्ष का पराभव हुआ था। चायमान और सृंजय ने भरद्वाज से सहायता की याचना की। भरद्वाज चतुर्थ ने इंद्र को सोम की आहुति प्रदान की और इनका सत्पक्ष लेकर अपने पुत्रों को संग्रामोपयोगी सारी ही वस्तुओं का अभिमंत्रण करने के लिये कहा। जान पड़ता है कि उस समय मंत्रों का प्रभाव लोक मानस पर पर्याप्त प्रकार से पड़ता था। मंत्रों के पृष्ठ पोषण के आधार पर अपने तीन सौ कवचधारी लोगों को लेकर चायमान और दैववात ने तुर्वश और वरशिख पर आक्रमण किया। वरशिख के जो लोग आगे ही थे मारे गये और बाकी के भाग गये। इस विजय के उपलक्ष्य में विजेता पक्ष के द्वारा भरद्वाज को बीस गायें और कुछ सस्त्रीक रथी दान रूप में प्राप्त हुए।

३४. जिन पुत्रों के हाथों भरद्वाज चतुर्थ ने यह सांग्रामिक अभिमंत्रण करवाया उन गर्ग और पायु नामक ऋषियों को भी इस युद्ध से बड़ी प्रतिष्ठा मिली। इस कारण से इनकी ऋचाएं अथर्वमंत्र के समान मानी गईं। गर्ग का सूक्त क्र० ४७ का है। इसमें विशेषतया यही कहा गया है कि रथ पर चढ़ते समय कौनसा मंत्र कहना चाहिये, रथस्तुति कैसी की जाय, युद्ध की नौबद बजाते समय क्या कहा जाय इत्यादि इत्यादि। सृंजय कुल के प्रस्तोक को तथा अतिथिग्व दिवोदास को इसने जो सहायता दी उसके एवज में गर्ग कहता है कि उसे दस पेटियां, दस घोड़े, दस बेशकीमती वस्त्र और दस, 'हिरण्यपिंड' सोने के टुकड़े या गोले मिले। ये हिरण्यपिंड सिक्के थे। वैशाली में चंद्रनामक सिक्के चलने के बाद ऐसे ही गोल टुकड़े बनाना दूसरे राजाओं ने भी शुरू किया होगा। ये हिरण्यपिंड उस समय विश्वजन्य–सब लोगों को उपयुक्त सिद्ध हुए। भरद्वाज चतुर्थ ने इनका बड़ा संग्रह किया था। ऐसा स्वयं गर्ग ही कहता है। वही और कहता है कि पायु को "अश्वथ" नामक राजा ने उसके मंत्रों के लिये तीन घोड़ों के दस रथ और सौ गायें दीं। रथ मंत्र में कहा गया है कि "आस्थाता ते जयतु जेत्वानि"–तुझ पर चढ़ने वाला जीतने योग्य जितनी

बातें हैं, उन्हें जीतता है । दुंदुभि के विषय में कहा है कि दमदमाहट दूर से दूर के दुर्मित्रों को भी दूर भगा देती है।

३५. गर्ग के बंधु पायु का सूक्त छठे मंडल में ७५ क्रमांक का अंतिम सूक्त है। इसमें वर्म अर्थात् कवच, धनुष, धनुष की प्रत्यंचा, उसे अटकाकर रखने वाले दोनों सिरे (आर्त्नी), भाला, सारथि, उसके हाथ की बागडोर, घोड़े, रथ रथरक्षक, बाण, चाबुक, हस्तघ्न (दास्ताने) इत्यादि का वर्णन भली भांति किया गया है। कहा गया है कि लाडली स्त्री पति से जैसी कानाफूंसी करती है, उसी प्रकार प्रत्यंचा वीर योद्धा के कानों से लगती है। आर्त्नी तो बाण मारने वाले की साल संभाल वैसी ही करती है, जैसी मां बच्चों की । भाला बाणों का पिता है, सर्प के समान दास्ताने हाथ को लपेटे रहते हैं, नीचे पड़े हुए बाण शिखाहीन बच्चों के समान दीखते हैं । इस प्रकार का सुन्दर वर्णन पायु भारद्वाज ने किया है । संभव है कि तत्कालीन अश्वमेध राजा ही "अश्वथ" कहलाया जाता होगा। पायु राजा से कहता है – "मर्माणि ते वर्मणा छादयामि"–तुम्हारे मर्मस्थान में कवच से आच्छादित करता हूं । आगे आशीर्वाद देता है – हे राजन्, राजा सोम तुझे तेजोयुत बनाए, वरुण तुझे "उरोर्वरीयः "बड़े से बड़ा करे और सब देव तेरे विजय से आनंदित हों। यजुर्वेद के धूर्व धातु का प्रथम प्रयोग पायु ने ही किया । इसी पायु का राक्षोघ्न नामक सूक्त दशम मंडल में ऋ० ८७ पर दिया हुआ है। "रक्षस् " उसे कहते हैं जिसे देखते ही "रक्ष, रक्ष"–बचाओ बचाओ, आदमी कह उठता है। इनको नष्ट करने वाला, मारने वाला, जलाने वाले अग्नि को कहते हैं। "रक्षोहा अग्नि"। इस अग्नि की कल्पना पायु की ही है। इसका स्वरूप देखिये । इसकी दंष्ट्राएं लोहे की हैं, अपनी जीभ से 'रक्षस्' को मुख में ढकेल अपने दांत उसके शरीर में गड़ाकर वह उन्हें नष्ट कर डालता है। जिन्हें पायु यातुधान, क्रव्याद, मूरदेब इत्यादि संज्ञाएं देता है ऐसे नरभक्षक इस पायु ने प्रत्यक्ष देखे जान पड़ते हैं। इन सबों को जलाने के लिये, भूंज डालने के लिये, कच्चा ही चबा डालने के लिये पायु इस अग्नि की प्रार्थना करता है। यातुधानादि इन्हीं को पायु 'किमीदिन' कहता है जिस पर से जान पड़ता है कि इसने अथर्वमंत्र देखे थे और वहीं से इसने यह शब्द उठा लिया है। ऐसे सबों से 'पश्चात्पुरस्तादधरादुदक्त्वात्'-पश्चिम, पूरब दक्खिन, उत्तर सभी और बचाने की प्रार्थना पायु ने रक्षोहा अग्नि से की है।

३६. भारद्वाज पायु का ही समकालीन है सोभरि काण्व। कण्व युग का यह अंतिम सूक्तकार है। इसके सूक्त आठवें मंडल में ऋ० १९ से २२ तक चार और क्रमांक १०३ पर एक ऐसे पांच हैं। ऋ० १९, १०३ दोनों की देवता है अग्नि।

२० वां है मरुतों के ऊपर, २१ वां इंद्र पर और २२ वें का विषय है अश्विनौ। इसके सूक्तों की विशेषता है इसके प्रयुक्त 'अप्रयुक्त' शब्दों में। ऐसे शब्दों का प्रयोग इसे प्रिय है। विभूतराति, इंद्रत्वोत, शुभ्रखादि, बाह्वोजस् वृषप्सु, स्तोत्र अह्रुतप्सु, वृषदञ्जि, उर्वरापति, सुराशु, रुद्रवर्तनि, सचनावत् इत्यादि शब्द केवल इसी के सूक्तों में मिलते हैं अन्यत्र नहीं मिलते। पहले देखा गया है कि शंयु ने इंद्र को 'सहस्रमुष्क' कहा था। सोभरि अग्नि को ही सहस्रमुष्क कहता है। स्वयं अपने को यह 'मक्षूतम स्तुवत् विप्र'—बडी शीघ्रता से कविता करने वाला बुद्धिमान्—कहता है। और अग्नि से प्रार्थना करता है कि इसके ये स्तोत्र 'अवो देव' और 'उपरिमर्त्य' हों। वे देवों के नीचे पर मर्त्यों के ऊपर अंतरिक्ष में भी फैलें। इन दोनों देवों से घोड़ों की मांग अधिक की जाती थी, जिस पर से जान पड़ता है कि इस युग में घोड़ों का उपयोग बहुत होता था।

३७. सोभरि ने अपने अग्निसूक्त में एक अभिनव कल्पना की है। मानव तो पाप करते ही हैं, पर देव भी पाप करते हैं यह उसके 'देवकृतं अंहः' पर से जान पड़ता है। पर पाप पाप ही है चाहे वह देवों के द्वारा हो या मनुष्यों के द्वारा। किंतु सोभरि चाहता है कि दोनों में से किसी प्रकार का पाप अग्निपरिचर्या करने वाले के पास फटकने न पाये। एक और विनोदी कल्पना सुनिये। यह कहता है—'यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रो अमर्त्यः', 'हे अग्निदेव यदि तुम मुझ जैसे मर्त्य मानव होते और मैं तुम जैसा अमर्त्य देव होता, तो कहूं क्या होता ?' 'न मे स्तोता मतीवा न दुर्हितः स्यादग्ने न पापया'—मेरी स्तुति करने वाला न मूर्ख रहता, न संकट में फंसा और न पापबुद्धि से युक्त। यह वर्णन करता है कि पौरुकुत्स त्रसदस्यु ने इसे पचास कन्यायें दान में दे डालीं इसीलिये वह त्रसदस्यु को मंहिष्ठ—सबसे बड़ा दाता कहता है। यह नहीं बतलाया गया कि इतनी कन्याओं को इसने क्या किया। इसी सूक्त में दो ऋचाएं आदित्य पर हैं जिसमें यह आदित्यों को विश्वास दिलाता है कि यही उन्हें यज्ञ में ले जायेगा। उसके लिये उनको दूसरे किसी स्तुतिकार के पास जाने की आवश्यकता नहीं। इस सूक्त के अंतिम मंत्र पर सायण का भाष्य नहीं मिलता। परंतु उसका विवेचन निरुक्तकार ने किया है। पचास कन्याओं के साथ इसे बहुत सा धन, वस्त्र दो सौ दस गायें, एक काला सांड सुवास्तु नदी के एक तुग्व पर अर्थात् पैर उतार पर मिलने का वर्णन इस ऋचा में किया हुआ है। इस एक ही ऋचा में

प्रयियु, वयियु, तुग्व और दिय ये चार शब्द ऐसे पाये जाते हैं, जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलते ।

३८. सूक्त क्र० २० है मरुतों के विषय में । गृत्समद तथा गोतम के वर्णन का सा ही यह वर्णन है। शरीर पर अलंकार, हाथों में भाले, बाण, वाद्य मुख से बजाने वाले, रथ में बैठे हुए यह तो वर्णन है ही, पर यहां इन्हें रुद्रपुत्र न कहकर रुद्र ही कहा गया है। इसी नाम पर से सोभरि ने रुद्र का भैषज्यकर्म भी इन्हें प्रदान किया है। रुद्र था जलाषभेषज तो ये बने हैं मारुतभेषज । सिंधु, असिक्नी, समुद्र तथा पर्वतों पर से दवाइयां लाकर गलितांग रोगियों को रोगमुक्त करने की प्रार्थना सोभरि ने मरुतों से की है। ये दवाइयां इनकी खोजी हुई नहीं हैं तो ये इन्हें 'वयो न पित्र्यं' वपौती के रूप में मिली हैं। यहां मरुद्गणों को केवल बाजा बजाने वाले ही न बना इन्हें 'नृतू' नाचने वाले भी बनाया है । अपनी नविष्ठ भाषा में इस मरुत्स्तुति में एक उपमा ऐसी है जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलती । ये स्वयं अपने को कहता है--'गाय गा इव चर्कृषत्' जैसा खेत में पुनः पुनः हल चलाने वाला बैलों के प्रति गीत गाता है उसी प्रकार हे सौभरे तू भी मरुतों के गीत गा । इस पर से उन दिनों कृषि का महत्व बढ़ा चढ़ा सा ज्ञात होता है। इंद्र को तब तक किसी ने न दिया हुआ विशेषण--उर्वरापति--सोभरि समर्पित करता है । उर्वरा उस भूमि को कहते हैं जहां जो बो दो वही फलता फूलता है। इंद्र को जताकर सोभरि कह रहा है कि 'सुराशु' मद्य पीकर उन्मत्त होने वाले पुरुष को मित्र न समझो । धनवान होते हुए भी वे मित्र बने न रहेंगे । 'चित्र' नाम के एक राजा ने इसे खूब दान दिया था । उसके विषय में यह कहता है--'इंद्रा वा घेदियन्मघं सरस्वती वा सुभगा ददिर्वसु। त्वं वा चित्र दाशुषे ।।' इतना धन हे चित्रराज या तो आप देते हो या इंद्र या सरस्वती। इस ऋचा को पढ़ने पर पंडित जगन्नाथ राय की 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा । मनोरथान् पूरयितुं समर्थः' की याद बरबस होती ही है । आगे भी यह कहता है--'चित्र इद्राजा राजका इदन्ये'--राजाओं में राजा चित्र है राजा, और हैं रजभैया । यह इतनी खुशामद क्यों तो चित्र ने 'पर्जन्य इव ततनद्धि वृष्ट्या सहस्रमयुता ददत्'--पर्जन्य की सी हजारों, दस दस हजारों की वर्षा की है । यह प्रचण्ड संख्या स्वर्णपिंडों को चंद्र के से सिक्कों के विषय में ही सार्थ हो सकती है। मरुत् सूक्त में इसी ने मरुतों को चंद्रान्वृष्णः --चंद्रों की वृष्टि करने वाले जो कहा है, उसे भी इस समय याद रखना चाहिये ।

३९. सोभरि का क्र० २२ का सूक्त अश्विनौ देवता के विषय में है। इसमें 'अश्विनौ' को 'रुद्रौ' कहा है । उसी प्रकार उन्हें रुद्रवर्तनी—रुद्र के मार्ग से जाने वाले भी कहा है । आरंभ में ही 'सूर्या के लिये तुम रथ पर चढते हो' कहा है। पूर्व में निर्दिष्ट सूर्यदुहिता सूर्या की कथा को यहां पुष्टि मिलती है। वैदिक वाङ्मय में इस कथा की कैसी वृद्धि हुई यह आगे आने वाला ही है । अश्विनौ तो 'देवानां भिषजौ' कहे जाते थे । इनके द्वारा रोगमुक्त किये गये तीन व्यक्तियों के नाम यहां दिये गये हैं । एक है पक्थ, दूसरा अध्रिगु और तीसरा बभ्रु । रोगी को इन्हीं का सा निरोगी करो यह सोभरि की प्रार्थना है । भृम्यश्व ने जिस देश का अपने पांच पुत्रों में बंटवारा किया और जिसका नाम तबसे पंचाल पड़ा, उसका पूर्व नाम है 'क्रिवि' । माना गया था कि यह देश अश्विनौ द्वारा समृद्ध बना था । परंतु 'क्रिवि' शब्द का दूसरा अर्थ कूप भी होता है । इस अर्थ को लेकर एक कथा भी अश्विनौ के विषय गूंथी गई । इन सारी कथाओं का विचार एक बार ही आगे किया जाने वाला है। सोभरि ने इन देवों से यवक्षेत्र भी जुतवाया है और कृषि की महत्ता स्थापित की है । यह विधान निःशंकतया किया जा सकता है कि ये ऋषि लोग पुराने सूक्तों का भली भांति अभ्यास करते थे। अन्यथा तीस पीढियां पूर्व के शुनःशेप के वर्णनानुसार अश्विनौ के रथ का वर्णन सोभरि कैसे करता ? अश्विनौ के रथ का एक चक्र उच्च स्थान पर स्थित है और दूसरा आकाश में घूमता है यह वर्णन दोनों ने एकसा ही किया है ।

४० कण्व युग के अंतिम सूक्तकार सोभरि के साथ ही अत्रियुग का आरंभ होता है । अतएव यह विचार कर कि इस संधिकाल के सूक्तकारों का विचार अत्रियुग में किया जाय, इस कण्वयुग का सिंहावलोकन करना अनुचित न होगा। इस युग में छब्बीस ऋषियों के द्वारा १०२ सूक्तों की वह रचना हुई जिसका समावेश ऋग्वेदसंहिता में किया गया । यजुर्वेद की मंत्रब्राह्मणात्मक संहिता का प्रथम संस्करण तथा अथर्वसंहिता का दूसरा संस्करण इसी युग में हुआ । उसके प्रभाव से कहिये या सूक्तकारों की केवल कल्पना से कहिये, इस युग में वैदिक देवता समूह में नीचे लिखी चौदह देवताएं समाविष्ट हुईं । वे हैं क्रम से—१. ब्रह्मणस्पति, २ वायु, ३. इंद्र-वायू, ४. बृहस्पति, ५. देवस्त्रियां, ६. पृथिवी, ७. सदसस्पति, ८. अदिति, ९. विश्वेदेव, १०. आदित्य, ११. तार्क्ष्य, १२. सरस्वती, १३. अग्निषोमौ और १४. त्वष्टा । अथर्ववेद के प्रभाव से गाय तथा संग्रामोपयुक्त वस्तुओं पर भी

मंत्ररचना हुई । साथ ही यह भी माना गया कि इन मंत्रों के प्रभाव से वे पदार्थ अधिक प्रभावशील होते हैं।

४१. इसी युग में सूक्तकार अपने नाम भी यत्र तत्र अधिक देने लगे । अपने समय के स्थानों का तथा व्यक्तियों का भी कहीं कहीं नाम निर्देश किया गया । दाता लोगों के नाम विशेषतया अंकित किये गये । दान देनेवालों की यह इच्छा कि उनका नाम अमर हो, पूरी हुई । परंतु कहीं भी उनके विषय में और कुछ ज्ञात न होने से वे व्यक्तियां यथार्थतया ही नामशेष बन गईं । अभ्यावर्ती चायमान, अश्वथ, चित्र, सार्ञ्जय प्रस्तोक, तुर्वश, देववात, वरशिख इत्यादि के विषय में नाम से अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। नदियों के नामों में सुवास्तु और यव्यावती तथा हरियूपीया स्थान नाम ऐसे हैं जिनके विषय में संशोधकों ने कुछ प्रयत्न किये । किंतु अनेकों की अनेक कल्पनाएं अनेक बार अन्योन्य विरुद्ध होने से उनकी जोड़ बाकी करने के बाद प्रायः लब्धिशून्य से कुछ अधिक नहीं हुई। पर फिर भी इतना कहना आवश्यक है कि इनके विषय में और संशोधन होना चाहिये । यह सदिच्छा प्रकट कर और इस युग के सूक्तकार ऋषियों को 'नमो वो ऋषिभ्यः' कहकर इनसे विदा लें और आगे बढें ।

षष्ठ प्रकरण

अत्रि युग

१. अत्रि कुल का आद्य पुरुष इस देश में बहुत पुराने समय आकर बसा था। पंचनद देश में इन अत्रि लोगों ने प्रथम लोकराज्य की स्थापना की। पश्चात् मांधाता के समान सबल और आक्रामक राजा का पराभव करने में क्षीण होते-होते उस लोकराज्य का लोप हुआ। उस समय अत्रि कुलोत्पन्न लोग पंचनद छोड़ कर मध्यप्रदेश के हैहय राज्य में आ बसे। मंत्र रचना की विद्या ही उस जमाने में अज्ञात थी। इसलिये किसी भी 'अत्रि' का उन दिनों सूक्तकार होना असंभव ही था। हैहय कार्तवीर्य अर्जुन के समय एक अत्रि का आश्रम सब का आश्रम स्थान कहलाया जाता था। उसकी स्त्री 'अनसूया 'पूर्णतया 'यथा नाम तथा गुणः' की थी। इसे तीन पुत्र हुए—दत्त, दुर्वासस् और सोम। तीनों बहुत ही प्रसिद्ध थे। किंतु उस समय भी मंत्ररचना विद्या अज्ञात ही थी। वह प्रथम निकाली विश्वामित्र ने। उसका प्रथम प्रसार हुआ कौशल, काशी तथा वैशाली प्रांतों में। आद्य मंत्रकार उन्हीं प्रान्तों में हुए। आगे उन मंत्रों का उपयोग यज्ञ में होने लगा। यज्ञविद्या का भी विकास हुआ। मंत्ररचना करते-करते ऋषि भी पश्चिम को बढ़ते गये। फिर भी अत्रिकुलोत्पन्न लोग मालवदेश में ही विदिशा नगरी के आस पास ज्योतिषविद्या का प्रसार करने में लगे हुए थे। किंतु जब हैहयों का पराभव हुआ, भरद्वाज और कण्व गोत्र के क्षत्रोपेत ब्राह्मण सरस्वती नदी के तीरों पर फैल छोटे-छोटे राजाओं से यज्ञ कराकर और दक्षिणा मिलाकर प्रसिद्ध होने लगे, तत्पश्चात् इस कुल के लोग भी मंत्ररचना की ओर मुड़े और इन लोगों ने भी पर्याप्त मंत्र रचना की।

२. इन अत्रिकुलोत्पन्न सूक्तकारों का विचार करने के पूर्व कण्वयुग और अत्रियुग के संधिकाल में जो सूक्तकार प्रसिद्ध हो गये, उनका विचार प्रथम करना चाहिये। इनमें दो मुख्य हैं। एक है मरीचिपुत्र कश्यप और दूसरा है कुत्स आंगिरस। गायत्री मंत्र के प्रणेता और मंत्ररचना के आविष्कर्त्ता विश्वामित्र की कुछ ऋचाएं निश्चित रूप से उसकी रची हैं। उनकी संख्या कुछ भी हो पर वे एक से अधिक हैं। किंतु जिस मरीचिपुत्र कश्यप का हम विचार कर रहे

हैं उसका एक ही ऋचा का एक अपवादात्मक सूक्त प्रसिद्ध है। इसका क्रमांक है (१-१९) । ऋचा है–'जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहाति वेदः। स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिंधुं दुरितात्यग्निः'। अर्थ है–जातवेदस् अग्नि के लिये चलो। हम सोमरस तैयार करें। हमारे साथ शत्रुता रखने वालों के पास की सारी वस्तुओं को वह जलाकर खाक कर दे। नाव के द्वारा नदी में से जैसे पार जाते हैं उसी प्रकार वह हमें सभी प्रकार के अनुल्लंघ्य पापों में से बचाकर ले जावे । अनेक ऋषियों के अनेक ऋचाओं से भरे अनेक सूक्त ऋग्वेद में हैं । पर इस मारीच कश्यप का एक ही ऋचा का एक ही सूक्त आज भी अपनी प्रसिद्धि कर रहा है । वेदार्थ न समझने वाले किन्तु आज हम जिन देवीदेवताओं का पूजन करते हैं उनके नाम-सादृश्य से उनके मंत्र ऋग्वेद में ढूंढ़ने वाले वैदिक ब्राह्मणों ने इस मंत्र के 'दुर्गाणि' पद में दुर्गा को ढूंढ़ा और जातवेदस् अग्नि का यह मंत्र दुर्गादेवी का मंत्र होकर दुर्गा भक्तों के मुख में बैठकर अमर हो गया।

३. आंगिरस कुत्स के सूक्त प्रथम मंडल में क्र० ९४ से ९८ तक हैं। ये अग्नि पर हैं। कुत्स के सूक्तों में ध्रुव चरण–पुनः पुनः आने वाले चरण बहुत हैं। प्रथम अग्निसूक्त में ही वह कहता है–'अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव'। हे अग्निदेव तुम्हारा सख्य होते भी हमारा नाश ? कभी नहीं होगा। अपने सूक्त के विषय में इसका कथन है कि 'इस पूजनीय जातवेदस् अग्नि के लिये हम यह स्तोत्र अपने विचारों से ऐसा भर रहे हैं जैसा कोई रथ । यहाँ सोभरि ऋषि के रथ वर्णन की स्मृति आती है । हे अग्निदेव, तुम जिसे यज्ञ करने की बुद्धि देते हो, 'स साधति'–उसको सभी प्रकार से भला होता है। यहां का 'साधति' शब्द भरद्वाज ऋषि की याद दिलाता है जिसने भी 'मर्तो ददाश स साधति'–जो देता है उसे मिलता है––कहा था। चतुर्थ ऋचा में 'पर्वणा पर्वणा' शब्दों पर से अनुमान किया जा सकता है कि यजुर्वेद में कही हुई 'दर्शपूर्णमासेष्टि' इस समय की जाती थी। शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष के संधि समय को 'पर्वन्' कहा जाता है। पहले देखा जा चुका है कि हर्यत प्रागाथ के समय ऋत्विजों की संख्या सात थी। वे ऋत्विज थे–अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, ब्रह्मा, होता, आग्नीध्र, ब्राह्मणाच्छंसी और यजमान । सोमाहुति भार्गव ने 'अष्टमं पोता' कह कर आठवें पोतृकर्म का निर्देश किया। इन्हीं में कुत्स एक ऋत्विज का नाम देता है 'प्रशास्ता'। सायणाचार्य कहते हैं–'होतर् यज, पोतर् यज इत्यादिना प्रैषेण शास्तीति मैत्रावरुणः प्रशास्ता'। इस पर से ज्ञात

होता है कि कुत्स के समय में ऋत्विजों की संख्या नौ हो चुकी थी। कुत्स अग्नि को 'वसूनां वसुः' कहता है। कुत्स के सूक्तों के अन्त में 'तन्नो मित्रो वरुणो मामहंताम् अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः' इस अर्घ का उपयोग करता है और मित्र इत्यादि देवों को अपना महत्व बढ़ाने की प्रार्थना करता है।

४. मंत्ररचना के साथ साथ ही इस समय यज्ञ संस्था की भी वृद्धि हो रही थी। कुत्स के क्र० ९५ के सूक्त पर से यह स्पष्ट होता है। यजुर्वेद के 'तयोरेतौ वत्सौ। अग्निश्च आदित्यश्च।' के आधार पर ही 'द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुपधापयेते' की कल्पना की हुई है। इसी प्रकार त्रित आप्त्य का 'त्वष्टा यं त्वां सुजनिमा जजान' ही कुत्स के 'दशेमं त्वष्टुर्जनयंति गर्भं' का आधार है। यहां कुत्स ने अग्नि के तीन जन्म कहे हैं–'समुद्र एकं दिव्येकमप्सु'–अंतरिक्ष में, आकाश में और पानी में। इसका ऋतुविषयक उल्लेख ज्योतिष का विकास दिखलाता है। जैसा कोई पुरुष माता को नये-नये वस्त्र पहिनने के लिये ला देता है उसी प्रकार अग्नि तथा सूर्य आकाश तथा पृथ्वी इन्हे यह ऋषि नये-नये सूक्त पहिनाता है। कितनी सुसंस्कृत और स्त्री की अपेक्षा माता की महती दिखलाने वाली है यह उपमा। आगे के सूक्त में उसी द्रविणोदा अग्नि की स्तुति है जिसकी स्तुति नाभाक कण्व ने अपनी एक ऋचा में की थी। प्रति ऋचा के अन्त में 'देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्' यह चरण आवृत्त है। आगे के सूक्त की रचना रेभकाश्यप की रचना के समान है। प्रथम ऋचा का प्रथम तथा अंतिम चरण एक ही है 'अपनः शोशुदघम्' पाप हमें न रुलावे। आगे की ऋचाओं में भी यही चरण अन्त में आता है। इसी सूक्त में अच्छा उपजाऊ खेत मिलने की याचना की है, जो उस काल के खेती की महत्ता दिखाती है। क्र० ९८ का सूक्त वैश्वानर अग्नि पर है।

५. क्रमांक १०१ से १०४ तक के सूक्तों की देवता इंद्र है। इस सूक्त में कृष्ण नामक असुर की कथा आई है। जिस ऋजिष्वन् के हेतु इंद्र ने कृष्ण को मारा और उसकी गर्भिणी स्त्रियों का भी निःपात किया, उस ऋजिष्वन् का निर्देश भरद्वाजों के सूक्तों में भी आया हुआ है, परंतु वहां 'कृष्ण' का उल्लेख नहीं। अतएव कुछ पाश्चात्य पंडित यहां 'कृष्णगर्भाः' शब्द का अर्थ 'जिनके पेट में पानी जमा हुआ है ऐसे मेघ' करते हैं तथा उसमें से पानी बाहर निकाला ऐसा विवरण करते हैं। किंतु इंद्र द्वारा यह गर्भहत्या हुई ऐसा आगे के एक सूक्त में जो 'आण्डा मा नो मघवंछक्र निर्भेत्' इस कुत्स की प्रार्थना पर से जान

पड़ता है । पहिली सात ऋचाओं के अंत में 'मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे' यह चरण ध्रुवपद के समान आता है। अपनी इस स्तुति को कुत्स स्वयं 'महतो मही' श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कहता है। यहां भी सात नदियों का निर्देश है। इसके आगे के सूक्त में तब तक किसी के द्वारा व्यक्त न की हुई मनोवृत्ति का वर्णन है । यह है श्रद्धा । यह शब्द कुत्स द्वारा ही प्रयुक्त किया गया है और इन्द्र के चार सूक्तों में 'श्रत्' पूर्वक 'धा' धातु का प्रयोग तीन बार आया है। द्वितीय भरद्वाज के 'खजकृत्' शब्द के स्थान में कुत्स 'खजंकर' शब्द प्रयुक्त करता है। इसके आगे के सूक्त में 'मानुषेमा युगानि'–ये मनुष्य के युग कहने पर से वर्षसमूहवाचक युग शब्द का अर्थ ध्यान में आ सकता है। युग में कितने वर्ष माने जाते थे इस विषय का निश्चय न हो, तथापि किसी विशिष्ट वर्ष गण युक्त कालखंड को यह संज्ञा दी गई थी, यह बात ऋत्विजों के समान ही ज्योतिष ज्ञान की ज्ञापक निःसंशय है। इसी सूक्त में एक ऐसी उपमा है जो कुत्सितोपमा कही जा सकती है। रास्ते का लुटेरा जैसा पूरा ध्यान रख कर द्रव्यापहार करता है, वैसा ही इंद्र यज्ञकर्म न करने वालों का धन छीन लेता है। यहां इंद्र की स्तुति करते उसे लुटेरा बना दिया है। यहीं यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि इंद्र विजय से देवपत्नियाँ आनंदित होतीं । आखिर के सूक्त में एक शब्द है 'निःषपी'–स्त्रीलंपट । इस प्रकार का पुरुष जैसा अपना धन मनमाना बिना चिंता करके फेंक देता है, इस प्रकार हे इंद्रदेव तुम हमें फेंक न दो । इसके बाद की प्रार्थना है कि 'हे इंद्र बाप जैसा बेटे की पुकार सुनता है उस प्रकार तुम मेरी पुकार सुनो'। इसी सूक्त में शिफानदी के तीर पर 'कुयव' को अपनी दोनों स्त्रियों के साथ इन्द्र ने मार डाला ऐसी कथा भी दी हुई है। यहां इंद्र के चारों ओर भी नई २ कल्पित कथाओं का जाल बुनने की प्रथा का आरंभ दीखता है।

६. आगे के तीन विश्वेदेवों के सूक्तों में से केवल एक (क्र०-१०६) कुत्स विरचित है। क्र० १०५ बिल्कुल ही भिन्न प्रकार का तथा १०७ वाँ साम-निर्देश पर से इस कुत्स के नहीं जान पड़ते । शेष १०६ वें में ध्यान में रखने योग्य बात यह है कि कुत्स ने पितरों को विश्वेदेवों में स्थान दिया है। इस सूक्त की ऋचाओं का उत्तरार्ध है–'रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपीर्तन'–खूब दानी वसुदेव सब पापों से हमें वैसे ही पार ले जावें जैसा रथ विषम मार्ग में से हमें भली भांति ले जाया करता है। अन्तिम अन्त 'तन्नो वरुणो' इत्यादि अन्य सूक्तों में जैसा है वैसा है ही। क्र० १०८ और १०९ का विषय 'इंद्राग्नी' युग्म देवता है । विदथिन् भरद्वाज के पश्चात् इस देवता

पर सूक्त बनाया 'कुत्स' ने। प्रथम सूक्त में 'आ सोमस्य पिवतं सुतस्य'– निचोड़कर निकाला सोम रस पीओ, खूब पीओ, यह चरण प्रायः हर एक ऋचा में आवृत्त हुआ है। यहां भी कुत्स ने श्रद्धा की बात की ही है। दूसरे सूक्त में कहा गया है–तुम दोनों किसी कुरूप जामाता से तथा बुरे साले से अधिक धन देने वाले हो। इस पर से उन दिनों की विवाहप्रथा की एक सूचना प्राप्त होती है। कुरूप वर अच्छी वधू मिलाने के लिये धन देता था तथा अपनी बहिन अच्छे वर को देने के लिये शालक उसके अवगुणों की पूर्ति धन देकर करता था। व्यक्ति की अपेक्षा इस बात पर से स्पष्ट जान पड़ता है कि धन का महत्व कैसे बढ़ रहा था।

७. आगे के दो सूक्तों के विषय हैं 'ऋभु'। इनकी कल्पना भी उस समय न थी। वही स्थिति अश्विनौ के ११२ वें सूक्त की तथा ११३ वें सूक्त की है। इनमें वर्णित ज्ञान उस समय इतना विकसित न था। इन चार सूक्तों को छोड़ दिया जाए तो शेष दो सूक्त कुत्स के माने जा सकते हैं। अतएव यहां उन्हीं का विचार किया गया है। पहला है रुद्र पर और दूसरा है सूर्य पर। रुद्र सूक्त यजुर्वेद के रुद्राध्याय पर आधारित है। किंतु वंकु, दिवोवराह तथा मरुत्वान् ये तीन विशेषण वाचक शब्द रुद्र के लिये प्रयुक्त हैं। सूर्य पर सूक्त में एक सामाजिक प्रवृत्ति का निर्देश है। स्त्री के पीछे-पीछे जैसे पुरुष जाता है वैसे सूर्य ऊषा के पीछे लगता है। इस सूक्त में युग शब्द का प्रयोग भिन्न भिन्न समय किये जाने वाले यज्ञों का वाचक होने से अनुमान किया जा सकता है कि यज्ञ संस्था तथा ज्योतिष शास्त्र की कालज्ञान विद्या कैसे एक दूसरे का हाथ पकड़ कर विकास मार्ग पर बढ़ रही हैं।

८. अब अत्रिकुल के आद्य सूक्तकार अत्रि के सूक्तों को देखें। अनुक्रमणिकाकार इसे भौम कहते हैं और इस विशेषण पर से इसका भूमि के साथ अर्थात् कृषि के साथ संबंध जान पड़ता है। पूर्व में 'अप्रजाः सन्त्वत्त्रिणः' यहां पर जो अत्त्रि शब्द है वह दो तकारों से युक्त है। उसका अर्थ है भक्षक। सूक्तकार अत्रि के कुल का वाचक शब्द एक तकारयुक्त ही है। भृगु तथा वसिष्ठों के पश्चात् तीसरा होते हुए भी जो तीसरा न माना गया वह अत्रि कुल का मूल पुरुष इसी कुल का है भौम अत्रि। पृथिवी देवता पर इसी का प्रथम सूक्त रचा गया और पर्जन्य देवता भी इसी ने निर्माण की। पंचम मंडल में इसके नाम पर जो सूक्त अंकित हैं, उनमें से 'विश्वेदेव' विषयक सूक्त छोड़, शेष इसी के हैं। इनमें क्रं० ३७, ३८, ३९ इंद्र देवता पर रचे हुए हैं।

प्रथम ऋचा में ही अत्रि कहता है कि उषःकाल सुप्रभात उसी के विषय में होता है जो इंद्र के लिये 'सुनवाम' कहता है। यह पढ़ते ही कश्यप का 'जातवेदसे सुनवाम' तथा कुत्स के 'सुनवाम सोमं' की याद आये बिना नहीं रहती। इस सूक्त की विशेषता इस बात में है कि यह ऋषि अकेले इंद्र को नहीं बुलाता किंतु इंद्र को इंद्रपत्नी के साथ आवाहन करता है। वह कहता है कि 'वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति' और इंद्र भी अपने साथ आने की इच्छा रखने वाली 'महिषी' को साथ लेकर आता है। अत्रि के मत से जो राजा सोमयाग करता है वह 'न व्यथते', 'हन्ति वृत्रम्' 'क्षेति क्षेतीः' तथा 'प्रियः सूर्ये, प्रियो अग्ना भवाति'। इस उक्ति पर से ज्ञात होता है कि उन दिनों राजा लोग बहुधा सोमयाग करते थे। इसने 'धन' को 'नाम' संज्ञा दी है। नाम का मतलब है नमाने वाला, झुकाने वाला। धन की महत्ता इस पर से सूचित होती है। धन के ही विषय में इसने 'योग' तथा 'क्षेम' अर्थात् न मिलाया हो उसे मिलाना और जो मिलाया हो उसे संभालना दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। गोतम राहूगण ने इंद्र को कहा था कि जिसे दोनों हाथों से समेट सके ऐसी संपत्ति उसे मिले। अत्रि इंद्र की प्रार्थना करता है कि 'उभयाहस्ति' धन वही अत्रि के लिये ले आये। अनेक स्तुतिकार 'पूर्वेभिः जुजुषे' पुराने ही सूक्तों से स्तुति करते हैं। पर अत्रि लोग इंद्र के लिये 'गिरो वर्धन्ति' 'गिरः शुंभन्ति' अपने शब्दों को बढ़ाते हैं, अलंकृत करते हैं।

९. इसके अनंतर के ऋ० ७६, ७७ के दो सूक्त अश्विनौ देवता पर रचे हुए हैं। ये देव 'न संस्कृतं प्रमिमीतः'–संस्कार किये हुए पुरुष को नहीं मारते। इस सूक्त में 'संगव' शब्द आया है। दिन के उस विभाग का नाम संगव है जब दूध दुहने के लिये गायें और बछड़े मिलाये जाते हैं। इस शब्द पर से समझ सकते हैं कि दिन के अलग अलग विभाग मानने तक काल ज्ञान का विकास हो चुका था। अश्विनौ का आवाहन करने का समय सुबह का है। 'न सायमस्ति देवयाः'। इसी सूक्त में आये हुए दो शब्द 'मनोजवाः' तथा 'वातरंहाः' जव और रंह के अर्थभेद को विशिष्ट रूप से दिखाते हैं। जव है शीघ्रतावाचक और रंह है सामर्थ्यवाचक। हनुमत् स्तुति में आये हुए 'मनोजवं मारुततुल्यवेगं' चरण की तथा 'न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्छति मारुतस्य' इस कालिदासोक्ति की स्मृति जागृत होती है। पंचर्च इन दोनों सूक्तों में 'समश्विनोरवसा नूतनेन मयोभुवा सुप्रणीती गमेम' इत्यादि पूरी की पूरी ऋचा अंत में पुनरुक्त है। इसमें धन पुत्र तथा सब प्रकार के सुखों की याचना की हुई है।

१०. पर्जन्य तथा पृथिवी इन दो नूतन देवों पर क्र० ८३, ८४ ये सूक्त हैं। किन्तु आज हम जिस अर्थ में इन दोनों शब्दों का प्रयोग करते हैं, उसके अधिक व्यापक अर्थ में ये दोनों शब्द ऋग्वेद में प्रयुक्त हैं। आज पर्जन्य का अर्थ वृष्टि किया जाता है। पर वैदिक वाङ्मय में पर्जन्य उस देव को कहते हैं जो गरजते हुए वृष्टि कराता है। उसी प्रकार पृथ्वी का अर्थ हम जिस पर चलते हैं वह भूमि–केवल जमीन इतना ही नहीं होता अपितु उसके आसपास का आवरण व तद्युक्त यह सारा भूगोल इतना अर्थ मानना पड़ता है। इस बात को ध्यान में रख लिया जाय तो इन सूक्तों को समझने में सहायता प्राप्त होती है। पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः–गर्जना करने वाला पर्जन्य दुष्ट लोगों का हनन करता है। यह कल्पना इसी सूक्त में दो बार आई है। मेघ की गर्जना को सिंह की गर्जना के साथ पहले अत्रि ने ही उपमित किया और तब से लेकर आज तक संस्कृत वाङ्मय में यह उपमा चली आ रही है। 'यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति यस्य व्रते शफवज्जर्भुरीति'–जिसकी इच्छा के अनुसार पृथिवी झुकती है, जिसकी इच्छा से पशु पुष्ट होते हैं, वह पर्जन्य देव हमें खूब सुखी रखे, यह अत्रि की प्रार्थना है। मशक ऊंची कर पानी नीचे डालने की उपमा वृष्टि को दी हुई देखकर, चमड़े की मशकें, कुप्पे इत्यादि बनने लगे थे यह सहज ही में समझ में आ सकता है। 'दृति' चमड़े का पात्र इस शब्द का प्रयोग भी पहिले पहल अत्रि ने ही किया हुआ है। तीन ऋचाओं के पृथिवी सूक्त में इसने चार नाम दिये हैं–प्रवत्वती, महिनी, विचारिणी, तथा अर्जुनी। ऋषि कहता है–हे पृथिवि-देवि, तुम सचमुच पर्वतों का भार वहन करती हो, और विस्तीर्ण भूमि धारण करती हो। प्रवत्वती का अर्थ है ऊंचे नीचे विभाग से युक्त, महिनी का है विशाल, विचारणी का अर्थ है जिस पर हम विचरण कर सकते हैं और अर्जुनी का अर्थ है सीधी। जब वर्षा होती है तब भूमि दृढ़ होकर अपने सामर्थ्य से वनस्पत्यादि का पोषण करने के लिये उनकी जड़ों को दृढ़ पकड़ रखती है। पर्जन्य की गरज शेर के दहाड़ की सी होती है, किन्तु वर्षा करते समय मस्ती में आकर वही घोड़े की हिनहिनाहट के समान होकर पृथ्वी की ओर आकृष्ट होती है।

११. अंतिम दो सूक्तों क्र० ८५ व ८६ में वरुण और इंद्राग्नी का वर्णन है। ८५ का विषय है वरुण और ८६ का है इंद्राग्नी। वृक्षों के अग्रों पर आकाश तानकर नीचे वरुणदेव ने घोड़ों में सामर्थ्य की, गायों में दूध की, मानव हृदय में निश्चय की, जल में अग्नि की, आकाश में सूर्य की तथा पर्वत पर सोम की संस्थापना की। मेघ के लिये 'क-बन्ध' नाम

का प्रयोग कर ऋषि कहता है कि वरुणदेव नीचे मुख किये हुए मेघ से ऐसी वृष्टि कर लोगों को भिगोता है जैसा कोई कृषक अपने खेत को पानी देकर सींच रहा हो। उपरिस्थित वरुण मानो सूर्य की गति से पृथ्वी को नापता है। नीचे बहती हुई नदियां अपने फेनिल जल से समुद्र का मुंह भरकर भी उसे ऊपर से नहीं बहने देतीं, यह सब वरुणदेव का ही सामर्थ्य है। कोई मालिक हो या मित्र, स्नेही हो या सगा भाई, पहचान का हो या बिना पहचान का, जिस जिसके साथ मेरे द्वारा दुर्वर्तन हुआ हो, वह सब फिर मेरे पास न आकर दूर ही रहें। जुआ खेलने वाले द्यूतकार जैसे एक दूसरे पर मिथ्यारोप करते हैं, वैसे यदि मैंने किसी पर किये हों तो उन दोषों से मुक्त करने की प्रार्थना कर, अत्रि ऋषि अपना अलंकारों से विभूषित यह सूक्त इस प्रार्थना के साथ समाप्त करता है कि 'अधा ते स्याम वरुण प्रियासः' "—हे देव हम तुम्हारे प्रिय बने रहें"। भौम अत्रि का इंद्राग्नी पर जो ८५ क्र० का सूक्त है, वह बिल्कुल ही सामान्य है। उसमें एक ही विशेष बात यह है कि उस सूक्त में धन को तुर तथा जंगम कहने से स्थावर धन की, भूमि-धन की सी कल्पना ध्वनित होती है।

१२. 'गिरः शुम्भन्ति अत्रयः' इस वाक्य में कहा गया है कि अत्रि कुल के ऋषि लोग शब्दों को बढाते हैं। पीछे नाभाकादि ऋषियों ने भी यही किया था। किन्तु अत्रिपुत्र श्यावाश्व ने तो इस गीर्वर्धन की कमाल कर दी है। अष्टम मंडल में इसके क्र० ३५ से ३८ तक चारों सूक्त उदाहरण रूप में दे सकते हैं। 'अग्निनेन्द्रेण' क्र० ३५ का आश्विन सूक्त नाम के लिये २४ ऋचाओं का है। किन्तु हर एक तृच में ४४ अक्षरों में से कहीं २४, कहीं ३२, तो कहीं ४० अक्षरों में से २४ अक्षर ज्यों के त्यों पुनरावृत्त हैं। आगे के दो सूक्त अश्विनौ पर नहीं तथा इंद्र पर भी होते हुए इसी प्रकार के हैं। इसके पश्चात् जो इंद्राग्नी पर सूक्त है वह भी ऐसा ही है। इस सूक्त का छंद गायत्री है अर्थात् प्रत्येक ऋचा २४ अक्षरों की है। इसके प्रत्येक तृच में तीसरा चरण समान है। समान चरणों को फिर फिर से पुनरुक्त करने में एक प्रकार की कंदराहट आती है। विचार कीजिये कि ५६ अक्षरों में बारह ही नये अक्षर और बाकी सब वे के वे ही। एक उदाहरण से यह ठीक समझ में आ सकेगा। सूक्त का छंद है शक्वरी—इसमें 'पिबा सोमं मदाय कं शतक्रतो यं ते भागमधारयन् विश्वाः सेहा नः पृतना उरुज्रयः, समप्सुजिन्मरुत्वाँ इंद्र सत्पते'—हे शतक्रतो इंद्र सुखप्राप्ति के लिये सोम पान करो। तुम्हारा जो भाग यहां रखा गया है

उसे ग्रहण करो, मरुतों के साथ रहनेवाले तथा भले लोगों के पालन करने वाले हे इंद्रदेव तुम्हारी सारे ही कामों में विजय होती है। अतएव सारी सेवाओं को और उनके सामर्थ्य को परास्त करो। इतना अर्थ हर ऋचा में पुनरावृत्त और नया अर्थ कहने वाले केवल १२ अक्षर--जैसे 'प्राव स्तोतारं मघवन्नव त्वाम्' या 'अत्रीणां स्तोममद्रिवो महस्कृधि' और फिर वे ही अर्थबोधक पूर्वोक्त शब्द। यह स्वरूप है इन सारे सूक्तों का

१३. ऐसे सूक्तों में कुछ नई बड़ी बात मिलने की अपेक्षा ही नहीं की जा सकती। फिर भी ३५ वें सूक्त की एक उपमा मन को खींच ही लेती है। ऋषि कह रहा है कि तरुण जैसा लड़कियों की स्तुति में खुश रहता है वैसा ही मेरी स्तुति से देव खुश हो। इस पर से जान पड़ता है कि लड़कियां तरुणों की खुशामत करने लगी थीं। हारिद्रव नामक पीले पक्षियों का निर्देश हंस तथा गीधों के साथ किया गया है। पानी की ओर दौड़ने वाले महिषयूथ का वर्णन यहां भी मिलता है। सोमयाग का विकास एक सवन से तीन सवनों तक बढकर और तीनों सवनों की सीमा लांघकर दूसरे दिन भी चलता था। यह बात 'तिरो अह्न्य' शब्द सूचित करता है। तिरोअह्न्य का अर्थ है एक दिन पहले निचोडकर तैयार किया गया सोम। इंद्राग्नी का सूक्त गायत्री छंद में होने के कारण 'गायत्रवर्तनि' कहा गया है। इंद्राग्नी को प्रयुक्त शब्द 'सरस्वतीवत्' सूचित करता है कि सरस्वती देवता के साथ ही इंद्राग्नी की स्तुति होती थी।

१४. परंतु इस पर से यह समझना भूल होगी कि श्यावाश्व आत्रेय के सारे के सारे सूक्त ऐसे ही थे। मरुतों पर इसकी एक दशसूक्तावलि है। ये दसके दस सूक्त पंचम मंडल में क्र० ५२ से ६१ तक दिये हुए हैं। ये बिल्कुल ही अलग प्रकार के हैं। ६१ वां सूक्त छोड़ दिया जाए तो शेष नौ सूक्तों का विचार एक साथ किया जा सकता है। ये सारे सूक्त एक ही देवता पर होने के कारण कुछ पुनरावृत्ति तो अपरिहार्य ही है। पर इनमें आया हुआ यमुना तथा परुष्णी नदियों का निर्देश सिद्ध करता है कि श्यावाश्व ने इन नदियों को देखा था। मरुतों के चितकबरे घोड़ों को श्यावाश्व ने 'किलासी' नाम दिया है। इसी पर से संभव है कि शरीर पर सफेद दाग पड़ने वाले कुष्ट रोग को भी किलास कहने लग गये होंगे। नेम भार्गव ने 'क ईं ददर्श' कहते ही इंद्र का उसके संमुख आ खड़ा होना पूर्व में पढ़ चुके हैं। श्यावाश्व ने भी इसी प्रकार 'कः शुश्राव' कहते ही, इंद्र नहीं सारे मरुत् उसके सामने आये

और कहने लगे 'इमान्पश्यन्निह स्तुहि' 'देख इन्हें और कर वर्णन अब' । इसका मरुद्वर्णन है भी आंखों देखा का सा। जमदग्नि ने जिस प्रकार मित्रावरुणौ के स्पर्शों को 'अयःशीर्षा' बनाया था, वैसे ही श्यावाश्व ने मरुतों को सुनहरे जिरह टोप वाला बनाया और उनके तन पर आगे दिये हुए अलंकार चढ़ाये। कंधों पर भाला, हाथ में धनुर्बाण, पीठ पर भाला, वक्षःस्थल पर सोने का पदक युक्त गोफ और पांवों में कड़े, ऐसा वर्णन मरुतों का श्यावाश्व ने किया है। उसे ये सारे मरुत् जुड़े भाइयों के समान दीखते हैं। बन ठनकर रहने की इनकी प्रवृत्ति श्यावाश्व के मत से विवाहोत्सुक वर के समान है। सात सात का एक ऐसे इनके सात गण हैं। इन्हीं गणों के अंतर्गत दूसरे गण हैं जिन्हें व्रात कहते हैं। जिस 'कबन्ध' शब्द का मेघ के अर्थ में अत्रि ने प्रयोग किया उसी कबंध पर से 'कबंधिन्' शब्द बनाकर मरुतों के लिये उसी का प्रयोग किया है। इन मरुतों को देख पृथिवी कांपने लगती है। उसके कांपने से वैसे ही डावाँडोल पैदा होती है जैसे नदी में से जाने वाली नाव में। सोभरि काण्व ने जिन चंद्र नामक सिक्कों का उल्लेख किया उन्हीं चंद्रों से युक्त धन यह श्यावाश्व मरुतों के पास मांगता है। यह कहता है 'चंद्रवद्राधो मरुतो ददानः'। पूर्वोल्लिखित चरणावृत्ति इन नौ सूक्तों में मिलकर एक ही बार है। यह चरण है—'शुभं याथामनु रथा ववृत्सत'—अच्छे मार्ग से चलने वालों के पीछे स्वयं पड़ती है संपत्ति, यह ध्रुव पद पूर्वोक्त ध्रुवचरणों से सर्वथा भिन्न है। इसके नव निर्मित शब्द हैं—नभन् अर्थात् पानी का स्रोत, हये अर्थात् अरे, और कपन अर्थात् लकड़ी में लगने वाला कीटक।

१५. अब जो ६१ वां सूक्त अवशिष्ट रखा था उसकी ओर ध्यान दें। इसमें मरुद्वर्णन के साथ २ और भी बातें हैं। पहली चार ऋचाएं मरुत् पर हैं। आगे श्यावाश्व कहता है—"मैंने जिस पुरुष की स्तुति की उसके हाथ में जिसने अपना हाथ दिया, उस स्त्री ने मुझे सौ भेड़ों के साथ बहुत से घोड़े और गायें दीं।' आगे पुरुष तथा स्त्री की तुलना करते हुए ऋषि कहता है। कि "जिसकी देव पर निष्ठा नहीं है और जो दानधर्म नहीं करता है ऐसे पुरुष की अपेक्षा स्त्री श्रेष्ठ और समर्थ है क्योंकि वह दुःखितों का दुख, जिन्हें कुछ कमी होती है उनकी कमी तथा कामी पुरुष की दृष्टि सहज में पहचान लेती है और स्वयं ईश्वरपरायण रहती है। उसी ने ही मुझे मार्ग दिखलाया और दो लाल घोड़े मुझे देकर मुझे पुरुमीढ के पास भेजा। विददश्व पुत्र ने मुझे सौ गायें दीं और तरंत ने मुझे धन दिया। इतना वर्णन कर फिर छः ऋचाओं में मरुतों

का वर्णन किया । पश्चात् श्यावाश्व ने एक देवता से कहा कि 'कोई रथ वाला किसी वस्तु को रथ में से इष्ट स्थान पर पहुंचाता है । देवि, मेरा यह स्तोत्र दार्भ्य के पास पहुंचा दो । इस देवता को वह 'ऊर्म्या' कहता है । सोम यज्ञ करने वाले रथवीति को स्पष्टतया कह दो कि मेरी कामना मुझे छोड़ती नहीं। रथवीति पर्वत पर रहता है । मरुतों से जिनका संबंध नहीं ऐसी इस सूक्त की ऋचाओं का सारांश ऊपर दिया हुआ है ।

१६. परंतु इस असंबद्ध वाक्यसमूह से अनुक्रमणिकाकार ने एक सुसंबद्ध कथा निर्माण की है । शौनक के बृहद्देवता नामक ग्रंथ में दी हुई यह कथा आगे लिखे अनुसार है। "दार्भ्य रथवीति नाम का एक राजर्षि अत्रि ऋषि के पास जाकर बोला–" मेरे यज्ञ में आप अपने अर्चनानस् नामक पुत्र को भेजने की कृपा करें।" अर्चनानस् अपने श्यावाश्व नामक पुत्र के साथ वहां गया और उसने यज्ञ कर्म संपन्न किया । वहां राजा की लड़की को देखकर अर्चनानस् तथा श्यावाश्व दोनों को वह पसंद आई और उसने श्यावाश्व के लिये उस लड़की की राजा से मांग की । राजा ने रानी से पूछा। रानी ने कहा— श्यावाश्व ने अभी तक सूक्तरचना की नहीं है । अतएव ऋषि कहलाने के लिये वह योग्य नहीं । ऐसे को वह अपनी लड़की देना नहीं चाहती । यह सुनकर पिता पुत्र दोनों वापस लौटे, पर श्यावाश्व का मन उस लड़की के प्रति आसक्त ही बना रहा । दोनों शशीयसी और विददश्व पुत्र तुरंत तथा पुरुमीढ़ से मिले । दोनों पिता पुत्रों का सत्कार किया गया और तरंत की अनुमति से शशीयसी ने भेड़, घोड़ें तथा गायें इत्यादि दोनों को दीं । पश्चात् ये पिता पुत्र अत्रि के पास गये । श्यावाश्व के मन में यह बात खलती रही कि मंत्र रचना न आने के कारण वह लड़की उसे न मिली । "यदि मैं मंत्रद्रष्टा होता तो कितना अच्छा होता" यह विचार उसके मन में बराबर आता रहा । इसी विचारमग्न स्थिति में उसके सामने मरुद्गण प्रकट हुए । एक वय के तथा एक से उन्हें देख कर श्यावाश्व ने प्रश्न किया, "आप कौन हैं ?" पश्चात् उसने समझा कि वे मरुत् हैं । ऐसा समझने पर "य ईं वहन्तः" इत्यादि ऋचाओं से उनकी स्तुति श्यावाश्व ने की । स्तुति से संतुष्ट होकर उन्होंने अपने गले का अलंकार श्यावाश्व को दिया । स्तुति पर ऋचाएं रचने से श्यावाश्व ऋषि बना । उसने यह सूक्त ऊर्म्या द्वारा रथवीति के पास भेजना चाहा किंतु उसे पता न था कि रथवीति कहां है । श्यावाश्व ने समझा कि वह हिमाचल पर है । ऊर्म्या वहाँ गई और उसके द्वारा संदेश पहुंचने पर रथवीति ने अपनी लड़की अर्चनानस् की पुत्रवधू बना दी । केवल ऋचाओं पर से यह सारा

इतिहास समझ में नहीं आता न अन्य कुछ प्रमाण इसके लिये मिले हैं। केवल इसी बात का ज्ञान हो कि कई बार अनुक्रमणिकाकार संगति लगाने के लिये किस प्रकार का प्रयत्न करते हैं, उन ऋचाओं का अर्थ तथा कथा का सारांश यहां दिया गया है। ५-८१ तथा ८२ ये दोनों सवितृपर सूक्त इसी श्यावाश्व के हैं।

१७. इसी श्यावाश्व का ९–३२ क० का सूक्त पवमान सोम पर है। इसमें निर्देश है त्रित आप्त्य का। ऋषि की वाणी "योषा जारमिव प्रियम्" सोम की स्तुति करती है। अब इसके 'गीर्वर्धन' सूक्त में जिस त्रसदस्यु का निर्देश है उसी पौरुकुत्स त्रसदस्यु के सूक्तों का विचार करना है। पूर्व में कहा ही गया है कि इस अत्रियुग के कालखंड की लंबाई बहुत बड़ी नहीं है। यह खंड सब मिलाकर सौ सवा सौ साल का है। परन्तु इस काल में भली-बुरी मिलाकर सूक्त रचना पर्याप्त संख्या में हुई। ये सूक्तकार लगभग समकालीन ही कहे जा सकते हैं। अतएव इनके सूक्तों में पूर्वापर निश्चिति करना कठिन पड़ता है। इस कारण इन सूक्तों के विचार क्रम में यह कालक्रम थोड़ा इधर उधर होना संभाव्य है। इसलिये अनुक्रमणीकारों ने, जिस अर्चनानस् को श्यावाश्व का पिता कहा है, पर जो वास्तव में उसका भाई था, उसके सूक्तों की अब आलोचना करना है। ये दोनों सूक्त ५-६३ और ५-६४ क्रमांक पर दिये गये हैं। दोनों में मित्रावरुणौ की स्तुति है। प्रथम सूक्त में कहा गया है कि इन्हीं देवों की कृपा से वृष्टि होती है। प्रायः प्रत्येक ऋचा में वर्षा का निर्देश है ही। दूसरे सूक्त की अंतिम ऋचा में 'हस्तिभिः' पद विशेष महत्व का है। ऋषि मित्रावरुणौ से कहता है कि "आप चाहो जैसे आओ, हाथियों पर से या घोड़ों पर से। पर आइयेगा अवश्य। और वह भी शीघ्रातिशीघ्र इस सोमरस का पान करने के लिये।" इस पर से स्पष्ट समझ में आता है कि हाथी का वाहन उन दिनों साधारण सी बात थी।

१८. पौरुकुत्स त्रसदस्यु का उल्लेख तो कई जगह आया ही है पर अनुक्रमणिकाकार के मत से इसने दो सूक्तों की भी रचना की है। इसमें से एक है ४-४२ क० का। इसमें ऋषि बड़े ठाठ के साथ कह रहा है कि "मैं ही इंद्र हूं और मैं ही वरुण।" साथ ही उनके किये सारे कार्यों को स्वयंकृत ही कहता है। यह अपने को 'क्षत्रिय' कहलाता है। 'क्षत्रिय' शब्द का वर्णवाचक प्रयोग सर्वप्रथम इसी ने किया है। तीसरे भरद्वाज द्वारा निर्मित 'इंद्रावरुणौ' देवतायुग्म इस सूक्त का विषय है। "ये दोनों देव मैं ही हूं" ऐसा तो ऋषि

कहता ही है । पर बड़े मज़े से ऋषि इस कथन का कारण भी देता है। ऋषि कहता है–"दुर्गह वंशज मेरा पिता पुरुकुत्स जब बन्दी किया गया था, तब मेरी माता पुरुकुत्सानी ने सप्तर्षियों की सहायता से, हे इंद्रवरुण देव, तुम्हें हविर्भाग देकर संतुष्ट किया और तुम्हीं ने इंद्र का सा पुत्र मेरे रूप में उसे दिया। वही हूं मैं अर्धदेव–आधा इंद्र और आधा वरुण।" यह सूक्त पुरुकुत्स का हो सकता है। पर दूसरा जो ऋ० ५–२७ पर इसके नाम से कहा जाता है, वह सूक्त निश्चित ही त्रसदस्यु का नहीं है। सूक्त में त्रिवृष्ण का पुत्र त्र्यरुण, पौरुकुत्स त्रसदस्यु तथा भरतवंशज अश्वमेध का निर्देश रहने से अनुक्रमणिका में तीनों को इस सूक्त का ऋषि कहा गया है। पर पीछे से किसी ने सुधार कर "अत्रिर्भौम इति केचित्" जो कहा है, वही सूक्तार्थ पर सत्य जान पड़ता है।

१९. इस सूक्त की प्रथम ऋचा में ऋषि कहता है कि "त्रैवृष्ण त्र्यरुण ने मुझे गाड़ी के साथ दो बैल और दस हजार (सिक्के) दिये। इसके अतिरिक्त १२० गायें भी दीं। बहुपुत्रवान् मुझको मेरे पूर्व सूक्तों पर प्रसन्न होकर जैसी त्र्यरुण ने मेरी प्रशंसा की वैसी ही मेरे नये रचे सूक्तों के कारण त्रसदस्यु ने भी की। सूक्तकार मुझसे माँगने वाले को अश्वमेध भी दान देता है। मुझे भी उसने सौ बैल दिये।" त्रसदस्यु तो स्वयं अपने को क्षत्रिय कहलाता है। इस लिये उसे कोई दान क्यों देगा। पूर्व में रचित इसका कोई सूक्त ही जब नहीं है तो उसे अपने पूर्व सूक्तों का निर्देश करना असंभव ही है। इसे 'तृक्षि' नाम का एक ही पुत्र था। तब वह अपने को 'तुविजात' बहुसंतान कैसे कह सकता है? किंतु ये सारी बातें भौम अत्रि के विषय में सुसंगत हैं। अतएव उसे ही इस सूक्त का रचयिता मानना उचित है। अब त्रसदस्यु के समकालीन पूर्वनिर्दिष्ट दिवोदासादि राजाओं का विचार करना है। दिवोदास सूक्तकार न था। पर उसका पुत्र 'परुच्छेप' सूक्तकार है। प्रथम मंडल में ऋ० १२७ से १३९ तक के तेरह सूक्त इसी के हैं।

२०. इन तेरह सूक्तों में २ हैं अग्नि के, ५ हैं इन्द्र के, २ वायु के, दो मित्रावरुण के, एक पूषा का और एक विश्वदेव का है। परुच्छेप की मंत्र रचना की अपेक्षा उसकी छंदोरचना ही अधिक महत्व की है। छोटे छंदों में इसकी रचना बहुत थोड़ी ही है। ६८ अक्षरों का अत्यष्टि छंद इसे अधिक प्रिय है। इसकी रचना भी इसकी कुशलता व्यक्त करती है। ६४ अक्षरों का अष्टि छंद और धृति तथा अतिधृति अर्थात् अनुक्रम से ७२ और ७६ अक्षरों के छंदों का भी इसने प्रयोग किया है। अतिधृति छंद में की हुई रचना इस

अकेले परुच्छेप की ही है । इस छंद में संपूर्ण ऋग्वेद में एक ही ऋचा पाई जाती है, और वह है इसी परुच्छेप ऋषि की । इसका आरम्भ होता है "स हि शर्धो न मारुतं" से और इसका क्रमांक है (१-१२७-६) वीतहव्य की शक्वरी तथा अतिशक्वरी छंद की रचना हम पूर्व देख चुके हैं । परन्तु उसका आविर्भाव जिस सहजता से हुआ है, उस सहजता का यहां अभाव है । कृत्रिमता यहाँ सहज ही ज्ञात हो जाती है । ६४ अक्षरों से अधिक अक्षरवाले छंद चार चरणों के न होकर वास्तव में आठ चरणों के होते हैं । प्रथम तीन चरणों का एक, दूसरे दो चरणों का एक और अंत में तीन चरणों का एक ऐसे इसके विभाग किये जाते हैं । इनमें प्रायः दूसरे तथा तीसरे चरण के अंत में तथा सातवें और आठवें चरण के अन्त में एक ही शब्द पुनरावृत्त होता है । आगे के उदाहरण से यह स्पष्ट होगा । "इन्द्राय हि द्यौरसुरो अनम्नत, इंद्राय मही पृथिवी वरीमभिः, द्युम्नसाता वरीमभिः । इन्द्रं विश्वे सजोषसो, देवासो दधिरे पुरः । इन्द्राय विश्वा सवनानि मानुषा, रातानि संतु मानुषा । पुनरावृत्त पद यहां अधोरेखासे अंकित किये हैं । इस पुनरावृत्ति के कारण यह लंबी रचना सहज ही में श्रुतिमधुर होती है । इन सूक्तों का पाठ करते समय जैसी पुनरावृत्ति श्रुतिमधुर होती है, वैसे ही इनका अध्ययन करते समय पुनः पुनः उन्हीं कल्पनाओं की भी पुनरावृत्ति अखरती है । फिर भी बीच-बीच में एकाधी नई बात चित्ताकर्षक होती ही है । ऋषि कहता है–धन्वासहा–धनुर्धर युद्ध में से कभी भागता नहीं है, पर वह वीर किसी परशु के समान एक ही आघात से दो टुकड़े कर डालता है" । इस पर से ऋषि का क्षत्रियत्व भली भाँति ज्ञात होता है । प्रथम भरद्वाज ने जिन कीस्तास लोगों का निर्देश किया था, उनका भी उल्लेख परुच्छेप करता है । कीस्तास कहते हैं उन लोगों को जो चारणों के समान पराक्रम वर्णन करते हैं । पुराने पूर्वजों की वीर गाथाएं एकत्रित कर उन्हें सुनाना, यही इनका कर्तव्य कर्म है । 'अघशंस' अर्थात् बुरा बोलनेवालों का वर्णन पूर्व में बहुत आया है पर यह ऋषि उसी पद के दो विभाग करके अघात् शंसात्–बुरे बोलने से बचाने की प्रार्थना करता है । इंद्र के सूक्त में शारदी पुरों का निर्देश है । शारदी पुर अर्थात् ऐसे किले जहां एक शरद् से दूसरे शरद् तक अर्थात् पूरे साल भर पानी की कमी न होने से रह सकते हैं । घोड़ों को घास खिलाना, मशकों में से पानी बड़े-बड़े बर्तनों में डाल बैलों को पिलाना इत्यादि काम इन्हीं शारदी पुरों में होते थे । शारदी पुरों के समान ऋषि वासरी धेनु का भी वर्णन करता है । वासरी धेनु से मतलब है ऐसी गाय से जिसे वासर भर में दिन भर में जब चाहो तब दुह लो । दुष्ट को हाथी के पैरों तले कुचलने

की भी बात इस ऋषि ने की है। पर अत्यन्त महत्व की बात है उष्ट्र—ऊंट का निर्देश। लड़ाई में से बचा ले जाने वाले इस प्रकार के ऊंट का वर्णन यही ऋषि प्रथम करता है। "जार आस सतीमिव" प्रिय सोती स्त्री को जैसे जगाता है वैसे हे वायुदेव, तुम हमको जगा दो–यह उपमा ध्यान में रखने योग्य है। इसके सूक्त में "अस्तु श्रौषट्" यह शब्द प्रयोग आता है। इस पर से जान पड़ता है कि अध्वर्यु के आनीध्रद्वारा 'आश्रावय' आज्ञा होने पर मंत्र पाठ के बाद "अस्तु श्रौषट्" कही जाने की प्रथा इसे ज्ञात है। विश्वेदेवों के सूक्त में यह भी देवों की संख्या तैंतीस ही बतलाता है, पर उन्हें अलग २ गिनाने के स्थान में यह उनका विभाजन आकाश में ग्यारह, अंतरिक्ष में ग्यारह और उतने ही पृथिवी पर ऐसा सुगमतापूर्वक कर डालता है। दही मिले हुए सोमरस का भी निर्देश प्रथम इसी के सूक्त में आता है। 'इंद्रापर्वता' यह देवतायुग्म इसी के द्वारा निर्मित है। वायु के रथ को बैल जोत कर इसीने 'इंद्रावायू' यह युग्म देवता निर्माण की।

२१. इसी काल खंड में कुछ भार्गव कवि भी हो गये। इनमें से एक का नाम ही भार्गव कवि था। पवमान सोम पर इसके आठ सूक्त हैं। नवम मंडल में इनका क्रमांक ४७ से ४९ और ७५ से ७९ है। सोमसूक्तों में कल्पनाएं वही की वही होती हैं। किंतु इस चर्वित-चर्वणा में भी कहीं-कहीं नया रस पैदा हो ही जाता है। इस कवि ने सोम को सूर्य के रथ पर ही चढ़ा दिया। अग्नि के समान सोम को 'त्रिपृष्ठ' कह कर उसे 'असमष्ट काव्य' भी इसी ने कहा जिसके वर्णन में कवि की कविता कभी पूरी ही नहीं होती वह है असमष्ट काव्य, और सोम के विषय में यह शब्द पूर्ण अन्वर्थक है। बहती हुई सोमधाराओं को ऋषि देखता है, जब उसे याद आती है "ईक्षेण्यासो अह्यो न चारवः" देखने में सुन्दर सरसर जाने वाली नागिनी की। कितना सुन्दर है प्रकृति निरीक्षण। इसकी प्रार्थना है कि रेगिस्तान में जैसे पानी न मिलने से आदमी छटपटा कर मरते हैं, वैसे ही इसके शत्रु मरें। वक्र, कुटिल अर्थ में प्रयुक्त 'दुरुक्' शब्द खास इसी का है। यह कहकर कि सोम गोजित्, रथजित्, हिरण्यजित्, स्वर्जित्, अब्जित और सहस्रजित् है, इसने सोम का 'सर्वजित्त्व' स्पष्ट किया है। इसी मंडल में वेन भार्गव नामक ऋषि का ऋ० ८५ का सोम पर सूक्त है जिसमें एक उपमा बड़ी ही मनोहर है। ऋषि कहता है–"घोंसले में चहचहाते पीले पिल्लों को पक्षिणी जिस मृदुलता से अपनी जीभ बाहर निकाल स्पर्श करती है, उसी मृदुलता से कवि के शब्द स्तुति करते

हुये सोम को स्पर्श करते हैं"। उशना काव्य नामक ऋषि का भी एक ८-८४ ऋ० का अग्निसूक्त इसी समय का है।

२२. भार्गवों के समान कुछ आंगिरस ऋषि भी इस काल में हुए। आंगिरस व्यश्व का विश्वमना नामक ऋषि इन्हीं में से है। अष्टम मंडल में ऋ० २३ से २६ तक के चार सूक्त इसके हैं। अग्नि, इंद्र, मित्रावरुणौ तथा अश्विनौ देवों पर ये अनुक्रम से रचे गये हैं। कण्व घौर ने अग्नि को 'तपुर्जंभ' कहा था। यह भी वही विशेषण अग्नि को देता है। अपने पिता का अर्थात् व्यश्व आंगिरस का उदाहरण यह कई बार देकर उसी के समान अग्नि रखने के लिये, उसी के समान सोमरस निकालने के लिये और उसी के समान अग्नि की स्तुति करने के लिये यह कहता है। उशना काव्य का भी उल्लेख इसके सूक्त में आता है। इसने इंद्र को 'नृतू' अर्थात् नाचने वाला बनाया, मित्रावरुणौ को 'क्षत्रिय' वर्णन किया और वायुदेव को त्वष्टा का जामाता कहा। 'अश्विनौ' देवों को रुद्र और विप्र विशेषण प्रदान किये और अदिति को मित्रावरुणौ की जन्मदात्री माता ठहराया। इसने वर्णन किया कि इंद्र सव्यसाची अर्थात् दांये बाँये दोनों हाथों से एक सा काम करने वाला है। "न सव्यं न दक्षिणं हस्तं वरंत आमुरः"—दक्षिण या वाम किसी भी इंद्र के हाथ को योद्धा रोक नहीं सकते। गोमती नदी के किनारे सुषामन् राजा के 'वरु' नामक पुत्र ने खूब दान किया, ऐसा वर्णन इसने किया है। इसके सूक्तों में सप्तसिंधु के साथ श्वेता या श्वेत यावरी नामक नदी का भी उल्लेख आता है। अधिवस्त्रा अर्थात् द्वितीय वस्त्र शरीर पर धारण करने वाली वधू की उपमा इसके द्वारा प्रयुक्त की गई है। परन्तु सबसे विशेष बात यह है कि इंद्रनासत्यौ द्वन्द्व देवता का निर्देश कर इसने इंद्र और अश्विनौ की संयुक्त देवता बनाने का भी प्रयत्न किया है।

२३. प्रियमेघ नामक ऋषि इसी अंगिरस कुल का था। अष्टम मंडल में ऋ० ६८ तथा ६९ के सूक्त इसी के रचे हुए हैं। वसुमना ऋषि के समान यह भी इंद्र को नृतू कहता है। बड़े ठाठ से यह कहता है "उप मा षड् द्वा द्वा नरः" दो दो कर छह राजा लोग मेरे पास आये। अपने लड़के के साथ अश्वमेघ, सपुत्र ऋक्ष तथा अतिथिग्व दिवोदास और उसका पुत्र इंद्रोत। पूर्व में बतलाया ही गया है कि ये तीनों राजा समकालीन थे। इन तीनों पुत्रयुक्त राजाओं ने अर्थात् छह व्यक्तियों ने इस ऋषि को अश्वदान दिया था। इसका किया हुआ युद्ध-वर्णन सुनिये—"अव स्वराति गर्गरो गोधा परिसनि-

ष्वनत् । पिंगा परि च निष्कदत् ।" गर्गर नामक बाजा बज रहा है, दास्ताने खनखना रहे हैं और धनुष की प्रत्यंचाएं टंकार कर रही हैं। ऐसे समय ऋषि कहता है कि तुम भी ऊंचे स्वर से इंद्र की स्तुति करो। वरुण देव की सात नदियां पोली नलियों के द्वारा बहने वाले जल के समान बह रही हैं। एकाध युवक राजकुमार नये रथ में बैठ जनक जननी के लिये किसी मृग का शिकार कर लाता है, उसी प्रकार हे इंद्र, तू हमारे लिये मेघों का विदारण कर पानी लेकर आ। इस तरह की इसकी इंद्रप्रार्थना है।

२४. प्रियमेध का सा ही "विरूप" ऋषि भी अंगिरस कुल का है। आठवें मंडल में क्र० ४३, ४४ और ७५ के तीन सूक्त इसी के हैं। 'अस्तृतयज्वन्' यह अन्वर्थक विशेषण इसने अग्नि को प्रदान किया है। अस्तृतयज्वन् शब्द का अर्थ होता है–जिसका यजन अविश्रांततया किया जाता है, वहाँ अग्नि जसा असमष्ट काव्य है वैसा ही वह अस्तृतयज्वा भी है। चाहो जितनी स्तुति करो तथा चाहो जैसा यजन करो। विरूप ऋषि कहता है कि अग्नि धर्म का अध्यक्ष है और प्रतिऋतु इसका यजन किया जाता है। पायु भारद्वाज की परस्पर परिवर्तन की कल्पना लेकर यह भी कहता है–"यदग्ने स्यामहं त्वं त्व वा घास्या अहम्" हे अग्निदेव, अगर कहीं मैं तुम होता और तुम मैं होते तो क्या होता ? कहूं क्या होता–स्युष्टे सत्या इहाशिषः"–तुम्हारी सारी ही आशाएं पूरी हो जातीं। मैं उन्हें पूरी कर दिखाता। अंतिम प्रार्थना इस ऋषि की यह है कि "जब तक पाप मेरे पास नहीं आते हैं या हिंसक मुझ पर आक्रमण नहीं करते हैं, तभी तक मुझे जीवित रहने दे'–अर्थात् जब ऐसा न हो अर्थात् पाप मुझे घेर ले या हिंसक मेरी हिंसा करे तब जीवित रहना निरर्थक ही है। विवस्वान् के समान इसने भी अग्नि को रथी बनाकर घोड़े जोड़ने के लिये अग्नि की प्रार्थना की है। यह स्वयं अपने को 'अपाकचक्षस्' दूर तक देखने वाला कहता है। दुधारू गाय को जैसे कोई छोड़ता नहीं है या कृशवत्स को जैसे गाय दूर नहीं करती उसी प्रकार हे अग्निदेव मुझे न त्यागो और समुद्र की लहरें जैसे नाव को डुबो देती हैं, उस प्रकार मुझे न डुबाओ। इन तीनों उपमाओं में व्यंग्यार्थ पर्याप्ततया भरा हुआ है। इसी प्रकार की और भी एक उपमा यह है कि सिर पर बोझा ढोने वाला यात्री जैसे केहराकर बोझ फेंक देता है उस प्रकार मुझे फेंक न दो, अपितु मुझे साथ रखकर ही धन जीत लाओ' कवि भार्गव ने जैसे 'दुरुक्' शब्द का प्रयोग किया है, उसी प्रकार यह 'वृथक्' शब्द का 'पृथक्' इस अर्थ में प्रयोग करता है। विशेष ध्यान देने लायक बात यह है कि यह अग्नि को 'उक्षान्न' तथा 'वशान्न' कहता है। इस पर से प्रतीत

होता है कि इस समय यजुर्वेदोक्त भिन्न-भिन्न पशु मारकर की जाने वाली इष्टियाँ प्रचलित हो चुकी थीं और उसी के कारण उक्ष समर्पण या वशा समर्पण किये जाने वाले यज्ञों पर से ही ये दो विशेषण विशेष रूप से प्रयुक्त हुये हैं।

२५. भृगु तथा अंगिरस कुल के जैसे कुछ सूक्तकार इस अत्रियुग में हुए, वैसे ही कण्वकुल के भी कुछ ऋषियों ने इस युग में सूक्तरचना की। इनमें प्रमुख प्रस्कण्व काण्व है। प्रथम मंडल में इसके क्र० ४४ से ५० तक के सात सूक्त निर्दिष्ट हैं। इनमें दो हैं अग्नि पर, दो अश्विनौ पर, दो उषस् पर और एक है सूर्य पर। अग्निसूक्त में विशेष यह है कि आठ वसु, एकादश रुद्र तथा द्वादशादित्यों के साथ तैंतीस देवों को लेकर तुम आओ, यह अग्नि की प्रार्थना है। श्यावाश्व आत्रेय के समान यह भी 'तिरो अह्न्य' सोम का दो बार निर्देश करता है। कण्व का आदरपूर्वक उल्लेख कर उसी के समान मेरा भी रक्षण करो ऐसी प्रार्थना प्रस्कण्व ने की है। उषःसूक्तों में पुरानी सारी कल्पनाएं देकर उसे 'सूनरी योषा'—उत्तम प्रकार से घर-गिरस्ती संभालने वाली महिला की उपमा दी है। सूर्य सूक्त में सूर्य का उदय होने लगते ही चोरों के समान नक्षत्र भाग जाते हैं यह उपमा हृद्य है। विश्वमना ऋषि ने मित्रावरुणौ को क्षत्रिय कहा वैसे ही यजुर्वेद के 'मरुतो वै देवानां विशः' इस आधार पर प्रस्कण्व ने मरुतों को देवविश् बना दिया है। सूर्य को वरुण बनाकर रात्रि के माप-दंड से काल-मापन करने को प्रयुक्त किया है। कालज्ञान अर्थात् ज्यौतिष शास्त्र की दृष्टि से यह बात महत्व की है। इस सूक्त की अंतिम तीन ऋचाएं रोगनिवारक मानी जाती हैं। आज भी सूर्य को तृचाकल्प नमस्कार व्यायाम-दृष्टि से किये जाते हैं। उनमें इन तीन ऋचाओं का एक चरण कहकर सूर्य के एक-एक नाम के साथ नमस्कार किया जाता है। इसमें सूर्य की प्रार्थना नीचे लिखे अनुसार है:— 'हे सूर्य प्रकाश में उत्तरोत्तर चढ़ते हुये तुम आज मेरे हृद्रोग तथा कच्चेपन को दूर करो। मेरा हरापन तोतों में, तथा हारिद्रव नामक पक्षियों में रख दो। यह सूर्य अपने सारे तेज के साथ ऊपर आ रहा है। वह मेरे शत्रुओं को कुचल दे, और उनके नीचे मैं न कुचला जाऊं। अंतिम ऋचा इसी कारण से "द्विषघ्नी कही जाती है।

२६. नीपातिथि ऋषि भी कण्व कुल का है। अष्टम मंडल में ३४ वां 'एंद्र याहि' सूक्त इसका है। इसका अर्धर्च ध्रुव है 'दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो।' सारे ऋग्वेद सूक्तों में 'दिवावसो' यह संबुद्ध्यन्त पद केवल

इसी सूक्त में पाया जाता है। सूक्त भर पुनरावृत्त इस ऋगर्घ का अर्थ स्पष्ट नहीं है। 'दिवावसु' शब्द का अर्थ है दिन को प्रकाशमान। इस का सायण ने 'दीप्तहविष्क' अर्थ किया है। किन्तु यह विशेषण इंद्र का वाचक कैसे और क्यों होता है, यह ठीक समझ में नहीं आता। 'सतः षष्ठी' प्रयोग मानकर इसका अर्थ होगा कि जब वह स्वर्ग में राज्य करता होगा तब ही हे दिवावसो, तुम स्वर्ग में जाओ। सचमुच देखा जाय तो इस सूक्त की समाप्ति १५वीं ऋचा पर ही होती है। किन्तु अनुक्रमणिकाकार कहते हैं कि तृचोऽन्त्यो गायत्रः। तं सहस्रं वसुरोचिषोंऽ गिरसो पश्यन्'–अंतिम तीन ऋचाएं गायत्री छंद में हैं। और उन्हें अंगिरस गोत्र के हजार वसुरोचिषों ने देखा है। 'मंत्रद्रष्टारो ऋषयः' इस नाते से इन तीन ऋचाओं को हजार वसुरोचिषों ने किया, यही कहने का अनुक्रमणिकाकार का हेतु दिखता है। हजार वसुरोचिष और उन्होंने बनाई ऋचाएं तीन। कुल मिलाकर ७२ अक्षर ! एक एक वसुरोचिष के हिस्से में एक दशांश अक्षर से भी कम। सारा ही भानुमती का पिटारा। पारावतों के पास से बहुत घोड़े मिलाये इतना कथाभाग निश्चित है।

२७. इसी कण्व कुल का है वत्स नामक ऋषि। आठवें मंडल में छठा और ग्यारहवाँ ऐसे इसके दो सूक्त हैं। छठे का विषय है इंद्र और ग्यारहवें का अग्नि। कण्वकृत स्तुति की स्तुति कर ऋषि कहता है कि 'पूर्वजों की बुद्धि लेकर सूर्य का सा मेरा जन्म हुआ है। हमने इंद्र को स्तुतियों से खूब बढ़ाया है। हमारे स्तोत्रों के रहते हुए अब इंद्र को आयुधों की आवश्यकता नहीं। पर्वतों के दर्रों में और नदियों के संगमों पर हमने इंद्र के खूब स्तोत्र बनाये हैं। ऋषि साफ-साफ कहता है कि ये स्तोत्र 'जीवसे' जीवन के लिये हैं, उपजीविकार्थ हैं। इंद्र को यह पानी भरे काले मेघों की उपमा देता है। ऊपर से तथा नीचे से भिगो २ कर मोची जैसा चमड़े को बढ़ाता है उसी प्रकार इंद्र ने आकाश और पृथिवी को खींच खींच कर बढ़ाया है। ऋषि आगे कहता है–'प्र स्व आसा गर्भमचक्रिरन्। परि घर्मेव सूर्यम्।' सूर्य के चारों ओर से मेघ जैसे अपने उदर में किरणों को समा लेते हैं उसी प्रकार ये गायें तुम्हारा सामर्थ्य अपने मुख से उदर में समा लेती हैं। यह कल्पना यजुर्वेद से मिली हुई प्रतीत होती है। वहां वर्णन है कि वृत्रासुर को मारने के बाद इंद्र का सामर्थ्य पृथ्वी में प्रविष्ट होकर औषधि वनस्पति के रूप से ऊपर निकला और गायों ने उसे अपने उदर में एकत्रित किया। इंद्र के स्तोत्र इंद्र के पीछे ऐसे जाते हैं, मानो घोड़ों के पीछे रथ के पहिये। शर्यणावत् नामक सरोवर का वर्णन इसी सूक्त

में है। इसे दान देने वाले लोगों में तिरिंदिर तथा पर्शु लोगों का निर्देश है। इन्होंने याद्व अर्थात् यदुवंशियों की संपत्ति और याद्व लोग, इनका दान वत्स को दिया। इस सम्पत्ति में घोड़ों और गायों के साथ ऊंटों का भी वर्णन है। यहां ऊंटों को 'चतुर्युज्' विशेषण लगाया है। किन्तु किसी भी वाहन को चार ऊंट जोड़ते नहीं हैं। अतएव सायण ने 'चतुर्भिः स्वर्णभारैर्युक्तान्' ऐसा अर्थ किया है। पर उसकी अपेक्षा 'चार प्रकारों से उपयुक्त' अर्थ करना अधिक समर्थक है। वाहन को जोड़ा जाना, बोझ उठाकर ले जाना, सवारी के काम आना और विशेषतः पानी कम लगना इन चार विशेषताओं से युक्त होने के कारण इसे चौगुना उपयुक्त कहना अधिक उचित होगा। दान लेने वालों में पज्रसामन् ऋषि का निर्देश वत्स काण्व ने किया है।

२८. अब एक ऐसे सूक्त का विचार करना है जिसमें वर्णित दान बहुत बड़ा– अत्यन्त प्रचण्ड है। इस दान में ११०६० घोड़ियां, १०००० बैल, १४७० दुधारू गायें, १०६० घोड़े, १२० ऊंट, १२० सफेद गायें, १० काले घोड़े और १० त्र्यरुषी अर्थात् तीन रंगों की गायें वर्णित हैं। इतने पशुओं के अतिरिक्त केवल घोड़े और खच्चरों के पीठ पर लादकर लाया हुआ ही नहीं अपितु कुत्तों के पीठ पर लाद कर लाया हुआ अनाज, एक सोने का रथ और अलंकारों से भूषित एक स्त्री भी थी। यह सारा दान देने वाला राजा था पृथुश्रवस् जो स्वयं कानीन अर्थात् अविवाहित कन्या से पैदा हुआ था। यह सूक्त रचने वाले ऋषि का नाम है वश। अश्व नामक ऋषि का यह पुत्र है। इसने इस राजा से तो पूर्वोक्त दान लिया ही परन्तु इसके 'वल्बूथ' नामक गुलाम से भी सौ सिक्कों को स्वीकार किया। अब इतना प्रचण्ड दान देने वाले को सूक्त-कार अपने (८-४६) क्र० के सूक्त में मंहिष्ठ और उसके दान को वर्षिष्ठ कैसा न कहेगा? इतना प्रचण्ड दान जिसकी कृपा से प्राप्त हुआ उस इंद्र के विषय में तो ऋषि यही कहेगा कि 'न हि ते शूर राधसोऽन्तं विन्दामि सत्रा'–तुम्हारे धन का तो मुझे सच ही अंत लगता नहीं।

२९. इस ऋषि को मिला हुआ दान जैसे अनेक प्रकार का था, वैसे ही इसके सूक्त में प्रयुक्त छंद भी अनेक प्रकार के हैं। तैंतीस ही ऋचाओं के इस सूक्त में इसने अनेक छंदों का प्रयोग किया है। ये सारे छंद इसके समय विद्यमान थे और फिर उन छंदों के नियमानुसार इसने ऋचाओं की रचना की ऐसा नहीं है। अपितु ऋषि रचना करता गया और बाद के छंद-शास्त्रों के प्रणेता पंडितों

ने उन छंदों का नामकरण किया। ये नाम भी इतने अनुरूप नहीं हैं। किन्तु वह छंदःशास्त्र का विषय होने से यहाँ उसकी चर्चा अप्रस्तुत है। इसमें एक द्विपदा जगती अर्थात् २४ अक्षरों की ऋचा है और एक द्विपदा विराट् अर्थात् २० ही अक्षरों की एक ऋचा है। बड़ी से बड़ी ऋचा ४८ अक्षरों के जगती छंद में है। अन्य सब ऋचाएं २० से ४८ अक्षरों के बीच की संख्या से युक्त हैं। इस अक्षर संख्या के और चरण भेदों के अनुसार इन छंदों को नाम दिये गये हैं। सूक्तों में 'श्रवाय्य' शब्द तथा 'तरुता' शब्द 'वाजो अस्ति तरुता श्रवाय्यः' इस शुनःशेप की स्मृति जगाते हैं। काव्यदृष्टि से इसमें कुछ भी विशेष नहीं। एक ऋचा में तो केवल आठ विशेषण इंद्रवाचक संबुध्द्यन्त और चार वाँछित वस्तुओं के नाम। मरुतों को इसने दिया हुआ 'विश्वमनुस्'– सारे विश्व पर प्रेम करने वाले–यह विशेषण ध्यान में रखने योग्य है।

३०. जिस प्रकार यह ज्ञात नहीं कि वश अश्व्य ऋषि किस कुल का था, उसी प्रकार से पृथि वैन्य नामक ऋषि का कुल भी अज्ञात ही है। इसका एक ही इंद्रसूक्त दशम मण्डल में १४८ क्रमांक पर विद्यमान है। सूक्त छोटा ही केवल पांच ही ऋचाओं का है। पर इसमें इंद्र को 'रथोळ्ह' कहा है, दूसरों पर निर्भर रहने वालों के लिये 'स्ति' शब्द का प्रयोग आया है और सूक्त या स्तोत्र के लिये 'वक्व' शब्द प्रयुक्त है। वक्व शब्द का अर्थ प्रायः गड़गड़ाते हुए जाने वाला, दौड़ने वाला होता है पर यहाँ वह संज्ञावाचक है। ऋषि कहता है 'ऊर्मिर्न निम्नैर्द्रवयंत वक्वाः'–मेरे स्तोत्र इंद्र की ओर ऐसे ही वेग से जाते हैं, जैसा पानी नीचे की सतह की ओर जाता है। अन्यत्र इस ऋषि का जो निर्देश पाया जाता है, उस पर से अनुमान किया जा सकता है कि इस ऋषि के और भी कुछ सूक्त होंगे। इस कालखंड के सूक्तों का अध्ययन करते समय जान पड़ता है कि उस समय सूक्तरचना की बाढ़ सी आई थी। वे सारे के सारे सूक्त ऋग्वेद में संगृहीत न हो सके। कारण कुछ भी हो पर वे सूक्त अज्ञात रहे, यह निश्चित है।

३१. अब तीन कण्व कुल के ऋषियों की चर्चा करें। इनके नाम हैं– पुनर्वत्स, सध्वंस और शशकर्ण। जिस वत्स ऋषि के दो सूक्तों का पूर्व विचार किया गया है, उस वत्स के सूक्तों का प्रभाव इन तीनों पर पड़ा हुआ दीखता है। एक तो स्वयं 'पुनर्वत्स' ही कहलाया गया है। दूसरे दोनों ऋषि वत्स की प्रशंसा करते हैं या वत्स शब्द का श्लेष से उपयोग कर वत्स के समान अपने को प्रिय कहलाते हैं। इनमें से पुनर्वत्स का जो (८–७) मरुत्सूक्त है

उसमें कण्वऋषि का तथा पूर्ववर्णित शर्यणावत् सरोवर 'आर्जीक' देश में होने का निर्देश है। मरुतों के सिर पर के सुनहले शिरस्त्राणों का वर्णन यहाँ आता है। घोड़ों के लिये जो हिरण्यपाणि शब्द प्रयुक्त है, उस पर से कल्पना की जा सकती है कि घोड़ों के अगले पैरों में सोने का कड़ा पहनाया जाता था। सोमरस से भरे तीन तालाब यजुर्वेदोक्त तीन पात्रों को सूचित करते हैं जिनके नाम द्रोणकलश, आधवनीय और पूतभृत् थे और जिनमें सोमरस इकट्ठा कर रखा जाता था। भौम अत्रि का प्रयुक्त 'कवंध' शब्द मेघ के अर्थ में उपयुक्त इसने भी किया है। इसी ऋषि के दूसरे दो सूक्त (८-८) तथा (८-९) अश्विनौ देवों पर हैं। इन दो देवों के रथ पर जब सूर्या बैठती है तभी ये फबते हैं। यहाँ इसने सूर्या को केवल 'योषा' ही कहा है। इसके सूक्तों में अश्विनौ के पोष्य लोगों में कण्व, मेधातिथि, वश, गोशर्य–अर्थात् बूढ़ी और दूध न देने वाली गाय को पालने वाला शयु तथा त्रसदस्यु का निर्देश है। (८-९) क्रमांक के अश्विनौ सूक्त में शशकर्ण कहता है कि कक्षीवत्, दीर्घतमस्, व्यश्व तथा पृथि नामक ऋषियों ने अश्विनौ पर सूक्तरचना की थी। परन्तु इन सारे ऋषियों के अश्विनौ पर सूक्त उपलब्ध नहीं, जिस पर से तर्क किया जा सकता है कि वे सूक्त अज्ञात ही रहे होंगे।

३२. अब इस युग के अत्रिकुलोत्पन्न ऋषियों का विचार करना है। इनकी संख्या भी अधिक है और ये सब लगभग समकालीन होने के कारण इनका विचार करते समय कालक्रम की दृष्टि से आगे पीछे होने का डर कम है। इसके अतिरिक्त इनकी वर्णित देवताएं भी इनीगिनी ही हैं। वे हैं-अग्नि, इंद्र, विश्वेदेव, मित्रावरुणौ, अश्विनौ और उषस्। उषस् से ही विचार किया जाना उचित है। इस देवता पर दो सूक्त लिखने वाला ऋषि है सत्यश्रवस्। ५-७९ तथा ८० ये इस ऋषि के हैं। प्रथम सूक्त में "सुजाते अश्वसूनृते" यह पंक्ति छंद का अंतिम चरण प्रत्येक ऋचा में है। "अश्वसूनृता" विशेषण से यह नहीं समझ में आता कि ऋषि को क्या सुझाना है। सामान्यतया इस शब्द का अर्थ होता है–घोड़ों से संतुष्ट। पर उषस् तो घोड़े के रथों में बैठती ही नहीं। वह है "गोभिररुणेभिर्युजाना" अपने रथ को लाल बैल जोड़ने वाली। सायण अर्थ करता है–"अश्वार्था प्रियसत्यात्मिका स्तुतिवाक् यस्याः सा"। पर यह अर्थ ठीक से जमता नहीं। प्रथम तीन ऋचाओं में यह अपने को 'वाय्य' कहता है जिस पर से जान पड़ता है कि इसके पिता का नाम "वय्य" होगा। यह भी ठीक नहीं समझ में आता कि जिस सुनीथ शौचद्रथ का इसने निर्देश

किया है, वह कौन था । यह सूक्त नीरस है। पर जितना नीरस यह उतना ही सरस है (५-८०) यह दूसरा सूक्त । इसके आरम्भ में ही कहा गया है कि सूर्य को साथ लेकर आने वाली उषा की स्तुति सारे ही बुद्धिमान् लोग करते हैं। जनता को जगाती, मार्ग दिखलाती यह सूर्य के पूर्व आती है। अपने अंग प्रत्यंगों को दिखलाना ऊषा हमेशा ही करती है । पर इस सूक्तकार ने तो इस वर्णन में कमाल कर दी है। वह कहता है–"एषा शुभ्रा न तन्वो विदाना ऊर्ध्वेव स्नाती"–खड़े खड़े न्हाने वाली गीले कपड़ों से आवृत किसी गौरवर्ण स्त्री के समान, उषा अपने अंग दिखलाती है। किन्तु इस मानसिक चित्र में अश्लीलता न आने पाये, इस हेतु से उसे "भद्रा योषा" कल्याणी स्त्री कहकर सूक्त समाप्ति की है।

३३. भौम अत्रि के अश्विनौ सूक्तों के साथ पौर ऋषि के दो (५-७३ तथा ७४) और अवस्यु ऋषि का (५-७५) क० का एक ऐसे तीन सूक्त अश्विनौ पर हैं। प्रथम सूक्त में अश्विनौ से नित्यसंबद्ध उस रथ का वर्णन है जिसका एक चक्र यहां और दूसरा आकाश में है । वर्णन पुराना होते हुए भी ऋषि कहता है कि "या तक्षाम रथाँ इव"–रथ के समान छील २ कर ये स्तोत्र किये गये हैं। हाँ, अर्थ यद्यपि नहीं, तथापि शब्द अवश्य छील कर बनाए हुए हैं। ऋषि मेघ को भी पौर कहता है और अश्विनौ को भी। "पौरं चिद्धि उदप्रुतं पौर पौराय जिन्वथः' यहां तथा "ता यामन् यामहूतया यामन्ना मृलयत्तमा" इसमें भी अनुप्रास अलंकार स्पष्टतया प्रयुक्त है । यह सिंह का उपमान के समान उपयोग कर 'नदी' शब्द को स्तुति के अर्थ में प्रयुक्त करता है। बूढ़े च्यवान नामक ऋषि को स्त्रीमोहक तरुण स्वरूप देकर अश्विनौ ने जो कृपा उस पर की उसका उल्लेख यह ऋषि भी अपने सूक्त में करता है। ऋषि कहता है "कई लोग आपकी स्तुति करते होंगे। पर उनके पास न जाकर हे अश्विनौ देव, तुम मेरे पास ही आओ।" यह अश्विनौ को 'रुद्रौ' कहता है तो अवस्यु ऋषि उन्हें माध्वी मधुर कहकर प्रत्येक ऋचा में 'माध्वी' मम श्रुतं हवम्" इस प्रकार प्रार्थना करता है। रुद्री तथा माध्वी विशेषणों के साथ बोधिन्मनसा मन की बात पहचानने वाले यह विशेषण भी अश्विनौ को दिया गया है। च्यवान का निर्देश यह तद्विषयक पूर्वोक्त कथा न देकर केवल "अद्वयाविन्"–जिसके भीतर बाहर भिन्न बातें नहीं–शब्द से उसे निर्दिष्ट करता है ।

३४. अर्चनानस् ऋषि के समान मित्रावरुणौ पर भी रातहव्य, यजत, उरु चक्रि तथा बाहुवृक्त नामक चार ऋषियों के प्रतिऋषि दो ऐसे आठ सूक्त

पंचम मंडल में ६५ से ७२ तक क्रम से पाये जाते हैं। इन सूक्तों पर से जान पड़ता है कि ये अत्रिवंशीय ऋषि सुस्थिति में थे। इनके पास अच्छे घोड़े होने के कारण ये अपने को 'स्वश्वासः' कहते थे। विरोधकों की ओर भी देखने की इनकी दृष्टि उदार थी। "मित्रस्य हि प्रतूर्वतः सुमतिरस्ति विश्वतः"–मित्र हिंसक बनकर भी यदि विशेष करने वाला हो तो उसे सुमति ही कहना चाहिये, यह रातहव्य कहता है। पूर्व के समान इस समय भी अत्रियों का "बहुपाय्य स्वराज्य"–अनेकसत्ताक राज्य था और इसी कारण से मित्रावरुणों को "ईयचक्षस्"–सर्वव्यापि दृष्टि के कहकर ऋषि प्रार्थना करता है कि "आयद्वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः। व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये।"–हे विशालदृष्टि मित्र और वरुण, तुम और विद्वान् हम दोनों को इस बहुसत्ताक राज्य के नियमों के अनुसार चलना चाहिये। यजत ऋषि कहता है कि देव भी "ऋतमृतेन सपन्तौ" सच्चे से सच्चे व्यवहार करें और "अद्रुहौ" परस्पर द्रोह न करें, तो उसी स्थिति में वे "इषिरं दक्षमाशाते" इष्ट सामर्थ्य मिलाते हैं और 'वर्धेते' बढ़ते ही जाते हैं। उरुचक्रि कहता है– "मा कस्याद्भुत क्रतू यक्षं भुजेमा तनूभिः। मा शेषसा मा तनसा।" हे अद्भुत बुद्धि वाले मित्रावरुणौ, दूसरे ने मिलाये हुए धन का हमें स्वयं तो उपभोग करना ही नहीं चाहिये किन्तु हमारे पुत्र-पौत्रों को भी ऐसा नहीं करना चाहिये। बाहुवृक्त के सूक्त अत्यंत साधारण हैं। "नि बर्हिषि सदतं सोमपीतये"–हमारा निकाला हुआ सोमरस पीने के लिये हे मित्रावरुणौ, आओ और इस आसन पर बैठो, यह वाक्य हर एक ऋचा में आया है। तीसरे चरण में 'सदतं' के स्थान में 'सदतां' कहा गया है। सूक्तपरम्परा का ध्यान रखते हुए कहना पड़ता है कि मूल में 'सदतं' ही होगा। किन्तु रूपभेद के या अध्यापन परंपरा के कारण 'सदतं' का 'सदतां' हो गया होगा।

३५. अब आत्रेयों का विश्वेदेव विषयक सूक्तपंचक देखें। इसमें दो सूक्तों का ऋषि स्वस्ति नाम का है। अपने सूक्तों में इसने अट्ठारह बार स्वस्ति शब्द का प्रयोग किया है और जान पड़ता है कि इसी कारण से उस का स्वस्ति नाम प्रसिद्ध हुआ। इन सूक्तों का क्रमांक (५-५० तथा ५१) है। दूसरे तीन सूक्तों के रचनाकार ऋषि हैं अनुक्रम से प्रतिरथ, प्रतिभानु और प्रतिप्रभ (५–४७, ४८, ४९) प्रतिरथ सूर्य किरणों को त्रिधातु–शीत, उष्ण और वृष्टियुक्त कहता है। माता बच्चों के लिये कपड़ा बुनती है– 'वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति' यह सामान्य सिद्धान्त इसने कहा है। इंद्राग्नी

देवतायुग्म का निर्माण करने वाले भरद्वाज ने उन्हें 'इहेह मातरौ यमौ' कहा । यह ऋषि अहोरात्रि को 'इहेह जाते यम्या' कहता है। प्रतिभानु ऋषि ने अग्नि को चतुरनीक कहा है । जिस पर से यह ज्ञान होता है कि उस समय सेना चतुरनीकिनी बन चुकी थी। यह कहता है– न तस्य विद्म पुरुषत्वता वयम्' हम मनुष्य होने के कारण देव को ठीक तरह से पहचान नहीं सकते। प्रतिप्रभ भी ऐसा ही कहता है कि 'उपब्रवीतु नमसा विजानन्'—ठीक तरह से समझ लो और फिर स्तुति करो।

३६. अनुक्रमणिकाकार कहते हैं कि इस सूक्त की पांचवीं ऋचा तृणपाणि ऋषि की रची हुई है। षष्ठ मंडलांतर्गत ४८वां सूक्त भी बार्हस्पत्य शंयु तृणपाणि विरचित है। बाईस ऋचाओं के इस सूक्त में अश्व्यवश के समान इसने भी छोटे-छोटे छंदों का बड़ा प्रयोग किया है । छंदःशास्त्रकारों ने इन्हें बृहती, महाबृहती, सतोबृहती तथा महासतोबृहती इत्यादि नाम दिये हैं । 'शोचिषा शोशुचत् शुचे' 'सुदीतिभिः सुदीदिहि' ऐसे अनुप्रास भी इस सूक्त में पाये जाते हैं। यह अग्नि से विनय करता है कि 'देवताओं के क्रोध तथा मनुष्यों की कुटिलता के कारण जो संकट पैदा होते हैं, उनसे हमें बचा ।' अच्छी वाणी को यह 'सबर्दुघा' अमृतप्रसविणी गौ कहता है । मरुतों की स्तुति करते समय इसने इंद्र, वरुण, अर्यमा और विष्णु के विशेष गुण बतलाये हैं। इसके मत से इंद्र सुक्रतु है अर्थात् अच्छी बुद्धि का है। वरुण है मायी अर्थात् ज्ञानी, अर्यमा है मंद्र अर्थात् आनंद देने वाला और विष्णु है सृप्रभोज। सृप्रभोज का अर्थ है स्निग्ध अन्न देने वाला या स्नेहपूर्ण भोग प्रदान करने वाला । तृणपाणि की याचना भी बड़ी अजीब है। इसके दो भाग किये जा सकते हैं– निषेधक और विधायक । देव को इसके लिये क्या न करना चाहिये और क्या करना चाहिये। न करने वाली बातों में तृणपाणि कहता है––'हमारे गूलर के पेड़ को न तोड़ो और पक्षी जैसे जाल में फंसने के पश्चात् मारे जाते हैं, वैसी हमारी स्थिति न हो। विधायक याचना में पूषन् देव से तृणपाणि कहता है— जिसमें छेद नहीं है और जो दही से भरा हुआ है ऐसा चमड़े का कुप्पा जैसे तुम्हारे पास सदा रहता है वैसे ही तुम्हारा और हमारा सख्य बना रहे। तृणपाणि देव के पास यही मांगता है ।

३७. आंगिरस कुल के प्रभूवसु ऋषि के भी दो सूक्त (५-३५, ३६) इसी युग के हैं । इसके सूक्तों से गूढ़ भाषा-प्रयोग का आरंभ दीखता है।

यह कहता है—'यदिन्द्र ते चतस्रो यच्छूर सन्ति तिस्रः । यद्वा पञ्चक्षिती-नामवस्तत्सु न आभर' । इस ऋचा में जो तीन-चार या पांच बातें ऋषि को कहनी हैं वे स्पष्टतया न कहकर केवल संख्यावाचक शब्दों से कल्पना करके समझने वाले पर छोड़ दी गई हैं । इंद्र को 'सर्वरथा'—अपने सारे रथ लेकर शत्रु पर चढ़ाई करने के लिये यह कहता है और वापस आकर 'पुरंध्या'—अपनी बुद्धि से इस ऋषि के रथ का रक्षण करने की प्रार्थना करता है । यहां भी 'रथ' शब्द से ध्वनित अर्थ गूढ़ ही रखा गया है। रेगिस्तान में भटकने वाला बैल (वंसग) जिस चाव पानी पीता है, उसी चाव से सोमरस पीने के लिये यह इंद्र का आवाहन करता है । गोतम राहूगण या भौम अत्रि जैसे 'उभयाहस्ति'—दोनों हाथों से—शब्द का प्रयोग करते हैं, वैसा सामान्य अर्थ न देकर यह सव्य तथा प्रदक्षिणित्—बांये और दांये—दोनों विशिष्ट हाथों से धन देने के लिये इंद्र की प्रार्थना करता है। अपनी एक ऋचा में इसने वृष शब्द का प्रयोग आठ बार किया है। 'श्रुतरथ' नाम के एक राजा के पास से इसे तीन सौ के साथ दो सुर्ख चपल घोड़े मिले । इस वर्णन में भी ३०० संख्या से क्या व्यक्त होता है यह गूढ़ ही रखा गया है। नवम मंडल के इसी ३५, ३६ क्रमांक के इसके दो पवमान सूक्त भी हैं। जान पड़ता है कि 'रथ' शब्द इसका प्यारा है । वेग से बहने वाले सोमरस को यह जोत कर मुक्त छोड़े हुए दौड़ने वाले घोड़ों की (रथ्य) उपमा देता है। सोम को प्रयुक्त 'विश्वमेजय', 'समुद्रमींखय' और 'वाचमींखय' ये तीन विशेषण ध्यान में रखने योग्य हैं ।

३८. जिस श्रुतरथ का उल्लेख ऊपर किया गया है, उसी को दूसरे एक ऋषि ने प्रियरथ कहा है। वत्स काण्व ने जिस पज्र का निर्देश किया उसी 'पृक्षयाम'—वेग से घोड़े फिराने वाले—कुल से इस ऋषि का जन्म हुआ है; इसका नाम है पज्रिय कक्षीवत् । दीर्घतमस् ऋषि के जिस कक्षीवत् पुत्र का नाम इसने लिया उसी के समान यह भी बड़ा सूक्तकार था । प्रथम मंडल में क्र० ११६ से १२२ तक के सात सूक्त इसी पज्रिय कक्षीवत् के हैं। इनमें तीन सूक्त अश्विनौ पर हैं । यज्ञ के लिये कोई ऋत्विज जैसे सपासप दर्भ काट लाता है या वायुवेग से मेघों में से जैसी जलधाराएं भरभर गिरती हैं, उसी प्रकार अश्विनौ के विषय में जितनी कथाएं प्रचलित थीं, उन सबों को एकत्रित कर कक्षीवत् पज्रिय ने एक के पीछे एक अपने सूक्तों में ग्रथित की हैं । किसी भी वैदिक देवता का सामर्थ्य व्यक्त करने वाली इतनी कथाएं

किसी भी दूसरे सूक्तकार ने ग्रथित नहीं कीं । इसने पूर्व में उल्लिखित तथा अनुल्लिखित सारी ही कथाएं संगृहीत कीं ।

३९. अत्यंत संक्षेप से ये कथाएं निम्नलिखित हैं:—

(१) अश्विनौ के रथ में सूर्या बैठी, इस स्वल्प उल्लेख पर रची गई कथा ऐसी है । सूर्य ने निश्चय किया कि अपनी पुत्री सूर्या का विवाह करना चाहिये । उसने यह शर्त जाहिर की कि एक विशिष्ट स्थल से निकलकर जो अपने पास सबसे पहले पहुंचेगा उसे सूर्या दी जावेगी । सारे ही देव अपने-अपने वाहनों पर बैठ कर इस शर्त को जीतने के लिये निकले । किंतु रासभयुक्त अश्विनौ का रथ सबसे पहले सूर्य के पास पहुंचा और सूर्या उन्हीं के रथ में जा बैठी ।

(२) विमद नाम के एक छोटे से आदमी की स्त्री लोग भगा ले गये । उसे छुड़ाकर विमद के हस्तगत किया ।

(३) तुग्रपुत्र भृज्यु समुद्र में गिरा, तब उसका रक्षण कर उसे बचाया ।

(४) पेदु नामक व्यक्ति को सफेद घोड़ा देकर शत्रुओं के घेरे से उसे बाहर निकाला ।

(५) पंचजन देश के एक दर्रे में अत्रि ऋषि को मूंदकर चारों ओर से जब शत्रुओं ने आग लगा दी, तब वहां से उसे ठीक तरह से बचाया ।

(६) गोतम के लिये एक बड़े पात्र से पानी निकाल पिलाया और इस प्रकार उसकी प्यास बुझाई ।

(७) च्यवान नामक ऋषि का बुढ़ापा दूर कर उसकी स्त्री की इच्छा के अनुसार उसे तरुण बनाया ।

(८) कुएँ में गिरे हुए रत्न के समान उसमें गिरे वंदन को कुएँ के बाहर निकाला ।

(९) दध्यङ् ऋषि का सिर काटा जाने पर उसे धड़ से फिर मिलाकर उसे सजीव किया ।

(१०) एक नपुंसक पुरुष की स्त्री को पुत्रप्राप्ति करा दी ।

(११) भेड़िये के मुख में पड़ी चिड़िया को बचाया ।

(१२) खेल नामक राजा की विश्पला नामक स्त्री का पैर जब कट गया, तब उसे लोहे का पैर लगाकर चलने-योग्य बनाया ।

(१३) दूसरों के भेड़ भेड़िया को खिलाने वाले अंध ऋज्राश्व को दृष्टि दी ।

(१४) दिवोदास के पास जाते समय अपने रथ को एक बैल और एक मगर जोता ।

(१५) दिन में त्रिवार अपने को हविर्भाग देने वाले जह्नु राजा की प्रजा को सब संकटों से बचाया ।

(१६) शत्रु के घेरे में से जाहुष राजा को बचा निकाला ।

(१७) वश ऋषि के लिये कानीन पृथुश्रवस के शत्रुओं का संहार किया ।

(१८) ऋचत्क-पुत्र शर के लिये पानी ऊपर निकाल उसे पिलाया ।

(१९) शर की बूढ़ी गाय का दोहन किया ।

(२०) कृष्ण-पुत्र विश्वक को उसका पुत्र खो जाने पर उस विष्णायु नामक पुत्र को उसके पास ला दिया ।

(२१) 'रेभ' को जब शत्रुओं ने कुएँ में ढकेल दिया तो नौ दिन और दस रातों के बाद उसे बाहर निकाल बचाया ।

(२२) घोषा नाम की स्त्री का सारा यौवन पिता के घर में ही बीतने पर उस जरठ कुमारी को अच्छा पति मिला दिया ।

(२३) तीन जगह कटे हुए श्याव को उसके रंग के विसदृश तेजःपुंज स्त्री मिला दी ।

(२४) एक कण्व-कुलोत्पन्न अंधे को दृष्टि दी ।

(२५) नृषद के पुत्र को सुनाई नहीं देता था, उसे सुनने की शक्ति दी ।

(२६) आर्य नामक व्यक्ति को यव की बोनी, उस खेत को पानी देना, उसकी कटनी कैसे करना, उपज कैसे निकालना और बकुर नाम का वाद्य मुख से बजाकर चोरी करने वालों को कैसे भगाना इत्यादि बातें सिखलाईं ।

(२७) पज्रिय कक्षीवत् (सूक्तकार) को अच्छी बुद्धि दी और सैकड़ों घट शराब तैयार कर दिखलाई ।

(२८) विश्वाच के पुत्र को विष देकर मारा ।

४०. ये सारी कथाएं एक ही सूक्त में नहीं दी गई हैं । प्रथम चार सूक्तों में मिलकर इनका वर्णन है । कुछ कथाएं एक ही बार कही गई हैं तो कुछ पुनः-पुनः वर्णित हैं । पांचवां सूक्त एकदम भिन्न प्रकार का है । कैसी स्तुति करूं, मैं तो अप्रगल्भ हूं, आप ही सिखाइये, इत्यादि वाक्य कहकर अश्विनौ से दया याचना ही की है । अन्त में ऋषि कहता है—मुझे दो बातें बहुत दुख देती हैं—उषःकाल की नींद और दान न करने वाला धनी । आगे के दो

सूक्त विश्वेदेव विषयक हैं। प्रथम में उशनस् काव्य का निर्देश है। वहां यह भी कहा गया है कि इंद्र को वज्र इसी ने दिया। दूसरे सूक्त में पति के बुलाते ही पत्नी का जाना उपमान रूप में प्रयुक्त किया है। परुच्छेप दैवोदासी ने जिस 'इंद्रापर्वता' देवतायुग्म की कल्पना की थी, उस युग्म का आवाहन यह ऋषि करता है। मित्रावरुणी से जो द्रोह करता है, वह अपने हृदय में क्षयरोग को स्थान देता है—'स्वयं स यक्ष्मं हृदये निधत्ते'। इस रोग का उल्लेख प्रथम इसी ऋषि ने किया है। इस सूक्त में जो वर्णन है उस पर से जान पड़ता है कि ऋषि इस समय अलंकार धारण करने लगे थे। 'हिरण्यकर्णं मणिग्रीवमर्णस्तन्नो विश्वे वरिवस्यन्तु देवाः'—कान में स्वर्णाभरण और गले में रत्न धारण करने वाला रूप विश्वेदेव हमें दें, यह ऋचा प्रमाण में दी जा सकती है। मशर्शार के चार पुत्रों तथा आयवस के तीन पुत्रों का भी उल्लेख इसी सूक्त के अंत में आया है।

४१. सूक्त क्र० १२५ और १२६ इसी कक्षीवत् के हैं। पहले में दक्षिणा-माहात्म्य वर्णित है। दक्षिणा देने वालों को सारे इष्ट पदार्थ यहीं पर प्राप्त होते हैं। आकाश में जो तेजस्वी स्थान हैं वे उन्हीं को मिलते हैं। 'दक्षिणा-वन्तो अमृतं भजन्ते'। दक्षिणादाताओं को ही दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है। पक्षान्तर में 'अपृणन्तमभि संयंतु शोकाः' दान न देने वालों को सभी प्रकार के दुख होते हैं। इस सूक्त में स्वनय भावयव्य की स्तुति की हुई है। इस राजा ने कक्षीवत् को खूब दान दिया था जिसका वर्णन इस सूक्त में है। हजारों सोमयाग करने के लिये पर्याप्त धन, अलंकार, घोड़े, गायें, स्त्रियां भरे हुए शकट इस कक्षीवत् ने अपने पज्र बांधवों के लिये दान में स्वीकार किये। अंतिम दो ऋचाओं का सूक्त से तादृश संबंध नहीं और आज की आधु-निक दृष्टि से उन्हें सूक्त योग्य सूक्तियाँ भी नहीं कह सकते। एक पुरुष तथा एक स्त्री के मुख के वे अनिबद्ध वाक्य हैं। स्त्री का नाम भी रोमशा नहीं जान पड़ता। हाँ, गंधारदेश के भेड़ों के समान उसके सर्वाङ्ग पर लोम होंगे, इतना ही निश्चिततया कहा जा सकता है। अनुक्रमणिका में इसे संवाद कहा है। और संवाद मानकर अर्थ करने में सायण को भी खूब ही खींचतान करनी पड़ी है। सर्व दृष्टि से इसे संवाद न मानकर केवल दो अनिबद्ध मजाकी वाक्य मानना ही उचित है।

४२. अव बभ्रु, अवस्यु तथा गातु इन तीन उकारांत ऋषियों के सूक्तों का विचार किया जाता है। तीनों अत्रिकुल के हैं और इनके सूक्त पाँचवें

मंडल में ३०, ३१, ३२ क्रमांक पर विद्यमान हैं। नेम भार्गव ऋषि के समान वह भी प्रश्न करता है--'को अपश्यदिन्द्रम् ?' उत्तर में यह बड़े ठाठ से कहता है कि 'दृष्टि की ओट में जो इन्द्र का स्थान है, वह मैंने देखा । मैं वहां गया और मैंने यही प्रश्न दूसरे लोगों से किया। किन्तु उन लोगों ने इस बभ्रु को जो कहा वह विचार करने योग्य है। उन्होंने कहा–'इन्द्रं नरो बुबुधाना अशेम'–इंद्र का बोध हुआ कि उसकी प्राप्ति होती है। बभ्रु ऋषि ने नमुचि नामक दास के साथ इंद्र का जो युद्ध हुआ उसका वर्णन इस सूक्त में किया है । दास पणि के समान ही एक प्रकार के लोग थे। इस दास ने 'स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे' स्त्रियों का आयुधों के समान उपयोग किया। किंतु बभ्रु ऋषि का इंद्र पूरा उस्ताद्र था। उसने 'अंतर्ह्यख्यद्रभे अस्य धेने' इसकी दोनों स्त्रियों को घर में रख लिया और फिर उससे युद्ध करने गया। युद्ध करके बभ्रु की गायें जो नमुचि ने ले ली थीं वापस दिला दीं। अंतिम चार ऋचाओं में वर्णन है कि रुशम देश के ऋणंचय राजा ने बभ्रु को चार हजार गायें दान में दीं। ऋषि आगे कहता है–हम बुद्धिमान् पुरुषों ने वहां से दूध तपाने के लिये एक बड़ा अयस्मय पात्र भी लिया । अवस्यु ऋषि कहता है कि 'अमेनाँश्चिज्जनिवान्'--स्त्रीहीन लोगों को इंद्र सस्त्रीक बनाता है । बभ्रु कहता है 'ये चाकनन्त चाकनन्त नू ते' जो मांगने वाले हैं उन्हें मांगने दो परन्तु 'ये ह्योजो जनेषु येषु ते स्याम'–तेरे हम जिनमें रहते हैं उन लोगों में सामर्थ्य पैदा होने दे । गातु ऋषि ने अवस्यु ऋषि के समान इंद्रकृत शुष्णवध का ही वर्णन किया है।

४३. अभी तक पुरुष सूक्तकारों के ही सूक्तों का विचार हुआ । अब इस अत्रिकुलोत्पन्न दो महिलाओं के रचित सूक्तों का विचार करें। एक ऋषिका का नाम है अपाला और दूसरी का है विश्ववारा । अपाला का सूक्त (८-९१) क्रमांक का है जिसका शब्दशः अनुवाद नीचे लिखे अनुसार है:—

(१) पानी लाने के लिये गई लड़की को सोम रास्ते में मिला। उसे घर लाते-लाते उसने कहा—"मैं तुम्हारा रस इंद्र के लिये निकालूंगी । तुम्हारा रस शक्र के लिये निकालूंगी ।

(२) वीर के समान घर-घर उजाला करते हुए जो तुम जा रहे हो वह तुम दाँतों से निकाले के समान स्तुतिपूर्वक सोमरस का खीलें, सतुआ और अपूप के साथ पान करो ।

(३) हम चाहती हैं कि तुमसे हमारी पहचान हो । हम तुम्हारी राह देख रही हैं। हे सोम, इंद्र के लिये तुम्हारा रस धीरे-धीरे शनैः शनैः बहने दो ।

(४) क्या यह हो सकेगा ? वह ऐसा करेगा क्या ? हमारी मनीषा क्या पूरी होगी ? पति के प्रेम से विरहित और घूमती हुई हमारी क्या इंद्र से भेंट होगी ?

(५) हे इंद्र, ये तीन स्थान हैं जहाँ तुम्हें कुछ बढ़ाना होगा। पिता जी का सिर, जमीन और मेरा पेट, जिसमें कुछ है।

(६) यह हमारी भूमि, यह मेरा शरीर, और पिताजी का सिर। इन सबको तुम उपजाऊ बनाओ।

(७) हे शतक्रतु इंद्र, रथ रखने के रिक्त स्थान में, गाड़ी रखने की खाली जगह में और युग रखने के स्थान में हे इंद्र तीन वार इस अपाला को पवित्र कर तुमने सूर्य के समान उसे सतेज किया है।

४४. रसिक लोगों को कहने की आवश्यकता नहीं कि सात ऋचाओं का यह काव्य कितना व्यंग्यपूर्ण है। किंतु इस सूक्त में आये हुए किन्हीं शब्दों का केवल वाच्यार्थ लेकर ब्राह्मणकारों ने तथा टीकाकारों ने इसे रूखा गद्य कर दिया है। 'जंभसुतं' दांतों से चबाये हुए के समान निचोड़ा हुआ—इसका केवल वाच्यार्थ लेकर बृहद्देवताकार लिखते हैं–'सा सुषाव मुखे सोमं पपाविंद्रश्च तन्मुखात्।' यहीं पर इन टीकाकारों ने विराम नहीं किया तो सातवीं ऋचा में 'ख' अर्थात् खुली जगह–इसका छिद्र अर्थ लेकर 'रथछिद्रेण तामिन्द्रः शकटस्य युगस्य च। प्रक्षिप्य निश्चकर्ष त्रिः सुत्वक् सा तु ततोभवत्।' कहकर रथ, शकट और युग के छिद्र में से उसे खींचकर अक्षरशः उस अपाला की खाल निकाली है। 'रोमशा' शब्द का वाच्यार्थ लेकर, जिस प्रकार शाट्यायन ने विस्तार किया है, उसका वर्णन करना अर्थात् लेखनी को व्यर्थ थकाना है। ऐसे अर्थ पढ़ने पर कलिदास का 'वेदाभ्यासजड' विशेषण बिल्कुल सार्थ लगता है। अस्तु। विश्ववारा ऋषिका का (५-२८ क्र० का) सूक्त अग्नि पर है और अत्यंत सरल है। किन्तु एक स्त्री के नाते उसने की हुई "संजास्पत्यं सुयममाकृणुष्व"—हमारा संतान-निर्माण कार्य नियमित रखो–आज के आधुनिक युग में भी प्रत्येक स्त्री को करने योग्य प्रार्थना है।

४५. आत्रेय वसुश्रुत का 'आप्रीसूक्त' छोड़ भी दिया जाए, तथापि उसके अग्नि पर ३ सूक्त हैं (इनका क्रमांक ५-३,४ और ६) है। प्रथम सूक्त में कहा गया है कि अग्नि पति-पत्नी को समान विचार का बनाता है। अग्नि को ही वरुण, मित्र, इन्द्र तथा अर्यमा बनाकर सब देवों के ऐक्य का आरंभ इसीने किया है। विश्ववार अर्थात् जिसे सारे ही चाहते हैं, ऐसा धन देने के लिये तो

यह अग्नि की प्रार्थना करता ही है, पर साथ ही 'अस्मे विश्वानि द्रविणानि धेहि'-सारे ही प्रकार के धन भी यह अग्नि के पास माँगता है। नाव के द्वारा सिंधु के पार जाने का इसने भी उपमान रूप में प्रयोग किया है। अमृतत्व मिलाने की इसकी वासना है। तीसरे दशर्च सूक्त में 'इषं स्तोतृभ्य आभर'–स्तुति करने वालों को अन्न ला दो–यह चरण प्रत्येक ऋचा के अंत में है। इसी प्रकार के इष नामक आत्रेय के दो अग्निसूक्त (५-७ तथा ८) हैं। इनमें यह अग्नि को 'हिरिश्मश्रु' तथा 'शुचिदन्' कहता है। हिरिश्मश्रु का अर्थ है सुनहली मूंछवाला और 'शुचिदन्' का है सफेद दाँत वाला। गय आत्रेय के भी इसी मंडल में ९ तथा १० क्र० के दो अग्निसूक्त हैं जिनमें लुहार और उसकी धौंकनी का निर्देश है। दोनों सूक्तों के अंतिम पंक्तिछंद का अंतिम चरण है–उतैधि पृत्सु नो वृधे'–युद्ध में भी हमारी ही बढ़ती होने दो।

४६. इसी पंचम मण्डल में 'सुतंभर' आत्रेय के चार सूक्त (११ से १४ तक) अग्निविषयक हैं। कल्पनाएं वही पुरानी, शब्द भी वैसे और याच्य पदार्थ भी वे ही। क्वचित् कोई उपमा नई। अवनी–नीचे ले जाने वाली इस अर्थ में इस शब्द का नदी के अर्थ में प्रयोग कर ऋषि कहता है कि बड़ी-बड़ी नदियाँ जैसे समुद्र को भरती हैं, उसी प्रकार हमारे शब्द हे अग्निदेव, तुम्हारी स्तुति को भरते हैं। बुरे काम करने वाले भी यदि तुम्हारी स्तुति करते हैं तो वे भी सन्मार्गगामी बनते हैं। 'पूरु' आत्रेय के भी रचे हुए १६ तथा १७ क्र० के दो अग्निसूक्त इसी पंचम मंडल में हैं। अपने दोनों सूक्तों की समाप्ति 'गय के समान यह भी 'उतैधि पृत्सुनो वृधे' इसी चरण से करता है, जिस पर से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इन अत्रिकुलोत्पन्न ऋषियों को अनेक युद्ध लड़ने पड़े थे। एक-एक ही अग्निसूक्त रचने वाले पांच ऋषियों के नाम हैं मृक्तवाहा द्वित, वव्रि, सस, विश्वसामन् और द्युम्न विश्व-चर्षणि। इन पांचों में प्रथम ने ५० घोड़े दान देने वाले का नाम न बतलाकर अग्नि की प्रार्थना की है कि उस दाता की कीर्ति बढ़ने दे। अवस्था शब्द का अवनति के अर्थ में प्रयोग कर वव्रि कहता है कि अवस्थाएं आती ही रहती हैं पर अग्निदेव को उन्हें पहचानना चाहिये। अपने स्तोत्र को वह दूध-सा मधुर और मधु-सा मीठा कहता है। ऋषि कहता है कि स्वर्ण निष्कों की माला गले में पहनने वाले लोक इसी सूक्त से अग्नि की स्तुति करते हैं। परन्तु यह जान पड़ती है 'अपने मुंह मियां मिट्ठू' वाली बात। अन्य तीन ऋषियों के सूक्तों में अपना नाम ग्रथित करने के अतिरिक्त कुछ भी नया नहीं कहा गया है।

४७. राजा भोज के समय की एक दंतकथा है कि एक-एक चरण रचने वाला व्यक्ति भी उसके दरबार में जाकर दक्षिणा प्राप्त करता और अपने को कवि कहलाता। इसी प्रकार की थोड़ी स्थिति इस अत्रियुग के अन्त में जान पड़ती है। दो-दो कवियों ने मिलकर एक ही सूक्त की की हुई रचना की बात अनुक्रमणिका में कही गई है। पंचम मंडल का आरम्भ ही एक ऐसे सूक्त से होता है। इन दो ऋषियों के नाम हैं—बुध और गविष्ठिर। दोनों हैं आत्रेय। सूक्तकार नाम का 'बुध' होते हुए भी सूक्त में बोध लेने योग्य कुछ भी नहीं है। गविष्ठिर ने सूक्त के अन्त में अपना नाम ग्रथित कर कहा है कि 'दिवीव रुक्ममुरुव्यञ्चम्—' आकाश में चमकने वाले सर्वगामी सूर्य के समान यह सूक्त है। पर यह सब है 'मीठा बोल कुछ न तोल' वाली बात। द्विकर्तृक सूक्तों के से अनेककर्तृक सूक्त भी इस युग में हुए। ऐसा ही 'प्रयस्वन्तः' कहलाने वाले आत्रेयों का एक सूक्त है (५-२० क्र० का)। बहुवचन के प्रयोग पर से कम से कम तीन ऋषि तो होंगे ही। तीनों की रची हुई ऋचाएं कितनी तो वे हैं चार और नया क्या कहा है तो कुछ भी नहीं। इसी प्रकार की स्थिति है 'वसूयव' ऋषियों की। इनके ५-२५ तथा २६ क्र० के दो सूक्त हैं। इनमें नई बात ढूंढ़नी ही हो तो त्रित आप्त्य प्रयुक्त 'ऋषू' शब्द। इन ऋषूओं को, अर्थात् सूर्य की किरणों को, इन वसूयु ऋषियों ने बनाया है अग्नि का जनक। सूर्य-किरणों से अग्नि की उत्पत्ति—यही वह नई बात है।

४८. अत्रि-युग के सूक्तों का इस प्रकार विचार किया गया। अत्रि-युग के समय की राजकीय परिस्थिति इस युग पर भली भांति प्रकाश डालती है। इस युग के आरंभ में सम्राट् रघु का राज्य था और इसके अन्त में था रामराज्य श्री रामचन्द्र के पौत्र का अर्थात्, रघु, अज, दशरथ, राम और कुश इन पांच राजाओं के ही शासन काल में अत्रियुग के सूक्तों की रचना हुई। पहले ही कहा गया है कि ये ऋषि लोग वैशाली से निकल पश्चिम की ओर बढ़ रहे थे और कण्व युग के अंत में सरस्वती नदी के चारों ओर पहुंच चुके थे। दशरथ के समय केकय देश से हमारा संबंध आया और आत्रेयों ने सूक्त रचना कर अपना मोर्चा पश्चिम तथा वायव्य की ओर बढ़ाया। अन्य आंगिरस तथा काण्व ऋषियों के साथ ये आत्रेय सिंधु नदी के पार उतरे और उधर के देशों में इन लोगों ने यज्ञसंस्कृति प्रसृत की। रामचंद्र के शासन में इन सारे देशों का अन्तर्भाव होता था। इसी कारण इन लोगों के सूक्तों में आये हुए राजाओं के या नदियों के नाम संस्कृत-भाषोत्पन्न नहीं जान पड़ते।

वे परकीय लगते हैं । इन लोगों में भारतीय संस्कृति का प्रचार बुद्धि की अपेक्षा श्रद्धा के ही कारण अधिक हुआ ज्ञात होता है। श्रद्धा का महत्व इसी कारण से बढ़ा और उसी श्रद्धा के बल पर वैदिक देवताओं के चारों ओर कई कथाओं का जाल बुना गया। यज्ञसंस्था की वृद्धि हुई। ऋत्विजों की संख्या बढ़ी और सोमयाग का समय एक दिन से अधिक हुआ । पशुयागों का भी प्रमाण वृद्धिगत हुआ। ज्योतिर्विज्ञान के साथ प्रत्येक ऋतुपरिवर्तन पर याग होने लगे। कालगणना भी दिन के पांच भागों पर से युगगणना तक बढ़ी ।

४९. यज्ञवृद्धि के साथ सूक्तरचना में भी वृद्धि हुई। सूक्त के ऋचाओं की तथा ऋचाओं के छंदों में भी बाढ़ होकर ७६ अक्षरों के अतिधृति छंद तक वह पहुंची। इन ऋषियों के पर्याप्त रूप में कृषिकर होने के कारण भूमि, पर्जन्य इत्यादि सृष्ट पदार्थों को देवत्व दिया गया। याज्ञिक देवताओं में इंद्रा-पर्वता, इंद्रवायू, तथा द्यावापृथिवी के समान अहोरात्रे या उषासानक्ता इन्हें भी देवत्व प्राप्त हुआ। सूक्तों की भाषा गूढ़ होती गई और कई बातें स्पष्ट शब्दों में कही जाने की अपेक्षा संकेतरूप से कही जाने लगीं। श्रद्धा के बल पर कई काल्पनिक कथाएं भी सूक्तों में समाविष्ट हुईं। सूक्तों में प्रसिद्ध होने के लिये कई राजाओं ने दान दिये और ऋषिवर्ग ने भी उनके नाम सूक्तों में गूंथकर उन्हें, नाम से क्यों न हो, प्रसिद्ध कर दिया। इस प्रकार देवताओं से कुछ मिलाने के साथ ही धन मिलाने के लिये–'जीवसे' उपजीविका का साधन मानकर भी कुछ सूक्त-रचना हुई। ऋषिलोग धनी बने और इनका धन केवल पशु या स्थावर वस्तुओं के रूप में न रह कर दोनों हाथों से समेटने योग्य सिक्कों के रूप में बढ़ा। शरीर पर धारण करने के लिये स्वर्णालंकारों में भी वृद्धि हुई। साधारण लोग भी 'निष्कग्रीव' सिक्कों की माला गले में पहनने वाले बने। स्त्रियों को भी समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई और देवों के साथ देवपत्नियां भी आवाहित होने लगीं। कुछ स्त्रियों ने तो सूक्त-रचना भी की। परन्तु इसी के साथ समाज में कुछ दोष भी प्रविष्ट हुए। सुख-शांति के साथ ऐश-आराम की वस्तुओं में भी वृद्धि हुई। नीतिबंधनों में थोड़ी शिथिलता आ गई। सिंधुपार के देशों के लोगों के पास से अन्य वस्तुओं के साथ दक्षिणा के रूप में स्त्रियां भी मिलने लगीं। अत्रिवर्ग के बहुपाय्य स्वराज्य में इन स्त्रियों में से किन्हीं के साथ इन्हें युद्ध भी करना पड़ा और किन्हीं को इन्होंने घर में भी रख लिया। स्वराज्य-रक्षण के लिये इन ऋषि लोगों को किले भी बनाने पड़े और पूरे सालभर वे उसी में रहने लगे। द्यूतक्रीड़ा का प्रचार हुआ और क्षय

रोग के से रोग भी प्रादुर्भूत हुए । लड़ाई के लिये स्त्रियों को मारना, लोगों पर विष-प्रयोग करना इत्यादि बातें भी होने लगीं । विषयवासना बढ़ी, पुरुष स्त्रियों का पीछा करने लगे और लड़कियाँ मीठी-मीठी बातें करके लड़कों के चित्तों को आकर्षित करने लगीं । इसका परिणाम सूक्त-साहित्य पर भी हुआ । देवताओं का वर्णन करते समय भी हमें उनका दर्शन 'नहाकर गीले वस्त्रों से चिपके हुए स्त्रियों के अंग के रूप में भी होने लगा । शालीनता यहाँ तक शिथिल हुई । इस सबका ही परिणाम यह जान पड़ता है कि संतान-नियमन की आवश्यकता कुछ स्त्रियों को प्रतीत हुई और वे खुले शब्दों में इस विषय की प्रार्थना करने लगीं । ऐसा था यह अत्रियुग ! ऐसे हैं इस युग के सूक्त ! अतएव अब इनका अधिक विचार न कर अगले युग का और उसके सूक्तों का अध्ययन करने के हेतु इस युग से यहीं छुट्टी लें और इस प्रकरण को यहीं समाप्त करें ।

सप्तम प्रकरण

वसिष्ठ-युग

१. इस युग के सूक्तों का विचार करने के पूर्व इस समय की राजकीय परिस्थिति का थोड़ा विचार करना आवश्यक है। अत्रि-युग के अन्त में भारत-वर्ष की व्याप्ति बहुत बढ़ चुकी थी। श्री रामचंद्र के प्रताप से दक्षिण में लंका तक और वायव्य में सिंधु-पार का प्रदेश भी भारतवर्ष के रामराज्य में गिना जाता था। इसी कारण से हमारा ऋषिवर्ग भी सिंधु-पार के देशों में गया और वहां के छोटे-छोटे राजाओं के लिये यज्ञयागादि कर उन्होंने खूब धन मिलाया। किंतु उधर धनप्राप्ति करते समय भी उनकी दृष्टि अपनी मातृभूमि सप्तसिंधु देश की ओर ही थी। थोड़े ही दिनों के बाद वे लोग अपने मातृदेश को लौटे। लौटते समय दक्षिणा के रूप में मिला हुआ वधूवर्ग भी उनके साथ यहां आया और उन्हीं के साथ उन देशों की कुछ संस्कृति, कुछ कल्पनाएं भी यहां आकर हमारी संस्कृति से एकरूप बन गईं। राजा सगर के समय द्रुह्युवंशजों के साथ उधर के संस्कारों की पहली लहर आई और श्रीरामचंद्र के पश्चात् आई यह दूसरी। इसका परिणाम यहां की संस्कृति पर बहुत-कुछ हुआ। इस संस्कृति-संगम की प्रतिध्वनि वसिष्ठ-युग के सूक्तों में कई बार सुनाई देती है।

२. श्री रामचंद्र निज धाम को पधारे और हमारी सारी ही स्थिति एकदम बदलने लगी। कोई विशाल वृक्ष उन्मूलित हो गिर पड़ते ही उसकी साया में बढ़ न पाने वाले पेड़ अपने-अपने सिरों को उठाने लगते हैं, ठीक वैसे ही हुआ। आसिंधु-हिमाचल अपनी सत्ता प्रस्थापित करने वाला कोशल राज रामादि चार भाइयों के आठ पुत्रों में बंटते ही उसके प्रभाव से दबे हुए दूसरे राज्य ऊपर सिर उठाने लगे। राम के पश्चात् कोशल देश के राज्य को गौणत्व प्राप्त हुआ। यहां तक कि 'सूर्यप्रभव' वंश का वर्णन करने वाली कविकुलगुरु कालिदास की भी मति कुश के पश्चाद्वर्ती वंशजों का वर्णन करते समय ही 'अल्पविषय' हो गई। राजाओं के नामों पर कल्पनाएं करने के अतिरिक्त उसे भी दूसरा विषय न मिला। अत्रियुग के अंत में तथा वसिष्ठ-

युग के आरंभ में अपने तेज से चमक-दमक उठे उत्तर पांचाल देश के राजा लोग। इनमें अतिथिग्व दिवोदास पहले से ही प्रसिद्ध था। इसका पौत्र 'मैत्रेय सोम' रामचंद्र के समय राम के ही अधीन था। मैत्रेय के पश्चात् सृंजय राजा बना। इसी सृंजय का पुत्र है वैदिक भाषा का पिजवन या पौराणिक भाषा का पंचजन। पिजवन नाम भी संस्कृतेतर संस्कृति का द्योतक है। इस पिजवन ने अपने पुत्र सुदास् का राज्याभिषेक करने के हेतु एक वसिष्ठ को बुलाया। इतिहास के आरंभ-काल से ही कोसल देश से संबद्ध वसिष्ठ कुलज लोग भी अयोध्याधीशों की गिरती परिस्थिति देख कर पश्चिमाभिमुख होकर शूरसेन देश में आ बसे थे। तब तक इन वसिष्ठ लोगों ने इक्ष्वाकु कुल के राजाओं का पौरोहित्य कर्म संभाल कर अथर्व मंत्रों का ही संग्रह किया था। बृहस्पति के समय अर्थात् भरद्वाज-युग में एक वसिष्ठ अथर्वनिधि कहलाया ही गया था। उसके बाद अथर्वमंत्रों की संहिता का दूसरा संस्करण करने वाला द्वितीय अथर्वनिधि नाम का वसिष्ठ हुआ कण्वयुग तथा अत्रियुग के संधिकाल में। कोसल देश के बाहर निकले हुए एक वसिष्ठ ने कोसलदेश से असंबद्ध पिजवन का निमंत्रण स्वीकार किया और पांचाल देश में जाकर पिजवन-पुत्र सुदास् की राज्याभिषेक विधि को संपन्न किया। इस अवसर पर इस वसिष्ठ की बुद्धिमत्ता देखकर पिजवन-पुरोहित विश्वामित्र की बुद्धि चक्कर खाने लगी। उसकी 'मति' अमति हुई और उसकी जिह्वा तो मानो तालु से चिपक बिल्कुल मूक हुई। एक पलस्ति जमदग्नि ने बड़े प्रयास से उसे समझाकर विश्वामित्र की वाणी 'ससर्परी—' फिर से रेंगने वाली बनाई। पर इस कारण से वसिष्ठ-विश्वामित्र संघर्ष की पुनरावृत्ति हुई। इस संघर्ष का क्रमवार वर्णन आगे किया ही जाने वाला है। अतएव उसका विचार यहीं पर न कर अब इस युग के सूक्तों का अध्ययन आरंभ करें

३. इस युग के सूक्तों का आरंभ विश्वामित्र-सूक्तों से होता है। पूर्व में कहा ही है कि उस समय उत्तर पांचालराज भारत पिजवन का पौरोहित्य एक विश्वामित्र के आधीन था। इस विश्वामित्र के इस काल में बनाये हुए सूक्तों का समावेश तीसरे मंडल में किया हुआ है। इनका क्रमांक २४ से २९ है। इनका विषय है अग्नि। अनुक्रमणिका में इस विश्वामित्र को यद्यपि 'गाथिन' कहा गया है, तथापि सूक्तों में यह अपने को कुशिक-वंशज कहलाता है। यह 'सूनुमान्' पुत्रयुक्त भी है। २४ और २५

क० के दोनों सूक्तों की प्रत्येक ऋचा 'अग्नि' शब्द से आरब्ध है । तीसरे अर्थात् २६वें सूक्त में विश्वामित्र कह रहा है कि 'वैश्वानरः समिध्यते कुशिकेभिर्युगे युगे'--हम कुशिकों ने समय-समय पर अग्नि को प्रज्वलित किया है । इस सूक्त की प्रथम तीन ऋचाएं अग्नि पर हैं और आगे का तृच मरुत्पर है । इसमें मरुतों को 'सिंहा न हेषक्रतवः' सिंह के समान दहाड़ने वाले कहा है । अंतिम तीन ऋचाओं में प्रथम अग्नि की मानो स्वयं की उक्ति है । इसमें अग्नि कहता है--"मैं जन्म से ही जातवेदस् हूं । मेरी आंखों में है घृत और मुख में संचित है अमृत।" चौथे सूक्त में प्रार्थना है--'अति द्वेषांसि तरेम'--हमारा द्वेष करने वाले लोगों से हम आगे बढ़ जावें । पांचवें अर्थात् २८वें सूक्त पर से ज्ञात होता है कि उस समय सोमयज्ञ में तीनों सवनों के समय सोमरस के साथ पुरोडाश भी अर्पित होता था। क्योंकि इस सूक्त में स्पष्ट अग्नि-प्रार्थना है कि 'प्रातःसावे, माध्यंदिने सवने तथा तृतीये सवने, अग्ने पुरोडाशं जुषस्व ।" वह पुरोडाश भी सोम के समान 'तिरोअह्न्यः' एक दिन पूर्व तैयार किया जाता था। अंतिम २९वें सूक्त में अग्नि को भिन्न-भिन्न स्थिति में किस नाम से कहते थे, इसका वर्णन है । यह विश्वामित्र कहता है--'तनूनपादुच्यते गर्भ आसुरो नराशंसो भवति यद्विजायते । मातरिश्वा यदमिमीत मातरि, वातस्य सर्गो अभवत्सरीमणि'--अरणियों में स्थित अग्नि कही जाती है तनूनपात्; उत्पन्न होती है तब उसे कहते हैं नराशंस; वेदी पर रखने के पश्चात् उसे नाम दिया जाता है मातरिश्वन्; और जब उसे एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाते हैं तब वह होती है 'वातस्य सर्गः'। विश्वामित्र इस सूक्त को 'द्युम्नवद् ब्रह्म'--तेजयुक्त सूक्त--स्वयं ही कहता है ।

४. लगभग इसी समय कुमार सुदास् के राज्याभिषेक समारोह के लिये वसिष्ठ को बुलाया गया । वयोवृद्ध वसिष्ठ अपने शक्ति नामक पुत्र के साथ वहां आया और वह समारोह उसकी अध्यक्षता में संपन्न हुआ। राजपुरोहित विश्वामित्र के अधीन अन्य सब कार्य रहे। किंतु वसिष्ठ और उसके पुत्र का वहां ऐसा प्रभाव पड़ा कि विश्वामित्र की मति अमति हुई । उसकी वाचा बंद-सी हो गई । पलस्ति जमदग्नि के द्वारा वह पुनश्च ससर्परी हुई । यह सारा वृत्त तीसरे मंडल के त्रेपनवें सूक्त में दिया हुआ है । यह ससर्परी वाणी पंचजनों में खूब प्रसृत हुई और 'अमति' का नाश कर ऊंचे स्थान को पहुंची । परंतु विश्वामित्र के मन में वसिष्ठ के प्रति जो असद्भावना

जम बैठी वह दूर ही न हुई । विश्वामित्र पुत्रों के साथ राजा के मन में से उतर गया । इसी मनःस्थिति में उसके द्वारा तृतीय मंडल में विद्यमान १, ३, ६, तथा ७ क्रमांक के सूक्त रचे हुए जान पड़ते हैं। क्योंकि इन चारों सूक्तों के अंत में ऐसी प्रार्थना है कि 'अनेक क्रमों में सहायक, पर्याप्त पशु धन मिला देने वाली यह भूमि 'शश्वत्तमं' चिरकाल के लिये हमारे पास ही रहे, हमारे पुत्रपौत्र इसी पर बढ़ें । यह सुमति हमें प्राप्त हो । 'प्राप्त अमति' का नाश करने वाला यह विरोधार्थवाचक 'सुमति' शब्द इस प्रसंग में बडा सूचक जान पड़ता है ।

५. इन चारों सूक्तों में अग्नि की स्तुति, वर्णन तथा प्रार्थना है । जल में अदृश्य रहकर ही शनैः शनैः आगे बढ़ने वाले 'सरण्यत्' अग्नि की अपनी ससर्परी वाणी से विश्वामित्र प्रार्थना करता है कि 'अस्मे रयिं बहुलं संतरुत्रं, सुवाचं, भागं, यशसं कृधी नः'—हमें पर्याप्त धन, अच्छे प्रकार का रक्षण, शोभना वाणी, इष्ट वस्तुएं और यश प्राप्त हो। ऋ० ५वें सूक्त के ४ थी तथा पाँचवीं ऋचा में आदि यमक की रचना की हुई है । चौथी ऋचा में 'मित्र' शब्द तथा पांचवीं में 'पाति' शब्द प्रत्येक पाद के प्रारम्भ में आया है। इसी पांचवीं ऋचा में एक शब्द है सप्तशीर्षन् । इसका अर्थ 'सात सिरों का' नहीं अपितु 'सप्तगण मरुत्' है । सप्तशीर्ष अग्नि के संबंध में प्रयुक्त यह पद यहां मरुतों के विषय में प्रयुक्त है। छठवें सूक्त में कहा गया है कि बड़े अग्नि के व्रत भी बड़े ही हैं—व्रता ते अग्ने महतो महानि'। इस चौथे ७ ऋ० के सूक्त में एक ऋचा अधिक महत्वपूर्ण है । यह है सातवीं । इसमें विश्वामित्र कहता है कि 'अध्वर्युभिः पंञ्चभिः सप्त विप्राः' अर्थात् यहां ऋत्विजों की संख्या बारह कही है। सायण इसका विवरण यों करता है—'उद्गातृवर्गव्यतिरिक्ताः द्वादश ऋत्विजो भवन्ति । तत्र सप्त वषट् कर्तारः । पंचान्ये अध्वरं नयन्ति ।' इस पर से यह समझ पड़ता है कि कुत्स के समय ऋत्विजों की जो संख्या नौ थी वह विश्वामित्र के समय बढ़कर बारह तक पहुंची थी। साथ ही इस पर से स्पष्ट होता है कि उद्गातृवर्ग की सामपद्धति भी उस समय अस्तित्व में न थी । इन चारों सूक्तों के अन्त में यह प्रार्थना है कि 'विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे'—हे अग्निदेव, तुमने दी हुई वह 'सुमति' हमारे लिये अवंध्य, सफल हो ।

६. परंतु ऐसी सूक्तरचना से या द्वादश ऋत्विजों से युक्त यज्ञ करने से भी जब वसिष्ठ माहात्म्य कम होने की सम्भावना न जान पड़ी, तब विश्वामित्र बौखला उठता है । वह पूर्णतया क्रोधवश हो जाता है।

उसका संयम छूटता है। अग्नि के पास से प्राप्त 'सुवाक्' उसे छोड़ देती है और वह खुल्लमखुल्ला वसिष्ठ को गालियाँ देता है । पूर्वोल्लिखित (३-५३) सूक्त की अंतिमय चार ऋचाएं वैदिक वाङमय में 'वसिष्ठद्वेषिण्य:' अभिशापरूपा:' मानी जाती हैं। जो विश्वामित्र बारहवीं ऋचा में गर्व से कहता है कि 'विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्'—विश्वामित्र-कृत स्तोत्र सारे भरत कुल के लोगों का रक्षण करता है, और मंत्रब्रह्म रचना न जानने वाले वसिष्ठ को कम समझता है वही विश्वामित्र क्रोधवश होकर इंद्र की प्रार्थना करता है कि 'यो नो द्वेष्ट्यधर: सस्पदीष्ट'--हमसे योग्यता में कम जो हमारा द्वेष करता है उसका नाश हो। इतना ही कहकर वह विराम नहीं करता, अपितु आगे कहता है कि 'तमु प्राणो जहातु' हम जिसका द्वेष करते हैं वह मर जाए, गतप्राण हो जाए । इसके पश्चात् वह लोगों से कहता है कि ऐसे मूर्ख से सयाने लोक स्पर्धा नहीं करते। घोड़े के सामने कोई गधे को नहीं ले जाता है—'न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति'। अंत में वह सूचना देता है कि 'भरतवंश के लोक यदि कुछ जानते हैं तो आगे बढ़ना ही जानते हैं। पीछे फिरना इन्हें ज्ञात ही नहीं। अपने शत्रुओं पर घोड़े और धनुष चलाना ही इनका सहज कर्म है।' संयोगवश यही हुआ । भरत सौदास लोगों ने विश्वामित्र से उत्तेजना मिलने के कारण वसिष्ठपुत्र शक्ति को मार डाला । इसी कारण से वसिष्ठ गोत्र के ब्राह्मण इन चार ऋचाओं का पाठ नहीं करते । इतना ही नहीं, अपितु 'न केवलं यो महतोऽपभाषते, शृणोति तस्मादपि य: स पापभाक्' इस न्याय से उन ऋचाओं को सुनते तक नहीं । अस्तु । पुत्रशोक से व्यथित वसिष्ठ अपनी गर्भवती पुत्रवधू 'अदृश्यंती' को लेकर वहां से अदृश्य रूप में भाग निकला ।

७. वसिष्ठ-विश्वामित्र संघर्ष का प्रथम अंश यहां समाप्त होता है । विश्वामित्र की विजय हुई। सुदास् का राज्य भी वैभवयुक्त हुआ। विश्वामित्र ने और भी सूक्त-रचना की । इन सारे सूक्तों के अन्त में जो 'शुनं हुवेम' इत्यादि ऋचा आती है वह विजयसूचक है। यह बारह सूक्तों के अंत में आती है । ये बारह सूक्त हैं तीसरे मंडल के ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३८, ३९, ४३, ४८, ४९ और ५० क्र० पर दिये हुए । हर सूक्त के अन्त में विश्वामित्र कहता है--'जब-जब कुछ मिलाने की इच्छा से हम प्रयत्न करते हैं, उस-उस समय मार्ग में आने वाले रोड़ों को नष्ट करने वाले, जो चाहो सो मिला देने वाले, पृष्ठपोषक बनने की प्रार्थना मानने वाले, बलिष्ठ तथा ऐश्वर्ययुक्त इंद्र को ही हम उत्साहवर्धक

रीति से साहाय्य करने को बुलाते हैं । पूरी एक ऋचा अनेक सूक्तों के अन्त में रखने की विश्वामित्र की रीति सहज रीति से दर्शित करती है कि उसके मन में उस समय कौनसी कल्पना जमी हुई थी। अनेक सूक्तों के अन्त में इतनी बड़ी ऋचा बहुत ही थोड़े सूक्तकारों ने पुनरावृत्त की है ।

८. पहले देख ही चुके हैं कि हृदय में भयंकर क्षोभ हुए बिना सच्चा काव्यनिर्माण नहीं होता । पूर्वभुक्त वैभव, विद्वान् पुत्र 'तनये तनयोत्पत्तिः' होने के पुत्रवधू के दिन, ऐसी परिस्थिति में यदि पुत्र का वध होता है तो हृदय में तूफान न उठेगा तो कब उठेगा? इस मनःस्थिति में उस विद्यावृद्ध वसिष्ठ को जो सूक्त सूझा, वही वसिष्ठयुग का वसिष्ठरचित प्रथम सूक्त है । इसका क्रमांक ऋग्वेद में है ७-२२। 'तब तक यद्यपि वसिष्ठ ने सूक्त रचना स्वयं न की थी, पर यह तो नहीं कह सकते कि उसे सूक्तों का ज्ञान ही नहीं था। इसी कारण से वसिष्ठ के सूक्तों में 'नवशिक्षितता' बिलकुल ही नहीं दीखती । इस सूक्त पर से वसिष्ठ की धीरगंभीर वृत्ति का परिचय मिलता है । सूक्त की देवता इंद्र है और अनेक छोटेमोटे वृत्तों में उसकी स्तुति की गई है । सूक्त का आरंभ ही बड़े बढ़िया ढ़ग से होता है। वसिष्ठ आरंभ में ही कहता है—'हे इंद्र, हमसे दूर कहीं पर कार्यसक्त न हो जा। यदि तुम दूर हो तो हमारे पास आ जाओ । ओहो, पर तू तो यहीं है। तो फिर हमारा कहना सुन' । आगे वसिष्ठ कहता है--'पुत्रो न पितरं हुवे' —लड़का जैसे बाप को पुकारता है उसी तरह से मैं पुकार रहा हूं । हत-पुत्र वृद्ध वसिष्ठ का यह आर्तरव करुण रस उत्पन्न करता है और वह भी करुणारसोपयुक्त द्विपदा विराट् छंद में आर्तता को बढ़ाता ही है। आगे कहा जाता है—'न देवासः कवत्नवे' कपट करने वालों के पक्ष में देव रह ही नहीं सकते । सुदास्पक्षीय लोगों ने पुत्रहत्या की, पर वसिष्ठ सुदास् ने दी हुए गाड़ी को भूला नहीं । कृतज्ञतापूर्वक वह उसका स्मरण करता है । 'श्रद्धा इत्ते मघवन्--' हे इंद्र, तुम्हारे विषय में मेरी श्रद्धा है', ऐसा कहकर वसिष्ठ आगे कहता है--'सब प्रकार का अवम, मध्यम तथा परम धन तुम्हारा ही है। फिर भी जितना स्वयं तुम अपना समझते होगे, उसी पर मैं इच्छा करूंगा ।' वसिष्ठ का सिद्धान्त है कि 'न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु न स्रेधन्तं रयिर्नशत्' —बुरा बोलने वाले मनुष्य को अच्छी बातें नहीं मिलतीं और हिंसा करने वाले को संपत्ति नहीं प्राप्त होती । अन्त में श्रद्धा-पूर्वक वह कहता है कि 'हे इंद्र, तुम्हारी सहायता से हम नम्र रहकर भी

बड़े-बड़े संकटों के पार जा सकेंगे ।' इस प्रकार का है यह प्रथम इंद्र पर वसिष्ठ-सूक्त ।

९. इसी की तुलना में अब विश्वामित्र के बारह इंद्रसूक्तों को देखें। प्रथम (३-३०) सूक्त में ही ऋषि इंद्र से पूछता है—'ऐसे पराक्रमी होकर भी यदि तुम मनुष्यों के समान पीछे हटे तो 'क्व त्या ते वृषभ वीर्याणि' फिर तुम्हारे पराक्रम किस काम के ?' बाद को विश्वामित्र कहता है—'जो हमें 'रक्ष रक्ष' कहने को प्रवृत्त करता है उसका समूल उच्छेद करो। उसका मध्यभाग काट दो तथा उसके ऊपर ऊपर के सिरे भी छेद डालो ।' कहां वसिष्ठ की नम्रता और कहां विश्वामित्र का औद्धत्य तथा बदला लेने की बुद्धि ! ३१वें सूक्त के आरंभ में ऐसी ऋचा भूल से जुड़ गई है जिसका सूक्तविषय से भी कुछ भी संबंध नहीं है । यदि पुत्र न हो तो लड़की को पुत्रिका समझ कर उसके पुत्र को, अर्थात् अपने दौहित्र को, वारिस करार देने की बात इसमें कही गई है, जिसका सूक्तविषय से बिल्कुल ही संबंध नहीं है। अग्नि को सरण्यत् कहकर जिस अर्धर्च में उसकी स्तुति की है, उसी अर्धर्च में इंद्र को भी सरण्यत् कहकर उसकी स्तुति की है । तीसरे अर्थात् ३२वें सूक्त में 'यज्ञेन यज्ञ मव यज्ञियः सत्यज्ञस्ते' ऐसा सुन्दर शब्दालंकार जमाया है। ३४वें सूक्त में दो नये शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। एक है 'शर्धनीति' अर्थात् चढ़ाई करने की विद्या, तथा दूसरा है 'वर्पनीति' बचाव करने की विद्या । अग्रिम दो सूक्तों में कुछ भी विशेष नहीं है । ३८वें सूक्त में विश्वामित्र कहता है—'अपने को अच्छी लगें तो दूसरों की भी बातों को स्वीकार कर मैं पूर्व के ऋषियों के समान बनना चाहता हूं ।' इसके अनुसार, अंगिरस अपने ही पितर हैं, यह मानकर विश्वामित्र चलता है। ३९वें सूक्त में 'ये अस्माकं पितरो गोषु योधाः' कहकर नवग्व और दशग्व अंगिरसों को अपने ही पितर समझता है। ४३वें सूक्त में विश्वामित्र अपनी इच्छा स्पष्टतया व्यक्त करता है कि 'कुविन्मा गोपां करसे जनस्य कुविद्राजानं मघवन्नृजीविन् । कुविन्म ऋषिं पपिवांसं सुतस्य, कुविन्मे वस्वो अमृतस्य शिक्षाः'—'लोकनायक, राजा, सोमपान करने वाला ऋषि और क्षयरहित धन का स्वामी क्या मैं कभी हो सकूंगा ?' ४८वें सूक्त में कहा गया है कि इंद्र जन्म से ही सोमपान करता आया है । विश्वामित्र कहता है कि 'पिता के घर माता ने इसके 'मुंह में प्रथम सोम का ही रस डाला ।' यह कथा विश्वामित्रनिर्मित है । ४९वें पंचर्च सूक्त में विश्वामित्र ने पांच उपमाओं का प्रयोग किया है, जिसमें इंद्र को 'विभक्ता भागं धिषणेव वाजम्—' बुद्धि के अनुसार

कर्मफल का विभाजन करने वाला कहा है। अंतिम ५०वें सूक्त में 'शुनं हुवेम' यह ऋचा तो पुनरुक्त है ही पर उसी के साथ ३०वें सूक्त की 'इमं कामं' ऋचा भी पुनरुक्त है। इस ऋचा में गायों, घोड़ों और सोने का निष्क द्रव्य मांगा गया है।

१०. इस प्रकार से जब विश्वामित्र की सूक्त रचना चल रही थी उन्हीं दिनों में वसिष्ठ की पुत्रवधू अदृश्यंती ने एक पुत्र को जन्म दिया। निरुक्तकार कहते हैं–'पराशीर्णस्य स्थविरस्य जज्ञे'। कुचले हुए बूढ़े का आधार इस पर से हो, या शरों से दूर ले जाकर इसका रक्षण किया, इस कारण से हो, अथवा इसने आगे चलकर शत्रुओं को जीर्ण-शीर्ण किया इसलिये हो पर इस लड़के का नाम पराशर ही प्रसिद्ध हुआ। इसने पितामह वसिष्ठ के पास से मंत्ररचना बचपन में ही सीखी। पराशर शाक्य के नाम से प्रथम मंडल में ६५ से लेकर ७३ तक के नौ सूक्त अंकित हैं। ये सारे सूक्त अग्नि पर ही हैं। इनमें छः सूक्त हैं द्विपदा विराट् छंद में और अंतिम तीन हैं त्रिष्टुप् छंद में। पहले छः सूक्त हैं इस पराशर के पर अंतिम तीन उनमें आये हुए वर्णन से निःशंकतया कह सकते हैं कि इस पराशर के नहीं हैं। वे हैं इसके अनन्तर बीसवीं पीढ़ी में पैदा हुए दूसरे पराशर के। इनमें २१ भिन्न यज्ञों का किया हुआ निर्देश इनके उत्तरकालीनत्व का प्रमाण है। बाल पराशर के छः ही सूक्त भाषा, छंद तथा विषय तीनों के प्रमाण पर से बिलकुल किसी नौसिखुए की कृति जान पड़ते हैं। इन सूक्तों की ६१ द्विपदा विराट् छंद की ऋचाओं में लगभग पचास उपमानों का प्रयोग है। कहीं-कहीं तो एक-एक पंक्ति में चार–चार उपमान ठूंस दिये हैं। यथा—'रयिर्न चित्रा, सूरो न संदृक्, आयुर्न प्राणो, नित्यो न सूनुः।' हर उपमा के साथ 'अग्नि' और 'अस्ति' दो पद अध्याहृत लेकर ही अर्थ करना पड़ता है। ये सारे के सारे उपमान बिलकुल उचित हों, सो भी नहीं। नवशिक्षित पराशर का यह एक प्रकार का पागलपन इस सीमा तक पहुंचा कि उसके बारे में कुछ न कहना ही ठीक होगा। अंतिम ७०वें सूक्त में 'पितुर्न जिव्रेर्वि वेदो भरन्त' बूढ़े पितृतुल्य व्यक्ति से लेने योग्य बातें लेनी चाहिएं—यह वस्तुनिष्ठ स्वानुभूत सुन्दर उपमा देने के पश्चात् 'साधुर्न गृध्नुः, अस्तेव शूरः, यातेव भीमः, त्वेषः समत्सु' ऐसी तीन उपमाएं और देकर सूक्त की अननुरूप टेढ़ी-मेढ़ी समाप्ति की है।

११. जब इधर पराशर सूक्त-रचना सीख रहा था, तब जान पड़ता है कि पिजवनपुत्र सुदास् भी सूक्तरचना का अभ्यास करता था। क्योंकि

ऋग्वेद के दसवें मंडल में क्र० १३३ पर इसके नाम पर एक सूक्त दिया गया है। इस सूक्त पर से भली भाँति कल्पना की जा सकती है कि नये सूक्त की रचना करने वाले पुराने सूक्तों का विधिवत् अभ्यास करते थे। नाभाक काण्व ने अपने एक सूक्त में एक चरण का ध्रुवपाद के समान उपयोग किया है। वह है 'नभंतामन्यके समे'–दूसरे सारे मरें। सुदास् के सूक्त का ध्रुवचरण है–'नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु'—टूट जावें दूसरों की डोरियां सब धनुषों की। इनमें जो सौम्य है उसे मान्यता सभी को देनी पड़ेगी। सुदास् की अंतिम प्रार्थना है––हे इंद्र, हमको गाय दो वह जो अमृत देती रहे। शतधार-युत धन में भरा, कवि पुष्टिदायक जब चहें। किंतु इधर सुदास् के तथा उधर पराशर के सामने नियति को कुछ और ही खेल दिखाना था।

१२. पितृहीन पराशर को सूक्तरचना सीखते-सीखते ही पता लग चुका था कि अपने पिता का वध कैसे हुआ और अपने दादा को कैसे भाग निकलना पड़ा। यह समझने पर उसके सिर में और ही विचार चक्कर काटने लगे। सूक्तरचना के स्थान में बदला लेने की योजना उसके मन में घूमने लगी। सुदास् का पराभव कैसे किया जावे यही बात उसके मन में सर्वोपरि रही और थोड़े ही दिन में यह युवक अपने पितामह की अनुमति से उसी काम के लिये घर से बाहर निकला। प्रथम यह पौरवराज संवरण के पास गया। उसे अनुकूल करने के पश्चात् कुछ अन्य राजाओं से भी वह मिला और इनकी सहायता से उसके द्वारा वह युद्ध लड़ाया गया जो वैदिक वाङ्मय में 'दाशराज्ञ युद्ध' कहा जाता है। एक तरफ थे संवरण इत्यादि दस एक राजालोग और दूसरे पक्ष में थे सुदास् और भरत वंश के अन्य। इस में किंतु विजयी, विश्वामित्र की सहायता से सुदास् ही हुआ। पराशर को संवरण के साथ भागकर एक सिंधु दुर्ग का आश्रय लेना पड़ा। वृद्ध वसिष्ठ भी पराशर के साथ वहीं रहा। वसिष्ठ की सूक्तरचना प्रायः यहीं हुई। पराशर भी अल्पायु होने के कारण बदला न ले सका। वह काम आगे चल कर पूरा किया पराशर के पुत्र सुवर्चस् नामक वसिष्ठ ने। सुदास् की मृत्यु के पश्चात् इसी सुवर्चस् वसिष्ठ ने अन्य राजाओं की मदद लेकर सुदास् के पुत्र सहदेव का पराभव करवाया, पौरव संवरण को फिर से राजगद्दी पर बिठाया। वसिष्ठसूक्तों का अध्ययन करते समय इन सारी ऐतिहासिक बातों पर ध्यान रखने की आवश्यकता है। अब हम वसिष्ठसूक्तों की ओर मुड़ते हैं।

१३. ऋग्वेद संहिता के सातवें मंडल में वसिष्ठ के नाम से १०४

सूक्त दिये हुए हैं। किंतु अध्ययन करने पर जान पड़ता है कि निम्नलिखित सूक्त इस मैत्रावरुणि वसिष्ठ के रचित नहीं हैं। सूक्त का आज का क्रमांक और उसका वसिष्ठ-विरचित न होने का कारण नीचे दिया जाता है:–

क्र० २	आप्री सूक्त	
क्र० १८ से २१	वसिष्ठ के पितरों का सूक्तकार के नाते किया हुआ निर्देश, अन्योन्य विरोधी नामों का उल्लेख, इंद्र के माता-पितरों का वर्णन तथा शिश्नदेव शब्द। सब मिलाकर सूक्त संख्या–	४
क्र० ३३	साम का वर्णन	१
क्र० ३४ से ३८	तब तक अनिर्मित देवताओं का निर्देश	५
क्र० ४८ और ५०	वही पूर्वोक्त	२
क्र० ८७ से ८९	वसिष्ठविषयक कल्पित कथा	३
क्र० ६५ और ६६	तब तक अनिर्मित सरस्वान् देवता का निर्देश	२
	योग–	१८

इन अठारह सूक्तों को छोड़ बाकी सूक्त जिनकी संख्या ८६ है मैत्रावरुणि वसिष्ठ के हैं। इन में से क्र० ३२ वें सूक्त का विचार किया ही गया है। शेष ८५ सूक्तों की चर्चा करनी है।

१४. इन ८५ सूक्तों में क्र० १ तथा १०४ का ये दो सूक्त एक से अधिक सूक्तों का एकीकरण किये हुए जान पड़ते हैं। पहले देखा जा चुका है कि शुन:शेप के समय से ही कई ऋषियों ने ऋचा का एक पाद या आधी ऋचा सूक्त में पुनरावृत्त की है। भौम अत्रि ने तथा विश्वामित्र ने तो पूरी की पूरी ऋचा भी ध्रुवा के समान सूक्तों के अंत में प्रयुक्त की है। किंतु किसी भी ऋषि ने एक ही सूक्त में एक ही पूरी ऋचा की पुनरावृत्ति कहीं भी नहीं की है। वैसा करने से कुछ अधिक प्रयोजन भी नहीं दिखता। वसिष्ठ सूक्तों में भी ये सारे पुनरुक्ति के प्रयोग पाये जाते हैं। पर व्यर्थ की पूरी की पूरी ऋचा की पुनरुक्ति अप्रयोजक ही है। पर सप्तम मंडल के पहले ही सूक्त में संग्रहकार ने यह अप्रयोजकता का दोष वसिष्ठ के माथे मढ़ दिया है। इस सूक्त में ऋचाएं हैं पच्चीस। परन्तु 'नू मे ब्रह्माणि अग्न उच्छशाधि' से आरंभ होने वाली संपूर्ण ऋचा यहाँ बीसवीं भी है और पच्चासवीं भी। इस पुनरुक्ति का कुछ विशेष कारण भी नहीं दीखता। अतएव यही कल्पना सुसंगत जान

पड़ती है कि एक सूक्त बीसवीं ऋचा पर समाप्त होता है और दूसरा पाँच ऋचा का सूक्त २५ वीं पर। किंतु अनवधान से सूक्तों के संग्रहकार द्वारा दोनों सूक्त एकत्र किये गये। १०४ क्र० के सूक्त की भी स्थिति ऐसी ही है। इस सूक्त में तो तीन अलग-अलग विषय स्पष्टतया ही दीख पड़ते हैं। प्रथम से त्रयोदश तक १३ ऋचाओं में तृतीय भरद्वाज-निर्मित इंद्रासोमौ नामक देवता द्वंद्व का वर्णन है। आगे की चार ऋचाएं आत्मनिवेदन पर हैं। इनमें वसिष्ठ अपने पर लगाये मिथ्यारोप के विषय में दुख प्रकट करता है। आगे की सूक्त-समाप्ति तक ही सारी ऋचाएं राक्षोघ्न अग्निविषयक हैं। इन तीन विभागों का अन्योन्य संबंध कुछ भी नहीं। ऐसा असंबद्ध सूक्त वसिष्ठ द्वारा निर्मित होना उचित नहीं जान पड़ता। अतएव यही कहना ठीक होगा कि ये तीन भिन्न-भिन्न सूक्त प्रथम होंगे और अनवधानी से इन तीनों सूक्तों का एक ही सूक्त में समावेश किया गया होगा।

१५. सप्तम मंडल का यह अंतिम सूक्त अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। 'इन्द्रासोमौ' देवता निर्माण की पायु भरद्वाज ने। उसी का एक पांच ऋचाओं का एक सूक्त भी इस देवता पर है। परन्तु इस देवताद्वंद्व को महत्व दिया वसिष्ठ ने ही। वसिष्ठ ने इस देवता युग पर सात ऋचाएं लिखीं। इन ऋचाओं का अध्ययन करते समय स्पष्ट जान पड़ता है कि उस समय वसिष्ठ के मन में एक बात कांटे की सी चुभ रही थी। वह थी विश्वामित्र द्वारा उसे यातुधान कहा जाना। यदि सच पूछा जावे तो ऐसे मिथ्यारोप करने वाले व्यक्ति ही 'बचाओ भगवान इनसे'—रक्ष—ऐसा दूसरों से कहलवाने के कारण व्यंग्यार्थ से 'रक्षस्' ही हैं। असली 'रक्षः' को मारने वाला अग्नि रक्षोहा कहलाती है। इसी रक्षोहा अग्नि पर पायु भरद्वाज का (१०-८७) सूक्त है जिसका विचार हम कर चुके हैं। भेद इतना ही है कि 'पायु' वाच्यार्थ से 'रक्षस्' शब्द का प्रयोग करता है तो वसिष्ठ उसी का प्रयोग व्यंग्यार्थ से करता है। पायुसूक्त की छाप वसिष्ठसूक्त पर स्पष्टतया पड़ी हुई जान पड़ती है। 'यातुधान' शब्द का बुरा अर्थ पायुसूक्त में ही मिलता है। 'हे रक्षोह अग्निदेव, यातुधानों को झुलस डालो, इनकी खाल खींच लो' 'इत्यादि प्रकार की पायुकृत प्रार्थना से समझा जा सकता है कि 'यातुधान शब्द कैसे बुरे अर्थ में प्रयुक्त होता था। वह उन दिनों, मानो, एक गाली का सा ही बन गया था। यही कारण है कि विश्वामित्र ने वसिष्ठ को जब यातुधान संज्ञा दी, तब वसिष्ठ को बुरा लगा। वसिष्ठ ने पायु-प्रयुक्त क्रव्याद, किमीदिन्,

मूरदेव, भेगुरावत्, अघशंस, इत्यादि शब्दों का ही प्रयोग नहीं किया, अपितु 'पश्चात्पुरस्तादधरादुदक्त्वात्' यह शब्द समूह भी 'प्राक्तादपाक्तादधरादुदक्त्वात्' इस रूप में प्रयुक्त वसिष्ठसूक्त में पाया जाता है । केवल इतना ही नहीं, तो अघशंस तथा मूरदेव इन मूल शब्दों से पाकशंस तथा अनृतदेव बनाकर भी वसिष्ठ ने उनका प्रयोग किया है । उलूक, शुशुलूक, श्वा, कोक, सुपर्ण और गृध्र ऐसे छः रूप धारण करने वाले यातू का वणन वसिष्ठ करता है। कौए के पिल्ले रात को खा डालने वाली 'खर्गला' का उल्लेख वसिष्ठ की अथर्व दृष्टि स्पष्ट करती है।

१६. इस सूक्त में असत्य भाषण करने वाले के प्रति वसिष्ठ अपनी घृणा स्पष्टतया व्यक्त करता है। सूक्त के १४ से १६ तक की ऋचाओं में इस घृणा की तीव्रता पराकोटि को पहुंचती है । वसिष्ठ कहता है—'सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते । तयोर्यत्सत्यं यतरदजीयस्तदित् सोमोऽवति हंत्यासत् ।।' अर्थ है–सत्य और असत्य दोनों भाषणों में जो स्पर्धा चलती है वह भली भांति ज्ञान रखने वाले को ज्ञात है । इन दोनों में जो सच है, जो अधिक ऋजु है, उसी की सोमदेव रक्षा करता है । बुरी-खोटी बात का वह नाश करता है । इस सूक्त से एक और भी व्यंग्य अर्थ निकलता है । इसमें एक ऋचा है—'इंद्रो यातूनामभवत् पराशरः ।' शत्रु को कुचल डालने वाले के अर्थ में यह पराशर शब्द केवल वसिष्ठ के इसी सूक्त में आता है, अन्यत्र नहीं । अतएव यह कल्पना करना अनुचित न होगा कि इस ऋचा में तरुण पराशर के शत्रुदमन करने के हेतु बाहर निकल जाने पर उसके विषय में जो चिंता वसिष्ठ के मन में थी वह तथा उसकी जीत हो, उस के शत्रु का दमन हो, यह प्रार्थना इस ऋचा का व्यंग्य है । इसी विषय को एक दूसरी बात भी प्रमाणित करती है । वसिष्ठ का यह सूक्त तथा पायु का जो राक्षोघ्न सूक्त है वह ऋग्वेदानुक्रमणी में यद्यपि राक्षोघ्न सूक्त कहे गये हैं, तथापि अथर्ववेद संहिता में इन दोनों सूक्तों को शत्रुनाशन और शत्रुदमन की ही संज्ञा दी हुई है । वसिष्ठ के अन्य सूक्तों का विचार करते समय यह सुझाने के हेतु कि किस प्रकार की दृष्टि रखनी चाहिये, इस वसिष्ठसूक्त का इतना विस्तारपूर्वक विचार किया है। सारे ही वसिष्ठसूक्तों का इस प्रकार का विस्तृत विवेचन करना इस ग्रंथ का प्रमाण तथा परिमाण दोनों ही दृष्टि से जो विचार करना है, उसमें जमना असंभव ही है ।

१७. अपने पूर्वसूरि पायु का प्रभाव जैसा वसिष्ठ के इस सूक्त में प्रकट

होता है वैसा ही अन्यत्र भी दिखता है। वसिष्ठसूक्तों का अध्ययन करते समय यह तथ्य स्पष्टतया प्रतीत होता है कि वसिष्ठ जिस देवता के विषय में सूक्त रचता है, उस देवता पर रचित पुराने सूक्तों का अभ्यास उसने किया है। वसिष्ठ ने कुछ देवताओं का निर्माण किया, कुछ प्राचीन ऋषि-निर्मित देवताओं को अधिक प्रसिद्ध किया तथा कुछ प्रसिद्ध देवताओं की स्तुति में वृद्धि की। 'इंद्रासोमौ' देवता वसिष्ठ के समय तक इतनी ख्यात नहीं थी। वसिष्ठ ने जैसे उस देवता-द्वंद्व को अधिक विख्यात किया, उसी प्रकार 'मरुत्' नामक देवसमूह पर भी चार स्वतंत्र सूक्त रचकर उन्हें भी अधिक ख्याति दिलाई। प्रथम भरद्वाज के 'सजोषाः पाहि गिर्वणो मरुद्भिः' का विचार करते समय हम देख चुके हैं कि अपने राजा को इंद्र कहने वाले मरुत् लोगों पर से ही इंद्र के साथ मरुद्गणों की भी निर्मिति कैसे हुई। पश्चात् इन्हीं मरुत् लोगों की रुद्र नामक देवता पर गृत्समद शौनहोत्र ने सूक्त-रचना की और मरुतों को रुद्रपुत्र बनाकर उन पर भी स्वतंत्र सूक्त-रचना की। वसिष्ठ ने भी इन्हीं मरुद्गणों पर चार सूक्त लिखे। इन्हें पढ़ने पर ऐसा ज्ञात होता है कि वसिष्ठ ने केवल गृत्समद का ही मरुत्सूक्त नहीं देखा था अपितु तृतीय भरद्वाज का (६-६६ क्र० का) मरुत्-सूक्त भी उसे मालूम था। इन प्राचीन सूक्तों के आधार पर ही उसने वर्णन किया है कि मरुद्गण अलंकार धारण करते थे, उन अलंकारों में 'खादि' नाम का बाहुभूषण था, 'भृमि' नामक वाद्य वे बजाते थे, इत्यादि। इन मरुतों की अलंकारप्रियता का वर्णन करते हुए वसिष्ठ ने उपमा दी है, 'यक्षदृशो न मर्याः'। ठाट-बाट कर लोग जैसे उत्सवों में दीख पड़ते हैं, उसी प्रकार से ये दीखते हैं। इसमें स्पष्ट कहा गया है कि उत्सवों में जाते समय मनुष्य वस्त्र तथा आभूषण पहनकर सजधज से जाते हैं। गुसांई जी संतों को प्रतिपालक कहते हैं तो वसिष्ठ भी अपने को 'युष्मोतः'—तुमने पाला हुआ मरुतों को कहते हैं। इन्हीं मरुतों को 'वातस्वनासः' (वायु सदृश शब्द कहने वाले) कहकर मरुत् शब्द को वायु बनाने के हेतु सहायता दी है।

१८. वसिष्ठ के बहुसंख्य सूक्तों के अन्त में चरण आता है—'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः'। यास्क अपने निरुक्त में 'स्वस्ति शब्द का निर्वचन देता है—'स्वस्तीत्यविनाश नामास्तिरभिपूजितःस्वस्ति'। इसी के आधार पर सायण ने स्वस्ति शब्द का अर्थ किया है' अविनाशि मंगल'। हे देव, तुम कभी नष्ट न होने वाली मंगलकर बातों से हमारी रक्षा करो यह वसिष्ठ के मन

में स्थिर जमी हुई भावना है । किंतु यह चरण प्रथम रचा गया, मरुत्सूक्तों में और उसमें भी ५८वें सूक्त में । क्योंकि वहां यह वाक्य जैसे ठीक जमता है वैसा अन्यत्र नहीं । इस सूक्त की अंतिम ऋचा है—

प्र सा वाचि सुष्टुतिर्मघोनामिदं सूक्तं मरुतो जुषन्त ।
आराच्चिद्द्वेषो वृषणो युयोत यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

द्वितीय ऋगर्ध में आया हुआ 'वृषणः' ये संबोधनांत पद और फिर 'युयोत' तथा 'पात' ये मध्यपुरुष बहुवचनी क्रियापद के रूप यहाँ जैसे सहज भाव से जमते हैं वैसे अन्यत्र नहीं। वसिष्ठ के ७४ सूक्तों की समाप्ति इस चरण से होती है। इन सूक्तों में कुछ हैं अग्नि, इंद्र, वरुण इत्यादि एक-एक देवता पर, कुछ हैं अश्विनौ, मित्रावरुणौ, द्यावापृथिवी इत्यादि देवताद्वंद्वों पर, तथा कुछ हैं आपः, आदित्याः, विश्वेदेवाः इत्यादि बहुसंख्य देवताओं पर। इनमें से प्रथम दो प्रकार के सूक्तों में प्रार्थना करनी हो तो क्रियापद एकवचन में या द्विवचन में ही प्रयुक्त हो सकता है । बहुसंख्य देवताविषयक सूक्तों में भी यदि उन देवों का बोधक शब्द संबोधनेतर विभक्ति में प्रयुक्त न हो, तो ही वह 'यूयं पात' इस भाषा से जम सकता है। उस प्रकार का प्रयोग यहीं पर सरल और सहज प्रकार से माना जा सकता है, और इसीलिये इस मरुत्सूक्त में उसका प्रयोग सहज रूप में हुआ और फिर वह प्रार्थना ठीक समझी जाने पर उसका अन्यत्र प्रयोग हुआ। इसके अतिरिक्त दूसरी कल्पना की ही नहीं जा सकती ।

१९. इन मरुत्सूक्तों का अध्ययन करते समय ऋ० ५९ का सूक्त विशेष महत्व रखता है । इसमें प्रयुक्त 'इदमिदम्' समस्त शब्द है और सोभरि काण्व के (८।११-९) के 'इदमिदम्' का अनुकरण है । इन दो स्थानों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी इसका प्रयोग नहीं किया गया है । 'अभि व आवर्त्सुमतिर्नवीयसी' तुम्हारी और भी अभिनव स्तुति हो, यह चरण स्पष्ट करता है कि यह वसिष्ठकृत अंतिम मरुत्सूक्त नहीं है। इसी सूक्त में प्रयुक्त 'गृहमेधासः' तथा ५६वें सूक्त में आया हुआ 'गृहमेधीयं' शब्द ज्ञापन करता है कि वसिष्ठ के समय श्रोतकर्मों के साथ गृह्यकर्म भी होते थे। 'आ हंसासो नीलपृष्ठा अपप्तन्' का पाठ करते ही किस वेदपाठक को 'आ हंसासो न स्वसराणि गंतन' इस गृत्समद शौनहोत्र के सूक्त का स्मरण न होगा ? किंतु इन सारी बातों की अपेक्षा इस सूक्त की विशेषता यह जान पड़ती है कि वसिष्ठ का प्रिय त्रिष्टुप् चरण—'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः' इसके अंत में

नहीं आता। उसके स्थान में यहाँ आती है वह ऋचा जो वैदिक वाङ्मय में 'मृत्युंजय' नाम से प्रसिद्ध है। यह ऋचा है 'त्रियंबकं यजामहे' इत्यादि। मरुत्सूक्त से इस ऋचा का बिल्कुल संबंध नहीं। बादरायण संबंध जोड़ना ही हो तो परिहास-रूप में कह सकते हैं कि इसका मरुतों के साथ न सही, परन्तु उनके बाप के साथ संबंध है क्योंकि रुद्र को मरुत्पिता माना ही गया है। शाकल इस ऋचा का पदपाठ नही देता, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि जब शाकल ने ऋग्मन्त्रों का पदपाठ किया तब यह ऋचा उसके सम्मुख न थी। परन्तु फिर भी इस बात का पता नहीं चलता कि इस ऋचा का इसी सूक्त में समावेश क्यों नहीं किया गया।

२०. इस मृत्युंजय ऋचा का विचार करते समय वसिष्ठ ने रुद्रसूक्त की स्मृति आये बिना नहीं रहती। यह सूक्त क्र० ७-४६ पर है। वसिष्ठ की अभ्यासी वृत्ति का दर्शन यहाँ और भी स्पष्ट रूप से होता है। रुद्र मूल की यजुर्देवता। रुद्राध्याय है रुद्र की प्रधान स्तुति जो यजुःसंहिता में समाविष्ट है। इस पर प्रथम ऋक्सूक्त रचा गृत्समद शौनहोत्र ने और दूसरा बनाया कुत्स आंगिरस ने। इन दोनों सूक्तों का विचार पूर्व में अनुक्रम से भरद्वाज-युग तथा अत्रियुग में किया ही गया है। वसिष्ठ का 'मा नस्तोके षु तनयेषु रीरिषः' सिद्ध करता है कि वसिष्ठ ने दोनों सूक्तों का अभ्यास किया था। मूल रुद्राध्याय का मंत्र है, 'मा नस्तोके तनये रीरिषः'। कुत्स ने अन्य मंत्रों के साथ इस मंत्र को 'आयुषि' के स्थान में 'आयौ' पद रखकर अपने सूक्त में समाविष्ट किया। गृत्समद ने भी इसी प्रकार रुद्राध्याय के कुछ मंत्र थोड़ा परिवर्तन कर अपने सूक्त में समाविष्ट किये। किंतु वसिष्ठ ने ऐसा न किया। अपना चार ही ऋचाओं का सूक्त इसने स्वतंत्र रूप से रचा और उसमें एकवचन के स्थान पर योग्य बहुवचन का प्रयोग किया। पुराने सूक्तों के शब्दों का प्रयोग वसिष्ठ केवल उन्हीं सूक्तदेवताओं के विषय में नहीं करता, अपितु अन्य देवताओं के बारे में भी समयानुसार वह उन शब्दों का प्रयोग करता है। जैसे मूल रुद्राध्याय में 'आरात्ते गोघ्न उत पूरुषघ्ने' में बदलकर कुत्स अपने रुद्रसूक्त में कहता है—'आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नम्'। परन्तु वसिष्ठ ने 'गोहन्' तथा पूरुषहन्' इन दोनों शब्दों का प्रयोग मरुत्सूक्त में 'आरे गोहा नृहा वधो वो अस्तु' इस प्रकार से किया।

२१. अंबरीष राजा ने उपवास-चिकित्सा का आरम्भ किया और उसी के पुत्र सिंधुद्वीप ने जल-चिकित्सा का। उसने जलदेव को 'आपो देवीः' कहा।

इन 'आपो देवी' की स्तुति वसिष्ठ ने दो सूक्तों (७-४७ तथा ४९) में की हुई है। इनकी कुछ अधिक विशेषता नहीं है। ४७वें सूक्त में कहा गया है कि इन्हीं देवताओं के कारण घृत तथा मधु प्राप्त होते हैं। वसिष्ठ इन्हें 'शतपवित्रा' कहता है। सूर्य अपने किरणों से पानी ऊपर खींचता है और इंद्र उसको प्रवाहित करने के लिये उसे खरोंचता है। यह कहने के अनंतर नदी रूप से जलदेवता की स्तुति वसिष्ठ ने की है। सिंधुद्वीप के 'ता न ऊर्जे दधातन' के स्थान में 'वरि वो घातना नो' कहकर 'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः' से सूक्त को समाप्त किया है। ४९वें सूक्त में खरोंचने की कल्पना 'इंद्रो या वज्री वृषभो रराद' से की ही है। यहां आकाश से गिरने वाले पानी के साथ ही 'खनित्रिमाः स्वयंजाः' खोदकर निकाले हुए तथा आप से आप बहने वाले पानी का भी निर्देश है। जिनमें सोम है, सत्यासत्य देखने वाला वरुण रहता है तथा विश्वेदेव और वैश्वानर अग्नि भी वास करते हैं, वे 'आपो देवीरिह मामवन्तु' कहकर सूक्त समाप्त किया है।

२२. पहला पर्जन्यसूक्तकार है भौम अत्रि। वसिष्ठ ने भी पर्जन्य पर एक छोटासा तीन ऋचाओं का सूक्त बनाया है। इसका क्रमांक है ७-१०२। इसमें 'मीढ्वान्' यह रुद्रविशेषण पर्जन्य को प्रदान किया है। इसमें कहा गया है कि वनस्पतियां, गायें, घोड़ियां और स्त्रियां इन्हें पर्जन्य ही गर्भ धारण करने में प्रवृत्त करता है। इसी का विस्तार 'पर्जन्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' इस स्वरूप में हुआ है। भगवद्गीता भी इसी प्रकार वर्णन करती है। किंतु इस छोटे से सूक्त के साथ मंडूकों पर भी वसिष्ठ का रचा हुआ एक अत्यंत सुन्दर विनोदपूर्ण सूक्त है (ऋ० ७-१०३)। इसमें प्रयुक्त संवत्सर तथा अतिरात्र शब्द अनुक्रम से ज्योतिषशास्त्र तथा यज्ञविधि में जो विकास हुआ, उसके सूचक हैं। अतिरात्र नामक सोमयाग में रातभर ब्राह्मण मंत्रपाठ करते हैं। उसी प्रकार वसिष्ठ कहता है कि ये मंडूक उरांव २ रात भर करते रहते हैं। इस पर से बहुत से लोग ऐसा तर्क करते हैं कि वसिष्ठ के मत से यह मंत्रपाठ मेंढकों के शब्दों के समान है। पर यह तर्कयुक्त नहीं है। मेंढकों का शब्द यहाँ उपमान न होकर उपमेय है। उपमान है ब्राह्मणों का मंत्रपाठ और सामान्य गुण है रात समाप्त होने तक शब्दोच्चार करते रहना। किसी बड़े जलाशय के पास रातभर विचारमग्न वसिष्ठ को यह मंडूक-रव आकर्षक लगा। एक के बाद एक वे कैसे चिल्लाते हैं, इस विषय में उसकी उत्सुकता बढ़ी, वे हैं कैसे, यह उसने प्रत्यक्ष वहीं जाकर देखा और फिर इस सूक्त की

उसे स्फूर्ति हुई । ये एक दूसरे से बातें करते हैं, या गुरु के उच्चारणानुसार शिष्य उच्चारण करता है, वैसे अनुरणन करते हैं या सब मिलकर पर्जन्य की स्तुति कर रहे हैं, इत्यादि कल्पनाएं उसके मन में आईं । इनमें कुछ वृषभों के समान डंकारते हैं, तो कुछ भेड़ों के समान ममारते हैं। गरमी के दिनों में सूखी मश्क के से इनके शरीर पर्जन्यवृष्टि होते ही फूल जाते हैं। उनमें कुछ हरित रंग के होते हैं तो कुछ कबरे। इस प्रकार का विनोदपूर्ण वर्णन इस सूक्त में है । संवत्सर के बारह विभाग होने का निर्देश प्रथम इसी सूक्त में आया है। दिन तथा ऋतु का भी उल्लेख पाया जाता है। इस पर से ज्ञात होता है कि दिन, मास तथा वर्षगणना इस समय निश्चित हो चुकी थी।

२३. पर्जन्य पर पूर्वोल्लिखित तृचसूक्त के अतिरिक्त वसिष्ठ ने छः ऋचाओं का (७-१०१) एक पर्जन्यसूक्त और भी लिखा है। इस सूक्त में वसिष्ठ ने 'त्रि' शब्द का प्रयोग बाहुल्य से किया है । छः ऋचाओं के इस सूक्त में त्रिशब्द भी छः ही बार आया है—तिस्रो वाचः, त्रिधातु शरणं, त्रिवर्तु ज्योतिः, तिस्रो द्यावः, त्रेधा सस्रुरापः और त्रयो मध्वः कोशासः । एवं छः स्थान में 'त्रि' शब्द का भिन्न-भिन्न छः विशेष्यों के साथ प्रयोग कर टीकाकारों को अर्थ स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त स्वातंत्र्य दिया है। 'तिस्रो वाचः प्रवद' का अर्थ करते हुए सायण कहता है तीन अर्थात् 'ऋग्यजुःसामात्मिकाः'। किन्तु उसी के साथ 'यद्वा' कहकर 'द्रुतविलंबितमध्यमभेदेन त्रिविधाः' भी विवरण देता है। किन्तु इन दोनों में से एक भी अर्थ मेघों में से जल को आकृष्ट करने वाली स्तुति के विषय में चरितार्थ नहीं हो सकता। वसिष्ठ ने ऋग्यजुः सामात्मक मंत्र रचे नहीं थे । अतएव उसकी तीन वाणी इस प्रकार से व्यक्त नहीं हो सकतीं । साम का तो वसिष्ठयुग तक आविष्कार ही नहीं हुआ था, इसलिये प्रथम अर्थ उचित नहीं जान पड़ता। स्तुति का रूप द्रुत-विलंबित मध्यम प्रकारों से भिन्न नहीं हो सकता। अर्थ तो उचित होना चाहिये तथा वसिष्ठविरचित सूक्तों के विषय में ठीक जमना भी चाहिये। अतएव यहां और ही अर्थ करना ठीक जान पड़ता है। वसिष्ठ ने अपने सूक्तों में जिन छंदों का प्रयोग किया है उनमें द्विपद, त्रिपद और चतुष्पद यही तीन भेद हैं। उन छंदों में न है एकपदा ऋक् और न है पंचचरण पंक्ति । अतएव यहां ये ही तीन प्रकार की वाणी समझनी चाहिये। स्तुति करने से वृष्टि होती है, इसी का अनुवाद गीताकार ने 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' कहकर किया है। 'त्रिधातु शरणं' शंयु के सूक्तों में प्रयुक्त ही है और उसी अर्थ में वसिष्ठ ने उसका प्रयोग किया है । 'त्रिवतु ज्योतिः' का अर्थ है गरमी, बरसात तथा

सर्दी, तीनों ऋतुओं में सूर्य का भिन्न प्रकाश। 'तिस्रो द्यावः' अर्थात् अंतरिक्ष, आकाश और स्वर्ग। 'त्रेधा सस्रुरापः' कहने से वसिष्ठ का अथर्वदृष्टि या प्रकृति-निरीक्षण स्पष्टतया ध्यान में आता है। उसने पूर्व की, पश्चिम की तथा दक्षिण की ओर बहती हुई नदियां देखी होंगी। उत्तरवाहिनी नदी देखी न थी, अतएव तीन ही दिशाओं का उसने निर्देश किया। इस सूक्त की तीसरी ऋचा भी बड़ी सरस है। वसिष्ठ कहता है—'बंध्या और प्रसव-क्षमा गाय के समान पर्जन्य के भी दो रूप हैं। भूमाता पिता के पास से, अर्थात् आकाश से, पानी लेती है, उसी पानी से आकाश पुनरपि पुष्ट होता है और उसी से पुत्र अर्थात् भूमाता के सन्तान भी पुष्ट होते हैं।' आंगिरस कुत्स 'सूर्य आत्मा जगतस्त-स्थुषश्च' कहता है जो वसिष्ठ पर्जन्य के विषय में कहता है 'तस्मिन्नात्मा जगतस्तस्थुषश्च।' अब इस अध्ययन के बाद कौन कह सकता है कि वसिष्ठ को पूर्व सूरियों के सूक्त परिचित न थे।

२४. 'सुदास्' के राज्यकाल में फिर से पुरोहित बना हुआ विश्वामित्र और अपनी पुत्रवधू को लेकर भाग जाने वाला वसिष्ठ, दोनों ही सूक्त-रचना करते थे। इसलिये अब फिर से तृतीय मंडलांतर्गत विश्वामित्रसूक्तों का विचारक्रम प्राप्त ही है। इनमें से क्र० २४ से २९ तक के छः सूक्तों की चर्चा इस प्रकरण के आरंभ में ही की जा चुकी है। विश्वामित्र अपने को उन सूक्तों में 'कुशिकासः' के अन्तर्भूत करता है। इसलिये इस विश्वामित्र का उल्लेख कौशिक विश्वामित्र ही करना उचित होगा। पूर्वोक्त सूक्तषट्क के साथ ५३वें सूक्त का भी थोड़ा विचार वहाँ किया ही गया है। यह सूक्त भी भिन्न-भिन्न चार विभागों में बांटा जा सकता है। प्रथम भाग है १ से ११ तक की ऋचाओं का। दूसरे में आती हैं ऋचा १२ से १६ तक। तीसरे में १७ से २० और चतुर्थ विभाग होता है २१ से २४ तक की चार ऋचाओं का। पहले विभाग में है इंद्रस्तुति, दूसरे में ससर्परी वर्णन, तीसरे में रथांग-प्रार्थना और चौथे में वसिष्ठाभिशाप। इनमें से दूसरे तथा चौथे विभाग का विवरण पूर्व में हो चुका है। अब सिर्फ प्रथम तथा तृतीय विभाग का विचार होना है। प्रथम इंद्रस्तुति-विभाग में जिस इंद्रापर्वतौ नामक देवताद्वंद्व की स्तुति शत्रुवध के हेतु परुच्छेप दैवोदासि ने अपने (१-१३२-६) में की है, उसी देवतायुगल की प्रार्थना अच्छी-अच्छी बातें मिलने के हेतु की गई है। दूसरी ऋचा में बडी सुन्दर एक उपमा है। 'लड़का मीठी-मीठी बातें करते हुए पिता का पल्लू पकड़ उसके साथ चलता

है, उसी तरह, हे इंद्र, मैं तुम्हारे साथ चल रहा हूं ।' वसिष्ठ पर विजय मिलाकर जब विश्वामित्र घर जाने को निकलता है तब आगे की ऋचाओं में रचित शब्दों के द्वारा वह इंद्र से भी अपने घर जाने की प्रार्थना करता है। अपने स्वयं के घर पर से इंद्र के घर की कल्पना कर विश्वामित्र कहता है है कि 'जायेदस्तम्' हे इंद्र, जाया यही घर है । मेरे समान ही 'अस्तिमिद्र प्रयाहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते।' तीसरे विभाग में विश्वामित्र घर जाते समय विनय करता है कि उसके रथ के बैल रास्ते में न भड़कें तथा रथ का कोई भी भाग टूट न जावे ।

२५. वैश्वानर का अर्थ होता है सर्व सामान्य अग्नि। यास्क ने अपने निरुक्त में तथा सायण ने अपने भाष्य में इस शब्द पर पर्याप्त चर्चा की है, किंतु अन्त में यही कहा कि 'अयमेवाग्निर्वैश्वानरः'। वैश्वानर शब्द का अर्थ सायण सर्वदा 'विश्वनरहित' (सभी लोगों को उपयुक्त) यही करता है। इस अग्नि के विषय में रचित भरद्वाज सूक्त (६-७) की चर्चा पूर्व में की हुई है। इसी वैश्वानर अग्नि पर कौशिक विश्वामित्र के भी दो सूक्त हैं जिनका क्रमांक तृतीय मंडल में २ तथा ३ है। विश्वामित्र कहता है कि यह सूक्त 'घृतं न पूतं' साफ किये हुए घृत के समान है । सार यह कि घी को छान कर उसका अपवित्र भाग जैसे दूर करते हैं वैसे ही बुरी बातों को इस सूक्त से दूर किया है । अग्रिम पंक्ति में ही वह कहता है कि कुलिश की सहायता से लकड़ी छील कर जैसे गाड़ी बनाते हैं उसी प्रकार शब्दों पर संस्कार कर मैंने यह सूक्त किया है । इस पर से तर्क किया जा सकता है कि विश्वामित्र के अन्य सूक्त इतने विचारपूर्वक न किये हुए होंगे। विश्वामित्र वैश्वानर को भृगूणां रातिः (भृगुलोगों को इष्ट वस्तु देने वाला), विश्वदेव्यः (सभी देवताओं का हित करने वाला), दिवो मूर्धा तथा यज्ञानां केतुः तो कहता ही है पर यजुर्वेद के 'सोऽरोदीत् । तद्रुद्रस्य रुद्रत्वं' के आधार पर उसे रुद्र भी कहता है। इसी वैश्वानर अग्नि पर इसी युग में वसिष्ठ के भी (७-५, ६ और १३) सूक्त हैं। इनमें प्राचीन इतिहास पाया जाता है। वसिष्ठ कहता है—पुरु के लिये अग्नि ने 'पुरो यदग्ने दरयन्नदीदेः' पुरों को गिराकर उनमें आग लगा दी। ययातिपुत्र पुरु बहुत प्राचीन है अतएव यहां पुरु शब्द से पौरव संवरण ही लेना उचित है। शक्ति उसी के पास गया था और उसी की सहायता से लड़ रहा था । यह बात जब ध्यान में आती है तो लगता है कि यह वर्णन संवरण विषयक ही होगा । अग्नि की इस पुर-दार की क्रिया पर से ही इंद्र

के समान वसिष्ठ अग्नि को भी पुरंदर ही कहता है । वह कहता है 'वंदे दारुं वंदमानो विवक्मि ।' तीसरी ऋचा में आये हुए 'दस्यून्' पद का सायण अर्थ करता है 'वृथा कालस्य नेतॄन्' । अपना समय व्यर्थ व्यतीत करने वाले हम लोगों ने इस बात को ध्यान में रख अपने को दस्यु न कहा जावे, ऐसी चेष्टा करना है। तेरहवें सूक्त में वसिष्ठ कहता है कि मैं अग्नि की स्तुति 'यतये मतीनाम्' बुद्धि को नियमित रखने के लिये करता हूं । यह वाक्य भी व्यंग्यपूर्ण है ।

२६. इस समय वैश्वानर अग्नि को प्राधान्य प्राप्त हुआ सा जान पड़ता है । ऋग्वेदसंहिता में इस अग्नि पर जो सूक्त पाये जाते हैं, उनमें बहु-संख्य इसी युग के हैं । कौशिक विश्वामित्र के दो तथा वसिष्ठ के तीन, ऐसे पाँच सूक्तों का विचार किया ही गया । अब इसी समय गोतमकुल में जो 'नोधस्' नाम का ऋषि हो गया उसके भी इसी अग्नि पर रचित (१-५९) सूक्त का विचार करना है । इस सूक्त के आरंभ में ही नोधस् कहता है-'वया चिदग्ने अग्नयस्ते अन्ये'—हे अग्निदेव, दूसरे सारे अग्नि तुम्हारी ही शाखाएं हैं । इस वैश्वानर अग्नि को यह 'दिवो मूर्धा' तो मानता ही है, पर साथ ही उसे 'पृथिव्या नाभिः' भी कहता है । 'या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु'—जो द्रव्य पर्वत, ओषधि, आप् या मनुष्यों के पास, उन सब का राजा वैश्वानर अग्नि है । नोधस् कहता है–सामान्य जन जिस प्रकार दान देने वाले पुरुष की स्तुति करते हैं, उसी प्रकार की तुम्हारी पूर्व की सब स्तुति है । वसिष्ठ ने इस अग्नि को सार्थ दृष्टि से 'पुरंदर' कहा, पर वही आधार मान नोधस् तो इसे ही वृत्र का या शंबर का नाश करने वाला मानता है । इतना ही नहीं, अपितु इंद्र के सारे पराक्रम इसी को अर्पित करता है । भरद्वाजों के साथ यह 'पुरुणीथ' नामक राजा का भी उल्लेख करता है । इसी पुरुणीथ का निर्देश वसिष्ठ के सूक्त (७-९) में होने के कारण दोनों का समकालीनत्व स्पष्ट होता है ।

२७. 'नोधस्' ऋषि नाम पर से एक जगह सायण की गड़बड़ी जान पड़ती है। कक्षीवत् के जिन दो उषःसूक्तों की चर्चा भरद्वाजयुग-प्रकरण में की जा चुकी है उन्हीं में से (१-१२४-४) इस ऋचा में उषस् को तीन उपमानों के साथ उपमित किया है । उसमें एक है—'नोधा इवाविरकृत प्रियाणि' । यहां का सायण भाष्य है—'नवनं स्तोत्रं धारयतीति नोधाः । एतन्नामा महर्षिः देवतास्तुतिव्याजेन नानाविधैर्मन्त्रैः प्रियाणि स्वमनीषितानि

आविष्कृतवान् । तथैषापि स्वकीयानि सर्वलोकप्रियाणि तेजांस्याविरकरोत् ।' ऋग्वेदसंहिता में जो क्रम है उसके अनुसार कक्षीवत् के सूक्त नोधःसूक्तों के पश्चात् आने से सायण की यह भूल हुई और ऐतिहासिक दृष्टि से उस पर कालविपर्यास का दोष आया। अन्यथा वह भी 'यद्वा' कहकर दूसरा विवरण देता। साथ ही अलंकारशास्त्र की दृष्टि से भी देखा जाय तो यह उपमा नहीं जान पड़ती । ऋग्वेदशब्दों का कोष बनाने वाले 'ग्रासमान' नामक जर्मन पंडित के ध्यान में यह अनौचित्य आया सा ज्ञात होता है। इसी कारण से वह अपने कोष में 'नोधस्' शब्द का अर्थ देते हुए लिखता है कि पूर्वोक्त (१-१२४-४) ऋचा में नोधस् शब्द 'अन्+ऊधस्' इस अर्थ में समझना चाहिये। यह कल्पना उचित जान पड़ती है और इस ऋचा में नोधस् का अर्थ 'अनिगूढस्तनी नारी' ही करना योग्य है। अब नोधस् शब्द का विचार करने के स्थान में इस नाम के ऋषि के सूक्तों का विचार करना ही प्रस्तुत होगा।

२८. नोधस् गौतम के वैश्वानरसूक्त की चर्चा कर ही चुके हैं। इस सूक्त के अतिरिक्त इसके अग्नि पर दो और इंद्र पर तीन ऐसे पांच सूक्त तथा मरुतों पर एक मिलाकर छः सूक्त प्रथम मंडल में दिये हुए हैं। उनमें से अब अग्निसूक्तों का विवेचन करें। इनके ऋ० १-५८ तथा ६० हैं। प्रथम सूक्त में अग्नि 'सहसः सूनुः' तो कहा ही गया है, पर उसी के साथ 'सहस्य' का-सा उसे सहोजा नाम भी दिया है। यह अग्नि को 'ऊर्जो नपात्' भी कहता है। भृगु लोगों ने अग्नि को धन के समान गाड़ रखा, यह नोधस् का विधान अग्नि तथा धन दोनों को घर में गाड़ रखने की प्रथा स्पष्ट करता है। अग्नि 'मित्रं न शेवं' मित्र के समान सुख देने वाली है। नोधस् के इस 'शेव' शब्द पर से ही शेवधि अर्थात् खजाना, कोश, यह अर्थ हुआ है। नोधस् भी 'सप्त-जुह्व' शब्द से सात वषट्कर्त्ता ऋत्विजों का वर्णन करता है। इस पर से भी यह प्रमाणित होता है कि इस समय तक उद्गाता नाम का कोई ऋत्विज् माना नहीं जाता था। प्रस्कण्व ने अग्नि को मधुजिह्व कहा और घौर कण्व तथा विश्वमना वैयश्व ने उसे 'तपुर्जंभ' नाम से संबोधित किया। नोधस् भी यही विशेषण अग्नि को अर्पित करता है। भरद्वाज ने अग्नि को कृष्णाध्वा कहा, उसी प्रकार नोधस् कहता है—'कृष्णं त एम'—तुम्हारा मार्ग काला है। दोनों सूक्तों का अंतिम चरण है 'प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्'—बुद्धिरूप धन रखने वाली अग्नि प्रातःकाल में शीघ्र प्रकट हो। यहां का 'मक्षु' शब्द इसी सूक्त में आये हुए 'तूषू' शब्द का-सा ही शीघ्रतावाचक है। किंतु दोनों

अव्ययों में 'मक्षु' शब्द की यह विशेषता है कि पदपाठ में तो वह ह्रस्वान्त रहता है किंतु तु, नु तथा घ अव्ययों के समान वाक्य में उसका उच्चारण दीर्घान्त किया जाता है । 'सद्यो अर्थ'—तत्काल इष्ट-प्राप्ति कराने वाला, यह शब्द सारे ऋग्वेद में इसी के सूक्त में पाया जाता है । अतः प्रमाणों पर से ज्ञात होता है कि अन्य सूक्त इस नोधस् के न हो कर दूसरे किसी नोधस् के हैं ।

२९. पूर्व में कहा ही गया है कि वसिष्ठ की 'तिस्रो वस्वः' हैं चतुष्पदा, त्रिपदा और द्विपदा ऋचाएं । अब अग्नि के वसिष्ठ-रचित तीन सूक्तों को देखें, जिनमें से एक-एक इन छंदों में से एक-एक में है । ७-१७ ऋ० का सूक्त द्विपदा त्रिष्टुप् छंद में है । पराशर के नौसिखे सूक्त थे द्विपदा विराट् छंद में, अर्थात् इसकी प्रत्येक ऋचा वीस अक्षरों की है। सात द्विपदा त्रिष्टुप् अर्थात् साढ़े तीन त्रिष्टुप्। अर्थात् यह सूक्त तीन त्रिष्टुप् और एक द्विपदा त्रिष्टुप् अर्थात् आधी ऐसा कह सकते हैं । पर भेद यही है कि इसकी हर एक द्विपदा ऋक् में अर्थ, अर्ध न रहकर, पूर्ण स्वरूप में रहता है । इसकी अंतिम द्विपदा है—'ते ते देवाय दाशतः स्याम महो नो रत्ना वि दध इयानः' । यहां पर भली भाँति समझा जा सकता है कि स्वरभेद से अर्थभेद कैसे हो सकता है । प्रथम 'ते' है उदात्त । इसलिये उसका अर्थ होता है 'वे' । किंतु दूसरा 'ते' है अनुदात्त और उसका अर्थ होता है तुझे । अतएव अर्थ होता है, 'वे हम तुझे देंगे । हमारी ओर आने वाले, तुम बड़ी अच्छी बातें हमें दो' । अन्योन्य-विनिमय की यही कल्पना आगे जाकर भगवद्गीता में 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयंतु वः' इन शब्दों में अधिक सुस्पष्ट होती है । त्रिपदा गायत्री छंद का १५वां सूक्त १५ ऋचों का है । इसमें कहा गया है कि अग्नि 'नेदिष्ट आप्य' अत्यन्त निकटवत् संबंधी है । अग्नि को यहां वसिष्ठ ने बिल्कुल नया नाम दिया है। 'दिवः श्येन'—यहां भी वसिष्ठ कहता है—स्वग्नयस्त्वया वयम् । सुवीरस्त्वमस्मयुः ।' पूर्व में कहे अनुसार यह भी परस्पर विनिमय है । इस सूक्त में वसिष्ठ स्वयं अपनी स्तुति को 'सहस्रिणी अक्षरा' अर्थात् हजारों अक्षरों से युक्त तथा कभी नष्ट न होने वाली कहता है । चतुष्पदा वारह ऋचाओं का सूक्त इस समूह का तीसरा है। यहां वर्णन किया गया है कि 'सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी'—जिस यज्ञ में ब्रह्मा अच्छा होता है वही यज्ञ भली भांति किया जाता है । ब्रह्मा नामक ऋत्विज् की महती यहाँ स्पष्ट निर्दिष्ट की है। वसिष्ठ और भी कहता है—'विश्वा सूनो सहसो मर्तभोजना।

रास्व तद्यत्त्वेमहे'—"हे सहसस्पुत्र, मनुष्य की उपभोग्य वस्तुएं अनेक हैं किंतु हम जो माँगें उन्हें ही हमें दे।" वसिष्ठ की यह प्रार्थना विचारणीय है।

३०. अग्नि के इस प्रकार के सूक्त रचते-रचते वसिष्ठ ने अपनी कल्पना से एक नई देवता निर्माण की। वैदिक देवताओं की संख्या पर्याप्त होने हुए भी उन देवताओं के वाचक शब्द स्पष्ट होते हैं। उनके अर्थ के विषय में कभी संदेह पैदा नहीं होता। किंतु यह एक ऐसी देवता है जिसके वाचक शब्द का अर्थ ही स्पष्ट नहीं है। इस देवता का नाम वसिष्ठ ने कहा है, 'दधिक्रा'। बचपन में पूजा के मंत्र सीखते समय पंचामृताभिषेक पूजन में दही से स्नान कराते समय कहने का मंत्र सिखाया गया था—'दधिक्राव्णो अकारिषम्' इत्यादि। तब से मन में कल्पना दृढ़ हो गई थी कि इस देवता का दधि के साथ कुछ संबंध अवश्य ही होगा। आगे चलकर निरुक्त का अध्ययन करते समय पढ़ा कि इस शब्द की व्युत्पत्ति है—दधत्क्रामतीति वा, दधत्क्रदतीति वा, दधदाकारी भवतीति वा'। रखते-रखते ही जिसका स्थानान्तर होता है, रखते-रखते ही जो शब्द करता है, अथवा रखते-रखते ही जिसे विशिष्ट आकार प्राप्त होता है, वह है दधिक्रा। पाणिनि की वैदिकी प्रक्रिया सीखते समय 'जन सन खन क्रम गमो विट्' सूत्र भी ज्ञात हुआ जिसके अनुसार दधि पूर्वपद रहते क्रम का क्रा रूप होता है। किंतु पदपाठ पढ़ते समय इसके दो विभाग पढ़े—दधि और क्रा। दधि शब्द दही के अर्थ में पवमान सूक्तों के 'दध्या शिरः' शब्द में आता है और उसका अर्थ होता है—दही मिलाया हुआ। दही का अर्थ न होते हुए दधि धारण करने वाला, रखने वाला इस अर्थ में 'दधिर्यो धायि' इस (ऋ० १०-४६-१ की) ऋचा में ही केवल आया है। पर यह ऋचा वैदिक विभाग के अंतिम युग के सूक्त में होने से यहाँ का प्रयुक्त दधि शब्द वसिष्ठ ने लिया होगा, यह कल्पना असंभाव्य लगती थी। अंत में सेंट पीटर्सबर्ग कोश में दधि अर्थात् दही और किर् अर्थात् छिड़कना इस पर से जब इस शब्द की व्युत्पत्ति देखी तब दधि शब्द दही के ही अर्थ में होकर दही के कतरों के समान जो सफेद बादल सुबह दिखते हैं उन्हें उठाने वाला इस अर्थ में सूर्य के अश्व का वाचक यह शब्द होगा, ऐसी कल्पना मन में उत्पन्न हुई। यास्क-प्रभृति मुनियों की दी हुई व्युत्पत्ति की अपेक्षा यह व्युत्पत्ति सरस है, इस विषय में सारे रसिकों का प्रायः एक ही मत होगा। प्रातः आकाश की ओर देखते हुए सफेद दही के कतरों के से अभ्रों को सूर्य-प्रकाश से दूर होते हुए देख किसी भी सरस कवि के मन में प्रादुर्भूत हो, ऐसी ही

यह कल्पना है । सार यह कि इस देवता को निर्माण कर वसिष्ठ ने अपनी प्रतिभा की चमक भली भांति दिखाई है।

३१. इस अश्वसूचक दधिक्र देव पर वसिष्ठ का एक पाँच ऋचाओं का सूक्त (ऋ० ७-४४) है। दधिक्रा शब्द का ही दूसरा रूप है--दधिक्रावा। इस सूक्त की हरएक ऋचा में इस देवता को प्रसिद्धि देने के लिये दधिक्रा या दधिक्रावा शब्द का प्रयोग किया गया है । 'दधिक्रामु नमसा बोधयन्तः' दधिक्रा देव का स्तुति से ज्ञान या बोध कराने वाले हम ही हैं; 'दधिक्रावाणं बुबुधारः'--दधिक्रावा को पहचानने वाले भी हम ही हैं, उषःकाल और सूर्य से संबद्ध यह देवता है, इत्यादि कहकर सूक्तकार कहता है--'शृणोतु नो दैव्यं शर्धो अग्निः, शृण्वन्तु विश्वे महिषो अमूरः'--धृष्टतापूर्वक किया हुआ यह स्तोत्र अग्नि तो सुने ही, पर सारे ही बड़े लोग, जिनमें मिथ्याग्रह न हो, वे भी इसे सुनें । विश्वामित्र की शर्धनीति की स्मृति यह शर्ध शब्द जागृत करता है और वसिष्ठ की धृष्टता का परिचय कराता है। जब कवि किसी नई कल्पना को जन्म देता है, तब वह उसे यावक्छक्य प्रसिद्ध करने की चेष्टा करता है। इसी प्रघात का अनुसरण करते हुए वसिष्ठ भी अपने एक दूसरे सूक्त में कहता है कि दधिक्रावा के समान दूसरे देव भी हमारे यज्ञ में उपस्थित हों। यह सूक्त ऋ० ७-४१ का है। इसकी देवता है प्राचीन पर जिस पर सूक्त निर्मित नहीं ऐसी। इसकी सात ऋचाओं में से छः ऋचाओं में भग शब्द का प्रयोग है। इस कारण से आगे लिखे हुए 'ऋग्विधान' आदि ग्रंथों में इसे भगसूक्त ही कहा है। इस 'भग' देव का वर्णन वसिष्ठ बड़े ठाठ से करता है। वह कहता है--'आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह'--गरीब हो, श्रीमान् हो या राजा हो, हरएक इस भग देवता को यही कहता है कि मेरा भाग मुझे दो। 'इमां धिय मुदव'--इस स्तुति की भली भाँति रक्षा करो--कह कर वसिष्ठ कहता है कि 'भग एव भगवां अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम'-- देवो, भग ही भगवान् है और उसी के प्रभाव से हम भी भगवन्त होने वाले हैं। इस सूक्त की अंतिम ऋचा पीछे से किसी ने जोड़ी हुई स्पष्ट दीखती है ।

३२. यहीं पर विश्वामित्रकृत शेष दो अग्निसूक्तों का विचार करना अनुचित न होगा । इन दो सूक्तों के क्रमांक ३-१० तथा ३-११ हैं। प्रथम अर्थात् १०वां सूक्त उष्णिक् नामक २८-अक्षरी छंद में है। इसी छंद में दीर्घतमस् ऋषि का एक तृच सूक्त (१-१५०) है, किंतु यह विश्वामित्र का

षडर्च सूक्त पूरा का पूरा उसी छंद में है। छंद की रचना अत्यंत सुलभ है। गायत्री छंद में ऋचा निर्माण करना और अंत में चार अक्षर जोड़ना। उदाहरण के लिये इस सूक्त की प्रथम ही ऋचा लीजिये। वह है--'त्वामग्ने चर्षणीनां सम्राजं मनीषिणः। देवं मर्तास इंधते समध्वरे।' इसमें इंधते तक का ऋग्भाग देखा जावे तो है गायत्री छंद में। उसी में समध्वरे यह चतुरक्षरी भाग जोड़ने से उष्णिक् हो जाता है। इस सूक्त की अंतिम ऋचा का पूर्वार्द्ध है-'तं त्वा विप्रा विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते'। थोड़ा ही विचार करने पर समझ में आ सकता है कि काण्व मेधातिथि के अनेक देवसूक्तों (१-२२) में से यह भाग लिया हुआ है। काण्व मेधातिथि कहता है--'तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते'। इसके 'तद्विप्रासो' को 'तं त्वां विप्राः' करते ही विश्वामित्र का चरण बन जाता है। दूसरे ११वें सूक्त में गायत्री छंद का प्रयोग है। इसके तीसरे मंत्र में 'तरणि' शब्द का नपुंसकलिंग में प्रयोग है। ग्रासमान के कोश में यह रूप नहीं पाया जाता है। उसकी सूक्तगणना के अनुसार इस सूक्त का क्रमांक २४५ है। पर यह तरणि शब्द के साथ कहीं नहीं दिया है। उसके अंकित किये हुए रूप हैं-तरणे, तरणिः, तरिणम्, तरणयः और तरिणिभिः। इसमें 'तरणि' यह नपुंसक रूप सूक्त-क्रमांक के साथ जोड़ना चाहिये।

३३. इंद्राग्नी नामक देवताद्वंद्व पर वसिष्ठ के दो (७-९३ तथा ९४) सूक्त हैं। प्रथम सूक्त को वसिष्ठ 'नवजात' नया ही पैदा हुआ कहता है। वह इंद्राग्नी से विनय करता है कि उस नवजात सूक्त का उन्होंने 'अद्य' उसी दिन सेवन करना चाहिये। सूक्त जिस प्रकार नया है, उसी प्रकार से उसमें मांगी हुई बातें भी नई ही हैं। इनमें वसिष्ठ की पहली मांग है—'यत्सीमागश्चकृम तत्सुमृळ'—हमने जो अपराध किया हो उससे भी सुख मान लो (क्रोध न करो)। दूसरे सूक्त को श्यावाश्व आत्रेय के, अर्थात् विश्वमना वैयश्व के, समान वसिष्ठ 'पूर्व्यस्तुति'--श्रेष्ठ कह कर व्यंग्योपमापूर्वक कहता है कि यह स्तुति 'अभ्रात् वृष्टिरिवाजनि'। इस सूक्त में मांगी हुई बातें भिन्न प्रकार की हैं। ये विधायक न होकर निषेधक हैं। वसिष्ठ अंतःकरणपूर्वक कह रहा है कि आगे दी हुई बातों का उस पर कभी प्रयोग न हो। ये बातें हैं—दूसरों के द्वारा ही न समझा जाना, निंदा किया जाना और दुष्ट आदमी के आधीन रहना। कक्षीवान्, शुनहोत्र इत्यादिकों के समान इस सूक्त में 'आंगूष' शब्द का प्रयोग करता है।

३४. विश्वामित्र-विरचित इंद्रसूक्तों में ऋ० (३७, ४०, ४१ व ४२)

का एक अलग ही समूह होता है। इनमें ३७वां सूक्त युद्ध में विजय मिलाने के लिये प्रार्थना-रूप है और आगे के तीन सूक्त विजय मिलने के बाद के। दाशराज्ञ युद्ध के विषय की ही यह बात है। पहली प्रार्थना में हेतु स्पष्ट रूप से दिया हुआ है। यह स्तुति वृत्र को मारने वाला, युद्ध में धैर्य देने वाला बल मिलाने के लिये ही नहीं है, अपितु 'वृत्राय हन्तवे' शत्रु को मार डालने के लिये की हुई है। विश्वामित्र इस बात को बार-बार जता रहा है। शत्रुपक्ष के पाँचों प्रकार के लोगों में जो बल होगा वह देकर दुर्लभ विजय की प्राप्ति करा देने की प्रार्थना यहां विश्वामित्र करता है। प्रार्थना सारी गायत्री छंद में है। अंत में अनुष्टुप् छंद द्वारा ऋषि कहता है—'अर्वावतो न आगहि अथो शक्र परावतः। उ लोको यस्ते अद्रिवः इंद्रेह तत आगहि'। पास, दूर, जहाँ कहीं तुम रहते हो, वहां से यहाँ आओ। प्रार्थनानुसार इंद्र आया, विश्वामित्र पक्ष की जीत हुई और जहाँ-तहाँ यज्ञोत्सव का आरंभ हुआ। अब आगे के तीन सूक्तों मे किया हुआ वर्णन देखिये। 'इंद्र सोमाः सुता इमे' 'दधिष्वा जठरे सुतम्'। हमें प्राप्त विजय (द्युम्न) पूर्णतया इंद्र के ही हैं, इसलिए समीप, दूर या 'यदंतरा परावतं, अर्वावतं च हूयसे' पास के या दूर के बीच, जहाँ कहीं तुम हो, वहीं से हम तुम्हे बुलाते हैं। वहाँ से हमारे पास आओ। यह सोम पीने के लिये है। 'मध्रक्' मेरी ओर मुख कर घोड़ों पर से आओ। दर्भ बिछे हैं, रस निकालने के दोनों पत्थर—सिल और लोढ़ा—तैयार हैं, मंत्र कहने का आरंभ होने वाला है। हे इंद्र, आसन पर आकर बैठो और पुरोडाश का सेवन करो। 'वयमिंद्र त्वायवः, उत त्वमस्मयुः'—हम तुम्हारे हैं और तुम हमारे हो। तुम्हारे मुख में हम इस सोमरस को समर्पण करते हैं। यह तुम्हारे पेट में आनन्द से रहे। इतने खुले दिल से ये सूक्त रचे हुए हैं। गायें जिस प्रेम से बछड़े को चाटती हैं उसी प्रेम से हमारी कल्पनाएं वाणी से तुम्हे स्पर्श करती हैं। ऐसे हैं ये प्रसादगुणयुक्त सूक्त।

३५. तीसरे मंडल में ४४, ४५, ४६ तथा ४७ इन चार सूक्तों का एक खंड अलग ही मानना पड़ता है। पहले दो सूक्त हैं बृहती छद में। अनुष्टुप् के अष्टाक्षरी तीन चरण और जगती का द्वादशाक्षरी चौथा चरण मिलाकर यह बृहती छंद होता है। ये सूक्त स्वाभाविक नहीं दीखते। इनमें कृत्रिमता विशेष है। पहले ४४वें में 'हरि' ये दो अक्षर जिनमें हैं ऐसे ही शब्दों का प्रयोग किया गया है। कहीं हरि शब्द के सुबन्त-रूप हैं तो कहीं हरि+अत् =हर्यत् शब्द के। कहीं हरि अक्षरों से युक्त 'हरित्' शब्द का

प्रयोग है तो कहीं हर्यश्व, हरिधायस् तथा हरिवर्पस्, ऐसे सामासिक शब्दों में हरि शब्द मिलाया है । इस कारण से अर्थ पुष्ट होने के स्थान में उसकी हानि ही हुई है । ४५वें सूक्त में इंद्र के घोड़ों को 'मयूररोम' कहा गया है जो त्रिलुप्ता उपमा का उत्तम उदाहरण हो सकता है । पांच ऋचाओं के इस सूक्त में आठ उपमानों का प्रयोग है जिनमें जाल बिछाकर पक्षियों को पकड़ने वाले 'पाशी' तथा अंकुश के समान लंबी लकड़ी से फल तोड़ने वाले 'अंकी' बिल्कुल नये हैं । यहां इंद्र को पांच सकारादि शब्दों से विशिष्ट बनाया है । ये शब्द हैं--सुश्रवस्तम्, स्मद्दिष्टि, सुयशस्तर, स्वयु और स्वराट् । 'स्मद्दिष्टि' का अर्थ सायण देता है 'भद्रवाक्य'--अर्थात् सभ्य भाषा का प्रयोग करने वाला । ४६वें सूक्त में 'स्थविर' तथा धृष्णि' दोनों शब्द द्वितीय भरद्वाज के से ही उपयुक्त हैं । महान् अग्नि के व्रत भी महान् ही होते हैं उसी प्रकार बड़े इंद्र के पराक्रम भी बड़े ही होते हैं । यह कहने के पश्चात् ऋषि कहता है—'स योधया च क्षमया च जनान्'—ऐसे तुम लोगों में लड़ाइयाँ भी लगाओ और ठीक तरह से रहने को भी उद्युक्त करो' । बड़े मजे की है यह प्रार्थना । एक पूरी की पूरी ऋचा प्रचरणा-प्रयुक्त है । अर्थात् प्रत्येक चरण का आरम्भ 'प्र' से होता है । नदियां जैसे समुद्र में समा जाती हैं वैसे ही सोमरस तुम्हारे पेट में समा जाते हैं । सोम से कभी पेट न भरने वाले इंद्र की यह उपमा सूचक है । ४७वां सूक्त इंद्र पर रचा है और उसकी प्रत्येक ऋचा में 'मरुत्' शब्द का प्रयोग किया हुआ है ।

३६. अब विश्वामित्र के थोड़े सूक्त, जो इसी कालखण्ड के रचे हुए हैं, उनका विचार कर फिर वसिष्ठसूक्तों की चर्चा करेंगे । विश्वामित्र के इन सूक्तों का क्रमांक ५७, ५८, ५९ तथा ६१ है । इनमें पहले का विषय है विश्वेदेव, दूसरे की देवता है अश्विनौ, तीसरे में है मित्रवर्णन और चौथा है 'उषस्' पर । वाणी को गाय के साथ सदा ही उपमित किया जाता है पर यहां विश्वामित्र उसे प्रयुता और अगोपा अर्थात् यूथ से पृथक्कृत और किसी के ताबे में न रहने वाली कहता है । उसी पर से यह सूक्त पृथक् प्रकार का तथा स्वतंत्र जान पड़ता है । स्त्रियां पुरुष से जिस बात की सर्वाधिक अपेक्षा करती हैं वह है शक्ति, सामर्थ्य । यह 'जमायो वृष्ण इच्छन्ति शक्तिम्' इन स्पष्ट शब्दों में विश्वामित्र ने कहा है । 'आसादय पायय च मधूनि' यह वाक्य-प्रयोग 'योधय क्षमय च जनान्' की स्मृति जगाता है । इस सूक्त में 'प्रमति' तथा 'सुमति' में जो भेद किया है उसका भी ध्यान रखना चाहिये ।

'असश्चती चित्रा' अर्थात् परहितकरण-समर्था प्रमति है तथा विश्वजन्या अर्थात् सर्वजनहिता सुमति है। अश्विनौ के सूक्त में उनके सुचक्र रथ का तथा जह्नुप्रजा का निर्देश है। एक ऋचा में ऋषि मजे से पूछता है, "कहिये तो मेहरबान, पूर्व में कभी आप को किसी ने कमियां पैदा करने वाला कहा है? अर्थात् नहीं, फिर हमारे ही लिये कमियां क्यों?" यह काकु-ध्वनि से सूचित किया है। मित्र तथा वरुण के युगल में से केवल मित्र का ही वर्णन ५९वें सूक्त में है। 'मित्रो जनान् यातयति'——यह यातयज्जन अर्थात् लोगों को प्रयत्न करने की प्रेरणा देने वाला है, ऐसा कहकर ऋषि आगे कहता है कि इसीलिये इसकी कृपा जिस पर है वह पुरुष 'न हन्यते, न जीयते'। ६१ क्र० के उषःसूक्त में सदा के अनुसार उसे युवति, मघोनी, विश्ववारा इत्यादि विशेषण दिये ही हैं। किंतु यह वर्णन बड़ा हृद्य है कि शरीर पर का आवरण दूर कर हलके हाथों से यह स्वसरपत्नी सूर्य को जगाती है। अंतिम ऋचा में 'चंद्रेव' आता है जिसका पदपाठ चंद्रा इव व जिसका अर्थ 'सुवर्णानि इव' दिया गया है। इस पर से स्पष्ट है कि यहां का शब्द 'चन्द्र' नामक सिक्कों की ही सूचना देता है।

३७. अब इन्हीं देवताओं पर रचे हुए वसिष्ठसूक्तों का विचार करें। 'उषस्' पर वसिष्ठ के सात सूक्त हैं जिनका क्रमांक ७-७५ से ८१ है। इसमें पूर्व सूरियों के प्रयुक्त अश्वावती, गोमती, सूनृतावती, विश्ववारा इत्यादि विशेषणों के अतिरिक्त 'अंगिरस्त्या' तथा 'इन्द्रतमा' ये भी दो विशेषण मिलते हैं। विश्वामित्र ने जिन पांच प्रकार के लोगों का वर्णन किया उन्हें वसिष्ठ पंचक्षितीः अर्थात् पांच निवासस्थान के कहता है। स्वसरस्य पत्नी के समान उषा को सूर्यस्य योषा कहकर, सूर्य का सुदृशीक अश्व यह खींचती जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि यहां पति Bridegroom (पत्नी का सईस) न होकर स्त्री ही पति की husband groom हुई है। वसिष्ठ इसे 'जार इवाचरन्ती' कहकर 'न पुनर्यतीव' कहता है। अर्थात् प्रिय पति को न छोड़ वह उसके साथ ही रहती है और इसीलिये इसे 'अह्रयाणा युवती' न लजाने वाली तरुणी कहा है। यह है 'सत्येभिः सत्या', 'महद्भिः महती' और 'देवेभिः देवी'। इसका प्रकाश हर्म्य शिखरों पर से आया हुआ वर्णन कर वसिष्ठ अपना हर्म्ययुक्त नगर-वासित्व सिद्ध करता है। 'यावय द्वेषः', 'चोदय मघोनः' इत्यादि वाक्यों पर से उस समय की वाक्य-पद्धति समझ में आती है। 'मर्त-भोजन' शब्द का प्रयोग वसिष्ठ ने भी किया है, किंतु 'तिल्विलायध्वम्' यह क्रियापद वसिष्ठ ने नया

ही प्रयुक्त किया है। वसिष्ठ ने आशा प्रकट की है कि माता को जैसे पुत्र प्रिय होते हैं वैसे ही हम उषोदेवी के लाड़ले बनें। इसी में से ८०वें सूक्त की अंतिम ऋचा 'अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासः' भगसूक्त के अंत में अनवधानतया संगृहीत हुई है।

३८. अश्विनौ देवों पर वसिष्ठ के ७-६७ से ७४ तक ऐसे आठ सूक्त हैं। इनमें इन देवों के गुणवाचक कई शब्द आए हैं। दस्रा, युवाना, शुभ्रा इत्यादि प्राक्सूरि-प्रयुक्त हैं। नृपती, शचीपती, विश्ववारा इत्यादि अन्य देवों के गुण दिखाने वाले शब्द यहां अश्विनौ के विषय में प्रयुक्त हैं। कुछ थोड़े जैसे 'जेन्यावसू' क्वचित्प्रयुक्त हैं। 'स' से आरंभ होने वाले चार विशेषण जैसे विश्वामित्र ने इंद्र के विषय में लगाये वैसे 'प' से आरंभ होने वाले पुरुदंसा, पुरुतमा तथा पुराजा, ये तीन शब्द वसिष्ठ ने अश्विनौ-गुणवाचक कहे। इन सूक्तों में इन देवों के साथ इनके रथ का भी वर्णन वसिष्ठ ने पर्याप्त रूप में किया है। किंतु इस वर्णन में कहीं भी "एक चक्र पृथ्वी पर और दूसरा आकाश में" ऐसा वर्णन नहीं है। अश्विनौ का रथ त्रिबन्धुर तो है ही, किंतु कक्षीवत् ने मित्रावरुणौ के रथ को जिस प्रकार स्यूमगभस्ति' कहा वैसा ही वसिष्ठ अश्विनौ के रथ को कहता है। इस रथ को जुते हुए घोड़े 'स्थविर' अर्थात् मजबूत शरीर के हैं, ऋतयुक् हैं और 'मक्षूयु' खूब शीघ्रता से दौड़नेवाले हैं। रथ में 'सूरस्य दुहिता' बैठी हुई है और उसके साथ यह रथ अश्विनौ को ले जाता है। अत्रि, च्यवान भुज्यु, शयु, पेदु, जाहुष इनकी कथाओं का निर्देश इनमें है। शत्रु की स्तुति का तिरस्कार कर तुम हमारे ही पास आओ, मार्ग में तुमको कोई प्रतिबंध न करे, इत्यादि उल्लेख जिसके विषय में हैं, उसका नाम न पढ़कर भी हम उसकी कल्पना कर सकते हैं। इन सूक्तों में वसिष्ठ-विश्वामित्र-संघर्ष स्पष्टतया प्रतीत होता है। पंचजनों की संपत्ति हमें मिले, इसका भी व्यंग्यार्थ सहजगम्य है। 'सूनुर्न पितरा'—पुत्र जैसी माता-पिता की प्रशंसा करता है वैसी ही मैं तुम दोनों की कर रहा हूं। तुम हमें बंधु के समान हो और इसलिये तुम्हारी और हमारी मित्रता पीढ़ियों से चली आती है, यह 'युवोर्हि नः सख्या पित्र्याणि' वाक्य से वसिष्ठ कहता है। पर इसका कोरा शब्दार्थ लेकर सायण ने, बृहद्देवता में शौनक ने जो एक कथा कही थी, वह कह डाली और व्यंग्यार्थ नष्ट कर इस वाक्य में रूक्षता ला दी। ७२वें सूक्त की चतुर्थ ऋचा में 'कारवो भरंते' तथा 'समिधा जरंते' यह अंत्य यमक सहज जम गया है। 'आ पश्चात्पुरस्तादधरादुदक्तात्' यह प्रयोग अंतःप्रयाण

से एककर्तृकता सिद्ध कर सकता है । यह ऋचा जैसी ७२ और ७३ सूक्त के अंत में पुनरुक्त है, उसी प्रकार 'इयं मनीषा' यह ७० तथा ७१वें सूक्त के अंत में और 'नू मे हवं' यह ६७ और ६८वें सूक्त के अंत में पुनरुक्त है । ६८ और ७४वां सूक्त छोड़ अन्य छहों सूक्तों के अंत में 'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः' चरण द्विवचनांत न होकर बहुवचन में ही प्रयुक्त है ।

३९. वसिष्ठकृत विश्वेदेव के सूक्त अनुक्रमणिका में सप्तम मंडल में क्र० ३४ से ४० तक सात तथा ४२ और ४३ मिलाकर नौ दिये हैं । इनमें से ३४ से ३८ तक के पांच सूक्त उनमें उल्लिखित अहिर्बुध्न्य तथा ऋभु देवता के कारण इस युग के नहीं हैं। क्योंकि इस वसिष्ठ के समय तक इन देवताओं की निर्मिति ही नहीं हुई थी। अतएव इन्हें छोड़ शेष चार ही सूक्तों की यहाँ चर्चा करना है । पूर्व में कहा ही गया है कि विश्वेदेवों के सूक्त में या तो अलग-अलग देवताओं की स्तुति एक-एक ऋचा में कर उन्हें मिलाकर सूक्त बनाया जाता है या एक ही ऋचा में अनेक देवों की स्तुति कर उन ऋचाओं को मिला देते हैं। वसिष्ठ के सूक्त भी इसी प्रकार के हैं । इन सूक्तों को वसिष्ठ कभी ब्रह्म कहता है तो कभी श्लोक । अनेक स्थानों पर यह अग्नि को दूत बनाकर अपने साथ अन्य देवों को लाने के लिये कहता है । लोक-समूह के अर्थ में इसने 'वीरिट्' इस बिलकुल नये शब्द का प्रयोग किया है। निरुक्तकार इसका अर्थ 'अंतरिक्ष' करते हैं। किंतु 'विश्पतीव बीरिट इयाते' को उपमा मानकर सायण ने जो दूसरा 'गण' अर्थ किया है वही ठीक लगता है । 'धाता रयिमविदस्यं सदासाम्'—हमें ऐसा ही धन दो जिसे हम बांटते रहें तो भी समाप्त होने का डर न हो। इस प्रार्थना से वसिष्ठ का उच्च नैतिक स्तर प्रकट होता है। अगले सूक्त में भी वह यही कहता है कि 'यदद्य देवः सविता सुवाति स्यामास्य रत्निनो विभागे'—सवितृदेव जो कुछ आज हमें देगा उस उत्तम धन को हम ठीक से बाँट लेंगे । ४३वें सूक्त में वसिष्ठ कहता है कि 'स विशे ददाति वार्यमियत्यै'–देव धन देता है बांटने के ही हेतु। इन सारी बातों पर से वसिष्ठ की स्वार्थ-निरपेक्ष बुद्धि ही दीखती है और वही उसके 'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः' इस समाप्ति-वाक्य में सदा झलकती है।

४०. इंद्राग्नीविषयक वसिष्ठसूक्तों का हम पूर्व में अनुशीलन कर ही चुके हैं । इंद्र के साथ बृहस्पति, वरुण और वायु का संयोग कर इंद्राबृहस्पती, इंद्रावरुणौ और इंद्रवायू इन तीन देवतायुग्मों पर सूक्त रचे । इनमें इंद्रा–

वरुणौ की जोड़ी विशेष महत्व रखती है। इस द्वन्द्व पर वसिष्ठ के ८२, ८३, ८४ तथा ८५ क्र० के चार सूक्त हैं। इस देवतायुग्म की निर्मिति को तीसरे भरद्वाज ने। उसका एक सूक्त इस पर है। पश्चात् मेधातिथि काण्व ने भी एक सूक्त इस देवता पर बनाया। किंतु इसका विशेष महत्त्व बढ़ाया वसिष्ठ ने। युद्ध में विजय मिला देनेवाले कोई देव हों तो वसिष्ठ के मत से ये ही दो देव ऐसे हैं। सुदास् का बदला लेने के लिये पराशर घर से निकल गया और उसने अयज्यु, अर्थात् यज्ञ न करने वाले, दश-एक राजाओं को एकत्र कर भेदनामक एक अयज्यु राजा के नेतृत्व में युद्ध कराया। वसिष्ठ के मत से, उनके अयज्यु होने के कारण ही यज्ञ करने वाले तृत्सुओं के साथ सुदास् का इंद्रावरुणौ ने रक्षण किया और उस दाशराज्ञ युद्ध में सुदास् को ही विजय मिली। जब तक विश्वामित्र उनकी पुरोहिति करता था, तब तक वसिष्ठ का कुछ वश न चला। पर युद्ध के बाद जब विश्वामित्र तथा सुदास् दोनों की मृत्य थोड़े दिनों से हुई, तब पराशर और उसका सुवर्चस् नामक पुत्र दोनों ने संवरण का पक्ष लेकर सुदास् के पुत्र सहदेव पर चढ़ाई की और सुदास्-पुत्र का पूर्ण पराभव किया। जान पड़ता है कि इस दूसरे युद्ध के समय वसिष्ठ ने इंद्रावरुण के ये सूक्त रचे होंगे।

४१. यह अनुमान ८३वें सूक्त पर से स्पष्ट निकलता है। इस सूक्त में वसिष्ठ दोनों युद्धों का वर्णन करता है। परन्तु यह बात टीकाकारों के ध्यान में आई हुई नहीं दीखती। सायण तो इतिहासज्ञ था ही नहीं और इसीलिये उसने 'सुदास् और तृत्सु दोनों वसिष्ठ के याज्य अर्थात् शिष्य थे', ऐसा इस सूक्त की तीसरी तथा आठवीं ऋचा पर भाष्य करते हुए स्पष्टतया लिखा। परंतु इस भाष्य को न देखते हुए मूल सूक्त का अध्ययन किया जाये तो साफ प्रतीत होता है कि दाशराज्ञ युद्ध के विषय में जब वसिष्ठ कुछ कहता है तब वह भूतकालवाचक क्रिया के रूप रखता है। उदाहरणार्थ, 'यत्र राजभिर्दशभिर्निबाधितं प्रसुदासमावतं तृत्सुभिः सहः' यहाँ आवतं (रक्षण किया), इस भूतकालवाचक तिङन्त का प्रयोग है। सुदास् के पृथु-पर्शु लोग जब आगे बढ़े उस समय भी वसिष्ठ 'ययुः' इस परोक्ष भूतकाल के ही रूप का प्रयोग करता है। उस युद्ध में, वसिष्ठ कहता है कि, "हे इंद्रावरुणौ, तुम दोनों ने यज्ञक्रिया में प्रतिबंध डालने वाले दासों को मारा और सुदास् का यज्ञिय लोगों के साथ रक्षण किया।" पहली ही ऋचा में यह बीती बात कह कर दूसरी और तीसरी ऋचा में वसिष्ठ या तो वर्तमानकालिक क्रिया का

प्रयोग करता है या अद्यतन—आज ही हुई बात सुझाने वाले लकार का प्रयोग करता है—"अपने-अपने झंडे फहराते हुए लोग एकत्रित हो रहे हैं(समयंते), जहां तुम्हें प्रिय ऐसा कुछ हो रहा है (भवति) और ऊपर आँखें कर देखने वालों को डर लगता है (भयंते), ऐसे युद्ध में तो अब हमारा पक्ष लो। हे हवनश्रुत्, अर्थात् पुकार सुनने वाले मित्रावरुणौ, युद्धभूमि के अंत तक नाश दीख रहा है, युद्ध का घोष आकाश तक पहुंचा है और शत्रु हमारे पास आ पहुंचे हैं। ऐसे समय तो हमारे पास आओ।" इन ऋचाओं में न अनद्यतन भूत का प्रयोग है, न परोक्ष भूत का। "जब तुमने सुदास् का रक्षण किया तब तृत्सु की विश्वामित्र कृत पुरोहिति सच हुई (अभवत्)। किन्तु अब तो इस संकट-काल में हमारी रक्षा करो" (यह प्रार्थना भूतकाल नहीं सुझाती)। 'दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासं न युयुधुः'—दस अयज्यु राजा भी सुदास् से न लड़ सके, यहां और 'दाशराज्ञे परियत्ताय विश्वतः सुदासमिंद्रावरुणाव शिक्षतम्' यहां भी युयुधुः तथा अशिक्षतम् ये परोक्ष और अनद्यतनभूत के रूप पुराने युद्ध का वर्णन सिद्ध करते हैं। "खैर, जो कुछ हुई सो हुई। किंतु अब तो हम तुम्हें बुला रहे हैं (हवामहे)। अब तो हमारी रक्षा करो। अब तो हम सवितृ देव का ही गुणगान कर रहे हैं (मनामहे)—" यही वसिष्ठ अंत में कहता है। इस पर से स्पष्ट होता है कि वसिष्ठ यहां दोनों युद्धों की एक साथ तुलना कर रहा है। जब वह दाशराज्ञ युद्ध का वर्णन करता है तब भूतकाल का प्रयोग करता है और चालू युद्ध की बात करता है तब वर्तमानकाल का। इस भेद पर यह बात साफ समझ पड़ती है।

४२. पूर्वोक्त सूक्त की रचना करने के पश्चात् ८२, ८४, और ८५वीं सूक्त-रचना हुई होगी। युद्ध में विजय मिलने के बाद वसिष्ठ उन अयज्यु जनों की तुलना में अपने को अब 'दीर्घप्रयज्यु' कहता है और पृथु, पर्शु तथा तृत्सु जिस आप्य—बंधुता की इच्छा करते थे वह आप्य ही नहीं, अपितु 'सख्य' तथा मार्डीक—सुखप्राप्ति के साधन भी हमें दो, ऐसी प्रार्थना करता है। इन तीनों सूक्तों में युद्ध में विजय मिलने के बाद की मनःस्थिति स्पष्टतया दृग्गोचर होती है। इंद्रावरुणौ का अब वह बड़े चाव से वर्णन करता है—"तुम दोनों में से एक को कहते हैं सम्राट्, तो दूसरा कहा जाता है स्वराट्।" यह स्वराट् शब्द विश्वामित्र-प्रयुक्त है। "सोमपान कर तुम दोनों 'अपिन्वतमपितः पिन्वतं धियः'—अतृप्त को तृप्त करते हो। अब हमारी बुद्धि को भी तृप्त करो।" ये शब्द श्लेषानुप्रास-युक्त हैं। "हे देव, तुम दोनों में से एक

क्षेम देता है तो दूसरा शुभ । एक अपने साथ मिलकर न रहने वाले को मारता है तो दूसरा छोटी-छोटी बातों से बड़े-बड़े काम करवाता है। एक प्रतिबंधकों को मारता है तो दूसरा नियमों का पालन कराता है" । इस प्रकार दोनों की पृथक्ता दिखलाते हुए घुटने मोड़कर प्रार्थना-पद्धति का निर्देश कर अंत में वसिष्ठ कहता है कि 'तोके तनये तूतुजाना' (पुत्र के तथा पौत्र के लिये की हुई यह स्तुति इंद्रावरुणौ को सुखद हो)। इन तीनों सूक्तों में लोक तथा तनय के निर्देश सर्वसामान्य न होकर पराशर तथा सुवर्चस् के लिये जान पड़ते हैं।

४३. इंद्रवायू देवता पर वसिष्ठ का कोई स्वतंत्र सूक्त नहीं है। किंतु ९०, ९१ तथा ९२वें सूक्तों में वायु के साथ दस ऋचाओं में इनकी स्तुति है। 'ईशान' शब्द इस सूक्त में वायु के लिये प्रयुक्त किया है, इंद्रवायू के लिये भी उसका गुणवाचक विशेषण के रूप में प्रयोग किया है और वायु के से दान देने वाले लोगों को भी 'ईशानासः' कहा गया है । जो ईशान वायु को आहुति देता है उसे वायु 'मर्त्येषु प्रशस्तं' करता है और 'जातो जातो जायते वाज्यस्य'—इससे जन्म पाने वाला प्रत्येक पुत्र विजय प्राप्त करता है। यहां शाकल के पदपाठ में वाजी और अस्य दो पृथक् पद होते भी सायण 'वाज्यस्य' को वाज्य शब्द के षष्ठी का रूप मानकर अर्थ करता है । "इन दोनों ईशानों का रथ वीरवाह है (९०-५) तो जो हमें देते हैं वे ही ईशानास अर्थात् सत्य प्रभु होते हैं (९०-६)।" पूर्व में जैसे अग्नि को दूत बनाया था वैसे यहाँ 'इंद्रवायू' दोनों को दूत माना है। मंडूकसूक्त में संवत्सर के जिन बारह भागों का निर्देश है उन्हें यहां 'मास' स्पष्टतया कहा है। इसमें एक सर्वमान्य सिद्धान्त कहा है कि 'विश्वेन्नरः स्वपत्यानि चक्रुः'—सभी मनुष्य अपने बच्चों का भला करते हैं। वसिष्ठ कहता है—"जब तक शरीर में शक्ति है, जब तक कल्पना तेजस्वी है, और जब तक मन विचारक्षम है तब तक, हे इंद्रवायू, हम तुम्हें सोम पिलायेंगे और वह तुम इसी आसन पर बैठ कर पियो।" परुच्छेप दैवोदासि ने जिस पूर्वपेय का अपने सूक्त (१-१३५) में निर्देश किया, उसका उल्लेख कर वसिष्ठ सैकड़ों-हजारों शब्दों की स्तुति से संतुष्ट कर इन देवों को आवाहित करता है।

४४. पूर्वोक्त तीन सूक्तों में इंद्र के साथ जैसी इंद्रवायू की स्तुति की है, उसी प्रकार ९७वें तथा ९८वें सूक्त में इंद्र के साथ बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति की स्तुति कर आगे आने वाले वामदेव तथा गृत्समद सूक्तकारों को इंद्राबृहस्पती तथा इंद्राब्रह्मणस्पती देवता-द्वंद्व की कल्पना के लिये आधार बना

दिया है। 'यो नो दाता परावतः पितेव' इस प्रकार बृहस्पति का वर्णन कर उसे प्रेष्ठ तथा ब्रह्मणस्पति को श्रेष्ठ कहा गया है। 'यो ब्रह्मणो देवकृतस्य राजा' इन शब्दों में इंद्र का तथा ब्रह्मणस्पति दोनों का वर्णन वसिष्ठ करता है। विश्वामित्र के जैसे चार गुणवाचक सादि-शब्द इन्द्र के वाचक हैं, वैसे ही वसिष्ठ के तीन शादि-विशेषण बृहस्पति के लिये प्रयुक्त हैं। वे हैं शतपत्र, शुचि और शुंध्यु। इंद्र के ज्ञान का वर्णन करते हुए वसिष्ठ बड़े मजे की एक उपमा देता है। गौर मृग की प्यास का वर्णन कृष्ण आंगिरस ने किया है। वसिष्ठ ने यह उपमा अश्विनौ को भी दी है। किंतु यहाँ दूर का पानी ताड़ लेने का जो सहज गुण गौर मृग में है उसका निर्देश कर वसिष्ठ कहता है कि वह गौर मृग जैसा पानी भांप लेता है वैसा ही नहीं अपितु उससे भी बड़ी बुद्धि से इंद्र यह भांप जाता है कि सोमरस कहाँ निकल रहा है। इस प्रकार वह 'गौराद्वेदीयान्'—गौर मृग से भी अधिक ज्ञानवान् है। संहिता में जो क्रम दिया हुआ है उसके अनुसार सूक्तों का अभ्यास किया जाए तो पहले सूक्तों का असर आगे के सूक्त समझने पर पड़े बिना नहीं रह सकता। इसका एक उदाहरण ९८वें सूक्त की तीसरी ऋचा पर लिखे हुए सायण के भाष्य में मिलता है। 'प्र ते माता महिमानमुवाच' इस वाक्य में अर्थसंदर्भ से माता शब्द गिनने वाले के अर्थ में होते हुए भी सायण ने माता शब्द का जननी अर्थ कर, यह ऋचा जिस कथा की आधारभूत हुई, वह कथा ही इस ऋचा की आधारभूत मान ली है।

४५. उपर्युक्त युग्मदेवता के समान 'इंद्राविष्णू' युग्मदेवता पर भी वसिष्ठ की तीन ऋचाएं विष्णुस्तुति के साथ विष्णुसूक्त में पाई जाती हैं। इंद्राविष्णू की कल्पना तृतीय भरद्वाज ने की, किंतु विष्णु की कल्पना उससे भी पूर्व दीर्घतमस् ऋषि ने की। वसिष्ठ ने दोनों पर, अर्थात् विष्णु तथा इंद्राविष्णू पर सूक्तरचना की। उसका विष्णुसूक्त क्र० १०० पर है। उसी का प्रथम विचार करना उचित होगा। विष्णु का वर्णन ९९वें इंद्राविष्णू सूक्त में भी है। वसिष्ठ के विष्णुसूक्तों का परिशीलन करते समय स्पष्ट समझ में आता है कि वसिष्ठ को विष्णु पर रचे हुए सारे प्राचीन सूक्तों का ज्ञान था। वसिष्ठ केवल उन पूर्व सूरियों के उरुगाय, एवयावन् इत्यादि शब्दों का ही प्रयोग नहीं करता अपितु उसके आकाश तथा पृथिवी स्थिर रखने का या अपने तीन कदमों से पृथिवी को व्याप्त करने का पराक्रम भी पूर्व सूक्तकारों के समान बखानता है। पर इन पुरानी बातों को दुहराते समय

अपनी कुछ विशेषता भी व्यक्त करता है। अर्थात् आकाश या नाक को ऋष्य दर्शनीय तथा बृहत् विस्तीर्ण कहता है तो पृथिवी को इरावती, धेनुमती तथा सूयवसिनी विशेषणों से भूषित करता है। अन्न, पशु, धान्य इत्यादिकों से परिपूर्ण यह पृथिवी विष्णु ने ही मनुष्यों को दी, यह वर्णन भी वसिष्ठ का ही है। विष्णु की 'सुमति' को पूर्वकथित विश्वजन्य कहता ही है पर उसी के साथ 'आस्य जानंतो नाम चिद्विवक्तन' का ही अनुवाद 'त्वेषं ह्यस्य स्थाविरस्य नाम' से करता है। पूर्व में किसी ने न दिया हुआ 'शिपिविष्ट' नाम यह विष्णु को प्रदान करता है। दीर्घतमस् ने विष्णु को कहा 'सखिवान्'। मेधातिथि ने वर्णन किया 'इंद्रस्य युज्यः सखा'; किंतु वसिष्ठ ने इस सख्य को बढ़ाकर 'इंद्राविष्णू' का युग्म ही बनाया। इंद्र तो पुरंदर था ही, पर शंबर के 'शतं सहस्रं च' ११०० वीरों को इसी युग्मदेवता द्वारा मरवाया। पराशर ने जिन अयज्यु दासों को एकत्र किया था, उन्हीं में से 'वृषशिप्र' नामक दास की मायाओं को, अर्थात् बदमाशियों को, वसिष्ठ ने इंद्राविष्णू के ही हाथों नष्ट करवाया है। दोनों सूक्तों की समाप्ति 'वषट्ते' इसी ऋचा से होती है।

४६. मित्रावरुणौ का द्वन्द्व बड़ा प्राचीन है। इस पर भी वसिष्ठ के तीन सूक्त हैं ६१, ६४, ६५ क्रमांक के। सूर्य के साथ इस युग्म देवता का वर्णन किया गया है ऋ० ६०, ६२ के दो सूक्तों में और सूर्य अर्यमा तथा मित्रावरुणौ इन सबों पर मिलाकर है ६३ ऋ० का एक सूक्त। ये छहों सूक्त कुछ विशेषता नहीं रखते। वसिष्ठ स्वयं इस बात को मानकर भी अपने नये ढंग से कहता है कि 'न यासु चित्रं ददृशे न यक्षम्'—अर्थात् इनमें न है कुछ विलक्षण तथा न है कुछ प्रशंसा करने योग्य। अतएव वह कहता है कि 'नवानि कृतानि ब्रह्म जुजुषन्निमानि' इनके केवल नवीनत्व से ही आनंद मनाओ, तृप्त हो जाओ। यज्ञ न करने वाले अयज्यु लोगों के विषय में वसिष्ठ आशा करता है कि महीनों के महीने इन्हें संतान न हो—'अयन्मासा अयज्वनामवीराः'। ६४वें सूक्त में सूक्त-रचना की विधि विस्तार से दी है—ये पहले 'मनसातक्षत्' मन में बनाये जाते हैं, पश्चात् 'ऊर्ध्वां धीतिं कृणवत्'—ऊपर उठने वाले अर्थात् बाहर निकलने वाले शब्दों में रचे जाते हैं और अन्त में 'धारयत्' हिफाजत से रखे जाते हैं। ३५वें सूक्त में वसिष्ठ कहता है कि पापों के पार जाना हो तो नौका के रूप में सन्मार्ग का ही अवलंबन (सहारा) लेना पड़ता है। ६०वें तथा ६२वें सूक्तों में

यह कल्पना की है कि सूर्य जब तक किसी को निष्पाप नहीं ठहराता तब तक उसे अच्छा स्थान प्राप्त नहीं होता क्योंकि सूर्य ही 'विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च गोपा ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्'--सारी स्थावर-जंगम वस्तुओं का रक्षणकर्त्ता है तथा लोगों का पाप-पुण्य देखने वाला है । यहाँ पर कवि ने 'सत्यानृते अव पश्यन् जनानाम्' यह वरुण का कर्त्तव्य सूर्य को सौंपा है। यह सूर्य ६३वें सूक्त के अनुसार अंधकार का आवरण ढाल के समान आदमियों पर फैलाता है।

४७. सूर्य देवता के साथ ही सवितृ तथा आदित्याः इनके विषय में जो सूक्त वसिष्ठ ने रचे, उनका भी विचार करना चाहिये । सवितृ देव पर वसिष्ठ का एक छोटा सा चार ही ऋचाओं का क्र० ४५ पर दिया हुआ सूक्त है । इसमें कहा है कि सविता 'विवेशयञ्च प्रसुवञ्च भूम'—सबको विश्राम भी देता है और कामों में प्रवृत्त भी करता है । यहां वसिष्ठ ने अमति को एक बड़े अच्छे शब्द से विभूषित किया है वह है उरूची । उरूची का अर्थ होता है, चारों तरफ ऊंची उड़ानें लेने वाली । गीता की भाषा में इसे 'बहु-शाखा' कह सकते हैं। इस प्रकार अमति है उरूची, प्रमति है असश्चती और सुमति है विश्वजन्या । जब ये बारीकियां ध्यान में आती हैं तब कहे बिना नहीं रहा जाता कि ये कविलोक मानसशास्त्र का भी कितनी सूक्ष्मता से विचार करते थे । ५१वां सूक्त है आदित्यविषयक। इसकी प्रत्येक ऋचा में आदित्य शब्द आया हुआ है । इस सूक्त के विचारणीय दो शब्द और हैं--अनागास्त्व और आदितित्व । पहले का अर्थ है निष्पापता और दूसरे का है अदीनता । वसिष्ठ प्रार्थना करता है कि आदित्यों ने उसे ये दो बातें देनी चाहिएं । दीन याचक न बनने की कामना कितनी पुरानी है, यह इस पर से स्पष्ट होता है और यह भी समझ में आता है कि श्राद्धपक्षादि विधि में की जाने वाली 'याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कञ्चन' की प्रार्थना का आधार कहां पर है । अनागास्त्व के विषय में वसिष्ठ कहता है कि 'मा वो भुजेमान्यजातमेनः' दूसरे के किये हुए पापों के फल हमें भोगने पड़े । इसी कल्पना की वृद्धि सांसर्गिक पाप में हुई और इसमें से कोई मुक्त न होने पावे इसलिये पंच महापातकों में उसका समावेश किया गया।

४८. युग्म देवता द्यावापृथिवी पर भी वसिष्ठ का एक तीन ही ऋचा का सूक्त है। यह सूक्त इस बात का पर्याप्त प्रमाण दे सकता है कि पूर्व

के ऋषियों के रचे हुए सूक्तों का संग्रह वसिष्ठ के पास था। ऋ० ५३ का यह सूक्त अपने आरंभ से ही इस बात का प्रमाण पुष्ट करता है। पूर्व में कहा ही गया है कि द्यावापृथिवी देवता का निर्माता मामतेय दीर्घतमस् है। उसके (१-१५९) सूक्त का आरंभ 'प्रद्यावा यज्ञैः पृथिवी ऋतावृधा' है। अब वसिष्ठसूक्त का आरंभ देखें तो वह है—'प्रद्यावा यज्ञैः पृथिवी नमोभिः'। प्रथम चार पद बिल्कुल जैसे के तैसे लिये हैं। यहां तक कि द्यावापृथिवी देवता के दोनों विभाग अलग रख उनके बीच में 'यज्ञैः' पद भी वैसा ही रखा हुआ है। 'ते चिद् धि पूर्वे कवयो गृणंतः' शब्दों से पूर्व सूक्तकारों का निर्देश भी स्पष्टतया किया हुआ है। जो कवि 'नव्यं नव्यं तन्तुमातन्वते' और जिनके कारण इस देवता-द्वंद्व को 'देवपुत्रे' कहा गया है, वही देवपुत्रे शब्द वसिष्ठ ने भी प्रयुक्त किया है। वसिष्ठ केवल दीर्घतमस् के सूक्त ही जानता था, ऐसा नहीं। प्रथम भरद्वाज ऋषि के भी सूक्त उसे ज्ञात थे। अन्यथा उसके मित्रावरुण सूक्त (१-६७) का 'अस्कृधोयु' शब्द, जिसका वसिष्ठ ने भी अपनी अंतिम ऋचा में प्रयोग किया है, एक ही रूप और एक ही अर्थ में कैसे पाया जाता? ऐसा दिखता है कि इसका अदितित्व या अदीनत्व देव मान चुके थे। उन्होंने इस अदिति को इस प्रकार बना दिया था कि वसिष्ठ अपने दानों के कारण दाता सुदाता नाम से विदित हुआ। तभी तो उसने अपने विरोधी व्यक्ति की 'सुदास्' संज्ञा विशेष नाम के अर्थ को छोड़ कर 'अच्छा दान करने वाला' इस अर्थ में स्वयं के ही लिये प्रयुक्त न की होती।

४९. स्वयं 'सुदास्' होने की स्थिति को पहुंचा हुआ वसिष्ठ क्या किसी छोटे से झोंपड़े में रहता होगा? असंभव। सुख से निवास हो, ऐसा अच्छा सा सदन उसने अपने लिये बनाया होगा। दीर्घतमस् के विष्णुसूक्त पर से उसे वास्तु शब्द भलीभाँति ज्ञात था। वास्तु का अर्थ होता है—सुख से निवास-योग्य स्थान। सायण ने उस सूक्त पर भाष्य लिखते हुए यही अर्थ किया है। अपना निवास-स्थान उसी शब्द के योग्य समझ, उसी वास्तु का अधिपति मान 'वास्तोष्पति' नाम की एक देवता का सृजन किया और उस पर एक सूक्त भी लिख डाला। यह सप्तम मंडल में ऋ० ५४ पर दिया हुआ है। सूक्त है केवल तीन ऋचाओं का, पर है वह बड़ा समर्थ। सामान्यतया जब वसिष्ठ नई देवता की कल्पना करता है तब उस देवता का नाम किसी न किसी विभक्ति में वसिष्ठ प्रतिऋचा में रखता है। किंतु यहाँ तीनों ऋचाओं में

'वास्तोष्पते' यह संबुद्धिरूप ही आता है । सूक्त की नांदी ही बड़े अच्छे ढंग की है। आरंभ में ही वसिष्ठ कहता है, 'वास्तोष्पते प्रतिजानीहि'—हे वास्तोष्पति देव, प्रतिज्ञापूर्वक कहो ! यह शब्द प्रयोग 'कौन्तेय प्रतिजानीहि' इस गीता प्रयोग की याद क्या नहीं दिलाता ? जिस वेदव्यास ने 'मध्ये भारतम्' गीता-ग्रथन किया, जिसने वेदों के विभाग किये और जिसका जन्म वसिष्ठ-कुल में ही हुआ था, उसे यह वेदवाक्य क्या अज्ञात होगा ? कदापि नहीं हो सकता। अतएव यह कहना अनुचित नहीं हो सकता कि गीताकार व्यास ने यह शब्द-प्रयोग इसी सूक्त में से उद्धृत किया होगा। अब थोड़ा देखिये कि वसिष्ठ वास्तोष्पति से क्या प्रतिज्ञापूर्वक कहला रहा है, मान्य कराता है । वह कहता है—"हमारा निवास-स्थान अच्छा होने दो। आधि-व्याधि यहाँ बिल्कुल न हों । हमारे द्विपाद आदमी तथा चतुष्पाद पशु मजे से रहें । गायों तथा घोड़ों की संख्या में वृद्धि होती रहें । हमारा यह निवासस्थान सुन्दर, सुखकर और भंडार-भर हो। नई-नई अप्राप्त वस्तुएं हमें मिलती रहें और जो प्राप्त हैं वे बनी रहें । पिता पुत्र की चिंता जैसी करता है, वैसी ही हमारी चिंता करो। और तुम्हारे विचार में मग्न हो मुझे इस बात का कभी भान ही न हो कि मैं बूढ़ा हो रहा हूं ।" बताइये, क्या मांगना शेष रहा ? कहते हैं न कि माँगने को भी अक्ल लगती है । इससे अधिक कुछ मांगना असंभव समझकर ही वसिष्ठ के बाद इस देवता पर सूक्त-रचना करने की धृष्टता किसी भी दूसरे ऋषि ने नहीं की। आरंभ का प्रतिजानीहि शब्द जैसा गीताकार ने उद्धृत किया उसी प्रकार इसी सूक्त की अंतिम ऋचा के योग तथा क्षेम शब्द भी गीताकार ने 'योगक्षेमं वहाम्यहम' में उद्धृत से किये जान पड़ते हैं।

५०. देखा जाता है कि संग्राहक अपने संग्रह में कभी-कभी ऐसे दो पदार्थ एक ही स्थान में रखते हैं जिनका परस्पर से बिल्कुल संबंध नहीं होता। ऋग्वेदसंहिता का संग्रह करने वाले ने वास्तोष्पति-विषयक एक ही ऋचा वसिष्ठ के इस सूक्त में न रख आगे के ५५वें सूक्त में रख दी है। ऐसा करने के कारण की कोई कल्पना ही नहीं की जाती। उस सूक्त से इस ऋचा का दूरान्वित संबंध भी नहीं। इस सूक्त में इस ऋचा के बाद 'यदर्जुन' इत्यादि जो सात ऋचाएं हैं उन्हें अनुक्रमणीकार 'प्रस्वापिनी उपनिषद्' कहते हैं। बृहत् देवता में कहा गया है कि एक समय स्वप्न में वसिष्ठ वरुण के घर में घुसा। इसे घुसते देखकर एक कुत्ता भोंकते हुए इसे काटने के लिये दौड़ा। वसिष्ठ ने 'यदर्जुन' से आरंभ होने वाली दो ऋचाओं से उसे शांत

कर निद्रावश कर दिया। उन्हीं मंत्रों के कारण वरुण के घर के सब लोगों पर भी नींद का प्रभाव पड़ा। सायण अपने भाष्य में कहता है कि 'बृहद्देवतायां यदुक्तं तदिह लिख्यते।' इस पर से तर्क कर सकते हैं कि सायण को यह पूर्णतया मान्य नहीं दीखता। सायण आगे भी कहता है कि 'आसां प्रस्वापिनित्वं तु कथासु परिकल्पते'। चारों ओर से परिकल्पित यह कथा आगे दी जाती है—"तीन रात खाने-पीने को कुछ भी न मिलने के कारण क्षुधा और तृषा से पीड़ित वसिष्ठ (स्वप्न में नहीं, प्रत्यक्ष में) चौथी रात चोरी करने के लिये वरुण के घर के समीप आया। वरुण का धान्यागार पहरेवालों से और कुत्तों से सुरक्षित था। उन्हें निद्रावश कैसे किया जावे, इस बात का विचार करते-करते उसे 'यदर्जुन' इत्यादि सात ऋचाएं दिखाई दीं और उसने उनका जप किया।" सारा ही कल्पना का खेल। वास्तव में केवल यही है कि वसिष्ठ के मंडूकसूक्त के समान यह भी एक विनोदपूर्ण सूक्त है। यह अनुभव कई लोगों को होगा कि कभी-कभी रात को कुत्ता भोंकता सुनाई देता है और उसके भोंकने से नींद टूटती है और फिर नहीं आती। ऐसा ही अवसर कभी वसिष्ठ पर आया होगा और उस समय यह सूक्त निर्मित हुई होगा। उस समय मन-ही-मन में हरएक व्यक्ति कहता होगा कि 'ए कुत्ते, चुप रह'। उसी प्रकार वसिष्ठ कह रहा है 'निपुस्वप'—ठीक तरह से सो जा। इन सात ही ऋचाओं का अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है—"अरे पीले सफेद सरमा के बच्चे, बर्छियों के समान चमकने वाले अपने दाँत बाहर निकाल मानो काटने के लिये क्यों दौड़ता आ रहा है। जा, ठीक से सो जा। चोरी करने वाला या डाका डालने वाला कोई हो तो उस पर भोंक। हम इंद्रभक्तों पर क्यों चिल्ला रहा है। जा, ठीक से सो जा। कोई सुअर तुझ पर चढ़ाई करे तो उसे चीर डाल या उसे तुझको फाड़ खाने दे। हमें व्यर्थ में क्यों सता रहा है ? जा, सो जा सुख से। माता, पिता, दूसरा कोई तेरा भाई, मालिक, उसके भाई-बंधु और आस-पास के लोग सब को नींद लेने दे। हममें से कोई उठ बैठा होगा, दूसरा कोई चक्कर काटने लगा होगा, या और कोई केवल आँखें फाड़ देखता होगा। उनकी आंखें ऐसी बंद कर (मानो खिड़कियाँ बंद किया हुआ) यह बड़ा घर। सींगों के समान हजारों किरणों से युक्त जो सुरश्रेष्ठ समुद्र से ऊपर आता है, उसी के (अभाव) प्रभाव से हम सब लोगों को सुख से सोने दे। सुवासित वस्तुओं से युक्त, चौक में खटियों पर या पलंगों पर जो महिलाएं नींद ले

रही हैं उन सभी को हम चैन से सुलावें।" कितने सहज निकले हुए शब्दों से भरा हुआ है यह सूक्तकाव्य ! पर वेद अर्थात् कुछ अलौकिक, अपौरुषेय, ऐसा मानकर अवास्तव कल्पनाएं कर अर्थ करना हो तो ऐसी ही टेढ़ी-मेढ़ी कल्पनाएं करनी पड़ती हैं, वसिष्ठ को भूखा मारना पड़ता है, चोर बनाना पड़ता है।

५१. वसिष्ठ के कुछ अग्निसूक्तों की चर्चा हो ही चुकी है। अब जो शेष अग्निसूक्त ३, ४, ७ से १२ और १४ इन क्रमांकों पर दिये हुए बचे हैं उनका एकत्र परामर्श करना अनुचित न होगा। अग्नि पर इतने सूक्त रचे गये थे कि उसके विषय में नया कुछ कहने के लिये शेष बहुत कम बचा था। इसी कारण से इन सूक्तों में चर्वित-चर्वणा ही अधिक जान पड़ती है—इन नौ सूक्तों में अग्नि को दूत बनाकर अन्य देवों को उसके द्वारा आवाहित करने की ही कल्पना प्रधानतया पाई जाती है। नोत्रा गौतम ने 'उरुष्योर्जो न पात्पूर्भिरायसीभिः' कहा था। उसी प्रकार वसिष्ठ भी कहता है--केवल उन आयसी पुरों की संख्या अधिक बतलाता है। 'शतं पूर्भिरायसीभिर्निपाहि' ऐसी शतं से युक्त वसिष्ठ-वर्णना है। अग्नि है 'अकविषु प्रचेताः' और उसी की कृपा है जिसके कारण हम 'सुमनस्' रहते हैं। 'नित्यस्य रायः' चिरकाल रहने वाले धन का हमें स्वामी बना, यह वसिष्ठ की प्रार्थना है। सप्तम सूक्त में वनों को जलाते हुए आओ, यह कहने के बाद आठवें सूक्त में अग्नि को कृष्णपविः—कृष्णाध्वा कहा है और उसे पृच्छा की है कि हम धन के मालिक (पतयः) ही नहीं अपितु धन के बांटने वाले (वनासः) कब होंगे। 'द्विबर्हाः'—'दो जगह पृथ्वी तथा स्वर्ग में बढ़ा हुआ', इस अर्थ से यह विशेषण प्रायः अग्नि, रुद्र, इंद्र इत्यादि देवों को दिया जाता था। किंतु वसिष्ठ इस सूक्त में स्वयं अपने को ही द्विबर्हा कहता है और सायण ने उसका अर्थ 'द्वाभ्यां विद्या-कर्मभ्यां वृधन्' किया है। इस पर से स्पष्ट होता है कि वसिष्ठ केवल ज्ञानमार्गी ही न था अपितु कर्ममार्गी भी था। नवम सूक्त में ब्रह्मकृत् गण की, अर्थात् सूक्त-रचना करने वाले ऋषिसंघ की हिंसा न करने की, अर्थात् रक्षा करने की, प्रार्थना है। दसवें सूक्त में वसु, रुद्र तथा आदित्य तीनों देवगणों का निर्देश है। ग्यारहवें में 'त्वामीकते अजिरं दूत्याय'—दूतकर्म केलिये ही तुम्हारी स्तुति की जाती है, कह कर बारहवें सूक्त में 'त्वं वरुण उत मित्रः' समझ कर ही 'त्वां वर्वर्ति मतिभिर्वसिष्ठाः' ऐसा कहा है। चौदहवें सूक्त के अंत में 'तुभ्यं देवाय दाशतः स्याम'--हम, तुम देवों को देते ही रहें--की इच्छा प्रकट कर अपने 'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः' के प्रिय चरण से ही समाप्ति की है।

५२. जो बात अग्नि के विषय में थी, वही है इंद्र के विषय में। इंद्र-सूक्त संख्या में अग्निसूक्तों की अपेक्षा अधिक हैं। अतएव इंद्रसूक्तों में कल्पनाओं की पुनरुक्ति न होना असंभवनीय ही है। इसीलिये इंद्र पर इस वसिष्ठ द्वारा रचित २२ से ३१ क्रमांक तक के दस सूक्तों का एक साथ ही विचार किया है। २२वें सूक्त में वसिष्ठ कहता है—'न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिमसुर्यस्य विद्वान्। सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि।" सपाटे से काम करने वाले और अतुल पराक्रम दिखलाने वाले तुझे मैं भली भांति पहचानता हूं। और इसीलिये मैं तुम्हारी या तुम्हारे पराक्रमों की ओर से अपनी दृष्टि फेर ही नहीं सकता। यही कारण है कि असाधारण कीर्ति वाला तुम्हारा नाम बराबर लेता ही रहता हूं और यश बखानता ही रहता हूं। सूक्त के अंत में विनय है कि पूर्व तथा नूत्न जिन ऋषियों ने तुम्हारी स्तुति की, उनसे तुमने जो स्नेहभाव रखा, वही मेरे विषय में भी रखो। २३वें सूक्त में वसिष्ठ अपने मन से कह रहा है कि "अनेकों ने जैसी इंद्र की स्तुति की वैसी ही हे वसिष्ठ, तुम भी करो।" इसी सूक्त में एक बड़ी सूचक उपमा दी है कि वंध्या गायें खूब मोटी ताजी होती हैं। २४वें सूक्त में इंद्र को 'द्विबर्हा' कहकर द्वितीय भरद्वाज का यश के अर्थ में जो 'श्रोमत्' शब्द है, उसका भी उपयोग किया है। २५वें सूक्त में वसिष्ठ अपने लोगों को 'कुत्साः' कहता है। कुछ पाश्चात्य कोशकारों ने इसका अर्थ कुत्सकुलोत्पन्न किया है जो वस्तुस्थिति के विपरीत है। कुत्स अंगिरस-कुलोत्पन्न था। वसिष्ठ उस कुल का न था। अतएव सायण ने जो अर्थ किया है वही योग्य जान पड़ता है। 'शूषं कुत्साः' का अर्थ सायण 'स्तोत्रं कुर्वाणाः' करता है और 'करोतेः कुत्सशब्दनिष्पत्तिः' यह व्युत्पत्ति भी देता है। २६वाँ सूक्त वसिष्ठ के ही शब्दों में केवल नव्य नहीं, अपितु नवीयस् नव्यतर है। २७वें सूक्त में इंद्र की प्रार्थना की है कि वह अपना बल अपने मित्रों को दे। इस प्रकार वसिष्ठ सूचित करता है कि वह इंद्र का मित्र है। सूक्त क्र० २८ में एक सामान्य सिद्धांत कहा है कि 'अतूर्तुजि चित्तूतुजिरशिश्नत्'—सपाटे से काम करने वाला ढीले-ढाले को ठोक पीटता है। 'का ते अस्त्यरंकृतिः सूक्तैः'—सूक्तों से तुम कितने अलंकृत हो सकते हो, ऐसा प्रश्न २९वें सूक्त में पूछकर अपने सूक्तों द्वारा इंद्र को अलंकृत करने की असमर्थता प्रकट की है। 'वयं ते त इंद्र ये च देव स्तवन्त' इस ३०वें सूक्त के वाक्य में भी ७-१७वें के समान स्वरभेद से दोनों 'ते' शब्द के दो भिन्न अर्थ होते हैं। वसिष्ठ ३१वें सूक्त को 'द्युक्ष' कह कर वीतहव्य के कथनानुसार स्वयं द्युक्षवाचा विप्र बन गया है।

५३. सप्तम मंडल के जो ८६ सूक्त वसिष्ठ के रचे निश्चित किये थे, उनमें से ८५ सूक्तों का तत्कालीन अन्य ऋषियों के सूक्तों के साथ आस्वाद लिया। अब इस ८६वें सूक्त की आखिरी मीठी तश्तरी में जो कुछ भरा हुआ है उसे चखकर इस पर्याप्त प्रकरण को पूरा करें। छयासीवें इस सूक्त का संहिता-क्रमांक भी ८६ ही है। सूक्त का विषय है वरुण। 'मित्रावरुणौ' नामक देवता-युगल में मित्र के साथ वरुण की स्तुति होती ही है। किंतु केवल वरुण पर रचे हुए सूक्त अधिक नहीं हैं। शुनःशेप अथवा देवरात वैश्वामित्र के, अंतःकरण को स्पर्श कर जाने वाले, बिल्कुल आरंभ के दो सूक्त छोड़ दिये जावें तो नाभाक कण्व का और भौम अत्रि का एक-एक मिलाकर दो ही स्वतंत्र सूक्त वसिष्ठ के पूर्व वरुण देवता पर रचे गये थे। शुनःशेप तो यूप को बंधा ही था। अपने हाथों हुए व्रतभंगों की याद उसे उस समय आना अस्वाभाविक न था। किंतु सामान्यतया सुख से दिन बिताने वाले तथा यज्ञ-यागादि कर्म में रत रहने वाले आदमी को अपने किये पापों की याद प्रायः नहीं आती। और इसीलिये इस पापमोचक वरुण की याद केवल दो ही ऋषियों को आई। उसमें भी नाभाक कण्व का भार 'नभन्तामन्यके समे'—दूसरे सब ही मरें—पर था। केवल अत्रि ने प्रार्थना की कि 'यत्सीमागश्चकृम शिश्रथस्तत्' जो कुछ पाप हमने किया हो उसके बंधन को ढीला कर। हम देखते आये हैं कि वसिष्ठ की पाप-विषयक कल्पना कैसी सूक्ष्म और तीव्र हो रही थी। यहां तक कि दूसरों के पापों के संसर्ग से भी वह स्वयं को पापी समझने लगा था। ऐसी स्थिति में इस सूक्त की रचना होने के कारण यह सूक्त पूर्णतया भावभीना बना है। इस भावपूर्ण सूक्त का चाहे जितना पाठ करो, मन में आवे तब पढ़ो या शांत चित्त से जब-जब समय मिले तब विचार करो, चित्त अतृप्त ही रहता है, अघाता नहीं। इस सूक्त के आधार पर निश्चिन्ततया कह सकते हैं कि वसिष्ठ केवल ज्ञानयोगी और कर्मयोगी ही न था, अपितु वह भक्तियोगी भी था। ज्ञान, कर्म तथा भक्ति तीनों से उसका हृदय भरा हुआ था। इस सूक्त का अध्ययन करते हुए मन को बार-बार मराठी भक्त तुकाराम की या हिंदीभक्त तुलसी की याद पद-पद पर आती है। चित्त की वही सरलता, ईश्वर से मिलने की वही उत्कट लालसा, ईश्वर के प्रति वही बाल-सुलभ लाड़लापन, अपनी दुर्बलता का वही पश्चात्तापपूर्वक भान और अंत में वही भक्तिलीनता। इस ८ ऋचाओं के सूक्त में कूट-कूट कर ये सारी बातें भरी हैं। इस लिये इस सूक्त का रस ग्रहण करके इस प्रकरण को समाप्त करें।

५४. वरुण नाम की देवता है वैदिक । पर इस देवता का वैदिक स्वरूप इस सूक्त में कहीं दीखता है तो केवल पहली ऋचा में। उसको छोड़ दिया जाए और वरुण के विशिष्ट संबोधन सामान्य ईश्वर के अर्थ में लिये जायें तो यह सूक्त एक भावभीना भावगीत जान पड़ता है। वरुणदेव ने द्यावापृथिवी को थोप रखा, दर्शनीय और विस्तृत अंतरिक्ष को दिन में दिनकर से और रात में तारों से भर दिया और भूमि का विस्तार किया। बस। वैदिक परम्परा मान इतना ही वर्णन है। वरुण देव की विशिष्ट स्तुति केवल इतनी ही--और वह भी अकेली पहली ऋचा में। अब आगे की सारी ऋचाओं का भावार्थ विशिष्ट संबोधन पर शब्दों को सामान्य ईश्वर पर करके देखिये, कैसा होता है। वसिष्ठ कहता है—"भगवन्, इसी देह से मैं तुझसे कुछ बातें कर सकूंगा क्या ? तेरे साथ एकरूप होने को हृदय चाहता है। पर नाथ, वह कब होगा ? मुझ पर क्रोध न कर के तू मेरी पुकार सुनेगा क्या ? शुद्ध मन का होकर मैं इन्हीं आँखों से तुझे देख सकूंगा क्या ?" इतना पढ़ने के बाद निःसंदेह समझ में आता है कि वसिष्ठ की दृष्टि के संमुख वैदिक ऋषि-कल्पित वरुण न था। वसिष्ठ को केवल बाह्य महाभूतों को प्रेरणा देने वाला वरुण भाता न था। उसे चाहिये था अंतर्यामि प्रेरक वरुण। इसीलिये वह आगे कहता है--"हे दयामय, मैं तुझे मिलने के हेतु निकला तो सभी सयाने सज्जनों ने मुझ से कहा कि तू तो मिलने को चला पर वह तो तुझ पर नाराज है, क्रुद्ध है। तो हे प्रभो, मैं तुझे पूछता हूं कि ऐसा कौन सा पाप मैंने किया है ?" यह है मानसिक उत्कटता और यह है भोली सरलता ! आगे वसिष्ठ और प्रश्न करता है--"हे करुणाकर, क्या वह पाप इतना बड़ा है कि जिसके कारण से तुझे मिलने की मनीषा मन में रखने वाले मुझ पर तुम्हारा स्मरण करते हुए भी प्राण निकलने की नौबत आ पहुंचे ? कहो कहो स्वामिन्, वह कौन सा पाप है जिससे मैं उसे दूर कर सकूंगा और बालक के समान दौड़ता-दौड़ता तेरे पास आऊंगा। हे दीनदयाल, कुछ पाप हमारे हाथों इसी देह से हुए होंगे तो कुछ हमारे पूर्वजों ने किये, इसलिये हमें आ लिपटे होंगे। चोर को जैसे बांधते हैं उसी तरह से बछड़े को भी रस्सी से बांधते हैं। पर थोड़े समय में ही उसे माता का स्तनपान करने के लिये दौड़ कर जाने के हेतु मुक्त करते हैं या नहीं ? वसिष्ठ को तुम भी प्रभु, ऐसे ही मुक्त करो। क्यों तो "भगवन्, यह मनुष्य स्वयं कुछ करने को समर्थ नहीं है। पाप की ओर खींचने वाली अनेक बातें उसके चारों ओर फैली हुई हैं। मद्य, क्रोध, द्यूत और अविवेक ही नहीं, अपितु कई छोटी,

मोटी बातें उसके आस-पास हैं। और तो क्या, नींद में स्वप्न-क्रियाओं में भी उसके द्वारा बुरे कर्म क्या नहीं कराये जाते ?" मानवीय दुर्बलता की, देखिये, कैसी विशेषतापूर्ण चित्रणा की है। आगे वह कहता है--"हे दीनजनोद्धारक, मैं तेरा ही हूं और निष्पाप हुआ तो भी किसी दास की सी तेरी--जगत्पाल की—सेवा जब तक वह संतुष्ट न हो तब तक करता ही रहूंगा।" "मेरा यह मालिक मुझ जैसे मूर्खों को सन्मति दे और उसकी स्तुति करने वाले कवियों को, वह कवियों का कवि भली-भली बातें मिलाने की, प्राप्त करने की प्रेरणा दे।" ऐसी है यह भावभीनी प्रार्थना ! अब उपसंहार देखिये--"हे नाथ, अर्पण-बुद्धि से तुम्हें कोई थोड़ा भी दे तो भी तुम तृप्त होते हो। मेरा यह शब्द-संसार तुम्हारे हृदय पर अंकित रहने दो। जो नहीं मिला है वह मिल जाए और जो मिला है उसकी रक्षा हो; तो भी जिससे हमारा कल्याण हो ऐसा ही करो। अखंड अच्छे रहने वाले पदार्थों से तुम ही हमारा रक्षण करो।" अब इस पर कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। जितना लिखा है, इतना ही पर्याप्त समझ कर, इस प्रकरण को यहीं पूर्ण किया जाता है। इति।

अष्टम प्रकरण

वामदेव-युग

१. ऋग्वेद-काल का स्वर्णयुग वसिष्ठ-युग था। इस कालखंड में कई अच्छे सूक्तों का सृजन हुआ। किंतु उस युग में चमके केवल दो ही ऋषि—एक वसिष्ठ और दूसरा तत्कालीन विश्वामित्र कौशिक। दोनों महान्, दोनों का प्रभाव भी बड़ा और वैसा ही कड़ा संघर्ष भी। प्रत्यक्ष संघर्ष-विषयक सूक्तों को छोड़ दें तो दोनों की सूक्तसृष्टि प्रशस्य और विशाल। इस युग के इन दो सूक्तकार ऋषियों की ही सूत्र-संख्या लगभग सवा सौ है। छंद की दृष्टि से देखा जाय तो इस युग का ऋषिप्रिय छंद था त्रिष्टुप्। वसिष्ठ के संमुख अगर किसी की रचना टिकी तो वह विश्वामित्र की ही। स्वयं विश्वामित्र भी जिसके प्रभाव से, अल्पकाल क्यों न हो, पर हतप्रभ और बद्धजिह्व हो गया था उसके आगे अन्य ऋषि चमक ही कैसे सकते थे? इसी कारण से विश्वामित्र की मृत्यु के बाद न उसके कोई वंशज, न अन्य ऋषि सूक्तरचना करने की धृष्टता कर सके। क्योंकि वसिष्ठ केवल वयोवृद्ध ही न था—'न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः'। केवल बालों के पकने से ही वह वृद्ध न था। युवा न होते हुए भी किसी अन्य युवक की अपेक्षा वह अधिक 'अधीयान' था और इसीलिये सब प्रकार से ही 'स्थविर' कहा जाने योग्य था। वयोवृद्धत्व के साथ उसमें ज्ञानवृद्धत्व तथा तपोवृद्धत्व भी था। किंतु वसिष्ठ के अस्त होते ही समय बदला। सूक्तकार नये ऋषि आगे बढ़े। प्रथम विश्वामित्र के वंशज ही प्रसिद्ध हुए। किंतु उन सभी कुलों के ऋषियों में श्रेष्ठ था वामदेव गौतम। ऋक्संहिता के चतुर्थ मण्डल में जिन ५८ सूक्तों का समावेश है उनमें अपवादभूत कुछ छोड़ दिये जावें, तो अन्य सब उसी के हैं। और इसीलिये इस कालखण्ड को वामदेव-युग की संज्ञा दी गई है।

२. ऊपर कहा ही गया है कि इस युग में प्रथम प्रसिद्ध हुए 'वैश्वामित्र'। इनमें ऋषभ, कत, रेणु और पूरण नाम के चार ऋषि प्रमुख थे। अतः इन्हीं के सूक्तों का प्रथम विचार करना चाहिये। ऋषभ तथा कत के दो-दो

सूक्त हैं अग्नि पर, और रेणु तथा पूरण का एक-एक सूक्त है इंद्र पर। पहले चार सूक्त तृतीय मंडल में १३, १४, १७, १८ क्रमांक पर दिये हुए हैं। अन्य दो दसवें मण्डल में क्र० ८९ तथा १६० के हैं। ऋषभ के सूक्त में घन को जो 'प्रुष्णवत्' गुणवाचक शब्द दिया है, वह महत्त्व का है। तब तक वह किसी ने प्रयुक्त नहीं किया था। सायण इसका अर्थ देता है—'दान-भोगादिना व्यये सत्यपि अतिशयेन वर्धमानम्'। आगे चल कर इसी घन के साथ सहस्रवत्, तोकवत्, पुष्टिमत् इत्यादि विशेषणों का जो प्रयोग किया है उसी में एक है अनुपक्षितम्। इस पर से इसकी घनविषयक दृष्टि और सायण का अर्थ, दोनों बातें स्पष्ट होती हैं। अपने सूक्तों में विशेष कुछ न समझ यह स्तोत्र को केवल 'नम उक्ति'—नमस्कार-कथन ही कहता है। प्रार्थना करते समय यह उत्तानहस्त रहता है। विरूप आंगिरस के समान कत ऋषि भी अपने यज्ञ को मनुकृत यज्ञ के समान कहता है। इसका 'सखेव सख्ये पितरेव साधुः' गीता के 'पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः' की स्मृति दिलाता है। रेणुका (१०-८९) सूक्त कहीं अत्यंत कठिन शब्दों से भरा हुआ है तो कहीं अत्यंत सुलभ शब्दों के प्रयोग से परिपूर्ण है। इसका सूक्त पढ़ते हुए भवभूति की याद आती है। पांचवीं ऋचा में जहां 'आपांत मन्यु', 'तृपल प्रभर्मा' ऐसे 'हृठादा-कृष्ट' शब्द हैं, वहीं 'इन्द्रोदिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपरमिन्द्र इत्पर्वतानाम्। इन्द्रो वृधामिन्द्र इन् मेघिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः' इस प्रकार की प्रसाद-गुणयुक्त सुलभ ऋचा भी है। सूक्त में वैसी नवीन बात कोई नहीं। अन्त में विश्वामित्र की ही 'शुनं हुवेम' इत्यादि ऋचा से परिसमाप्ति की है। १०-१६० क्रमांक के पूरण के सूक्त में कहा गया है कि जो सोमयाग करता है उसे इन्द्र 'अनुस्पष्ट' होता है अर्थात् प्रत्यक्ष दिखता है और उसके 'अनुदिष्ट' किये बिना ही इंद्र ब्रह्मद्विषों को मारता है। विश्वामित्र की अंतिम ऋचा 'शुनं हुवेम' शब्दों से आरम्भ होती है तो वे ही आरम्भ के शब्द पूरण की अंतिम ऋचा 'आभूषन्तस्ते सुमतौ नवायां वयमिन्द्र त्वा शुनं हुवेम' में अन्त में आते हैं।

३. इन चार वैश्वामित्र ऋषियों के सूक्तों का विचार करने के पश्चात् अब वामदेव-सूक्तों पर दृक्पात करेंगे। वामदेव स्वयं अपने को गौतम कहता है। इस पर से ऐसा जान पड़ता है कि आंगिरसों के जिन रहूगणों में से गोतम था और नोधा गौतम ने जिस कुल को भूषित किया था उसी कुल का 'वामदेव' होगा। इसका समय स्पष्टतया निश्चित हो सकता है। इसने

एक सूक्त में ऐतिहासिक बात कही है। ऐसी ही बातें अन्य ऋषि भी अपने सूक्तों में देते तो कितना अच्छा होता। पर 'होते' की बात ही व्यर्थ है। जो कुछ विद्यमान है, उसी से निवाह कर लेना होगा। यह अपने सूक्त (४-१५) में कहता है--"कुमार साहदेव्य ने जब मुझे कहा कि ये दो घोड़े तुम्हारे हैं तब उनका स्वीकार किये बिना मैं वहां से निकल न सका। यज्ञिय और भली भांति सिखलाये वे घोड़े मैंने लिये। हे अश्विनौ देव, तुम दोनों को जो पुत्र के समान है वह सहदेव-पुत्र सोमक इसलिये दीर्घायु हो। तुम दोनों इस साहदेव्य कुमार को दीर्घायुष्य दो।" इसी सूक्त की चतुर्थ ऋचा में कहा है कि सृञ्जय-कुल का ही अग्नि आज प्रज्वलित किया है। इस निर्देश पर से जान पड़ता है कि साहदेव्य सृञ्जय-कुल का है, उत्तर पांचाल का है। और यदि पुराणों के आधार को प्रमाण मान लिया जाय--और ऐसा न मानने के लिये कोई सबल प्रमाण नहीं--तो यह सामदेव्य सोमक सुदास्-पुत्र सहदेव का पुत्र मानना पड़ता है और इस अग्निसूक्त के इस प्रसंगवश निर्देश से वामदेव का काल निश्चित किया जा सकता है।

४. इस सूक्त को मिलाकर वामदेव के १५ अग्निसूक्त हैं, जो ऋग्वेद-संहिता के चतुर्थ मंडल में १ से १५ तक के क्रमांक पर दिये हुए हैं। इनमें ४ और ५ ये सूक्त अनुक्रम से रक्षोहा और वैश्वानर-संज्ञक विशिष्ट अग्नि के विषय में हैं। सामान्य अग्नि पर प्रथम सूक्त में ही एक नयी बात मिलती है। सूक्त ३-२५ में विश्वामित्र अग्नि को 'दिवःसूनुः' कहता है। अग्नि यदि 'दिवः सूनुः' माना जाय तो द्यौः को अग्नि का पिता मानना क्रमप्राप्त ही है। वामदेव ने यही किया है। प्रथम सूक्त की दसवीं ऋचा में वह कहता है--'द्यौष्पिता जनिता सत्यमुक्षन्'। जान पड़ता है कि यही 'द्यौष्पितृ' शब्द पश्चिम में पहुंचकर 'जुपितर' बन गया। कुछ लोग उलटा मानते हैं पर 'य' का 'ज' सीधा ही बनता है। यह 'अद्य' के 'आज' बन जाने पर से आज भी प्रमाणित किया जा सकता है। 'हेम्यावान् अश्वः'--सुनहरा तंग बंधा हुआ घोड़ा तथा 'अयो घमन्तः'--धौंकनी से धातु को धौंकने वाले लुहार, ये दो उपमान दूसरे सूक्त में ध्यान देने योग्य हैं। तीसरे सूक्त में कुछ वर्ज्य बातों का निर्देश किया है। ऋषि कहता है--"कुटिल पुरुष के यज्ञ में नहीं जाना चाहिये। बुरे विचार रखने वाले स्वसंबंधी पड़ौसी के घर में प्रवेश नहीं करना चाहिये। भाई रूठा हो तो उसके पास से ऋण नहीं लेना चाहिये। और मित्र यदि शत्रु बन गया हो तो उसके पास से सुख की अपेक्षा नहीं करनी चाहिये।"

ऐसी है वामदेव की सीख । अग्रिम सूक्त में प्रयुक्त 'ऋजुमुष्क' तथा 'हस्कतृ' शब्द नवीन हैं। ८वां तथा ९वां सूक्त है गायत्री छन्द में। पर १०वां सूक्त एक नये छंद में रचा हुआ है । आगे आने वाले छंद: शास्त्रकारों ने इसे नाम दिया है—'पदपंक्ति'। 'पंचकाश्चत्वारः षट्कश्चैकः, चतुर्थश्चतुष्को वा' इसका लक्षण है। पांच-पांच अक्षरों के चार चरण और छः अक्षरों का एक—यह हुआ सामान्य लक्षण । किंतु कभी-कभी चौथा चरण चार ही अक्षरों का होता है। आगे के दो सूक्तों में कुछ भी विशेषता नहीं है। वसिष्ठ के वरुणसूक्त में रस्सी से बछड़े को बाँधने का निर्देश है। उसी प्रकार यहां बारहवें सूक्त में 'गौर्यचित्पदिषितां' दोहते समय गाय के पैर डोरी से बांधने का उल्लेख है। दुहने वाला प्रति व्यक्ति तो दोनों बातों से परिचित है। जिस प्रकार चमड़ा फटकारते हैं, झिड़क डालते हैं उसी प्रकार सूर्य ने अंधकार को दूर किया, यह उपमा वस्त्र फटकारने का चित्र आँखों के सामने खड़ा करती है। जिस अंतिम सूक्त का पूर्व में निर्देश किया उसकी 'अग्नेरीशीत मर्त्यः' की कल्पना 'अग्निरीशे' के विरोध में है। सायण टिप्पणी देता है कि 'यतेन यजमानः आत्माभीष्टफलं कारयितुं समर्थो भवतीत्यर्थः' । ध्यान में रखने योग्य बात यह है कि मनुष्य का भी ईश्वर पर अधिकार चलता है।

५. वामदेव का राक्षोघ्न सूक्त (४-४) थोड़ा महत्त्व रखता है। वैदिक लोगों की परंपरा के अनुसार यह राक्षोघ्न सूक्तों में प्रमुख है । इसमें अग्नि से आरंभ में ही विनय किया गया है कि 'याहि राजेवामवाँ इभेन' । अमवान् शब्द का प्रायः अर्थ होता है बलिष्ठ । पर राजा शब्द के साहचर्य से सायण ने 'अमात्यवान्' ऐसा सुन्दर अर्थ किया है। "राजा जैसे अमात्य के साथ हाथी पर बैठकर जाता है, वैसे हे अग्निदेव, तुम शत्रु पर चढ़ाई करते समय जाओ।" हाथी की सवारी का निर्देश अर्चनानस् ऋषि ने भी अपने मित्रावरुणौ के सूक्त में किया है। वह उस देवताद्वंद्व को हाथी पर से या पैदल आने को कहता है । पर वामदेव कहता है कि चढ़ाई करते समय तुम हाथी पर से ही जाओ; और वह भी अकेले नहीं, अपितु अमात्य के साथ । इस पर से कल्पना की जा सकती है कि उस समय राजा साहब की सवारी कैसे ठाठ-बाट से हाथी पर से निकलती होगी । इसी सूक्त में वामदेव 'ये पायवो मामतेयं ते अग्ने पश्यन्तो अंधं दुरितादरक्षन्'—इस ऋचा में दृष्टिहीन ममतापुत्र दीर्घतमस् ऋषि का निर्देश करता है। अतएव ऐसा कह सकते हैं कि वामदेव अपने को उसी कुल का समझता है। इस सूक्त में वामदेव की अंतिम

प्रार्थना यह है कि 'अशसः, अर्थात् देवों की स्तुति न करनेवाले रक्षोगणों, को जला दो।' उसी प्रकार 'हमारा द्रोह करनेवाले या निंदा करनेवाले लोगों के पास से हमें बचाओ।' केवल इतना ही नहीं—'अवद्यात्', 'जो शब्दों से बोलकर नहीं कहा जाता, उससे भी हमारी रक्षा करो।' ऐसी बात करने वाले दूर के हों या पास के, दोनों 'उभाशंसा' को सूदय—झुलस डालो। वसिष्ठ ने उषा को अह्लयाणा कहा। वामदेव अग्नि को कहता है कि तुम भी 'अह्लयण होकर, न लजाकर, इन दोनों को काट डालो।' ऐसा है यह वामदेव का 'राक्षोघ्न सूक्त'।

६. वैश्वानर अग्नि पर वामदेव का जो ऋ० ५ का सूक्त है, इसमें वामदेव ने एक बड़ी महत्व की बात कही है। इस सूक्त की तीसरी ऋचा की ओर टीकाकारों या भाष्यकारों का लक्ष्य पहुंचा हुआ नहीं लगता। ऋचा है—'साम द्विबर्हा महि तिग्म भृष्टिः सहस्ररेता वृषभस्तु विष्मान्। पदं न गोरपगूळ्हं विविद्वानग्निर्मह्यं प्रेदुवोचन्मनीषाम्।' सायण ने अपने भाष्य में सारे प्रथमान्त शब्दों का अर्थ देने के पश्चात् लिखा है—'ईदृशोऽयमग्निः अत्यंत-गोपनीयं, गोःपदं न, नष्टाया गोःपदमिव अपगूळ्हमत्यन्तरहस्यं मनीषां ज्ञातव्यं महिमहत् पूज्यं साम अस्मदाभिमतं स्तोत्रं विविद्वान् विशेषेण जानन् मह्यं प्रेदुवोचत् प्रैव ब्रवीतु।' सायण ने यहां 'साम पद का जो स्तोत्र' यह सामान्य अर्थ किया है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि इस स्तोत्र में गोपनीय, अत्यंत रहस्य ऐसा कुछ नहीं है। इसलिये यहां 'साम' शब्द किसी सामान्य अर्थ में न लेते हुए उसके विशिष्ट अर्थ में ही लेना चाहिये। यदि उसे इस विशिष्ट अर्थ में लें तो ही वह महि, अपगूळ्हं तथा मनीषा इन तीनों विशेषणों का पात्र हो सकेगा और फिर अग्नि ने वह मुझे सिखाया—इस प्रकार का अर्थ उचित हो सकेगा। 'साम' शब्द का विशिष्टार्थ जैमिनि ने दिया हुआ है और उसका ऋक् तथा यजु से भेद भी स्पष्ट किया है। जैमिनि का सूत्र है—गीतिषु सामाख्या, और उसपर भाष्य लिखते समय शबरस्वामी ने कहा है—'प्रगीतेहि मंत्रवाक्ये सामशब्दमभियुक्ता उपदिशंति। विशिष्टा काचिद्गीतिः 'साम' इत्युच्यते'—मंत्र का वाक्य जब गाकर दिखलाया जाता है तभी वह साम कहलाता है। एक ऋचा साम नहीं हो सकती। वह जब गाइ जावेगा तब ही वह साम इस संज्ञा के योग्य होगी फिर भी वह चावो वैसी गाई जाने पर भी साम न होगी। उसे विशिष्ट प्रकार से ही गाकर दिखलाना पड़ेगा। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि विशिष्ट प्रकार की गाने

की रीति लगाकर जो मंत्र-वाक्य कहा जावेगा, वह 'साम' होगा। विशिष्ट प्रकार से गाना अर्थात् साम। और यह बहुत बड़ी (महि), मनको पसंद पड़ने वाली (मनीषा) और तब तक किसी को ज्ञान नहीं ऐसी छिपी (अपगूढ़) गान-पद्धति अग्नि ने मुझे सिखाई या मुझे अग्नि सिखावे—यह है वामदेव का कथन। यह विद्या ही है सामविद्या और उसी का प्रणेता है वामदेव। इसके पूर्व वह अपगूढ़े छिपी हुई थी। वामदेव के बाद ही उसका ज्ञान हुआ।

७. 'साम' शब्द सामान्य स्तोत्रवाचक नहीं है। 'ऋक्' के साथ किंतु उससे पृथक्त्व दिखलाने के लिये उसका बहुधा प्रयोग किया जाता है। इसके प्रमाण में पर्याप्त उदाहरण दिये जा सकते हैं। 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः। ऋचः सामानि जज्ञिरे'—यहां ऋक् के साथ ही उसका प्रयोग है। 'यो जागार तमृचः कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति' यहां भी ऋचः तथा सामानि जोड़ी से ही आये हैं। वही स्थिति है 'तमर्केभिस्तं सामभिः'—यहां सामों का संबन्ध आंगिरसों के साथ है। 'अंगिरसां सामभिः स्तूयमानः' तथा 'विश्वरूपा अंगिरसो न सामभिः' इत्यादि इस बात के उदाहरण हैं। चूंकि अंगिरस कुल में ही वामदेव का जन्म हुआ था, यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उसी के वंशज या शिष्य सामगान में प्रसिद्ध हुए। ये सारे आंगिरस ही कहे जावेंगे। ये साम गाये जाते थे। ऋचाओं के समान इनका पाठ नहीं होता था। इस बात को सिद्ध करने के लिये 'इंद्राय साम गायत' 'गायत्साम' इत्यादि पर्याप्त प्रमाण दिये जा सकते हैं। इसी के साथ 'ऋचो गायत' अथवा 'सामानि पठत' कहा हुआ ऋग्वेद में नहीं मिलता। अतएव साम शब्द का सामान्य स्तोत्र अर्थ करना युक्त नहीं है। यह है विशिष्ट प्रकार से किया हुआ मंत्रगान। यह बहुत पीछे से निर्माण हुआ। यदि स्तोत्रवाचक उक्थ शब्द के समान ही साम शब्द का अर्थ होता, तो क्या कारण है कि उक्थ शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में जहां कम से कम १२५ बार आता है, वहां साम शब्द केवल बीस बार ही पाया जाता है? यदि साम शब्द प्राचीन होता तो उच्चारण कठिन तथा कठोर वर्णयुक्त उक्थ की अपेक्षा सुलभ तथा मृदु साम शब्द का ही प्रयोग मिलता। किंतु वैसा नहीं पाया जाता। अतएव यह अनुमान करना अनुचित नहीं कि साम-पद्धति पहले न थी, उसकी निर्मिति बाद में हुई और साम शब्द इसीलिये केवल स्तोत्र के अर्थ में नहीं, अपितु विशिष्ट गान-पद्धति से गान की हुई ऋचा के अर्थ में ही आने लगा।

८. अब यह अर्थ लेकर यदि पूर्वोक्त 'सामद्विबर्हा' इत्यादि ऋचा का

अर्थ किया जावे तो केवल इस ऋचा पर ही नहीं, अपितु सारे ही सूक्त पर नया प्रकाश पड़ता है। किंतु अभी तक किसी विद्वान् ने यह बात प्रकाशित न की थी कि वामदेव के पूर्व साम अस्तित्व में न था और वामदेव ही सामगान-पद्धति का प्रणेता तथा निर्माता है। इसीलिये पूर्वोक्त विधान मानने में थोड़ी अड़चन आती है। अब इस विधान से सूक्त की अन्य बातें भी कैसी समझ में आ सकती हैं, इसे देखें। यह सरल अर्थ न लिया जाय तो सूक्त समझने में कठिनाई आती है और अर्थ की पर्याप्त खींचतान करनी पड़ती है। सायण ने ऐसी ही खींचतान की है। ६ठी ऋचा में इसी सूक्त में एक शब्द आया है—'सप्तधातु मन्म'। सायण ने यहां 'मन्म' का अर्थ किया, 'मननीय धन'। किंतु यह अर्थ न किसी कोश में पाया जाता है, न यह अर्थ अन्यत्र कहीं उपयुक्त है। ठीक है। मन्म का अर्थ धन लिया तो 'सप्तधातु मन्म' का क्या अर्थ होगा? यहां तो सायण को कमाल की खींचतान करनी पड़ी है। वह कहता है—"सप्तधातु ग्राम्यारण्यपशुभेदेन सप्तप्रकारकम्।' 'सप्तग्राम्याः पशवः' सप्तारण्याः इति श्रुतेः।" किंतु केवल श्रुति का आधार देने से क्या लाभ? यदि सात प्रकार लेने हैं तो कौन से? ग्राम्य या आरण्य? दोनों लिये जावें तो होंगे चौदह। सारांश, मन्म शब्द का अर्थ जो मननीय स्तोत्र है, उसे ही लेना चाहिये। और 'सप्तधातु' का अर्थ 'सप्त स्वरों से गाया हुआ' स्वीकार करना चाहिये। सामगीति सात स्वरों पर आधारित है जिनके नाम हैं—प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मंद्र, क्रुष्ट और अतिस्वार। अब कोई भी समझ सकता है कि स्वभाविक रूप में 'सप्तधातु मन्म' का अर्थ 'सात प्रकार के पशुओं से युक्त धन करना उचित है कि 'सात स्वरों से गया हुआ स्तोत्र'।

९. विशिष्ट गान-पद्धति से मंत्र कहने की कला यद्यपि वामदेव ने प्रचलित की, तथापि यह मानने की आवश्यकता नहीं कि वैसा करने से उसकी सूक्त-रचना का काम बंद पड़ गया। वह चालू ही रहा, क्योंकि जिन ऋचाओं को गाना हो उन्हें तो रचना ही पड़ेगा अतएव वामदेव के दोनों काम—ऋचा बनाना और ऋचाओं को भिन्न-भिन्न विशिष्ट पद्धतियों से गाना—चालू रहे। इसके रचे हुए इंद्र पर भी सत्रह सूक्त हैं जिनका क्रमांक चतुर्थ मंडल में १६ से ३२ तक है। इसमें केवल १८वां सूक्त इसका नहीं प्रतीत होता क्योंकि वामदेवविषयक जो काल्पनिक कथा उसमें दी हुई है, वह स्वयं अपने ही विषय में वामदेव के द्वारा कहा जाना उचित नहीं

जान पड़ता। शेष सोलह सूक्तों के भी दो समूह किये जा सकते हैं--एक १६, १७ तथा १९ से २४ तक के क्रमांक का। इन सूक्तों के अंत में 'नूष्टुत इंद्र' यह ऋचा ध्रुवपद के समान आती है। इसका भावार्थ है--"हे इंद्र देव, हमने तुम्हारी स्तुति की है। तुम्हारे लिये यह नवीन स्तोत्र बनाया है। अब नदियों में जैसी बाढ़ आती है वैसी वृद्धि हमारे धान्य में हो और हम रथी बनकर 'सदासा' हों।" यहां 'सदासा' शब्द स और दास इन दो शब्दों का मिला हुआ नहीं है अपितु 'सदा' और 'सा' ऐसे दो शब्दों का शाकल के पदपाठ पर से ज्ञात होता है। इसलिये इसका अर्थ दासों के साथ ऐसा न होकर हमेशा के लिये देने वाला, नित्य दान करने वाला होता है। शाकल का पदपाठ न होता तो बहुत-से टीकाकार उसका पहला ही अर्थ करते और वह इस बात का सुबूत भी कहा जाता कि तब भारत में दास-पद्धति प्रचलित थी।

१०. अश्विनौ के समान इस कालखंड में इंद्र के आसपास भी कथाओं का जाल बुना जा रहा था। इस सूक्त-समूह में इंद्रविषयक कई कथाओं का समावेश किया गया है। इनमें से कुछ तो द्वितीय भरद्वाज-वर्णित हैं, परंतु कुछ बिल्कुल नई हैं। कुत्स तो इंद्ररक्षित-ज्ञात ही था। किंतु वामदेव ने उसके विषय में एक नई ही कथा दी है। कुत्स इतना इंद्र-सा दीखता था कि एक बार दोनों रथ में बैठ घर गये तो स्त्री यह न पहचान सकी कि कौन-सा इंद्र है और कौन-सा कुत्स। यहां कथाओं की वृद्धि कैसी हुई होगी, इस बात की भी कुछ कल्पना आ सकती है। १७ वें सूक्त की ८वीं ऋचा में 'अपो यदद्रि पुरुहूत दर्दराविर्भुवत् सरमा पूर्व्यं ते'—यहाँ सरमा शब्द इंद्र की आगे-आगे बढ़ने वाली बुद्धि का वाचक है या उस समय कुत्ते पाले जाते थे उसके अनुसार किसी देवशुनी का वाचक है, यह कहना कठिन है। इंद्र द्वारा मारे गये शुष्ण कुयव, पिप्रु, इत्यादिकों का निर्देश कुत्स के साथ अनुचित नहीं। ऋजिष्वन् का नाम भी ज्ञात है। किंतु यह कथा बिल्कुल नई है कि 'एतश' के हेतु इंद्र को सूर्य के साथ लड़कर उसे बचाना पड़ा। उसी प्रकार वय्य और तुर्वीति ये भी पूर्व में न आये हुए नाम हैं। एक अग्रू की दी हुई कथा भी नई है। अग्रू कहते हैं कुमारी या अविवाहिता स्त्री को। इसे एक बच्चा हुआ। बच्चा वल्मीक के पास छोड़ दिया गया जहां उसे चींटियां खाने लगीं। इंद्र ने उसे बचाया इन चींटियों से। ऐसी नई-नई कथाएं सूक्तों में समाविष्ट होने का कारण ही वामदेव स्पष्टतया कहता है। १९वें सूक्त की १२वीं ऋचा में

उसने कहा—हे इंद्रदेव, जैसे-जैसे तुम लोक-प्रसिद्ध होते गये, वैसे-वैसे तुम्हारी पुरानी बातें मुझे लोगों में प्रसिद्ध करनी पड़ीं।

११. कथाओं के अतिरिक्त इस सूक्त-समूह में कुछ विशेष नहीं। हाँ, कहीं-कहीं अच्छी उपमाएं मिलती हैं। 'अत्कं न पुरो जरिमा'—बुढ़ापा पूर्व का सौन्दर्य नष्ट करता है, उसी प्रकार इंद्र ने हजारों शत्रुओं को नामशेष किया। इसी उपमा जैसी और एक उपमा है—'अवतेन कोशम्'—कुएं में पात्र छोड़ पानी निकालते हैं, उसी तरह गाय, घोड़े, धन ही नहीं अपितु 'जनीयन्तः' स्त्री की भी इच्छा रखने वाले हमने तुम्हारे पास से ये सारी बातें प्राप्त कीं। यह कल्पना सूचनापूर्ण है। जब टीकाकार के मन में कुछ कल्पना जमी हुई रहती है, तब उसका दर्शन उसे न होते भी होता है। इस सिद्धान्त का उत्तम उदाहरण सायण की १९-३ पर की टीका है। वामदेव-रचित मूल वाक्य है—'अहिं वज्रेण निरिणा अपर्वन्'। सरल अर्थ है—तुमने साँप को जहाँ जोड़ न हो ऐसे स्थान में वज्र से काटा। साँप का सारा शरीर छोटे-छोटे मनकों से बना हुआ होता है। मनकों के जोड़ पर यदि साँप का टुकड़ा किया जाता है तो उतना दूर टूट पड़ता है, पर साँप नहीं मरता। अतएव वामदेव ने 'अपर्वन्' जहां जोड़ न हो ऐसे स्थान में काट डालने की बात कही। किंतु सायण के मन में 'घ्नंति वा एनं पूर्णमासे' यह तैत्तिरीय वाक्य शायद घूम रहा था और इसीलिये उसने 'अपर्वणि' का अर्थ 'पौर्णमास्यां' किया। सच देखा जाय तो अमावस्या भी पर्व और पौर्णमासी भी पर्व। शुक्ल और कृष्णपक्ष को जोड़ने वाले दोनों दिन हैं। इसी प्रकार कुत्स ने भी अपने सूक्त में 'पर्वणा पर्वणा' दोनों के लिये कहा भी है। कुत्स ने सूर्य के विषय में कहा—'मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।' वामदेव स्वयं के ही विषय में कहता है कि मर्यो न योषामभिमन्यमानः—स्त्री के विषय में ही विचार करने वाले पुरुष के समान मैं भी 'अच्छा विवक्मि पुरुहूतमिंद्रम्।' २१वें सूक्त में गोह शब्द गेह के अर्थ में प्रयुक्त है। २३वें सूक्त में को, कथा, का, कि इन शब्दों से कुछ प्रश्न पूछे गये हैं। २३वें सूक्त की ८, ९ तथा १०वीं ऋचा में महत्त्वपूर्ण ऋतस्तुति है। ऋत के साथ देव आते हैं, सत्य का उसी के साथ समावेश होता है, यज्ञ भी ऋत कहा जाता है और इसीलिये सायण कहता है—'अत्र ऋतशब्देन इंद्रो वा, आदित्यो वा, सत्यं वा यज्ञं वोच्यते'। २४वें सूक्त में तत्कालीन व्यवहार का एक सिद्धान्त दिया है। ग्राहक ने अधिक मूल्य देकर किसी वस्तु को मोल लिया और बाद को

उसके ध्यान में आकर यदि उसने तकरार की तो बेचने वाले पर उसकी उत्तरदायिता उसी समय पड़ेगी यदि उस चीज को घर ले जाने के पूर्व दोनों में 'चूक भूल देनी लेनी' ऐसा ठहरा हो।

१२. जिस कारण से यह अनुमान किया था कि १८वां सूक्त इस वामदेव का बनाया हुआ नहीं, उसी कारण से यह कहना पड़ता है कि २६वाँ और २७वां सूक्त भी इस वामदेव का नहीं है। अतएव इस समय चर्चा करनी है २४वें तथा २८ से ३२, अर्थात् ६ सूक्तों की। बिल्कुल सामान्य हैं ये सारे सूक्त। विशेषता कहनी ही तो इंद्र की पराक्रम-संख्या में इन सूक्तों ने वृद्धि की है। २५वें सूक्त में 'कः' इस प्रश्नार्थक सर्वनाम से दस प्रश्न पूछे गये हैं—जैसे, कौन इंद्र को बुला रहा है, कौन उसकी स्तुति करता है? इत्यादि 'परन्तु जिसने सोम तैयार किया है, जिसने यज्ञ की सिद्धता की है', इत्यादि उत्तरों के होते हुए भी सायण 'कः' शब्द का 'यजमान' अर्थ कर वाक्यों का प्रश्नत्व ही उड़ा देता है। शुनःशेप के सूक्त में जिस प्रकार कः का प्रजापति अर्थ किया उसी प्रकार यहां कः का अर्थ यजमान हो गया है। किंतु ऐसा अर्थ करना आवश्यक नहीं है। अन्यत्र भी वामदेव इसी प्रकार की प्रश्नार्थक वाक्य-रचना करता है। ३१वें सूक्त का भी आरंभ इसी प्रकार से हुआ है। श्रोताओं की उत्कंठा बढ़ाने का एक साधन है वह। इन सूक्तों में दस्यु या दासों का पराभव ही इंद्र-पराक्रम की विशेषता के रूप में वर्णित है। ३०वाँ सूक्त तो इन पराक्रमों की कथाओं से पूर्ण है। शुष्ण, शंबर इत्यादि के समान वर्चिन्, अर्ण, चित्ररथ, दानु ये नाम इंद्र द्वारा मारे गये लोगों में अधिक आये हैं। एतश के विषय में सूर्य का विरोध वर्णन कर इंद्र ने सूर्य का एक रथ-चक्र हरण किया, यह वर्णन इस सूक्त में आया है। 'दिवो दुहिता' उषस् का वर्णन पूर्व में आया ही है। पर इस सूक्त में उषस् हमें दिखती है इंद्र के शत्रु के रूप में। उषस् के समान एक स्त्री का पराभव करने का पौंस्य पराक्रम यहाँ इंद्र ने किया हुआ कहा गया है। इंद्र ने उषस् का रथ छिन्न-विच्छिन्न कर विपाश् नदी के तीर पर डाल दिया। विपाश् नदी के साथ सिंधु तथा सरयू नदी का भी निर्देश है। कुत्स के साथ 'दभीति' नाम का एक और इंद्ररक्षित यहां वर्णित है। अग्रू के साथ दिवोदास, तुर्वश, यदु इत्यादि प्राचीन उल्लेख हैं ही। वामदेव ने इंद्र की एक कुशलता यह बखानी है कि उसने एक अंधे और एक लंगड़े को राह दिखलाकर इष्टस्थान पर पहुंचाया। अंधे के पैर तथा लंगड़े की आंखें मिलाकर यह काम किया गया। आकाय्य, पुरुक्षु, च्यौल इत्यादि नये शब्दों के साथ 'खारी' इस परिमाण का भी उल्लेख यहाँ

है। कोई 'वधूयु' अर्थात् स्त्रीकाम पुरुष जैसा स्त्रियों के वाक्यों से संतुष्ट होता है वैसा ही वामदेव के शब्दों से संतुष्ट होने के लिये इंद्र की प्रार्थना यहां की हुई है। इस सूक्त में दी हुई एक बात और कह इस वर्णन को पूर्ण करना है। इसमें पूषन् को 'करूळती' (दाँत-टूटा) कहा है। इसका आधार केवल तैत्तिरीय वेद का यह वाक्य है कि 'पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि'। सायण ने भी यही आधार दिया है। जब देव के ही दाँत टूट गये तब दाँतटूटी बातें कहना व्यर्थ ही है।

१३. पूर्व में कहा ही गया है कि देवों के लिये यज्ञ और यज्ञों के लिये मंत्र-निर्मिति होती थी। यज्ञों में हविर्भाग देवताओं को ही मिलता था और इस कारण से मंत्र-रचना प्रायः देवों पर ही की जाती थी। किंतु इस वामदेव युग में यज्ञ करने वालों ने एक बहुत बड़ी क्रांतिकारक बात की। सूक्त-रचना करने वाले विद्वान् या यज्ञ करने वाले राजा या धनिक लोगों को यज्ञ में भाग मिलता रहा। पर वाचिशूर या समर्थ वीरों के अतिरिक्त जो हस्त-कुशल थे उन्हें यज्ञ में भाग मिलता नहीं था। किंतु इस समय सुधन्वन् नामक आंगिरस के ऋभु, विभ्वन् और वाज नाम के तीन पुत्रों के हस्तकौशल्य पर संतुष्ट होकर याजकों ने सोमयाग के तृतीय सवन के अन्त में इन्हें भी हविर्भाग अर्पण किया। सोमयाग में सोमरस तीन बार निकाला जाता था। प्रातःसवन तथा माध्यंदिन सवन के पश्चात् तृतीय सवन के अंत में इन्हें आहुति समर्पण करने के लिये जो मंत्र बनाया गया, वह था—'इंद्र तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त। ते सौधन्वनाः सुवरानशानाः स्विष्टिं नो अभिवसीयो नयन्तु॥' यह मंत्र ऋग्वेद में नहीं है। कृष्णयजुर्वेद संहिता ३-१-९-२ में है। इस प्रकार याजक वर्ग ने इन सौधन्वनों को यद्यपि हविर्भाग दिया, तथापि यह बात—कारुक लोगों को देवों में स्थान देना—बहुत से विद्वानों को मान्य न हुई थी और इसी कारण से इन पर सूक्त-रचना नहीं हुई थी। वामदेव ने यह काम किया। सृष्ट पदार्थों को देवत्व देना एक बात थी और व्यक्तियों को देवत्व देना दूसरी। प्रथम बात सूक्त-रचना कर सध जाती है, पर दूसरी बात का वैसा नहीं होता। अतएव वामदेव को इन सौधन्वनों पर एक के बाद एक पांच सूक्त इनके गुण-वर्णन पर रचने पड़े और तब कहीं ये सौधन्वन ऋभु सूक्तभाज हुए।

१४. वामदेव-रचित तथा ऋग्वेदसंहिता में ग्रथित क्र० ४-३३ से ३७ तक

के इन पांच सूक्तों में ऋभु से किये हुए काम वर्णन किये गये हैं। वे नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) अत्यंत क्षीण अपने माता-पिता को चिर तरुण किया।

(२) चर्म-शेष बनी हुई एक गाय की उसके वत्स के साथ सेवा कर उसे अच्छी स्थिति को पहुंचाया।

(३) सोमपान करने के एक चमस-पात्र के चार बनाये।

(४) बिना घोड़े जोते, एक स्वयं-चालित त्रिचक्र रथ, जिधर चाहो उधर घूम सके, ऐसा बनाया।

(५) दो अच्छे घोड़े सिखाकर तैयार किये।

(६) कन्धे पर शस्त्र रखते हुए दुःख न हो, इसलिये 'अंसत्रा' नाम का एक साधन तैयार किया।

(७) 'अगोह्य' के घर बारहों महीने रहकर उसके खेत उपजाऊ किये, नदियों के मार्ग बनाये, निर्जल स्थल में पेड़ लगाये और जल-प्रवाहों को निम्न स्तरों में बहाया।

वामदेव की सूक्तस्थ काव्यमय भाषा को समझ लिया जाय तो इन पूर्वोक्त बातों में असंभव एक भी बात नहीं है। किंतु देवत्व को पहुंचने के लिये अपौरुषेय बातें आवश्यक समझकर टीकाकारों ने मनमाने अर्थ कर इन सूक्तों को 'दुरुक्त' कर दिया है। उदाहरण के लिये, चर्म-शेष गाय मरी हुई न होते भी सायण उसे 'मृता' समझकर अर्थ करता है। घोड़े में से दूसरा घोड़ा निर्माण किया कहता है। चमस को 'चतुर्धा', 'चतुर्वय' अर्थात् चार भागों में बंटा हुआ मान 'कृ' धातु का अर्थ 'निर्माण करना' समझ कर विवरण करता है। इस प्रकार यह दिखाने की चेष्टा की है कि ऋभु असंभाव्य कर्म करने वाले थे, और इसीलिये वे देवत्व को पहुंचे।

१५. अब यह देखें कि वामदेव स्वयं इस विषय में क्या कहता है। ऋभुओं की कर्मकुशलता बखानते उसने कहीं भी असंभवता नहीं दिखलाई। देखिये, यह स्वयं इन सूक्तों के बारे में क्या कहता है। आरंभ में ही वह बतलाता है कि 'जैसे किसी दूत को संदेश लेकर भेजते हैं, वैसी ही मेरी वाणी को मैं ऋभुओं के पास भेजता हूं। ये ऋभु अपने कर्तृत्व से देवत्व को पहुंचे। यहाँ वामदेव एक बड़े महत्त्व का सिद्धांत कह डालता है कि 'न ऋते श्रांतस्य

सख्याय देवाः' कष्ट करके थके बिना देव सहायक नहीं होते। देवों की मदद लेनी हो तो स्वयं खूब कष्ट करने पड़ते हैं। 'हे ऋभुओ, तुम 'जन्मनो विदानासः' जन्म से ही चतुर थे। तृतीय सवन के समय मैं तुम्हारा आवाहन करता हूं। आइये, न जाइये। सोमपान करने का तुम्हें अधिकार है, उसे बजा लो।' आगे चलकर वह कहता है--'ऋभु शवसो नपातः'--पराक्रम के पुत्र --हैं।' इंद्र के साथ सोमपान करने के कारण ये 'इंद्रवत्' हैं। 'पर्वत' अर्थात् दर्शपूर्ण मास यज्ञ के देवों के साथ ये सोमपान करते हैं। 'वृद्ध पितरों को तरुण करना' इत्यादि बातें तुमने 'शच्याकर्त' अपने बुद्धिबल से की हैं। तुम 'देवासो अभवता सुकृत्या', 'अभवत--अमृतासः', 'धीरासो हिष्ठा' और इसीलिये हम 'कवयो विपश्चितः' उन तुम्हारे पराक्रमों को सबसे विदित करा रहे हैं। तुम भी 'जिसके कारण हम दूसरों से आगे बढ़ें' ऐसे सामर्थ्य को हमें दो। और जो धन दो वह 'मघत्ति'. अर्थात् दूसरों को बाँटने के लिये दो।' ऐसी है इनके पास वामदेव की अंतिम प्रार्थना।

१६. अगले तीन सूक्त—क्र० ३६, ३९, ४०--वसिष्ठ-निर्मित दधिक्रादेवता पर हैं। इनमें अश्व के रूप में इसका 'स्वभावोक्ति' पर वर्णन है। खुरों से अंग खुजाना, टापों से धूल उड़ाना, 'किरण' अर्थात् लगाम चबाना, रथ के आगे-आगे दौड़ना इत्यादि बातें बड़ी ही सुन्दर रीति से कही हैं। शरीर पर का वस्त्र जब कोई चोर ले भागता है तब उसके नाम से जैसे सारे लोग चिल्ला उठते हैं, वैसे ही 'आया, दधिक्रा आया' ऐसी चिल्लाहट लोग मचाते हैं। यह उपमा, समाज में ऐसे चोर उस समय थे, इस बात को दिखाकर तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश डालती है। इस अश्व को 'मित्रावरुणौ' या 'द्यावापृथिवी' खींच ले जाते हैं, यह वामदेव का कथन है। 'चर्क्र' अर्थात् 'पुनः-पुनः करना' धातु का प्रयोग इस सूक्त में चार-पांच बार आया है। समानार्थक शब्दों का प्रयोग करने की वामदेव की रीति इन सूक्तों में और उनमें भी तीसरे चालीसवें सूक्त में तो खूब ही दीखती है। 'सत्' जिनके अंत में हैं, ऐसे दुवन्यसत् तथा तुरण्यसत् के समान इस सूक्त की अंतिम ऋचा में शुचिषत्, अंतरिक्षसत्, वेदिषत्, दुरोणसत्, नृषत्, वरसत्, ऋतसत् तथा व्योमसत्, ऐसे आठ 'सदन्त' शब्द आये हैं। 'हमारे सूक्त माधुर्य-युक्त हों, पापों को दूर करें, जीवन की वृद्धि करें,' और 'सुरभि नो मुखाकरत्'--हमारे मुख मीठे करें, यह वामदेव की प्रार्थना है। 'दधिक्रा' देवता की स्तुति करने वाले मुझे अग्नि, सूर्य, बृहस्पति इत्यादि देव और विशोषतः 'उषस्' देवता कर्म करने को प्रवृत्त करें, यह है वामदेव की याचना। अतएव अब हम भी वामदेव के उषःसूक्तों पर दृष्टिपात करें।

१७. ये वामदेवकृत 'उषःसूक्त' चतुर्थ मंडल में ऋ० ५१, ५२ पर हैं। जिस उषस् का रथ भग्न कर विपाश नदी में इंद्र ने फेंक दिया, उस (४-३०) की उषस् देवता से इन दो सूक्तों की 'दिवो दुहिता' भिन्न स्वरूप की है। यह पूर्व ऋषियों के कहे-अनुसार दिवो दुहिता होने के साथ ही यह "रात की बहिन है, किरणों की माता है और अश्विनौ की सखी है। इसका तेज पूर्व की ओर अंधकार चीरकर बाहर आता है। अग्निवेदि के संमुख खड़े हुए यूपों के समान इसके किरण खड़े रहकर अंधकार के द्वार खोल डालते हैं" इस उपमा पर से स्पष्ट जान पड़ता है कि यज्ञ का विकास अनेक यूपों का उच्छ्रय करने तक वामदेव के समय पहुंचा था। आगे ऋषि कहता है—"हे उषो देवताओ, तुम सोये हुए प्राणिमात्र को, फिर वह द्विपाद हो या चतुष्पाद, केवल जगाती ही नहीं हो, अपितु उसे कर्मों में भी प्रवृत्त करती हो। बताओ तो सही, तुममें से किन उषःकालों में ऋभुओं ने अपने अलौकिक कृत्य किये ?" ऋभुओं की स्तुति पहले-पहल करने वाला वामदेव ऋषि ऋभुओं को प्रसिद्ध करने के हेतु ही यह प्रश्न करता है। वामदेव उषस् को 'सूनृतावरी' तो कहता ही है, परन्तु 'ऋतजात सत्या' का त्रिपद समासयुक्त तथा अन्य किसी के द्वारा अप्रयुक्त विशेषण भी उसे लगाता है। अनेक कवियों ने अग्नि को 'यज्ञकेतु' कहा, पर वामदेव स्वयं को ही यज्ञकेतु कहलाता है। क्या वामदेव का यह कहना इस बात को सूचित नहीं करता कि उसके द्वारा प्रवृत्त की गई साम-पद्धति यज्ञ की निशानी—केतु—बन गई और यहाँ तक माना जाने लगा कि 'अयज्ञो वै योऽसामा'—जिसमें साम नहीं, वह यज्ञ ही नहीं ?

१८. उषस् के बाद वामदेव ने सवितृदेव पर ऋ० ५३ तथा ५४ के सूक्त किये हैं। प्राचीन सूक्तों में असुर शब्द अग्नि, आदित्य, इंद्र, पूषन्, मित्रा-वरुणौ, सोम तथा रुद्र इनके विशेषणात्मक रूप में आया है। वसिष्ठ ने तो इसका उपयोग पर्जन्य के लिये भी किया है। यहाँ वामदेव ने इस शब्द का प्रयोग सवितृदेव के लिये किया है। सविता 'दिवो धर्ता' है, 'भुवनस्य प्रजा-पतिः' है। वह 'जगतः स्थातुरुभयस्य वशी' अर्थात् जंगम और स्थावर, दोनों को अपने बस में रखने वाला है। शुनःशेप ने वरुण के विषय में 'विभ्रद्रापि हिरण्ययम्' कहा तो वामदेव सवितृदेव के विषय में "पिशंगं द्रापिं प्रतिमुञ्चते कहता है। पहनने के अर्थ में 'प्रतिमुच्' धातु यज्ञोपवीत-मंत्र में सब द्विजों को परिचित है। 'सविता हाथ उठाकर प्रेरणा देता है' पढ़ते ही 'ऊर्ध्वबाहुर्वि-रौम्येष' इस भारत-सावित्री के श्लोक की याद किसे नहीं आवेगी ? सविता

स्वयं तो घृतव्रत है ही, परन्तु 'व्रतानि देवः सविताभिरक्षते'। यह व्रतों की रक्षा भी करता है। इसी सूक्त की एक ऋचा में 'त्रि' शब्द का छह बार प्रयोग किया गया है है। अंतरिक्ष, लोक, ज्योति, स्वर्ग और पृथ्वी के तो तीन-तीन प्रकारों की कल्पना की ही है, पर सवितृदेव के व्रत भी तीन प्रकार के वामदेव ने कहे हैं। केवल इन तीन प्रकारों ने स्पष्ट रूप से कहीं न कहीं टीकाकारों या भाष्यकारों को अपनी-अपनी कल्पना चलाने का पर्याप्त अवसर दिया है। शर्म अर्थात् कल्याण भी त्रिबंधुर कह वही स्थिति निर्माण की है। 'अभूत् देवः सविता वंद्यो नु नः' –सवितृ देव का आविर्भाव हुआ और तत्काल वह हमें वेद्य हुआ। पिता, पुत्र, पौत्र, की परंपरा से मनुष्य के जीवितों की ही सवितृदेव वृद्धि करता है। ५४वें सूक्त की तीसरी ऋचा महत्वपूर्ण है। वसिष्ठ ने अपने वरुण-सूक्त में पापकृत्य हाथों से होने के कारण जैसे दिखलाये वैसे ही वामदेव भी कहता है। उसने कहा है कि "गरीबी से या अमीरी के कारण से हो, ऐश्वर्य के कारण से हो या नेता समझे जाने के कारण से हो, हमारे हाथों देवों के या मनुष्यों के विषय में अचित्ती अर्थात् नासमझी से जो पाप हुए हों, उनसे, हे सवितृ देव, तुम ही हमें मुक्त करो।" इस प्रार्थना पर से स्पष्ट ध्यान में आता है कि ऋषियों की दृष्टि कैसी अंतर्मुखी हो रही थी।

१९. वामदेव की सूक्तरचना कुछ देवता-द्वंद्वों पर भी है। इंद्रावरुणौ पर ४१ क्रमांक का एक, इंद्रवायू पर क्रमांक ४६, ४७ के दो और इंद्रा-बृहस्पती पर ४९, ५० क्रमांक के दो, एवं सब मिलाकर पांच सूक्त हैं। ४१वें सूक्त का आरंभ बड़े ठाठ से किया है। वामदेव पृच्छा कर रहा है—'हे इंद्रावरुणौ को वां स्तोमः' 'तुम्हारा कौन सा स्तोत्र ऐसा है जो 'वां हृदि पस्पर्शत्' तुम दोनों के हृदय को स्पर्श करता है?' आरंभ पर से ज्ञात होता है कि अब कोई हृदयस्पर्शी सूक्त पढ़ने को मिलेगा। पर यहाँ स्थिति होती है 'ऊंची दुकान की फीकी मिठाई' की। जहाँ-तहाँ सूक्त में इंद्रावरुणा सामासिक प्रयोग के स्थान में दोनों देवों के वाचक शब्दों के बीच कुछ शब्द रखकर की हुई अत्यंत सामान्य रचना। जैसे 'इंद्रामुवं वरुणा' या 'इंद्र यातं वरुण' इत्यादि प्रकार की। अन्य सब साधारण। वसिष्ठ ने वायु के विषय में कहा, 'पूर्वपेयं दधिषे' इति। इंद्रवायु के सूक्त में वामदेव भी वायु से कहता है—त्वं हि पूर्वया आसि'। जिसका सारथ्यकर्म इंद्र कर रहा है और जो 'हिरण्यबंधुर' सुवर्ण की बैठक का है, ऐसे रथ में बैठे हुए तुम दोनों को

एक-दो नहीं, हजारों घोड़े यहाँ ले आवें । यहाँ आने पर वामदेव इन्हें यह भी कहना भूलता नहीं कि रथ के घोड़े यहीं खोल दो । इंद्राबृहस्पती से वामदेव कहता है कि मैं तुम्हारे मुख में ही सोमरस उंड़ेलता हूं । खोदे हुए कुएं में से जैसे पानी की झरियाँ निकलती हैं, वैसे ही यहाँ झिर रहे हैं सोमरस । नये शब्द गढ़ने की अपनी प्रथा के अनुसार बहने वाली गति के लिये एक नया ही शब्द बनाया है--घुनेति । जो बृहस्पति को 'वल्गूयति', 'वरिवः कृणोति', वही 'अप्रतीतो जयति संधनानि' । ऐसी फलश्रुति भी वामदेव यहाँ कहता है । अकेले वायु पर का क्र० ४८ का सूक्त भी इसी प्रकार का अत्यंत सामान्य है ।

२०. इंद्र के साथ संबद्ध इन पूर्वोक्त देवताद्वंद्वों को छोड़ 'द्यावापृथ्वी' इस देवता-युग्म पर भी वामदेव का ४६ क्रमांक का एक सूक्त है । मही, बृहती, देवपुत्र इत्यादि विशेषण तो हमेशा के हैं ही, किन्तु 'सुमेके' कहकर एक नया विशेषण यहाँ पाया जाता है । इस जोड़ी को यहाँ विशेषतया कहा गया है— 'यज्ञस्य नेत्री' । अश्विनौ के युग्म पर वामदेव ने क्र० ४५ का सूक्त रचा है। पूर्व में कहा ही गया है कि अश्विनौ के चारों ओर कथाओं का जाल गुँथा हुआ है । किन्तु इस सूक्त में वामदेव एक भी कथा का निर्देश नहीं करता । यह एक बिल्कुल नयी रीति का सूक्त है। इसमें कुछ नई बातें अश्विनौ के विषय में कही हैं । नये शब्द यहाँ भी गढ़े गये हैं । जैसे आकेनिप, निक्तहस्त, मंदि-निस्पृश्, उहू, इत्यादि । अश्विनौ के रथ में पूर्वोक्त मधुघट का वर्णन तो है ही किंतु इस सूक्त में अश्विनौ का मुख 'मधुप' कहा गया है। चौथी ऋचा में हंसों का बहुत सुन्दर वर्णन है । ये हंस किसी से ईर्ष्या नहीं करते। इनके पंख सुनहरे हैं । पानी में तैरने वाले इनका स्पर्श अत्यन्त सुखदायक तथा मुलायम हैं। 'उ-उ' शब्द करने वाले इन्हें 'उहुवः' कहा गया है । ये हंस सुबह ही जाग उठते हैं । मक्खियाँ जैसे मधु के ओर दोड़ती हैं वैसे ही तुम इन हंसों के साथ हमारे यज्ञ में पधारो। हंसों का यह वर्णन अत्यन्त सुन्दर है । क्षण भर को ऐसा जान पड़ता है कि ये हंस ही इनके रथ को खींचते हैं । 'जिस रथ से तुम सारे लोकों के चारों ओर घूम आते हो, उसी रथ में बैठकर हमारे इस 'तरणि' अर्थात् तारने वाले वा तृप्त करने वाले यज्ञ में आओ, ऐसा 'धियंधा' में तुम्हारा आवाहन करता हूं ।' पूर्व में वामदेव ने स्वयं को 'यज्ञकेतु' कहा । यहां वामदेव स्वयं को 'धियंधा'--बुद्धि पास रखने वाला कह रहा है । इस पर से वामदेव के स्वयं के आत्मविश्वास की कल्पना हो सकती है।

२१. इस 'वियंधा' ऋषि का 'कृषिकर्म' पर एक छोटा-सा सूक्त है। इसका विचार कर इस ऋषि से बिदा लें। ब्रह्मणस्पति, सहसस्पति, वास्तोष्पति के समान वामदेव ने क्षेत्रस्यपति नाम की एक स्वतंत्र देवता की ही कल्पना की है। सायण ने कहा है कि 'रुद्रं क्षेत्रपतिं प्राहुः केचिदग्निमथापरे। स्वतंत्र एव वा कश्चित् क्षेत्रस्य पतिरुच्यते।' इस सूक्त में क्षेत्रस्य पतिः', 'शुन' 'शुनासीरौ', 'सीता' इत्यादिकों को देवताओं के समान ही माना है। इस प्रश्न को छोड़ दें कि ये देवताएं हैं या नहीं, और केवल सूक्त का रस ग्रहण करें। क्षेत्रस्य पति अर्थात् किसान ही हमारा सच्चा हित करने वाला है। इसी के कारण हम लड़ाई जीतते हैं। गायों और घोड़ों का पालन करने वाला यही है। सुख-प्राप्ति कराने वाला कोई है तो यही है। गाय से जैसा दूध धारा के बाद धारा से मिलता है वैसे सारे ही मधु-मधु पदार्थ हमें लहरों पर आने वाली लहरों के समान इसी के कारण मिलते हैं। आकाश, जल, अन्तरिक्ष सबको यदि मधुरता आती है तो ओषधि अर्थात् फसल से। हे क्षेत्रस्यपते, तुम भी हम से मीठा-मीठा बर्ताव करो। किसी की हिंसा न करते हम इसी के पीछे जावेंगे इसका ही अनुसरण करेंगे। बैल सुख-सन्तोष दें, खेती का काम करने वाले सुख से रहें, हल ठीक तरह से चलाये जावें, बैलों को खींचने वाली डोरियाँ उन्हें कष्ट न हो ऐसी बांधी जावें, चाबुक लीला से हिलाये जावें, खेतों में सीधी लकीरों से विभाग बनें, जिससे फसल अच्छी निकले। जमीन खोदने वाले हल जमीन अच्छी जोतें, बैलों से उसे अच्छी जुतवावें, और पर्जन्य भली भांति मीठी वृष्टि करें, जिससे हम सुखी बनें।" कृषिकर्मनिपुण बुद्धिमान् वामदेव के इस सूक्त का यह सार है। कीनाश (हल चलाने वाला), सीता (खेत में लकीरें पड़कर होने वाला विभाग), लांगल (हल), शुनासीरौ (जमीन खोदने वाला लकड़ी का तथा लोहे का विभाग) इत्यादि अन्यत्र कहीं ऋग्वेद में न आने वाले शब्दों पर से वामदेव का कृषिकर्म-विज्ञान स्पष्टतया जान पड़ता है।

२२. वामदेव की सामगान-पद्धति जैसे-जैसे रूढ होती गई और उसका विकास होता गया, वैसे-वैसे यज्ञ-कर्म अधिकाधिक जटिल होता गया। इस समय से तत्कालीन विद्वानों के विचार दो दिशाओं से प्रवाहित हुए। एक दिशा से इस साम-पद्धति को यज्ञकलाप में समाविष्ट करने के प्रयत्न हुए। सामागान करने के लिये एक 'उद्गातृ' नामक ऋत्विज की योजना की गई। इसी प्रकार अध्वर्यु का मन्त्रपूर्वक हवन तथा उसके लिये आवश्यक

क क्रिया-कलाप का आचरण, होता का सूक्तपठन और उद्गाता का साम-गायन, ऐसी त्रिबंधुर यज्ञ-पद्धति बनकर उसे एक भव्य और दिव्य स्वरूप प्राप्त हुआ। यह सारा एकदम ही नहीं हुआ। किन्तु यज्ञकर्म का विभाजन इस प्रकार होने के पश्चात् अध्वर्यु, होता, ब्रह्मा तथा उद्गाता को मदद करने के लिये अन्य ऋत्विजों की योजना हुई और यज्ञकर्म अधिकाधिक जटिल होता गया। दूसरी ओर, यज्ञ का फल सदैव दृष्ट(प्रत्यक्ष) न होने के कारण अदृष्ट फल की कामना की गई। इन अदृष्ट बातों में इसका भी विचार होने लगा कि इस लोक को छोड़ मनुष्य चला जाता है तब उसका क्या होता होगा। इसी विचार में इहलोक के सदृश परलोक की भी कल्पना की गई; और अन्त में उसे भी अनित्य मान अपवर्ग अर्थात् मोक्ष की चर्चा होने लगी। भारतीय तत्त्वज्ञान का विकास इसी विचारधारा में से हुआ। दोनों प्रकार के विकासों का पूरा-पूरा इतिहास देने का यह स्थल नहीं। यहां इसका निर्देश केवल इसीलिये किया है कि वामदेव के अनन्तर जिन सूक्तों की रचना हुई, उनमें इन विचारों की झलक कैसी मिलती है। अतएव इस बात को ध्यान में रख अब इस वामदेव-युग के अन्य सूक्तों पर विचार करें।

२३. वामदेव-युग का काल वसिष्ठ-युग से बड़ा है। यह आठ-नौ पीढ़ियों का है। इस काल के सूक्तों का अनुक्रम निश्चित करने के लिये तत्कालीन राजकीय इतिहास-ज्ञान की आवश्यकता है। अतएव संक्षेप में प्रथम उसे जान लें। पूर्व में कहा गया है 'दीर्घायुरस्तु सोमकः', पर से वामदेव और सोमक समकालीन माने जा सकते हैं। सुदास् के इस उत्तर पांचाल राजवंश में सोमक के बाद जन्तु, उसके बाद दुर्मुख और दुर्मुख के अनन्तर दिवोदास राजा हुआ। यह दिवोदास नाम तीसरी बार आता है। वैदिक वाङ्मय में निर्दिष्ट काशीराज दिवोदास प्रथम। यह 'मरुत्त' का समकालीन था। यह भरद्वाज-युग में हो गया। दूसरा दिवोदास उत्तर पांचाल वंश में वध्र्यश्व का पुत्र था। यह अत्रि-युग में 'अज' का समकालीन था। उसी का वंशज है यह तीसरा दिवोदास। सोमक-पौत्र दुर्मुख के समय ही पौरव वंश में कुरु नाम का पराक्रमी वंशकर राजा हो गया। इसी कुरु का पुत्र था परीक्षित् और पौत्र था जनमेजय। यह जनमेजय दूसरा है। प्रथम जनमेजय था पौरव वंश का आरंभ करने वाले ययाति-पुत्र पूरु का लड़का। यह परीक्षित्-पुत्र जनमेजय दूसरा है। तीसरा जनमेजय महाभारत-युद्ध के बाद अभिमन्युपुत्र परीक्षित् का सर्पसत्र करने वाला जनमेजय था। कुरु का समकालीन था दक्षिणी पांचालराज त्रसदस्यु का पिता पुरुकुत्स। पुरुकुत्स तथा त्रसदस्यु

नाम की पिता-पुत्र की जोड़ी भी तीन बार उल्लिखित है। पहली है 'मांधाता' के पुत्र पौत्र की। दूसरी है पायु भारद्वाज के समकालीन पौरव वंशजों की और वामदेव-युग की यह तीसरी जोड़ी है दक्षिण पांचाल वंश की। इसी त्रसदस्यु का पुत्र था कुरुश्रवण। अपने समय के प्रसिद्ध कुरुराज के नाम पर से ही त्रसदस्यु ने अपने पुत्र का यह नाम रखा था। इस कुरुश्रवण का पुत्र था मित्रातिथि तथा पौत्र था उपमश्रवस्। मित्रातिथि अल्पायु था। अतएव उसके बाद राजा हुआ उपमश्रवस्। वामदेव के अनंतर जो सूक्त रचे गये उनमें ये नाम आते हैं और इतिहास का यह ज्ञान ध्यान में न लेने के कारण टीकाकार गड़बड़ा जाते हैं। अतएव संक्षेप से यह विवरण किया है।

२४. शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि वामदेव के पुत्र का नाम था बृहदुक्थ। ऐतरेय ब्राह्मण के अंत में निर्देश है कि बृहदुक्थ ने पांचाल दुर्मुख को राज्याभिषेक किया था। पूर्वोक्त इतिहास पर से यह निःसंकोच रीति से कहा जा सकता है कि यह बृहदुक्थ इसी साम-गान के प्रवर्तक वामदेव का पुत्र था। अपने उक्थ अर्थात् स्तोत्र को बृहत् बनाने की अर्थात् सामपद्धति से उसे लंबा करने की रीति पर से ही इसका नाम बृहदुक्थ प्रसिद्ध हुआ होगा। उक्त बृहदुक्थ के नाम पर दशम मंडल के ५४, ५५ तथा ५६ क्रमांक के तीन सूक्त निर्दिष्ट हैं। अंतःप्रमाण पर से भी ये वामदेव के जान पड़ते हैं। इनमें से प्रथम दो हैं इंद्रविषयक। सूक्त के आरंभ में ही बृहदुक्थ कहता है कि 'हे इंद्र, तुम्हारी उस प्रसिद्ध कीर्ति का वर्णन करता हूं।' बाद में ऋषि ने कहा है कि 'मायेत्साते यानि युद्धान्याहुः'—'तुमने लड़ाइयां लड़ीं ऐसा कहना सचमुच माया है यानी भ्रम है।' क्योंकि 'न तो तुम्हारा कोई शत्रु था, न आज भी है।' शत्रु शब्द का नाश करने वाला यह वैदिक अर्थ लिया जावे तो बृहदुक्थ का कथन 'सोलहो आने' सच है। द्यावापृथिवी को इंद्र के माता-पिता मान कवि कहता है कि इन माता-पिताओं को तुम्हीं ने निर्माण किया है और इसीलिये 'क उते महिम्नः अन्तमापुः' यह काक्वर्थ से बृहदुक्थ ने प्रश्न किया है। वामदेव की यह शैली स्पष्ट जान पड़ती है—और वह पुष्पदंत के 'महिम्नः पारं ते' की स्मृति जागृत करती है। यह बृहदुक्थ आगे कहता है कि इंद्र के चार नाम या स्वरूप गुह्य हैं। गुह्य अर्थात् गुप्त होने से संभव है कि वह उन चार को प्रकट नहीं करता। दीर्घतमस् के समान यह भी अपने स्तोत्र को 'शूषं मन्म'—सामर्थ्य बढ़ाने वाला, कहता है। दूसरे सूक्त में भी कहा गया है कि इंद्र का नाम या स्वरूप गुह्य ही नहीं, अपितु 'दूरे गुह्यं' है। इस सूक्त में भी पंच,

सप्त सप्त, चतुस्त्रिंशत् इत्यादि संख्यावाचक शब्दों का प्रयोग है जिससे भाष्यकारों को अपनी-अपनी कल्पनाएँ चलाने का पर्याप्त अवसर मिला है। यह प्रवृत्ति इस युग से प्रवृत्त होकर बढ़ती ही गई। इन्द्र का सबसे बड़ा काव्य तो बृहदुक्थ के मत से यह है कि उसके कारण ही 'अद्याममार स ह्यः समान'—वह पुरुष कल जीता था और आज ? मर गया। इसने भी वामदेव के समान इन्द्र के पराक्रम के लिये 'पौंस्य' शब्द का प्रयोग किया है। तीसरे ५६वें सूक्त की देवता अनुक्रमणिका में दी हुई है विश्वेदेव। पर सूक्त में देखा जाय तो ढूँढ़ने पर भी वह नहीं मिलती। सायण यहां पर कहता है—'बृहदुक्थो वाजिनं नाम स्वपुत्रं मृतं वदति'। और यही ठीक जान पड़ता है। ऋषि मृत पुत्र को कहता है—'अपने एक-एक अंश से तुम देवों के एक-एक अंश में समा जाओ।' अन्त में कहता है—'स्वां प्रजां बृहदुक्थो महित्वा, आऽवरेषु अदधादा परेषु'।

२५. अपने मृत पुत्र के विषय में जो विचार बृहदुक्थ के मन में प्रादुर्भूत हुए, उसी प्रकार के विचार तथा उस समय के आचार, यमवंशज कहलाने वाले दमन, देवश्रवस्, संकुसुक तथा मथित ऋषियों ने अपने १०–१५ से १९ तक सूक्तों में ग्रथित किये हुए हैं। वर्तमान दहन क्रिया में ये ही मंत्र प्रयुक्त किये जाते हैं। बृहदुक्थ ने अपने मृत पुत्र को अपने एक-एक अंश से देवों में समा जाने के लिए जो सामान्यतया कहा, उसी को विशेष रूप देकर दमन स्पष्ट करता है। मृत पुरुष को यह ऋषि कहता है—'तुम्हारा चक्षुरिंद्रिय सूर्य में समा जावे और श्वासोच्छ्वास वायु में। स्वर्ग, पृथ्वी, जल या ओषधि में तुम्हारी इच्छानुसार अग्नि तुम्हें ले जावे।' १८वें सूक्त में लगभग यही कहा है, पर ले जाने का काम अग्नि के बजाय उसने पूषन् को सौंपा है। इस तफसील से यह समझ सकते हैं कि अन्यान्य यज्ञविधि के समान इस पितृमेध यज्ञ में भी विकास हो रहा था। यहीं अधिक विशेष बातों का वर्णन न देते हुए ऋषि ने देवयान और पितृयान की भिन्नता का भी निर्देश किया है। प्रेत को जला डालने के अंनतर जो अवशेष रह जाते हैं, उन्हें हटाकर दहन-स्थल पर पानी सींचकर दूर्वा या गीली जमीन पर बढ़ने वाली कोई दूसरी वनस्पति लगाई जाती थी। अस्थिशेष भूमि में गाड़ दिये जाते थे। उस समय की प्रार्थना संकुसुक ऋषि ने यों की है। वह कहता है—, 'हे भू-मां, माता बच्चे को अपने वस्त्र-पल्लव की आड़ में जैसे ढांक लेती है, उसी प्रकार तू इसे ढांक ले।' कितने मृदुल मन से यह प्रार्थना की गई है! आगे प्रेत के साथ श्मशान-भूमि पर आये हुये लोगों से वह कहता है—'जाओ दुख न करते, अब मुक्त मन से

हँसने नाचने का काम करो'। साथ की स्त्रियों से वह कहता है—'आँखें पोंछो और अपने ग्रहकार्य में पूर्ववत् लग जाओ ।' मृत की पत्नी से वह विनय करता है—'हे नारि, कितने समय तक इसी प्रकार दुख करते पड़ी रहोगी ! उठो और यदि तुम्हारा हाथ पकड़ने वाला कोई मिले तो उसके साथ सुख से संसार-यात्रा करो।' कैसे व्यावहारिक विचार हैं ये ! अंत में मानो अपने पर ही ऐसा अवसर आया है, यह समझ ऋषि काव्यमय भाषा में कहता है—"बाण चला गया—बाकी बचे हैं उसमें लगे हुए पर । उन परों का सा मुझे तुमने पीछ रखा है । अब लगाम खींच जैसे घोड़े को मोड़ते हैं, उसी प्रकार मेरा मन भी मोड़ लो और हे देव, तुम्हारी स्तुति करने के काम में मुझे फिर से प्रवृत्त करो।" अंतिम १९वें सूक्त में मृत के नष्ट पशु फिर से वापस आने की प्रार्थना है—भरद्वाज-युग के आरम्भ में जो विचार-शृंखला इस विषय में पैदा हुई वह यहाँ समाप्त होती है । इसके पश्चात् इस विषय पर कुछ अधिक प्रकाश ऋग्वेद-सूक्तों से नहीं पड़ता ।

२६. अब एक ऐसे ऋषि का सूक्त देखना है जिसके विषय में अनुक्रमणिकाकार को निश्चित ज्ञान नहीं है कि वह वामदेव था या आंगिरस। ऋषि का नाम है मूर्धन्वत् और उसका सूक्त ऋ० है १ -८८। हरएक वामदेव गौतम था और गौतम आंगिरस कहलाया जाता था । अतः इस शंका में महत्त्व नहीं है । परंतु अंतःप्रमाण से जान पड़ता है कि यह ऋषि इसी युग का है और इसीलिये इस सूक्त की चर्चा यहीं करना उचित है। सूक्त है १९ ऋचाओं का अर्थात् पर्याप्ततया दीर्घ है । 'देव' शब्द का प्रयोग प्रायः प्रति ऋचा में है। ऋषि इन देवों का विशिष्ट वर्णन न देकर केवल सामान्यतया कहता है कि इन्हीं देवों ने सारी ही विश्व की बातें बनाई हैं। इन्हीं देवों ने अग्नि को हविर्भाग के 'भर्मणे' तथा 'धर्मणे' अर्थात् भरण करने की तथा धारण करने के लिये प्रार्थना की। भर्मन् शब्द घर्मन् से तुकबंदी जमाने के लिये इसी ने प्रयुक्त किया। 'जगत्' अर्थात् जंगम प्राणियों को 'पतत्रि' तथा 'इत्वर' अर्थात् अनुक्रम से हवा में उड़ने वाले और जमीन पर चलने वाले ऐसे दो प्रकारों से इसी ने प्रथम निर्दिष्ट किया । 'रोदसिप्रा' यह इसी के द्वारा बनाया हुआ नया शब्द है । इसने 'द्वे सृती' सुनी थीं। ये दो सृती स्पष्टतया ही देवयान तथा पितृयान हैं । 'नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन' इस गीतावाक्य में इन्हीं दो सृतियों का निर्देश है। अंत में बड़े मजे से यह पूछता है—'कत्यग्नयः, कति सूर्यासः, कत्युषासः, कत्युस्विदापः' और नम्रतापूर्वक

कहता है कि यह प्रश्न 'उपस्पिजम्'—अकड़ से नहीं पूछा है किंतु 'विद्मने' —समझने के लिये पूछा है।

२७. तीसरे मंडल के १५, १६ तथा १९, २० और २१ क० के सूक्तों का विचार यहीं करना ठीक होगा। इनमें से पहले दो हैं उत्कील ऋषि के। यह उत्कील उसी कत ऋषि का पुत्र है जिसके सूक्तों का विचार इसी प्रकरण के आरंभ में किया गया है। आगे के तीन हैं एक गाथिन् के, जो अपने को कौशिक कहलाता है। कहने की आवश्यकता ही नहीं, यह गाथिन् विश्वामित्र-पिता नहीं है। पहले १५वें सूक्त में पुत्र को संतुष्ट करने वाले पिता की उपमा यद्यपि पुरानी है, तथापि पिता के लिये प्रयुक्त 'जन्म' शब्द नया है। इस सूक्त में भी पूर्वनिर्दिष्ट भर्मणे, धर्मणे के समान 'नेषि' और 'पर्षि' की तुकबंदी मिलती है। देवेभिर्देवैः, सुरुचो रुचानः इत्यादि वर्णावृत्ति भी यहाँ है। द्यावापृथिवी को 'सुभेके' विशेषण पूर्वनिर्दिष्ट रूप में देकर 'सुदोघे' यह नया विशेषण प्रदान किया है। 'वृत्रहथ' शब्द भी वृत्र को मारने वाले आयुधों के अर्थ में नवप्रयुक्त ही है। १६वें सूक्त के अंत में प्रार्थना है कि चार बातें हमारे पास न फटकने पावें। ये चार बातें हैं—अमति, अवीरता, अगोता और निंदा। अगोता अर्थात् पशुओं का अभाव न हो, यह याचना भी नई है और इस पर से पता चल सकता है कि 'गोसंपदा' उस समय एक प्रशस्त बात मानी जाती थी। गाथी कौशिक के समय यज्ञ-पद्धति अधिकांश में निश्चित हो चुकी थी। सूक्त के आरम्भ में ही ऋषि कहता है—मैं अपनी 'घृताची' अर्थात् घृताहुति देने की चमची 'प्रदक्षिणित्' अर्थात् बाईं ओर से दाईं तरफ फिराता हूं। प्रातःकाल जिस क्रम से देवताओं का आवाहन किया जाता था वह क्रम भी अग्नि, उषस्, अश्विनौ और दधिक्रा इस प्रकार निश्चित हो चुका था। दधिक्रा देवता को वहां जो स्थान दिया है वह ध्यान में रखने योग्य है। इसका बनाया हुआ अग्नि का 'पृष्टबंधु' विशेषण सूचित करता है कि अग्नि को भी यह इच्छा रहती थी कि उसकी खबर लेने वाले कोई बंधु हों। अग्नि के तीन हवि, तीन स्थान, उसकी तीन जिह्वाएं और उसके तीन शरीर स्पष्टतया न कह कर सामान्य रूप से यह भी निर्दिष्ट करता है। इसका तीसरा सूक्त पशु-यज्ञ का स्पष्ट प्रमाण है। यहां स्पष्टतया जान पड़ता है कि पशु के 'मध्यत उद्धृतं' बीच के भाग से निकाले हुए मेद का घृत के साथ हवन किया जाता था।

२८. ऐतरेय ब्राह्मण में जहां बृहदुक्थकृत पांचाल दुर्मुखाभिषेक का

वर्णन है वहीं कहा गया है कि 'तुर कावषेय' ने पौरव जनमेजय को भी राज्याभिषिक्त किया था । यह जनमेजय महाभारत-युद्ध के बाद का नहीं है अपितु पूर्वकथानुसार कुरु का पौत्र है । तुरकावषेय नाम पर से ही जान पड़ता है कि तुर कवष का पुत्र था । यह कवष कुरुपुत्र परीक्षित् का समकालीन था। ऐतरेयब्राह्मण के एक स्थान (२-१९)पर इस कवष ऐलूष की दासी-पुत्र तथा कितव अर्थात् जुआरी के नाते निंदा भी की हुई पाई जाती है । वहीं पर इसे 'प्रदेवत्रा' इस १०-३० क्र० के सूक्त का द्रष्टा भी कहा गया है। ३०वें सूक्त से ३४वें सूक्त तक के पांच सूक्त इसी कवष ऐलूष के हैं। अतः अब उन्हीं का विचार करें । इसके सूक्तों पर से अनुमान किया जा सकता है कि सोमयज्ञ की रीति बहुत-कुछ निश्चित हो चुकी थी । देवताओं का आवाहन-क्रम तो निश्चित था ही, किंतु इस सूक्त पर से जान पड़ता है कि 'प्रैष' पद्धति का भी आरम्भ हो चुका था । आज्ञाकारक वाक्यों को प्रैष कहते हैं। श्रौत सूक्तों में ऐसे वाक्य दिये ही हैं। उदाहरणार्थ, देवों की स्तुति पर सूक्तों का पाठ करने के लिये होता को आज्ञा दी जाती है—होतरनुब्रू३हि' । चुप रहने की आज्ञा ब्रह्मा को देना हो, तो कहा जाता है 'वाचं यम'। 'सुब्रह्मण्यामाह्वय' की आज्ञा सुब्रह्मण्य को दी जाती है। वर्तमान यज्ञों में यह प्रैष प्रायः अध्वर्यु देता है। किंतु इस तीसवें सूक्त में अध्वर्यु को ही ये प्रैष दिये गये हैं। 'अध्वर्यवः, हविष्मन्तो भरत', 'अप इत', 'सोमं सुनोत' इत्यादि आज्ञा-वाक्यों पर से प्रैष की कल्पना भलीभांति की जा सकती है। इस सूक्त में सोमरस निकालने के लिये उसमें पानी मिलाने को कहा है। इन जलदेवताओं के समागम से सोम वैसा ही आनंदित होता है जैसा 'कल्याणीभिर्युवतिभिर्न मर्यः' । और वे जलदेवताएं भी 'किसी तरुण के संमुख जैसे युवतियां नम्र होती हैं उसी प्रकार नम्र होती हैं। इसमें जलदेवताओं की स्तुति है। कवष ने इनके लिये उसी 'जीवधन्या' शब्द का प्रयोग किया है जिसका प्रथम प्रयोग गौतम राहूगण ने किया था ।

२९. इकतीसवाँ सूक्त है विश्वेदेव पर और बत्तीसवां है इंद्र पर। विश्वेदेव के सूक्तों में एक शब्द आया है 'नवेदस्' । इसमें 'न' का नास्ति पर अर्थ न होते हैं दो नञर्थों का, अर्थात् पूर्णतया अस्ति पर अर्थ होता है। एवं 'नवेदस्' का अर्थ होता है 'जिसके पास जानने के हेतु अब कुछ शेष नहीं रहा है' अर्थात् 'जो सारी बातों को पूर्णतया जानता हो, वह'। सूर्य के लिये प्रयुक्त 'स्तेग' शब्द भी नया है । इंद्रसूक्त में कुछ सिद्धान्त बड़े महत्त्व के कहे

हैं । पहला है--'पुत्रो यज्जानं पित्रोरधीयति', अर्थात् पुत्र मां-बाप के गुण ग्रहण करता है । आगे का सिद्धान्त है--'जाया पतिं वहति वग्नुना सुमत्' पत्नी बातें कर-कर ही पुरुष का कल्याण करती है । उसी प्रकार 'पुंस इद्भद्रो वहतुः परिष्कृतः'--विवाहित स्त्री का भला पुरुष से ही होता है। यहाँ वाण नामक वाद्य को 'सप्तधातु' सप्तस्वरों से युक्त कहा है जिस पर से वामदेव के सप्तधातु शब्द का जो पूर्व में अर्थ किया, वही ठीक जान पड़ता है। 'अनुशासन' शब्द भी प्रथम कवष के ही सूक्त में पाया गया है और उसका मुख्य तत्त्व भी यहाँ कहा गया है। कवष ऐलूष कहता है कि 'शीघ्र सफलता मिलने की इच्छा हो तो अज्ञानी पुरुष को ज्ञानी पुरुष से पूछना चाहिये और उसके उपदेशानुसार चलना चाहिये।' 'एतद्वै भद्रमनुशासनस्य' । कवष का यह स्पष्ट मत है। अंतिम ऋचा में कुरु श्रवण राजा का नाम कलश दिया है। इसी कुरुश्रवण का उल्लेख अगले सूक्त में राजा के नाते किया गया है । अनुशासन की इसकी कल्पना थोड़ी कटु थी, लोगों को अरुचिकर थी । और इसीलिये 'दुःशासुरागदिति घोष आसीत्'--इसके विषय में कहा जाता है कि यह आया कठोर शासक । लोगों ने भी इसी कारण इसे सताया, किंतु जान पड़ता है कि कुरुश्रवण ने इसकी पहचान की और इसे तीन घोड़ों का रथ देकर इसका सम्मान किया। कुरुश्रवण का पुत्र मित्रातिथि अल्पायु होकर मरा। तब मित्रातिथि के पुत्र उपमश्रवस् को इसी ने समझाया कि 'न देवानामतिव्रतं, शतात्मा च न जीवति'--पुरुष शतायु होता है, पर देवों के नियमों का उल्लंघन कर वह जी नहीं सकता।

३०. कवष ऐलूष का पाँचवाँ अंतिम सूक्त है, 'अक्षक्रीडा' अर्थात् जुए के विषय पर । आज अक्ष शब्द सुनते ही हमारे आँखों के सामने जिन पांसों से चौपड़ खेली जाती है, उस पांसे का चित्र खड़ा रहता है। किंतु ऋग्वेद में ये अक्ष विभीदक नामक पेड़ की छोटी-छोटी गुठलियों के किये जाते थे। इन गुठलियों के ये टुकड़े ऊंचाई से थोड़े लंबे आकार के रहते थे और उनके चारों भागों पर एक, दो, तीन और चार सुझाने वाले चिह्न रहते थे। इन अक्षों की संख्या इस सूक्त में 'त्रिपंचाश' कही गई है जिसका अर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने १५, ५३ या १५० तक किया है। किंतु ये कोरी कल्पनाएं है । वस्तुस्थिति यह है कि उस जमाने के इस खेल का हमें ठीक से ज्ञान नहीं है । निश्चित रूप से केवल इतना ही कह सकते हैं कि इन अक्षों की संख्या बड़ी थी। हाथ में या किसी पात्र में इन्हें खुलखुलाकर किंचित् उतारदार

जमीन पर ये गडगडाये जाते थे और उनके ऊपर के चिह्नों पर से गिनती की जाती थी। कवष का यह सूक्त अत्यन्त मनोहर है। इसका आधार एक जुआरी का स्वानुभव है। बहुत संभव है कि ऐतरेय ब्राह्मण में इसी कारण से कवष को कितव अर्थात् द्यूतकर कहा होगा। ऋषि कहता है कि 'मूजवान् पर्वत पर पैदा होने वाले सोम का सेवन करने से जैसा नशा चढ़ता है, वैसा ही मुझे अक्षक्रीड़ा से होता है।' इसका अब आगे का कथन सुनिये। वह कहता है—"मेरी स्त्री मुझ पर कभी क्रोधित नहीं हुई। न कभी उसने मेरा तिरस्कार किया। उसने तो सदैव मेरी और मेरे साथियों की ही चिंता की और हमें वह सुख ही देती रही। पर हाय-हाय, इस खेल के पीछे मैंने उसे भी छोड़ दिया। जुआरी जब हारता है तो उसकी सास भी उसे नापसंद करती है, स्त्री उसे रोकती है, कोई भी साहूकार उसे अपने पास नहीं आने देता। और तो क्या, किसी बुड्ढे घोड़े के समान भी उस पर कोई ध्यान नहीं देता।" और भी थोड़ा सुनिये—"ऐरे-गैरे लोग भी उसकी स्त्री पर हाथ डालते हैं, उसके मां-बाप भी कहने लगते हैं कि हम इसे नहीं पहचानते।' 'चाहो तो इसे बांध ले जाओ' कहने में भी वे हिचकिचाते नहीं।" आगे वह कहता है—"विचार करने के पश्चात् मैं निश्चय करता हूं कि अब मैं न खेलूंगा। मेरे साथियों को मुझे छोड़ मैं जाने देता हूं। पर क्या करूं, इन अक्षों की खुलखुलाहट सुनते ही किसी जारिणी स्त्री के समान मेरे पैर मेरी इच्छा न होते भी मुझे खेल के अड्डे पर ले ही जाते हैं। ये अक्ष गिरते हैं नीचे, पर चमकते रहते हैं ऊपर। इन्हें स्वयं हाथ नहीं हैं, पर हाथ वाले लोगों को भी ये नीचा दिखाते हैं। इनका स्पर्श शीतल रहते भी हृदयदाहक होता है। सुबह का सिलेदार जुआरी शाम को इतना भिखारी बनता है कि ठंड से बचने के लिये उसके पास सिवाय आग के कुछ साधन नहीं रहता। "अंत में अंतःकरणपूर्वक वह विनय करता है कि "भाई मेरे, इन अक्षों का खेल मत खेल। तू तो खेती कर। उसी को सर्वस्व मान उसी में रमा रह। उसी से तुझे पत्नी की भी प्राप्ति होगी।"

३१. वामदेव-युग के अखीर-अखीर में सूक्तकार अगस्त्य हो गया। इस अगस्त्य के नाम पर ऋग्वेद के प्रथम मंडल में क्र० १६५ से १९१ तक के २७ सूक्त दिये हुए हैं। इनमें अंतःप्रमाणों से यह स्पष्टतया सिद्ध है कि १६५, १७०, १७९, १८८ और १९१ क्रमांक के सूक्त किसी दूसरे ही अगस्त्य के हैं या किसी ने उन्हें लिख कर अगस्त्य के नाम पर समाविष्ट

समाविष्ट किये गये हैं। अगले युग में वसिष्ठ नाम धारण करने वाले एक सूक्तकार ने ७-३३ में जो काल्पनिक कथा दी है उसे प्रमाण मान अनुक्रमणी लिखनेवालों ने अगस्त्य को भी मैत्रावरुणि कहा है। किंतु प्रथम सूक्तकर्त्ता वसिष्ठ या यह अगस्त्य स्वयं को इस नाम से कहीं भी नहीं कहता है। वसिष्ठ के विषय में तो ऐसा कहा भी जा सकता है उसके मित्र तथा वरुण पर रचे हुए सूक्तों के कारण वह मैत्रावरुणि कहलाया गया होगा। पर इस अगस्त्य के विषय में तो वैसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि इसका रचा हुआ एक भी सूक्त न मित्र पर है, न वरुण पर। इसके अतिरिक्त १६६, १६७, १६८ क० के तीनों सूक्तों में जो ऋचा सामान्य रूप से मिलती है, उसमें तो 'इयं गीर्मांदार्यस्य मान्यस्य कारोः' पाया जाता है जिस पर से यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि यह सूक्तकार 'मांदार्य मान्य' है। अतएव ये तीन और पूर्वोक्त पाँच ऐसे आठ सूक्तों को छोड़, शेष १९ सूक्तों का ही विचार यहां करना है। इनमें इंद्रविषयक सात सूक्त हैं—पांच अश्विनौ पर, दो मरुतों पर; और अग्नि, द्यावापृथिवी, बृहस्पति, विश्वेदेव पर एक-एक कर चार मिलाकर अठारह होते हैं। १९वें सूक्त की देवता बिलकुल नयी है। वह है 'पितु' अर्थात् 'अन्न'।

३२. प्रथम सातों इंद्रसूक्तों का विचार करें। इनमें नया बहुत ही थोड़ा है। वे ही कुत्स-शुष्ण की कथाएं, वे ही यदु-तुर्वसु, सूर्यचक्र हरण करने की वही बात। नई बात एक ही—'वृत्रं पुरुकुत्साय रंधीः' वृत्र को पुरुकुत्स के हेतु मार डाला। कुछ उपमाएं अवश्य नवीन हैं। 'आपो न द्वीपं'—पानी द्वीप को संभाल रखता है तथा कर्ज निकालने वाले पुरुष को नीचे देखना पड़ता है। ये दोनों उपमाएं अनुक्रम से सोभरि काण्व तथा कवष ऐलूष के सूक्तों में से थोड़ी बदल कर ली हुई हैं। 'तृषित पुरुष को जल जैसे सुख देता है वैसे ही तुम हमको सुखी करो' की उपमा भी ध्यान देने योग्य है। 'स्तवानेभिः स्तवसे देवदेवैः' इस प्रकार की वर्णावृत्ति भी इन सूक्तों में है। अगस्त्य इन्द्र को अश्विनौ देवों के समान रथ में बैठ कर आने की प्रार्थना करता ही है। पर वामदेव के समान वह यह भी कहता है कि 'रथ के घोड़ों को यहीं छोड़ो।' वंदनेष्ठा, मित्रायुव, मध्यायुव, पवीरव, पीयु इत्यादि नये शब्द भी अगस्त्य-निर्मित ही हैं। किंतु इन सूक्तों में मुख्यतः ध्यान में रखने योग्य बात यह आती है कि 'गायत्साम'—सामगान का निर्देश सबसे पूर्व इन्ही सूक्तों में पाया जाता है। इस पर से ज्ञात होता है कि साम इस अगस्त्य-समय में यज्ञों से सुप्रतिष्ठित

हो चुका था। इन सारे ही सूक्तों में अंतिम प्रार्थना है--'वि मेषं वृजनं जीरदानुम्।' सायण ने 'जीरदानु' शब्द का अर्थ 'चिरकालजीवनम्' अर्थात् लंबे समय तक जीना किया है। यह प्रार्थना प्रायः सारे ही अगस्त्य-सूक्तों में पढ़ने के बाद ऐसी शंका मन में आना अस्वाभाविक नहीं कि अगस्त्य-काल में लोक अल्पायु तो नहीं हो रहे थे।

३३. अश्विनौ देवों पर अगस्त्य के पांच सूक्त (क्रमांक १८० से १८४ तक) हैं। अगस्त्य की रचना सामान्य ही है और उसमें भी ये सूक्त अत्यंत ही सामान्य हैं। वही-वही बातें इसमें फिर से कही हुई हैं। कई सूक्तकारों ने पादपूरणार्थक अव्ययों का उपयोग किया है, पर अगस्त्य ने तीन तीन पादपूरणार्थक अव्यय उपयुक्त किये। 'चित्' पादपूरणार्थक अव्यय शुनःशेप का प्रसिद्ध ही था। अगस्त्य ने उसी के समान 'चिद्धि' का प्रयोग तो किया ही पर दूसरे ही आधे में 'चिद्धिष्म' और फिर आगे ऋचा में भी उसी 'चिद्धिष्म' की आवृत्ति। बेचारे सायण को भी 'चिद्धिष्म इति त्रयः पूरणाः' कहना पड़ा। अश्विनौ की बहिन उषस् और बहू सूर्या का निर्देश इसमें है। तौग्र्यभुज्यु तथा अत्रि का उल्लेख भी पुनःपुनः हुआ है। 'दस्रा दंसिष्ठा' तथा 'रथ्या रथीतमा' की सी नीरस पुनरुक्ति भी यहां है और इतना होकर भी ऋषि स्वयं अपने को 'नृणां नृषु प्रशस्तः' कहने में जहाँ केवल 'नृणां' या 'नृषु' से ही काम चलता, वहाँ व्यर्थ में ही दोनों रूपों का प्रयोग करता है। व्यर्थावृत्ति इन सूक्तों में अधिक है। घोड़ों को मनोजुव कहने के बाद रथ को 'मनसो जवीयान्' कहने में क्या अधिक है? 'अवनिर्न प्रवृतान्' पृथ्वी के समान विस्तीर्ण किसी को कहने पर उसे 'सुप्रबंधुर' कहना व्यर्थ नहीं तो क्या है? अंत में नये गुणवाचक विशेषण न सूझने से रथ को 'विश्पलावसु' विश्पला को ले जाने वाला भी कह डाला है। अश्विनौ को नव विशेषण 'पश्वइष्टी' तथा स्वयं को 'काराधुनीव' विशेषण देकर अपनी नवप्रियता अगस्त्य ने दिखलाई है। मानासः, मानेभिः इत्यादि शब्दों से पूर्वजों का निर्देश कर अपने सूक्त कास वीकार 'यामन् अयामन्' समय उचित हो या न हो, सदा ही करने की प्रार्थना अगस्त्य ने की है।

३४. अगस्त्य ऋषि का एक सूक्त है द्यावापृथिवी पर और एक है विश्वेदेवों पर। द्यावापृथिवी के १८५वें सूक्त में ऋषि आरम्भ में ही पूछता है कि 'कतरा पूर्वा कतरा परायोः' दोनों में पहला कौन और बाद का कौन? और स्वयं ही उत्तर देता है कि चक्र के समान इनके फिरते रहने

से यह बतलाना कठिन ही है । जननी-जनक के उत्संग में खेलते हुए बालक के समान हमें बुरी बातों से ये द्यावापृथिवी बचावें । 'द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अम्वात्' यह ध्रुवपद के समान ही यहाँ याचना है । ये देवताएं रोदसी, देवपुत्रे, सुजाते इत्यादि गुणवाचक विशेषणों से युक्त तो हैं ही, पर साथ ही 'अमृतं दधाथे' का गुण नवीन कहा गया है। एक प्रार्थना यह भी है कि जो पाप मैंने देवों के मित्रों के तथा जामातृ के विषय में किया हो वह मेरे इस स्तोत्र से मुझे छोड़ दे । विचारणीय है कि यहां जामातृ निर्देश क्योंकर हुआ है। १८६वें सूक्त का विषय विश्वेदेव हैं। सविता, मित्र, अर्यमा, अग्नि, वरुण इत्यादिकों के साथ अगस्त्य ने एक नये देवता की कल्पना भी की है। संभव है कि अगस्त्य कभी 'अगों' अर्थात् पहाड़ों पर घूम रहा हो और उसने किसी जल-प्रपात को देखा हो । ऊपर से सर-सर गिरते हुए और नीचे मानों पाताल तक पृथ्वी के मूल तक पहुँचते हुए जल-प्रपात पर से उसे इस देवता की कल्पना आई होगी। वह कहता है--'सिंधु अर्थात् नदी ने जिसका बालक के समान पोषण किया है, वेग से बहने वाले और वृष्टि करने वाले मेघों ने जिसे बहाया है और जिसकी सहायता से हम पानी के तेज के पास पहुंच सकते हैं, वह आधार तक पहुंचने वाला नाग (बुध्निय अहि) हमारा कल्याण करे।' 'अहिर्बुध्न्य' देवता का यह वर्णन केवल अगस्त्य ने ही किया है। इसके बाद के सारे सूक्तकार इस देवता का केवल नामनिर्देश करते हैं, स्वरूप-वर्णन नहीं करते । इस पर से यही कल्पना पुष्ट होती है कि इस देवता का निर्माता अगस्त्य ही है। इस सूक्त में अगस्त्य अपनी बुद्धि को 'अश्वयोगा'—अर्थात्, 'घोड़े के समान दौड़ लगाने वाली' कहता है और देवों के पास से प्राप्त दीधिति, अर्थात् प्रतिभा को 'अपिप्राणी' अर्थात् एकसी हलचल करने वाली और 'सदनी' शांत बैठने वाली—ऐसे परस्पर विरुद्ध दो विशेषणों से भूषित करता है ।

३५. अग्निविषयक तथा बृहस्पतिविषयक भी एक-एक सूक्त इस अगस्त्य ऋषि का बनाया हुआ है । अग्निसूक्त की प्रथम ऋचा है—'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम' । यह ऋचा ऐसी लोकप्रिय हुई कि प्रायः सभी वेदों में और कुछ उपनिषदों में भी इसे उद्धृत किया गया । अपनी इस उक्ति को अगस्त्य केवल 'नमउक्ति' न कहकर 'भूयिष्ठा' भी कहता है। अग्नि का वर्णन वह यों करता है—'प्रिये सदने आशुशुक्वान्—प्यारे घर में

प्रकाशमान' तथा उसकी प्रार्थना करता है कि 'अनग्नित्र' अर्थात्—'घर में अग्निपरिचर्या न करने वाले लोगों से हमें बचा।' इस परसे जान पड़ता है कि अग्नि को घर में रक्षण कर उसकी परिचर्या करने की रीति प्रचलित हो चुकी थी। अपने शत्रुओं में अगस्त्य काटने वाले, दांत वाले तथा बिना दाँत वाले हिंस्र पशुओं के साथ निंदा करने वाले मानवों का भी प्रमुखता से निर्देश करता है। अंतिम ऋचा में यह स्वयं को स्पष्ट शब्दों में 'मानस्य सूनुः' कहता है। बृहस्पति के सूक्त में (१-१९०) यह कहता है—"सविता दोनों हाथ उठाकर काम करने की प्रेरणा देता है वैसा ही उपस्तुति, नमसउद्यति, श्लोक इत्यादिकों को बृहस्पति भी हाथ उठाकर प्रेरणा देता है।" (यहाँ वामदेव की याद अवश्य आती है।) "जो तुझे हे बृहस्पति 'उस्रिक' अर्थात् कम प्रकार के समझते हैं उन 'पियारु' अर्थात् हिंसकों को मार।" (पूर्वनिर्दिष्ट पीयु के समान ही यह पियारु शब्द है।) रोघचक्र अर्थात् भौंरे-भरे प्रवाह जैसे समुद्र की ओर मुड़ते हैं वैसे ही सारी स्तुतियाँ तुम्हारी ओर ही मुड़ती हैं। ऐसी स्तुति करने वाले हमें बाल-बच्चे, गाय-घोड़े खूब मिलें। ऐसी है यह बृहस्पतिप्रार्थना।

३६. अब अगस्त्य के अन्नसूक्त की चर्चा करें। इसका क्रमांक १८७ है। इस अन्नसूक्त की विशेषता यह है कि सूक्त भर में अन्न शब्द का कहीं प्रयोग ही नहीं। रामायण कहा जाय और उसमें राम शब्द ही न हो, वैसी ही स्थिति है इस सूक्त की। अगस्त्य ने अन्न के लिये एक नये शब्द का प्रयोग इस सूक्त में किया है—यह शब्द है 'पितु'। पितु शब्द के पितृ सदृश उच्चारण के कारण केवल वेद-पाठक ब्राह्मण इस सूक्त का उपयोग विशेषतया पितृ-श्राद्ध-विधि में करते हैं। हमने वामदेव के युग में यह प्रवृत्ति देखी है कि या तो सूक्तकार नये शब्द गढ़ते हैं या अपरिचित, अप्रयुक्त शब्दों का उपयोग करते है। 'पितु' शब्द अगस्त्य ने नया नहीं बनाया, परन्तु उसका उपयोग नये ही अर्थ में किया। पितु शब्द का मूल अर्थ है पेय, सोमरस। किंतु अगस्त्य ने उसे पूर्णतया अन्न रस के अर्थ में प्रयुक्त किया है। पितु शब्द को अगस्त्य ने नहीं गढ़ा, पर इसी सूक्त में अपने बनाये 'वातापि' तथा 'परिश' शब्द का प्रयोग अगस्त्य द्वारा किया गया है। परिश अर्थात् सत्त्व या सार और वातापि का अर्थ है शरीर। 'वातापे पीव इद्भव' हे शरीर, तुम पुष्ट बनो यह चरण तीन ऋचाओं के अंत में आया है। हो सकता है कि इसी वातापि शब्द पर से आतापि वातापि भाइयों की और

अगस्त्य की पौराणिक कथा निर्माण हुई हो । अस्तु। अगस्त्य ने इस सूक्त में कहा है कि अन्न 'तविषी' अर्थात् बलवर्धक है । यही सबको धारण करता है। यह श्रेष्ठ है और इसी लिये मैं इसकी स्तुति करता हूँ । इसी के सामर्थ्य से त्रित इंद्र ने वृत्र को विपर्व रीति से मारा । वामदेव के इंद्रसूक्त में जो अपर्व शब्द आया था और जिसका सायण ने ठीक अर्थ नहीं किया था, वह अपर्व और यह विपर्व शब्द समानार्थक हैं। पर्व अर्थात् संधि, जोड़ और अपर्व या विपर्व का मतलब है--जहाँ जोड़ न हो ऐसे स्थान पर । अन्न मधु और स्वादु दोनों प्रकार का होना चाहिये । 'भीतर बाहर एक' से अद्वयमित्र के समान वह सुख देने वाला होना चाहिये । आकाश में प्रसृत वायु के समान अन्नरस लोगों में प्रसृत होता है । अन्न दान करने वाले तथा अन्न ग्रहण करने वाले, दोनों ऊँची गर्दन करके चलते हैं । इस दुनिया में हमें पर्याप्त अन्न मिलना चाहिये। हमने वनस्पतियों का सार सेवन किया है इसलिये हे शरीर, पुष्ट बनो--'वातापे पीव इद्भव'। ग्यारह ऋचा के इस अन्न सूक्त के अंत में अगस्त्य प्रार्थना करता है--' देवों को तथा हम मानवों को साथ-साथ आनन्द देने वाले हे अन्नदेव, देवों को हविर्भाग समर्पण करने के लिये जैसे गाय को दोहते हैं, उसी प्रकार हम अपनी स्तुतियों से तुम्हारा रस खींच लेते हैं। हमें सुख दो। "

३७. अगस्त्य के पश्चात् हम वामदेव-युग के अंतिम खंड में प्रविष्ट होते हैं। कल्पनाओं की वृद्धि, नये या पुराने किंतु अप्रसिद्ध तथा अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग, स्वाभाविकता का अभाव, और अनुप्रासादि शब्दालंकारों की योजना इत्यादि वामदेव-युग की प्रवृत्तियां अंत में अधिकाधिक दीखने लगती हैं। साम गान की ओर लोगों की रुचि बढ़ने के कारण अनेक ऋषियों का लक्ष्य उस तरफ आकृष्ट हुआ और सामों की संख्या में भी भरपूर वृद्धि हुई । मुख्य गान के साथ प्रस्ताव और प्रतिहार नाम के दो भाग और जोड़े गये और उसी काम के लिये प्रस्तोता तथा प्रतिहर्ता नामक दो ऋत्विज उद्गाता भी साथ करने के लिये नियुक्त किये गये । सूक्तकारों की संख्या स्वाभाविकतया ही थोड़ी कम हुई । इनमें भी बहुत से प्राचीन ऋषियों के नामधारी थे। उनकी रचनाएँ भी प्राचीनों के ही नामों पर संगृहीत हुईं । तुलसी, सूर इत्यादिकों के प्रसिद्ध संग्रहों में भी जब इस प्रकार के प्रक्षेप पाये जाते हैं तो वैदिक संहिता में वैसा होना अस्वाभाविक न था। पूर्व सूरियों के सूक्तों का

विचार करते हुए कुछ प्रमाणों द्वारा कुछ-कुछ सूक्तों को अन्यरचित समझ विचार नहीं किया गया था। उनमें से बहुत से सूक्त इसी युग के हैं। अतएव उनका विचार कर वामदेव-युग की चर्चा पूरी करें।

३८. इन सूक्तों में प्रथम दीर्घतमस् का नाम धारण करने वाले द्वितीय दीर्घतमस् के सूक्तों का विचार करना है। इन सूक्तों की संख्या बारह है। तेरह सूक्तों का विचार पूर्व में किया ही गया है। इन बारह में भी क्रमांक १४२ का सूक्त 'आप्री' होने के कारण उसका विचार आप्रीसूक्तों के साथ होने ही वाला है। अतएव यहाँ केवल ग्यारह सूक्त ही विचारणीय रहते हैं। उनमें भी अंतिम तीन अर्थात् प्रथम मंडल के १६२, १६३, १६४ क्रमांक के सूक्त अग्रिम शौनक युग के जान पड़ते हैं। इस लिये शेष १४०, १४१, १४३, १४४, १५१, १५५, १५८, तथा १६१ इन आठ सूक्तों का ही अनुशीलन यहां करना है। इन आठों में चार हैं अग्निविषयक, क्रमाँक १५१ का है मित्रावरुणौ पर, १५५ की देवता है विष्णु, १५८ में अश्विनौ का वर्णन है और १६१वें सूक्त में ऋभुस्तुति है। ऋभुओं को छोड़ दिया जावे, तो अन्य देवताएं चिर-परिचित हैं। अतएव यह द्वितीय दीर्घतमस् इस नई अपरिचित देवता के विषय में क्या कहता है, इसे प्रथम सुनें। बूढ़े माँ और बाप को जवान बनाना, घोड़े, रथ और गाय को ठीक करना और अगोह्य के घर रहकर वृष्टि तथा कृष्टि करना, ये सारी वर्णित बातें पुरानी ही हैं। केवल इनके कहे जाने का ढंग अलग है। सोम-पान करने के समय इन ऋभुओं में कोई दूसरा ही इनका स्वरूप धारण कर आ बैठा। इसके तथा ऋभुओं के काल्पनिक संवाद के रूप में ये सारी बातें कही गई हैं। कह सकते हैं कि काल्पनिक संवाद-सूक्त का आरंभ यहीं से हुआ है। इस सूक्त में दो शब्द बिलकुल नये हैं—एक है 'वधर्यन्ती' और दूसरा है 'तात्या'। 'वधर्यन्ती' का अर्थ है वज्र फेंकने वाली और 'तात्या' का है प्रेमपूर्ण। ऊचिम, ऊदिम इत्यादि प्रकार का अंत्ययमक और कर्त्वः, कर्त्वा की पुनःपुनरावृत्ति तथा 'कृण्वते सुते सचाँ अन्यैरेनान् कन्या' अथवा 'निवत्स्वपः स्वपस्यया' ऐसे अनुप्रास पाठ करते समय ध्यान में आते हैं और कानों को मधुर लगते हैं।

३९. नवकल्पित ऋभुओं के ही विषय में जहाँ कुछ नवीनता नहीं, वहां अग्निप्रभृति प्राचीन देवताओं के विषय में नया क्या मिलने वाला है। अग्निविषयक चारों सूक्तों में जो कुछ नया वर्णन है वह अग्निविषयक न

होकर ऋत्विजों की क्रिया के विषय में है । वामदेव ने प्रदक्षिणित् घृताची जुहू का वर्णन किया । उसी के अनुसार यह द्वितीय दीर्घतमस् अग्नि को अब 'प्राचीजिह्व और जुह्वादि' स्रुवों को 'दक्षिणावृत' कहता है । तृषुच्युत्, कुपय, कृष्णजंहस् इत्यादि नये सामासिक शब्द; सप्तशिर, दशप्रमति इत्यादि संख्या वाचक शब्दों का अविशिष्ट प्रयोग, वक्वू, शिप्री इत्यादि नये शब्द ; अगस्त्य निर्मित पितु शब्द का अर्थ लेकर उससे गृहवाचक बनाया हुआ पितुमान् शब्द : इत्यादि वामदेव-युग की प्रवृत्ति के सूचक हैं । 'तव्यसी नव्यसी' 'संस्तिरो विष्टिरः', 'सुवितं दुर्वितादवि', 'मुमुक्ष्वो मनवे मनवस्यते' इत्यादि सदृश उच्चारों के शब्दों का प्रयोग तथा 'अभिश्वसन् स्तनयन् नैति नानदन्', 'अवसदध स्वधा अधयत्' इत्यादि प्रकार की रचना सूक्तों की कृत्रिमता स्पष्ट करती हैं । इस द्वितीय दीर्घतमस् ने एक ऋचा (१४३–८) में तो 'अप्रयुच्छन् अप्रयुच्छद्भिः' के साथ शिवेभिः, पायुभिः, अदब्धेभिः, अदृपितेभिः और अनिमिषद्भिः का प्रयोग कर 'भिः' की पुनरावृत्ति की है । 'वीरसद्वसुष्क विद्वसुभिः' पढ़ते ही कृत्रिमता झलक उठती है ।

४०. मित्रावरुणौ पर इस द्वितीय दीर्घतमस् का १५१वां सूक्त है । यहां भी 'गोषुगव्यवः', 'यद्ध त्यद्वाम्', 'मही अत्र महिना', सृजतं पिन्वतम्' इत्यादि वर्णावृत्ति है ही । शिप्नी, तक्ववी प्रभृति नये शब्द भी हैं । अगस्त्य-निर्दिष्ट पुरुमीढ का निर्देश है । अंतिम ऋचा में 'रेवद्वयो दधाथे, रेवदाशाथे' इस प्रकार पूर्व की ऋचा में प्रयुक्त 'रेवदाशाथे' की पुनरुक्ति पाई जाती है । १५५वें विष्णुसूक्त में विष्णु को इंद्र के साथ 'शूर' शब्द से विशिष्ट किया है । 'कृशानोरस्तु रसनामुरुष्यथः' यह चरण अनुप्रासयुक्त है । 'दधाति पुत्रोऽवरं परं पितुर्नाम' यह श्लेषयुक्त रचना इस सूक्त में पाई जाती है । पुत्र और पिता दोनों शब्द लड़का और बाप इस अर्थ में होते हुए भी 'पुरुत्राता' तथा 'पालक' ऐसे दूसरे अर्थ में भी प्रयुक्त हैं । १५८वां सूक्त 'अश्विनौ' देवता पर है । इस सूक्त में यह ऋषि अपना औचथ्य नाम देकर प्राचीन मामतेय औचथ्यविषयक कथाएं भी कहता है । वह वर्णन करता है कि उस दीर्घतमस् का दासों द्वारा कैसा छल हुआ, उसे आग में तथा नदी में कैसे ढकेला और 'त्रैतन' नामक एक दास ने उसे मारने की चेष्टा में स्वयं को ही कैसे मार डाला––इत्यादि । अंत में यह दीर्घतमस् द्वितीय स्पष्ट ही कहता है कि 'दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान दशमे युगे ।' इस पर से निसन्देह कह सकते हैं कि यह द्वितीय औचथ्य दीर्घतमस् उस मामतेय दीर्घतमस् से भिन्न

ही है । परन्तु ऐसा मान्य न करने से सायण की बड़ी गड़बड़ी हो गई है। अंत में बेचारे को कहना पड़ा है कि 'एवमस्य वृत्तांतं मंत्रोऽनुवदति। स्वयं वा स्वात्मानं पारोक्ष्येण अश्विनोर्महानुभावत्वं प्रकटयितुं ब्रवीति ।

४१. ऋग्वेद संहिता का षष्ठ मंडल भरद्वाज के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें सब मिलाकर ७५ सूक्त हैं, इनमें भरद्वाज के नाम पर ५९ सूक्त हैं। इनमें से प्रथम भरद्वाज के १२, द्वितीय विदथिन् भरद्वाज के २०, तृतीय भारत भरद्वाज के १६ तथा चतुर्थ भरद्वाज के ९, कुल मिलाकर ५७ सूक्तों का विचार हो चुका है। शेष दो सूक्त हैं क्रमांक १६ तथा ९ के। इनके रचयिता को पंचम भारद्वाज कह सकते हैं । १६वां सूक्त ४८ ऋचाओं का अर्थात् पर्याप्त बड़ा है। आरंभ के ही चरणों में पद आते हैं 'विश्वेषां यज्ञानाम्' जिन पर से ज्ञात हो सकता है कि यज्ञों की संख्या बढ़ चुकी थी। तीसरी ऋचा पर से ज्ञात होता है कि इन यज्ञों के 'अध्व' और 'पथ' अर्थात् सायण के कथनानुसार बड़े व छोटे मार्ग भी निर्माण हो चुके थे। देव भी यज्ञ करते हैं और उनके यज्ञ में अग्निहोतृ कर्म करता है, यह कल्पना भी इस सूक्त में रूढ सी ही जान पड़ती है । यहां निर्दिष्ट दिवोदास पूर्व में कथित इतिहासानुसार तृतीय दिवोदास है । तुर कावषेय ने जिसे राज्याभिषेक किया वह दूसरा जनमेजय इस सूक्त के भारत शब्द से सूचित है। ऋचाओं का पाठ तथा साममंत्रों का गान उस 'अर्च गाय च' वाक्य से विहित है जो इस सूक्त में प्रैष के रूप में ऋत्विजों को दिया हुआ है । जिस ऋचा का गान सबसे अधिक प्रसिद्ध था और इसीलिये जिसे सामवेद की संहिता में प्रथम स्थान दिया गया, वह 'अग्न आयाहि वीतये' ऋचा इसी पंचम भरद्वाज की है। इसने अथर्वन् तथा दध्यङ् ऋषियों का निर्देश किया है । सुदास् का दस्युहंतम शब्द तो इसके सूक्त में आता ही है, पर उसी के साथ तत्सदृश वसुमत्तम तथा वृत्रहंतम शब्द भी इसके द्वारा प्रयुक्त हैं। अग्नि को इसने 'ब्रह्मणस्कवि' यह बिलकुल नई ही संज्ञा दी है। 'उत्तानहस्तो नमसा' इस भरद्वाज-निर्दिष्ट रीति का भी इस सूक्त में उल्लेख है। 'वक्षियक्षि', 'यज्ञेषु यजियम्', 'यद्दीदयद्दिवि' इत्यादि वामदेव-युग की प्रवृत्ति यहां पर भी विद्यमान है ।

४२. पंचम भरद्वाज का क्रमांक ९ का सूक्त अधिक महत्त्वपूर्ण है। आरम्भ के ही 'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च' स्पष्टतया कृष्ण-पक्ष का तथा अर्जुन अर्थात् शुक्ल-पक्ष का दिन सूचित करते हैं जिस पर से महीने के दो पक्ष

समझने तक ज्योतिष-ज्ञान का विकास ध्यान में आता है । दूसरी ही ऋचा में है 'न यं वयन्ति समरेऽतमानाः' जो वस्त्ररूपी यज्ञ संधि के समय में बुनते हैं। यहाँ पर भी 'समर' शब्द शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष की संधि का वाचक है। इस संधि से दोनों पक्षों के संधिदिन दर्श तथा पूर्णमास सूचित हैं, पर सायण इसका यह स्पष्ट अर्थ न कर 'अहश्च कृष्णं' के कृष्ण शब्द पर से 'अहर्' अर्थात् दिन का अर्थ रात करता है और कहता है कि यही अर्थ उचित है। दोनों पक्षों के संधिकाल अर्थात् दर्श और पूर्णमास के ही दिन अधिकाँश यज्ञ होते थे । अतएव यह सीधा अर्थ करना छोड़ टेढ़ा खींचतानी का अर्थ करने की यत्किंचित् भी आवश्यकता यहाँ नहीं है । यही वस्त्र बुनने की कला के ओतु और तंतु अर्थात् ताना और बाना ये शब्द आते हैं। पर इस सूक्त का सबसे महत्त्वपूर्ण विभाग है 'वैश्वानर' का व्यंग्यार्थ । वैश्वानर का वाच्य अर्थ है 'विश्वेषां नराणामुपयुक्तः' । किंतु यहाँ इस वाच्यार्थ को छोड़ अर्थ करना पड़ता है 'विश्वेषां नराणां हृदये वर्तमानः'। क्योंकि कान और आँख जहां पहुँच नहीं पाते, और तो क्या, 'दूर आधीः' दूर तक पहुंचने वाला मन भी जिसका पता लगा नहीं सकता, ऐसी यह ज्योति 'हृदये आहित' कही गई है। यह ज्योति का तेज अमर्त्य भी निर्दिष्ट है। अब यह स्पष्ट है कि यह ज्योति बाहर स्पष्ट रूप से दीखने वाली अग्नि हो ही नहीं सकती क्योंकि वह तो इन्द्रियगम्य होने से उसे समझने के लिये मन को तड़फड़ाना नहीं पड़ता। वह अतएव है सबके अंतःकरण में प्रकाशमान तेज । केवल विचारकों ने उस समय उसे 'आत्मन्' यह नाम दिया था । उनके विचारों की पहुंच वहां तक न गई थी। किंतु यह स्पष्ट है कि उनके विचार किस दिशा में जा रहे थे । इसी तेज के विषय में सूक्त-समाप्ति के समय कहा गया है 'किंस्विद्वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये' क्या कहूं और क्या समझूँ । 'अंत में "वैश्वानरोऽवतूतये वोऽमर्त्योवितूनये नः" 'वह अमर वैश्वानर हमारा रक्षण करे और तुम्हारा भी' कह कर सूक्त समाप्त किया है।

४३. षष्ठ मंडल के क्रमांक ४४ तथा ४५ के सूक्त इंद्रविषयक हैं और द्वितीय शंयु के रचे हुए हैं। पंचम भरद्वाज के कारण से ही यह शंयु भी स्वयं भरद्वाज कहलाता है। ४४वें सूक्त की पहली तीन ऋचाओं का उत्तरार्ध एक ही है—'सोमः सुतः स इंद्र तेऽस्ति स्वधायते मदः'। सातवें तृच में वृष शब्द पंद्रह बार आया है। इस सूक्त के नये शब्द हैं स्तौला, धौतरी और कारुधाया। संख्यायुक्त शब्दों का भी यहां प्रयोग है—जैसे सप्तरश्मि, दशप्रमति।

४५वें सूक्त में 'महीरुत प्रणीतयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः, नास्य क्षीयंत ऊतयः' इस प्रकार का अंत्य यमक है। पंचम भरद्वाज ने कहा—'अर्च गाय च'। यह दूसरा शंयु भी उसी प्रकार ऋक्पाठ और सामगान का पृथक् निर्देश कर बहुवचन में कहता है 'अर्चत प्रच गायत'। 'हव्यः हवं', 'रथेन रथीतमः', जेषि जिष्णो,' 'गोमद्भिर्गोपते', 'अश्वो अश्वायते' के समान निरर्थक अनुप्रास इस सूक्त में भरे पड़े हैं। अंतिम तृच में यह 'बृबु' नामक एक व्यक्ति की स्तुति करता है और कहता है--सदा गृणंति कारवः, बृबुं सहस्रदातमं, सूरिं सहस्रसातमम्'। ब्राह्मण ग्रंथ के उल्लेख पर से अनुक्रमणीकार इसे 'बृबुस्तक्षा' बृबुसुतार कहते हैं। इसी शंयु के समान ऋजिष्वन् नामक सूक्तकार भी अपने को भरद्वाज ही कहलाता है। वामदेव युग का यह अंतिम सूक्तकार ऋषि है। इसी मंडल में क्रमांक ४९ से ५२ तक के चार सूक्त इसके हैं। चारों का विषय विश्वेदेव ही हैं। मित्रावरुणौ, द्यावापृथिवी इत्यादि युग्म देवताओं के साथ मित्र और वरुण, द्यौष्पिता और पृथिवी माता का पृथक्-पृथक् भी निर्देश इस सूक्त में पाया जाता है। इसके समय तक जितने देवों की निर्मिति हो चुकी थी—अग्नि, सूर्य, इत्यादि से अहिर्बुध्न्य तक—उन सभी देवताओं को यह आवाहित करता है। वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् इन गणों का तो समावेश है ही पर विशेष रीति से वर्णन न कर चुपके से ही 'पर्जन्यवाता' यह जोड़ी भी विश्वेदेवों में संमिलित कर लेता है। अंत में विश्वविभूतियों का वर्णन अर्जुन को कर जैसा श्रीकृष्ण कहता है—'अथवा बहुनोक्तेन किम्', उसी प्रकार कुछ बचा हो तो 'विश्वेदेवाः शृणुतेमं हवं मे' कहकर सभी देवों का अंतर्भाव कर लेता है। 'अभिचक्रमाम, अभ्यश्नवाम' के से यमक, या 'कविः कविं', 'पथस्पथः', 'धियं धियं' के से अनुप्रास इन चारों सूक्तों में हैं। 'वक्म राज सत्य' का त्रिपदी समास भी ऋजिष्वन् ने प्रयुक्त किया है। 'स्तीर्णे बर्हिषि', 'समिधाने अग्नौ' यह ऋजिष्वन् अपने महासूक्त से 'अस्मिन्नो अद्य विदथे यजत्रा विश्वेदेवा इह मादयध्वम्' की प्रार्थना करता है। चलिये, हम भी यहीं पर वामदेव-युग के सामने नत-मस्तक हो उसकी विदा लेते समय कहें 'नमस्ते'।

नवम प्रकरण

शौनक-युग

१. विश्वामित्र-युग से ऋग्वेद सूक्तों का आधार लेते-लेते हम शौनक-युग तक आ पहुंचे। यहां आरम्भ में ही गृत्समद शौनक से भेंट होती है। इस गृत्समद के विषय में कहा गया है कि यह पूर्व में आंगिरस कुलोत्पन्न शुनहोत्र का पुत्र था। परन्तु पीछे से यह भार्गव कुलस्थ शुनक नामक ऋषि का पुत्र हुआ। ऋग्वेद के प्रारंभ काल में शुनःशेप आजीगर्ति जैसा देवरात विश्वामित्र हुआ, उसी प्रकार से इस अंतिम युग में यह गृत्समद शौनहोत्र शौनक बनकर प्रसिद्ध हो गया। शुनःशेप का अपना नाम बदलने का कारण सुप्रसिद्ध है। परन्तु संपूर्ण वैदिक वाङ्मय में इस बात का कहीं पता नहीं चलता कि गृत्समद ने अपने कुल को त्याग कर दूसरे कुल को स्वीकार क्यों किया। इसके सूक्तों में भी इसके शौनकत्व का कहीं नाम निशान नहीं पाया जाता। इस पर से ऐसा कहा जा सकता है कि सूक्त-रचना संपूर्ण होने के पश्चात् ही इसने कुल बदल लिया होगा। एक गृत्समद के रुद्रसूक्त तथा मरुत्सूक्त का विचार भरद्वाज-युग प्रकरण में किया ही गया है। अतएव इसे द्वितीय गृत्समद कहना ही उचित होगा। इस द्वितीय गृत्समद के सूक्त प्रायः दूसरे मंडल में पाये जाते हैं। इनमें से प्रथम क्रमाँक १, २, ८, ९, १० के अग्निसूक्त और क्रमाँक ११ से २२ तक के इंद्रसूक्तों का ही विचार करना ठीक होगा।

२. अग्नि पर तथा इंद्र पर इसके पूर्व इतने सूक्त बन चुके थे कि उनके विषय में नये सूक्तकारों को कुछ नया कहने के लिये शेष ही न रहा था। इस अवस्था में केवल शब्दों के साथ खेलने के सिवाय वे कर ही क्या सकते थे? गृत्समद की भी वही स्थिति हुई और उसने वैसा ही किया। प्रथम सूक्त की प्रत्येक ऋचा में 'युष्मत्' शब्द का और विशेष कर उसके त्वं, त्वाँ, तव, त्वे इन रूपों का प्रयोग किया। इस सूक्त का सार केवल इतना ही है कि जो कुछ इस जगत् में है, वह अग्नि ही है। सारे देव तथा देवियां, मां, बाप, भाई, लड़का सब कुछ तू ही है—ऐसा गृत्समद के

शब्दों में कहते समय गणपत्य भर्व शीर्ष के 'त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रः' इत्यादि मंत्र की याद आती ही है। इसी सूक्त पर से ज्ञात होता है कि अग्निपरिचर्या करने के लिये एक विशेष प्रकार का कमरा बनाया जाता था जिसे 'दम' कहने लगे थे। गृत्समद 'सूरि' शब्द का उपयोग यजमान के लिये करता है और दक्षिणा देने वालों के साथ लेने वालों की भी रक्षा करने के लिये अग्नि से विनय करता है। क्र० ८, ९ और १० के सूक्त छोड़ अन्य सब सूक्तों के अंत में प्रायः 'बृहद्वदेम विदथे सुवीराः'—'सुवीर पुत्रों के साथ हम यज्ञ में खूब मंत्र पाठ करेंगे' यह चरण आता है। इसने अग्नि को 'सर्वश्री' यह नया विशेषण प्रदान किया है। जो स्थिति अग्निसूक्तों की वही इंद्र सूक्तों की। यहां ऋषि चुपके से कह देता है कि 'स्तवा नु त इद्र पूर्व्या महान्युत स्तवाम नूतना कृतानि'—हे इंद्रदेव, तुम्हारे पुराने महत्कृत्यों के साथ आधुनिक कृत्यों को भी हम बखानेंगे। इस कारण से इंद्र द्वारा पराभूत असुरों में नये-पुराने सारे ही नाम आ गये। ये नाम हैं—अर्बुद, रौहिण, नार्भर, तुर्वीति, दभीक, उरण, कुयव, स्वश्न, पिप्रु, नमुचि, रुधिक्रा, दभीति, चुमुरि और धुनि। इंद्र-रथ को सैकड़ों घोड़े जुते जाने का वर्णन पूर्व सूरियों ने किया ही था। पर गृत्समद प्रथम इस रथ का चतुर्युग, त्रिकश, सप्तरश्मि, दशारित्र शब्दों का श्लेषयुक्त अर्थात् द्व्यर्थ प्रयोग कर यज्ञ का अर्थ भी सुझाता है और बाद को दो, चार, छह, आठ, दस ऐसी दो-दो से बढ़ने वाले और उसके अनंतर बीस से लेकर सौ तक दस-दस से बढ़ने वाले घोड़े उस रथ को जोतकर आने की प्रार्थना करता है। अग्नि को द्वितीय भरद्वाज के 'अच्युत-च्युत्' शब्द से संबोधित करता है तो भार्गव कवि प्रयुक्त सोम का 'असमष्ट-काव्य' यहविशेषण भी अग्नि को प्रदान करता है। रथ का जैसा युग, कश, रश्मि, अरित्र इत्यादि तफसील से वर्णन करता है, वैसा ही रौहिण असुर को चत्वारिंश्यां शरदि' चालीसवें वर्ष में मारने का तफसील देता है। स्तोम को यह 'रुद्रिय' कहता है, सोम को 'अग्रणीति' और वाणी को 'धमनि'। सोमपान करने के बाद इंद्र अपनी मूंछों पर से हाथ फेरता है, यह स्वभावोक्ति-युक्त वर्णन गृत्समद द्वितीय ने ही प्रथम किया है। सार यह कि इसकी रचना कुशलतापूर्वक की हुई रहती है और यही कारण है कि इसके सूक्तों का पाठ करते समय वही वर्णन नव शब्दों के प्रयोगों से नया ही जान पड़ता है। यह इंद्र के पराक्रम कभी अध्वर्यु से ऋत्विजों को कहता है तो कभी सामान्य लोगों के सामने इंद्र के शौर्य-कार्यों का वर्णन करके कहता है कि 'स जनास इंद्रः'—हे लोगो

वह इंद्र है ।' कभी वृष शब्द की तीन-तीन ऋचाओं में आवृत्ति करेगा तो कभी ६४ अक्षरों के अष्टिवृत्त में या अतिशक्वरी नामक ६० अक्षरों के छंद में रचना करेगा । थोड़े में कहना हो तो कुछ नई पद्धति निकाल अपने सूक्तों को अलंकृत करने की इसकी रीति इसका काव्य कौशल दिखाती है ।

३. इसके पश्चात् जो २३, २४, २५, २६ क्रमाँक के सूक्त हैं, उनकी देवता है ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति। यह पूर्व में कहा जा चुका है कि ये दोनों देवताएं मूल में भिन्न थीं, आगे चलकर इन दोनों के गुण एक दूसरे के विषय में कहे गये और अंत में तो इंद्र के पराक्रम भी बृहस्पतिकृत ही माने गये। इस संमिलन से गृत्समद का काम सुलभ हो गया । चाहो तो बृहस्पति का गुण वर्णन करो, चाहो तो ब्रह्मणस्पति का और चाहो तब दोनों से एकरूप हुए इंद्र का । किंतु ब्रह्मणस्पति के इस सूक्त में गृत्समद के द्वारा एक ऐसे शब्द का प्रयोग हुआ जिसके कारण उसकी कल्पना भी न होते वैदिक धर्म के पुनरुज्जीवन के समय विद्वानों को एक नई ही देवता निर्माण करने में बड़ी सहूलियत हुई । यह शब्द पहली ही ऋचा के प्रथम चरण में आया है। ऋचा बड़ी प्रसिद्ध है और उसका आरंभ होता है—'गणानां त्वा गणपतिं हवा महे' चरण से। इस आवाहन से गणपति को मुख्य सम्मान मिला और मूल का बेचारा ब्रह्मणस्पति अंतर्हित हो गया । आज किसी कार्य के आरंभ में जब गणपति-पूजन होता है तो श्रीगणेश का आवाहन इसी वैदिक मंत्र द्वारा किया जाता है। यह सूक्त सचमुच है बड़ा सरस और सुरस भी । गृत्समद कहता है—हे देव, तुम 'सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनम्' सन्मार्ग से प्रथम लोगों को चलाते हो और फिर उनका रक्षण करते हो । हमारे साथ यदि कोई कुटिल व्यवहार करेगा तो 'स्वातं मर्मर्तु दुच्छुना हरस्वती'—'शीघ्रता के साथ बढ़ने वाली उसकी दुर्बुद्धि ही उसका नाश करेगी ।' विचार प्राचीन ही है, पर रखा गया है नये ढंग से जोरदार शब्दों में । आगे भी इसी प्रकार से कवि कहता है—'मा दुरेवा उत्तरं सुम्नमुन्नशन्'—कुमार्ग से चलने वाले पुरुष को उच्च विचार कभी न सूझें। गृत्समद पराधीन नहीं है। वह कहता है—नि कर्म मन्युं दुरेवस्य शर्धतः' दुराचार से वृद्धि प्राप्त करने वाले के विचारों को हम अपनी ताकत से हटायेंगे । अंत में वह कहता है—'विश्वं तद्भद्रं, यदवन्ति देवाः' देव जिन बातों की रक्षा करते हैं, वे सारी बातें कल्याणप्रद ही होती हैं। श्लेष अलंकार का उपयोग यह बड़ी चतुराई से करता है । पूर्व में यज्ञ और रथ दोनों अर्थों में प्रयुक्त विशेषण दिखाये ही

गये हैं । २४वें सूक्त में 'अश्मास्य' और 'मधुधार' ये दोनों शब्द दो अर्थों में सोम और अवत अर्थात् कूप के लिये प्रयुक्त हैं। 'अश्मास्य' अर्थात् 'जिसका मुँह का ऊपर का हिस्सा पत्थरों से बाँधा हुआ है' यह कूप के अर्थ में और 'पत्थरों से कूट कर निकाला हुआ' यह सोम के अर्थ में । ये दो शब्द ही नहीं, किंतु 'तमेव विश्वे पपिरे' यह वाक्य भी सुश्लिष्ट है। २५वें सूक्त में 'यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः' इस वाक्य की पुनःपुनः आवृत्ति कर ब्रह्मणस्पति जिसे-जिसे अपना मित्र बनाता है उसे जो-जो प्राप्त होता है, उसका वर्णन किया हुआ है। २६वें सूक्त में इस देव को 'देवानां पिता' कहकर 'श्रद्धामना' होकर इसका परिचरण करने को कहा है ।

४. इसी गृत्समद का क्रमाङ्क ३८ का सूक्त सवितृविषयक है । लम्बे हाथों वाला यह देव जगत् के कल्याण-हेतु अपने हाथ उठाता है। यह अपने हाथ जब समेट लेता है, तब 'मोकी' अर्थात् रात आती है । उसके आते ही 'अह्यर्षु' अर्थात् रेंगने वाले प्राणी बाहर पड़ते हैं, बुनने वाली अपने करघे पर फैला हुआ कपड़ा लपेटती है, कर्मकर अपना अधूरा काम भी वैसा ही छोड़ता है, अग्नि का तेज बढ़ता है, सभी 'मार्ताण्ड', अर्थात् पशु तथा पक्षी, अपने-अपने बसेरे की ओर जाते हैं। ऐसा सुन्दर वर्णन इस सूक्त में है। वामदेव के ऋभुसूक्त में 'ग्नास्पत्नी' शब्द देवस्त्रियों के अर्थ में उपयुक्त है, किंतु गृत्समद द्वितीय ने सवितृदेव को ग्नास्पति कहा है । इस सूक्त से यह बात सहज ही ध्यान में आती है कि इसमें सवितृदेव क्या करता है, इसके वर्णन की अपेक्षा उसके अंतर्हित होने पर जो होता है, उसी का वर्णन अधिक है। अश्विनौ देवों पर का क्रमाङ्क ३९वां सूक्त तो और भी मज़े का है। गृत्समद ने इस सूक्त में गुणवर्णन की एक नई ही रीति का अवलंबन किया है। सारा सूक्त उपमानों से भरा है। आठ ऋचाओं के इस सूक्त में पहली साढ़े छः ऋचाओं में ३१ उपमानों का प्रयोग है। इनमें ब्राह्मण से लेकर कुत्ते तक के उपमान हैं । गीध, चक्रवाक, इत्यादि पक्षी, हाथ-पैर, नाक, ओठ, कान, स्तन, आंखें इत्यादि अवयव ही नहीं, अपितु रथ के भी युग, नभ्य, उपधि, प्रधी इत्यादि भाग इसी रीति से प्रयुक्त हैं। ये सारी उपमाएं समाप्त होने तक, जिसके विषय में सूक्तकार कहता है उसका पता ही नहीं चलता। सातवीं ऋचा में कवि कहता है—"हे अश्विनौ, यह सारा मैं तुम्हारे ही विषय में कह रहा हूं" और इस प्रकार 'दीपक' अलंकार का प्रयोग करता है। ऐसी है इस गृत्समद की काव्य-कुशलता। 'खृगला', अर्थात् कवच के आगे के

तथा पीछे के भाग, 'क्ष्णोत्र' अर्थात् सान का पत्थर, इन नवीन शब्दों का भी इसने उपयोग किया है। अपनी कल्पनाशक्ति के आधार पर इसने 'सोमापूषणौ' देवताद्वंद्व को निर्माण कर आगे की चांद-सूरज की जोड़ी की मानो आधार-शिला ही रख दी है। इस नये देवता-युग्म पर है ४०वां सूक्त। वर्णन-पद्धति है वही तृतीय भरद्वाज की, जिसने ऐसे कई देवताद्वंद्व निर्माण किये थे। एकैक देवता का वर्णन अलग-अलग कर उन्हें जोड़ देना। सोम पृथ्वी पर ऊंचे स्थान में वास करता है तो पूषन् अंतरिक्ष में। कहीं-कहीं कुछ काम दोनों के मिलकर करने का भी निर्देश है। इस देवता-युग्म के रथ का वर्णन बड़ा ही अजीब है। 'सप्तचक्र' तथा 'पंचरश्मि' यह रथ 'विष्वृत्' होते हुए भी 'अविश्वमिन्व' है। अर्थात्, इसे चाहो जिधर घुमा सकते हो, पर चाहो वहां ले जा नहीं सकते। ऋभुओं का रथ इष्ट दिशा में घूमने वाला त्रिचक्र था। यह है उसी रथ-जैसा, पर सप्तचक्र है अर्थात् तीन-तीन पहिये दोनों ओर और एक आगे, ऐसे सात पहियों वाला है। अंतिम प्रार्थना में कहा गया है कि 'पूषा हमें बुद्धि दे और सोम धन दे।'

५. हमने देखा कि गृत्समद द्वितीय हमें 'श्रद्धामना' होकर ब्रह्मणस्पति की परिचर्या करने के लिये कहता है। श्रद्धा नामक विशिष्ट भावना की विचारणा पूर्व में कुत्स ने भी की थी। पर अब यह गृत्समद हमें मन में श्रद्धा रखने के लिये विशेष रूप से कहता है। इंद्र के भी 'नूतना कृतानि नये पराक्रम जब इसने वर्णन किये, तब भी वह कहने को न भूला कि 'श्रदस्मै धत्त' इसके विषय में श्रद्धा रखो। इन विशेष वाक्यों पर से ऐसा समझना अनुचित न होगा कि इन इंद्रपराक्रमों के विषय में संशय का उद्गम लोकमानस में होता चला था। जब तक कवि, कल्पना के आधार पर ही क्यों न हो, पर तर्क—शुद्ध तथा बुद्धिगम्य बातें कहता है, तब तक उसके विषय में किसी के मन में शंका ही नहीं उठती। तब ऐसा भी किसी को कहना नहीं पड़ता कि शंका के शिकार न बनो। किंतु जब बुद्धि या तर्क को न समझाने वाली बात कहने लगता है, तब लोगों के मन में शंकाएं उठती हैं और तभी उसे कहना पड़ता है कि श्रद्धावान् बनो, मन में श्रद्धा रखो। गृत्समद ने इंद्र के विषय में नई कथाएं ही गढ़ी होंगी, पर इस समय के कुछ अन्य सूक्तकारों ने यजुर्वेद की गाथाओं के आधार पर ऐसी अनेक कथाएं वर्णन कीं कि जिनके विषय में श्रद्धा का आधार लिये बिना चल ही न सकता था। भावुक लोग देवों को 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु'' समर्थ मानकर और श्रद्धा रखकर उन पर विश्वास

करने लगे। पर सभी लोगों द्वारा वैसा करना असंभव था। अतः ऐसी परिस्थिति निर्माण हुई कि एक तरफ संशय-शंका, तो दूसरी तरफ श्रद्धा। इसी परिस्थिति में वामदेव-कुल के एक ऋषि ने कुछ ऐसे सूक्त रचे जिन पर विश्वास रखने के लिये श्रद्धा के सिवाय दूसरा कुछ साधन ही न था। अतएव ऐसे ही कुछ सूक्तों का विचार करना अनुचित न होगा।

६. साम-निर्माता वामदेव से यह वामदेव भिन्न है। अतएव इसे द्वितीय वामदेव कहें। इसके पूर्वोक्त प्रकार के तीन सूक्त इंद्र पर चतुर्थ मंडल में ऋ० १८, २६ और २७ के हैं। १८वें सूक्त में गर्भस्थित वामदेव इंद्र से बोल रहा है। बीच में इंद्र की मां अदिति के भी वाक्य हैं। गर्भस्थ वामदेव इंद्र की भर्त्सना कर कहता है--'हे इंद्र, तुम्हें छोड़ कौन दूसरा 'पितरं पादगृह्य' मार कर 'मातरं विधवामचक्रत्'। जन्म के पूर्व ही कहता है कि 'बहूनि मे अकृता कर्त्वानि'—मुझे कई अकृत्य करने हैं और उन्हीं में से एक 'अवर्त्या शुन आंत्राणि पेचे'--खाने को कुछ न मिलने से मैंने कुत्ते की आंतों को पकाया।' अब बतलाइये, बिना श्रद्धा के इन बातों को सच कैसे माना जावे? २७वें सूक्त में वह फिर कहता है कि 'गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा'—गर्भ में ही मैंने देवों के सार जन्म जान लिये हैं। २६वें में वह कहता है--'अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः' और आगे ऐसा कहने से भी नहीं चूकता कि शंबर के ९९ पुरों का विध्वंस मैंने ही किया है। ऐसे सूक्त बनाने की यह प्रवृत्ति ऐसी बढ़ी कि अंभृण ऋषि की वाक् नाम की लड़की भी ऐसे सूक्त करने लगी। अपने १०-२५ क्रमांक के सूक्त में वह कहती है--'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि' 'अहमिंद्राग्नी अहमश्चिनोभा' 'यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि'। और तो क्या, 'परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना संबभूव'--इस आकाश के और इस पृथ्वी के परे मैं इतनी बड़ी हो चुकी हूं। और अन्त में सब पर तुर्रा लगाने के लिये कहती है कि 'श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि'—भले विद्वान् आदमी, सुन! श्रद्धा रखने योग्य ही मैं तुझे कह रही हूं। इस पर श्रद्धामना सायण लिखता है कि 'वाङ्नाम्नी ब्रह्मविदुषी परमात्मना तादात्म्यमनुभवंती सर्वजगद्रूपेणाहमेव सर्वं भवामीति स्वात्मानं स्तौति'। अर्थात् ऐसी वाग्देवी को श्रद्धापूर्वक नमस्कार दूर से ही कर अब अगली राह लें।

७. जिस द्वितीय वामदेव का विचार करते-करते थोड़े भटक गये, उसी के दो सूक्त चतुर्थ मंडल में क्रमांक ५५ और ५८ पर हैं। ५५वां सूक्त

विश्वेदेव-विषयक है। 'को वस्त्राता ?' तुम्हारी रक्षा करने वाला कौन है ? इस प्रश्न से आरम्भकर उत्तर के रूप में भिन्न-भिन्न देवों का वर्णन इस सूक्त में किया गया है। इसमें द्यावाभूमि के साथ अगस्त्यकल्पित 'अहि-बुध्निय' भी आया हुआ है। क्रमांक ५८ का इस मंडल का अंतिम सूक्त भी इसी वामदेव का है। सूक्त की अनुक्रमणिका है 'समुद्रादूर्मिरेकादशाग्नेयं जगत्यन्तं सौर्यं वाऽऽपं वा गव्यं वा घृतस्तुतिर्वा'—यह सूक्त अग्निविषयक है या सूर्य-विषयक है। अब्देवताओं की या गाय-बैलों की स्तुति इसमें होगी या घृतस्तुति भी इसमें की हुई होगी। सायण ने इसे मानकर 'समुद्रादूर्मिः' यह पहली ऋचा अलग-अलग अर्थ में है, ऐसा दिखलाया है। अंत में वह कहता है—'एवं सर्वमंत्रेषु तत्तत्पक्षानुसारेण योज्यम्'। लेकिन इस द्वितीय वामदेव ने इतने क्लिष्ट पदों का प्रयोग किया होगा, यह संभवनीय नहीं। बहुत ही हुआ तो यह कह सकते हैं कि इसकी हरएक ऋचा एक से अधिक अर्थ व्यक्त कर सकती है। 'चत्वारि शृंगा' इत्यादि ऋचा इसी में है। इसमें आये हुए चार, तीन, दो एवं सात संख्यावाचक शब्द जिन बातों के द्योतक हैं, वे बातें स्पष्ट नहीं हैं। फिर भी गोपथ ने अपने ब्राह्मण में 'चत्वारि शृंगा वेदा वा एते उक्ताः' ऐसा मानकर अथर्ववेद के चतुर्थवेदत्व के प्रमाण में यह विवरण 'तथा च श्रुतिः' कहकर प्रमाण मान लिया है। अग्नि पर इसे मान आज भी किसी होम के लिये अग्नि-स्थापना करते समय यही मंत्र कहा जाता है। अब चौथे ही मंडल के शेष दो सूक्त ४३ तथा ४४ के क्रमांकों का विचार कर इस मंडल से भी बिदा लेना है। इनके रचयिता हैं दो भाई पुरुमीढ और अजमीढ। किंतु यह अजमीढ हस्तिपुत्र तथा द्विमीढ-बंधु नहीं है। उन दो भाइयों में और इन दो भाइयों में कालदृष्ट्या बाईस पीढ़ियों का अंतर है। ये पुरुमीढ तथा अजमीढ द्वितीय जनमेजय के समकालीन पौरव सुहोत्र के पुत्र हैं। दोनों सूक्तों की देवता अश्विनौ ही है। दोनों में प्रश्न-पद्धति का ही स्वीकार किया गया है, जैसे 'क उ श्रवत्', 'को मृळाति', 'को वामद्याकरते' इत्यादि। दोनों में 'सूर्या-हरण' की कथा है और दोनों के अंत में 'इहेह यद्' ऋचा है।

८. गृत्समद द्वितीय के पुत्र का नाम था कूर्म। इसके तीन सूक्त द्वितीय मण्डल में क्रमांक २७, २८, और २९ पर हैं। प्रथम है आदित्यों पर, दूसरा है वरुण पर और तीसरा विश्वेदेवों पर। यजुर्वेद में 'मित्रावरुण' इत्यादि जो आठ अदिति-पुत्र अर्थात् आदित्य कहे गये हैं, उनमें से छः का निर्देश इस सूक्त में है। ये आदित्य दो बार 'धारपूत'—बहते पानी की धारा

के से शुद्ध कहे गये हैं। दूसरे विशेषणों में निषेध पर ही अधिक हैं। उदाहरणार्थ, अवृजिन, अनवद्य, अरिष्ट, अदब्ध, अनृक्षर, अस्वप्नज, अनिमिष ये सात विशेषण नकारात्मक हैं। इन आदित्यों को 'ऋणानि चयमाना' अर्थात् 'कर्जा वापस करनेवाले कहा गया गया है जिस पर से कर्ज की लेन-देन सूचित होती है। शर्मन् अर्थात् सुखकर 'दुष्परिहंतु' विशेषण नाश न होने वाले अविनाशी सुख की कल्पना सूचित करता है। 'पूर्व में लोग सौ साल जीयें।' ऐसा ही शतायु जीवन यह मांगता है। ग्यारहवीं ऋचा तो अत्यंत हृद्य है। ऋषि कहता है —'दायाँ-बायाँ, आगे-पीछे मुझे कुछ नहीं समझता। मूर्खता से हो या कायरता से, मैं तुम्हारी शरण में आया हूं। फिर भयरहित ज्ञान मुझे क्यों न मिले?' वरुणसूक्त भी अच्छे सूक्तों में गिना जा सकता है। सूक्त-कार के मत से तो यह 'विश्वानि सात्यभ्यस्तु मह्ना'—अपनी महत्ता के कारण सारे ही सूक्तों से बढ़ा-चढ़ा है। सूक्त में कहा है—'डोरी खींचकर जैसे किसी को पक्का बाँधते हैं, वैसे पाप के पाशों से मैं बंधा हूं। बछड़े को जैसी ढील देते हैं ऐसी ही ढील मुझे दो; बुद्धि का जाल जब मैं बुनता हूं तब उसके तंतु टूटने न पावें और कर्तव्य कर्म पूरा होने के पूर्व मेरा शरीर विकल न हो।" वरुण से इसकी विनय है कि वह इसके पास आते हुए एक घोड़े वाले छकड़े से न आवे। इसकी तेजस्विता दिखलाने वाला यह वाक्य देखिये—'माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्'—दूसरे काम करें और मैं निकम्मा उपभोग लूं, ऐसा मत होने दो। विश्वेदेव पर सूक्त की एक ऋचा पर ध्यान दीजिये। ऋचा में कहा गया है कि 'रहस्' अर्थात् छिपे-छिपे बच्चा जनने वाली जारिणी जैसे अपना पाप दूर फेंक देती है उसी प्रकार से मेरा पाप मुझ से दूर रहने दे। इन तीनों सूक्तों के अंत की 'माहं मघोनो वरुण' यह प्रार्थना और उसका यह विशेष भाग कि 'धनवान्, दाता और प्रिय संबंधी जनों के सामने भी अपनी दरिद्रता का दुखड़ा दिखाने का अवसर मुझ पर न आने दो' कूर्मऋषि की तेजस्विता और तड़प को भलीभाँति प्रदर्शित करता है।

९. लगभग इसी समय यज्ञ-विधि में एक बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। पूर्व में पशुयाग किये जाते थे, पर उनका प्रमाण इतना न था। मुख्य यज्ञ सोमयाग ही था। यही कारण था कि अब तक के सूक्तों में अपवादात्मक ऐसा गाथी कौशिक का ३-२१ क्रमांक का एक ही सूक्त मिला जिसमें 'मेद' की आहुति का स्पष्ट निर्देश है। इस समय जब पशुयाग और सोमयाग दोनों

मिलकर अग्निष्टोम में अंतर्भूत हुए, तब पशुयाग में रूढ़ देवताओं का समावेश 'वपाहोम' करने के पूर्व प्रयाजदेवता की संज्ञा से अग्निष्टोम में किया गया। ये देवताएं पूर्णतया कृत्रिम हैं। इनके नाम नीचे लिखे अनुसार हैं--

(१) समिद्ध—समिधाओं के हवन से प्रदीप्त अग्नि।

(२) तनूनपात्—अपने में से ही निकला हुआ अर्थात् मुख्याग्नि से से ली हुई अग्नि।

(३) इल—स्तुति की हुई अग्नि।

(४) बर्हि—यज्ञ-पात्र का आधारभूत दर्भों का अधिपति।

(५) दैवी द्वार—स्वर्ग-द्वार खुला रखने वाले दो दरवाजों के देव।

(६) उषासानक्त—उषःकाल तथा रात्रि के अभिमानी देव।

(७) दैव्य होता—देवों का यज्ञ करने वाले दो होता।

(८) भारती, इला, सरस्वती—यज्ञोपयुक्त तीन देवियां।

(९) त्वष्टा—यज्ञ-पात्र निर्माण करने वाला।

(१०) वनस्पति—यज्ञ-पात्र के साधनभूत वृक्ष का अधिपति।

(११) स्वाहाकृति—स्वाहाकार की अभिमानिनी देवता।

इन ग्यारह देवों का समूह प्रयाजदेवता के नाम से प्रसिद्ध है। इनके बिना पशुयाग हो ही नहीं सकता। इन्हें संतुष्ट करने के लिये जो सूक्त लिखा गया उसे 'आप्रीसूक्त' कहते हैं। पहला आप्रीसूक्त कश्यपवंश के एक ऋषि ने निर्माण किया। कोई इसे 'असित' नाम से पहचानते हैं तो किन्हीं के मत से यह सूक्त बनाया 'देवल' नामक ऋषि ने। रचयिता कोई भी हो, सूक्त का क्रमांक ९-५ है। इसकी प्रत्येक ऋचा में 'पवमान' शब्द आता है। इस पर से इन प्रयाजदेवताओं का सोम से संबंध जुड़ा रहना स्पष्ट है।

१०. अग्निष्टोम के लिये आवश्यक पूर्वोक्त ग्यारह देवताओं का समूह निश्चित हो जाने पर अन्य सूक्तकारों के भी आप्रीसूक्त तैयार हुए। इन सूक्तों में सबसे पहला आप्रीसूक्त क्रमांक २ तैयार किया मेधातिथि काण्व ने। प्रथम मेधातिथि काण्व के सूक्तों का कण्वयुग प्रकरण में विचार किया ही गया है। यह है दूसरा मेधातिथि। इसने केवल आप्रीसूक्त ही नहीं रचा, अपितु अग्निष्टोम में सोमचमस का हवन होने के पश्चात् ऋतु-याग करना आरंभ किया। यहाँ ऋतु शब्द मासवाचक है। प्रत्येक ऋतु देवता के साथ इसने एक-एक वैदिक देवता जोड़ दी। इन बारह देवों के नाम क्रमवार हैं। इंद्र, मरुत्, त्वष्टा, अग्नि, इंद्र, मित्रावरुणौ, ४ द्रविणोदा, अश्विनौ और अग्नि।

यह योजना भी कृत्रिम है। इस मेधातिथि के आप्रीसूक्त का क्रमांक है १-१३। ऋतुदेवता पर रचा हुआ सूक्त है १-१५ क्रमांक का। इन दो सूक्तों के अतिरिक्त इसका ऋभुदेवताओं पर भी १-२० क्रमांक का सूक्त है। ऋभु के प्रथित कृत्य—माता-पिता को तरुण बनाना, गाय, घोड़ा और रथ का निर्माण करना और एक चमस के चार बनाना इसमें भी दिये हुए हैं। सिवाय तीन और सात, ऐसे दो संख्यावाचक शब्दों का प्रयोग, वाच्यवस्तु का निर्देश न कर, जिसमें किया है ऐसी भी एक ऋचा इस सूक्त में पाई जाती है। अष्टम मंडल में भी क्रमांक २, ३२, ३३ के सूक्त इसी द्वितीय मेधातिथि के हैं। क्रमांक २ के सूक्त में 'शस्यमान उक्थ' और 'गीयमान गायत्र' शब्द अनुक्रम से ऋक् तथा साम के वाचक हैं। आगे भी 'गायत' तथा 'शंसत' ऐसी दो भिन्न क्रियाओं का उपयोग किया गया है। 'अश्रीर जामाता'—सजधज किये बिना जामाता, जैसे ससुराल आने को हिचकिचाता है, वैसा न करो, यह उपमा भी अच्छी है। बत्तीसवें सूक्त में इंद्र के दो नये शत्रुओं के नाम दिये हैं। ये हैं 'सृबिन्द' तथा 'अनर्शनि'। इसी सूक्त में कहा गया है कि ब्राह्मणों का ऋण इंद्र ही बाकी रहने नहीं देता। वृष शब्द का तेरह बार प्रयोग तीन ऋचाओं में मिलकर इसी सूक्त में किया गया है। यहीं पर इंद्र के मुख से कहलवाया गया है कि 'स्त्रिया अशास्यं मनः, उतो अह क्रतुं रघुम्'—स्त्रियों का मन काबू में नहीं रहता है तथा उनकी बुद्धि भी छोटी ही रहती है। इस पर से ज्ञात होता है कि समाज में स्त्री की योग्यता कम हो रही थी।

११. कण्व-कुल के ही अब प्रगाथ, इरिबिठि व त्रिशोक ऋषि के सूक्तों की चर्चा करें। जिन देवताओं पर ये सूक्त निर्माण हुए हैं, उनके विषय में एक नई बात भी इन तीनों के सूक्तों में नहीं पाई जाती है। प्रगाथ काण्व प्रगाथ घौर से भिन्न है। इस प्रगाथ के अष्टम मंडल में ६३, ६४, ६५ क्रमांक के तीन सूक्त हैं। इसकी विशेषता यही है कि इनमें शर्यणावत्, सुषोमा और आर्जीकीय इन तीन भौगोलिक स्थलों का निर्देश है और दुर्गह नामक राजा का ऐतिहासिक उल्लेख है। यह दुर्गह पूर्व में कथित दुर्गह से भिन्न है। इरिबिठि काण्व के तीन सूक्त उसी अष्टम मंडल में क्रमांक १६, १७, और १८ के हैं। इनमें अर्केभिः, सामभिः और गायत्रैः शब्दों से अनुक्रमवार यजुः, साम और ऋक् इनका अलग-अलग निर्देश है। निरर्थक शब्द प्रयोग—जैसे 'वृत्राणि वृत्रहज्जहि'—इसके सूक्तों में मिलते हैं। नये-नये शब्द बनाने का इसका

उत्साह स्पष्टतया ध्यान में आता है। २४ अक्षरों की एक गायत्री ऋचा में इसने शाचिगु, शाचिपूजन और आखंडल—इन तीन नये इंद्रवाचक शब्दों का प्रयोग कर आधी ऋचा भर दी है। इसका नाम जैसा कर्णकटु एवं उच्चारण क्लिष्ट है, वैसी सी कहीं-कहीं इसकी रचना भी क्लिष्ट है। 'अपने ही कुकर्मों से उसका नाश हो', इसे कहना हो तो यह कहेगा—'स्वैः प एवै रिरिशीष्ट युर्जनः'। मर्त्य मानवों को 'मृत्युबंधवः कह कर इसने अर्थसुलभता भी दिखाई है। त्रिशोक काण्व का सूक्त क्रमांक ४५ पर है। 'स्तोमंमिंद्राय गायत' कह कर यह सामगान सूचित करता है। अबधिर कहने पर भी निरर्थक 'श्रुत्कर्ण' शब्द का प्रयोग इसने भी किया है। कुरुसुति काण्व के समान यह भी इंद्र को बाणहस्त बनाता है और उसी का प्रयुक्त बाणवाचक 'बुंद' शब्द भी बाण के लिये प्रयोग करता है। उपहास करने वाले के लिये यह कहता है 'उपहस्वन्'। 'विश्वमानुष' शब्द भी इसी का बनाया हुआ है। 'आ त्वा रंभं न जिव्रयो ररंभा शवसस्पते'—'जैसे बूढ़ों को लकड़ी का सहारा, वैसे ही हमें तुम्हारा सहारा है, यह उपमा भी अच्छी है। कूर्म ऋषि के समान यह भी याचना करता है कि अपने ही लोगों के संमुख मुँह बिगाड़ने का या हाथ पसारने का अवसर मुझे न आवे।

१२. शौनक-युग का यह अंतिम कालखंड सबसे बड़ा है। इसमें बीस पीढ़ियां समाई हुई हैं। प्रथम-प्रथम की पाँच-सात पीढ़ियों में, अर्थात् वामदेव के सामगान-पद्धति निर्माण करने के काल से लगभग पन्द्रह पीढ़ियों तक—बुद्धिमान् लोगों का ध्यान नये-नये गान निकाल कर साम का विकास करने में ही लगा था। पर गायन में नये गान कितने निकाले जा सकते हैं? इस लिये उनकी वृद्धि थम गई और फिर सूक्तरचना की ओर ऋषिलोग झुके। पर यहाँ भी मैदान खाली तो था ही नहीं। नये-नये देव निर्माण करने का काम ठप्पा ही हो गया था। छंदों का पर्याप्त विकास हो चुका था। फिर बड़े-बड़े छंदों में काव्य-रचना करना इतना सुलभ भी न था। देवों के पराक्रमों में केवल कल्पना के आधार पर कितनी नई बातें जोड़ी जा सकती थीं? अतएव सूक्तकारों के पास जो कुछ शेष बचा वह था रचना-कौशल और आगे के सूक्तकारों ने विशेष रूप से यही किया। कुछ विषय उन्हें यजुर्वेद से प्राप्त हुए। उन दिनों यज्ञों का विकास खूब हो रहा था। नये-नये यज्ञ निकाले जाते थे और किये भी जाते थे। उनके लिये नई-नई गाथाएं भी निर्माण हुईं। परन्तु उनका उपयोग सूक्तकारों को अधिक न था। अतएव कहीं नये शब्दों की

निर्मिति करो, कहीं आलंकारिक भाषा का प्रयोग करो, तो कहीं वर्णन की रीति बदल दो, यही काम सूक्तकारों ने किया। ये सूक्तकार प्रायः पूर्व सूक्तकारों के ही कुल के होते थे या उनके ही नाते-रिश्तेदार होते थे। इनके नाम भी पूर्व के सूक्तकारों के नाम ही कई बार रहते। नये नामों में पौर्वापर्य-क्रम निश्चित करना आसान था। पर जब पुराने नाम फिर से आते थे तब उनका क्रम निश्चित करने के लिए अन्तः प्रमाण ही विशेषकर उपयुक्त होते थे। उन्हीं का उपयोग कर पूर्वापर-क्रम निश्चित किया है और उसी के अनुसार जब वे ही नाम फिर से आते हैं तो उन्हें पहला, दूसरा, ऐसे नाम देकर ही उनके सूक्तों का विचार किया है।

१३. इस समय एक नया सूक्तकार हो गया है इसका नाम है सव्य आंगिरस। इसने इंद्र पर सात सूक्त बनाये जो प्रथम मंडल में ५१ से ५७ तक के क्रमांक पर दिये हुए हैं। इंद्र के पूर्व के पराक्रम प्रसिद्ध ही थे। उनके विषय में लोगों को जानकारी भी थी। इसलिये उनका वर्णन करना ही पड़ता था। पर ऐसा करते हुए धीरे से उसमें एकाध दूसरा नया नाम घुसेड़ देना सुलभ था। वैसा करने में किसी का विरोध भी न होता था। इंद्र के हाथों अनेक असुर मारे गये थे। उनमें से प्रमुखों के नाम प्रसिद्ध ही थे। पर कुछ अप्रसिद्ध और अज्ञात ही थे। उनमें से एकाध को नया नाम देना कठिन था। सव्य ने तीन ऐसे नये नाम अपने सूक्तों में दिये हैं। ये हैं करेज, पर्णय तथा वंगृह।" ज्योतिषशास्त्र के विकास के साथ संख्याशास्त्र भी बढ़ रहा था। सव्य वर्णन करता है कि "असहाय सुश्रवा के साथ लड़ने के लिये जनराज्य के जो लोग आये थे उनमें से हे इंद्र, तुमने साठ हजार निन्यानवे लोग मार डाले। कुछ हजार सामान्य रूप से न कहकर बिलकुल ठीक ६००९९ का अंक देने के पश्चात् उसे काल्पनिक कहने की किसकी हिम्मत होगी? सव्य ऐसा ही वर्णन करता है। "त्रित जैसे परिधि को हटाता है वैसे ही तुमने बल को हटाया"—यह वर्णन, जिसे यजुर्वेद के एकत, द्वित और त्रित की कथा मालूम न हो, वह कैसे समझ सकता है? पृथिवी 'दशभुजी' अर्थात् दसगुनी हुई तब भी हे इंद्र, तुम्हारे पराक्रम उसे भर देंगे। सव्य की वर्णन-शैली इसी प्रकार की है। अनुप्रास-भरी शब्द-योजना देखना हो तो 'शक्राय शाकिने शचीवते' या 'वृषा वृषत्वा वृषभः' देखिये। 'दुर्गृभिष्वन्', 'अर्हरिष्वणि', 'मानुषप्रधन', 'हवनस्यद' ऐसे नये शब्द भी इसने बनाये हैं। 'आवृतासोऽवतासः' में यमक का भी उपयोग दीखता है। इसका "नीचे गिरने वाले पानी के समान, हे इंद्र, जब

तुम देने लगते हो तो कौन तुम्हें रोक सकता है।" पढ़ो और कहो कि कालिदास के 'क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्' की याद आती है या नहीं। कवि कहता है कि इंद्र की स्तुति बुरी हो ही नहीं सकती, क्योंकि 'न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते'—धन देने वालों की प्रशंसा बुरी होती ही नहीं।

१४. इसी अंगिरस् कुल के एक कुत्स का विचार अत्रियुग-प्रकरण के आरम्भ में किया ही गया है। अब उसी नाम का दूसरा कुत्स आंगिरस, जो इस युग में हो गया, उसके सूक्तों का अनुशीलन करें। प्रथम मंडल में ये सूक्त क्रमांक १०५, १०७ तथा ११० से ११३ पर दिये हुए हैं। दोनों सूक्तकार यद्यपि एक ही नाम के हैं तथापि इनके गणों में उत्तरी-दक्षिणी ध्रुव का सा अंतर है। प्रथम कुत्स के सूक्तों का रस-ग्रहण किया ही जा चुका है। अब इनका भी थोड़ा आस्वाद लें। १०५वां सूक्त है विश्वेदेव पर ध्रुव चरण है द्यावापृथिवी को संबोधन करने वाला,—'वित्तं मे अस्य रोदसी' हे द्यावा-पृथिवी, मेरा यह सूक्त समझ लो—'कहे खेत की, सुने खलियान की' उक्ति को चरितार्थ करता है। कवष ऐलूष का जो क्रमांक १०-३३ का सूक्त देखा जा चुका है उसी की दूसरी और तीसरी ऋचा का एक-एक चरण लेकर इसने आठवीं ऋचा बनाई है। 'कद्व ऋतं कदनृतं' प्रश्न पूछना और उत्तर न देकर ही कहना—'वित्तं मे अस्य रोदसी'। इसी की प्रयुक्त एक उपमा लेकर कहना हो तो इस सूक्तकार की स्थिति वास्तव में ही 'पृष्ट्यामयी तष्टेन' की सी हुई है। सुतार ने लकड़ी छीलना और पीठ दुखने पर ऊपर देखते हुए चुप बैठना, बिलकुल वैसी ही। इस सूक्त में जिन्हें 'अमी ये पञ्चोक्षणः' कहा है उन पाँचों की प्रार्थनारूप कवि कहता है—'तत्र इंद्रस्तद्वरुणस्तदग्नि-स्तदर्यमा तत्सविता च नोधात्।' नामों के अतिरिक्त है कुछ इस चरण में एक दूसरा चरण लिया प्रथम कुत्स का 'तन्नो मित्रो वरुणो मामहंताम्' और उसे जोड़कर की पूरी ऋचा। इस युग में इस कुत्स को रखने के लिये 'सामभिः स्तूयमानाः' ये शब्द पर्याप्त प्रमाण हैं। क्रमांक ११०, १११, ११२वें सूक्त हैं ऋभुदेवों पर तथा अश्विनौ पर, और ११३वां सूक्त है मरुद्विषयक। पर वहाँ भी यही हाल है। पहले दो हैं ऋभु पर—'मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः'। इनके वर्णन में तो जो स्थिति हुई है वह स्वयं कवि ही वर्णन करता है—'ततं मे अपस्तदु तायते पुनः'—जो पहले ही फैला है उसे ही फिर से फैलाना है। केवल शब्दों की खाल निकालना है, छीलना है। क्रमांक १११ का सूक्त पाँच

ऋचाओं का है, पर वहाँ ऋभुओं से छः बार छीलने का काम कराया गया है। ११२वें अश्विनौ-सूक्त की भी वही हालत है। अश्विनौ ने जो कृपा पूर्वक काम किये, उन्हीं को दुहराना और कहना कि 'ताभिरूषु ऊतिभिरश्विनाऽऽगतम्'—वही रक्षण करने के कृपायुक्त कार्य लेकर तुम दोनों यहाँ आओ।

१५. द्वितीय नोधस् गौतम के सूक्त भी दूसरे कुत्स के से ही हैं। ये सूक्त प्रथम मंडल में ६१ से ६४ क्रमांक दिये हुए हैं। प्रथम तीन की देवता है इंद्र और चौथे की है मरुत्। द्वितीय कुत्स ने अश्विनौ के सूक्त में सूक्त भर जैसी 'याभिः' पद से आरम्भ होने वाली ऋचाएं रचीं, उसी प्रकार इस द्वितीय नोधस् ने अपने प्रथम इंद्र सूक्त में 'अस्मा इदु' या 'अस्येदु' से आरम्भ होने वाली ऋचाएं बनाईं। 'गिरश्च गिर्वाहसे', 'पितुं पपिवान्', 'दाशुषे दशस्यन्' ऐसी ही नहीं, अपितु 'तुर्वीतये तुर्वणिः' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया। देव-पत्नियों को बुनने का काम इसने दिया और यजुर्वेद के आधार पर विष्णु के द्वारा धन चुराकर 'अद्रिमस्ता' वज्र फेंकने वाले इंद्र से वराह को मरवाया 'ऋचीषम्', तत्सिन,' 'गूर्तश्रवस्', 'कियेधाः' ऐसे नये शब्द निर्माण कर अपने सूक्त को 'आंगूष' नाम दिया और ऐसे आँगूष की रचना कर 'सद्योभुवद्वीर्याय शीघ्र ही पराक्रमी बन गया। अपने दूसरे इंद्रसूक्त को यह केवल 'आँगूष' अर्थात् उच्च स्वर से कहने योग्य ही नहीं कहता, अपितु उसे 'आंगूष्य साम' नाम देता है। चतुर्थ ऋचा में 'स सुष्टुभा स स्तुभा सप्त विप्रैः' रचकर अनुप्रास के साथ यमक भी साधता है। तीसरे इंद्र-सूक्त में प्रत्येक ऋचा का आरम्भ 'युष्मत्' शब्द की किसी विभक्ति से कर ऐसा दिखलाता है कि मानों वह इंद्र से स्वयं बोल ही रहा है। इसके सूक्त में कृत्रिम रचना पाई जाती है। 'आपो न पीपयः परिज्मन्', 'भूमिं' पिन्वन्ति पयसा परिज्रयः या 'पिशा इव सुपिशः' इत्यादि इसके उदाहरण-स्वरूप हैं। इसका ८-८८ क्रमांक का सूक्त भी ऐसा ही है।

१६. मांदार्य मान्य अगस्त्य का समय भी लगभग यही है। इसलिये उसके सूक्तोंकी भी चर्चा यहीं करना उचित होगा। केवल मान्य अगस्त्य के १९ सूक्तों का विचार वामदेव युग-प्रकरण के अंत में किया जा चुका है। अतएव अब केवल शेष सूक्तों को ही देखना है। इनमें तीन संवाद-सूक्त हैं। १६५ क्रमांक के सूक्त में मरुतों को देखकर इंद्र उन्हें कुछ प्रश्न करता है और वे भी कुछ पूछते हैं। ये काल्पनिक प्रश्नोत्तर आपस में होने के पश्चात्

१३वीं ऋचा में एकदम यह अगस्त्य उपस्थित होता है और मरुतों से कहता है कि 'को न्वत्र मरुतो मामहे नः'—"हे मरुत्, तुम्हारी स्तुति करने वाला यहां है ही कौन ? मैं ही हूं और इसी लिये तुम्हारी स्तुति कर रहा हूं। इसे सच समझो और मेरी ओर आओ।" इस प्रकार का है इस सूक्त का स्वरूप। १७०वें सूक्त में यह ऋषि इंद्र से ही बातें करता है। यहां निरुक्तकार की ऐसी कल्पना है कि 'अगस्त्यः इंद्राय हविर्निरूप्य मरुद्भ्यः संप्रदित्सांचकार'। तब इंद्र वहां आया और कहने लगा कि क्या ऐसी अपूर्व बात कभी हुई है ? कभी हुई भी नहीं और होगी भी नहीं। एक को न्यौता दिया और दूसरे को समर्पण। तब अगस्त्य समझाता है—'भ्रातरो मरुतस्तव।' अतएव क्रोध न करो, मैं तुम्हें भी दूंगा। ऋतु-ऋतु में तुम स्वयं सेवन करो। 'ऋतुधा' पर मेधातिथि के ऋतु-याग की याद दिलाता है। तीसरा संवाद १७९वें सूक्त में है—यह हुआ है अगस्त्य और उसकी स्त्री लोपामुद्रा में। कई साल ब्रह्मचर्य से रहने के पश्चात् वह अगस्त्य से कहती है—'ये चिद्धि पूर्वे ऋतसाप आसन् 'समूनु पत्नी वृषभिः जगम्युः'। उसके ऐसा कहने पर अगस्त्य कहता है—'न मृषाश्रान्ते यदवन्ति देवाः'—'देव जिसकी रक्षा करते हैं उसके श्रम व्यर्थ नहीं जाते' और वह उसकी इच्छा पूरी करता है। एकांत में हुआ यह संभाषण एक अगस्त्य-शिष्य के कानों पर पड़ता है और वह अपनी भावना व्यक्त करता है। यहीं सूक्त भी समाप्त होता है। ऐसे हैं यह काल्पनिक संवाद।

१७. मांदार्य अगस्त्य के प्रथम मंडल में क्रमाङ्क १६६, १६७ और १६८ के तीन सूक्त मरुद्वर्णन पर हैं। तीनों सूक्तों में मिलकर मरुतों का बहुत ही सुन्दर वर्णन है। पौरुष युक्त गठीले दण्डों में और पैरों में कड़े, हाथों में और छाती पर डोलने वाले अलंकार सोने के, कंधों पर पक्षियों के पंखों के साथ फैले हुए मृगचर्म, पास भाला, हाथ में तलवार, पास ही बालों का जूड़ा बांधकर बैठी हुई रोदसी, गोद में खेलने वाले बालकों के समान रखे हुए मधुघट, ऐसा मनोहर वर्णन मांदार्य ने किया है। कुछ उपमाएं भी बड़ी मनोवेधक हैं। रथ में डोलने वाली स्त्री और हवा में हिलने वाले खेत का सादृश्य बड़ा ही हृद्य है। "मरुतों की तलवार जब पास रखी रहती है, तब वह गृहकार्य करने वाली स्त्री के समान शांत होती है; पर जब वही स्त्री सभा में जाकर धड़ाधड़ बोलती है तो उसी स्त्री के समान यह तलवार भी युद्ध में खनखनाती है"—कितनी सुन्दर है यह उपमा ! साथ ही स्त्री की घर में शांतचित्तता पर सभा में उद्दण्डता सुझाती है कि गृहकार्य-व्यस्त स्त्रियां भी

सभा में वाद-विवाद करती थीं। अनुप्रास देखना हो तो 'क्रीलंति क्रीलाः', 'महान्तो मह्ना', 'गायद्गाथ', 'विवक्मि वक्वः' ऐसे दिखते हैं। 'क्रिविर्दती' 'पुरुप्रैष', 'विषितस्तुका', 'पृथुज्रयी', इत्यादि नये शब्द भी मिलते ही हैं। दो-तीन जगह जान पड़ता है कि अंत्ययमक जमाने की चेष्टा भी की है। मरुतों का महत्त्व मांदार्य अगस्त्य ने इतना बढ़ाया कि 'इंद्रश्च न त्यजसा विह्रुणाति तज्जनाय यस्मै सुकृते अराध्वम्'--इनका दिया हुआ छीनने में इंद्र भी समर्थ नहीं हो सकता। क्रमांक १८८ पर इसका ग्यारह प्रयाज देवताओं पर बनाया हुआ आप्री सूक्त भी है। जान पड़ता है कि इसे अथर्व मंत्रों का भी ज्ञान था। क्रमांक १९१ पर इसका जो सूक्त है वह विषम समझा गया है। उसमें अनेक विषैले जीवों और विषम औषधियों के नाम हैं।

१८. ऊपर जिस द्वितीय नोधस् के सूक्तों का विचार किया गया है, उसीका पुत्र 'एकद्यु' नाम का था। इसके समय इंद्र सूक्तों में बाढ़-सी आई थी। इसी के साथ आंगिरस कुल का नृमेध, तिरश्ची, सुकक्ष, नृमेध-पुरुमेध की जोड़ी, पुरुहन्मन्, और कण्व कुल का कुसीदी और गोषूक्ति, अश्वसूक्ति की जोड़ी, इतने लोगों ने इंद्र पर सूक्तरचना की। इनके क्रमांक अष्टम में ८०, ९८, ९९; ९६, ९५; ९३, ९२; ९०, ८९; ७०; ८२, ८१; १५, १४ हैं। नमने के लिये एकद्यु का एक ही गायत्री-चरण देखिये। एक बार है—'त्वं न इंद्र मृलय' तो दूसरी बार है—'स त्वं न इंद्र मृलय'। नृमेध कहता है—'इंद्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्' तो तिरश्ची कहता है—'एतो न्विंद्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना।' सुकक्ष अपने ९३ क्रमांक के सूक्त में अवभृथ-दिन का उल्लेख करता है। अग्निष्टोम का यह अंतिम सोम-याग के विकास को निर्दिष्ट करता है। अपने भाई पुरुमेध के साथ फिर से नृमेध वही कहता है—'बृहदिंद्राय गायत'। विद्माहि त्वा तुविकूर्मिं तुविदेष्णं तुवीमघम्। तुविमात्रमवोभिः।' यह उक्ति कुसीदी काण्व की रचना का उदाहरण हो सकती है। गोषूक्ति तथा अश्वसूक्ति काण्वायन इंद्र के विषय में नई बात इतनी ही कहते हैं कि 'अपां फेनेन नमुचेः शिर इंद्रोदवर्तयः।' शेष इन सूक्तों में कुछ भी नहीं मिलता और बाद में कुछ नई भली बात मिले भी कैसे ? वहां हाथ लगेगा कूड़ा और करकट।

१९. इस काल-विभाग में जिन सूक्तों की रचना हुई, उनमें इंद्रसूक्तों की अपेक्षा अन्य देवताओं पर जो सूक्त बने वे कुछ अच्छे हैं। इनमें अग्नि के दो, ८-७१ तथा ७४; अश्विनौ के दो ८-७३,४२; विश्वेदेवों के दो

८-२९,८३ और आदित्यों के एक ८-६७ सूक्त की रचना हुई। आंगिरस कुल के सुदीति तथा पुरुमीढ, दोनों ने मिलकर रचे एक अग्निसूक्त में एक विशेष प्रार्थना अग्नि से यह की गई है कि वह 'दुराध्य' आदमी से न मिलावे। दुराध्य और दुराराध्य एक ही अर्थ के दो शब्द हैं। ऐसे आदमी का उल्लेख प्रथम इसी सूक्त में किया गया है। हमेशा बुरा ही सोचने वाले आदमी से संग होना अर्थात् जान के साथ ही खेलना है। इसलिये ऐसे आदमी से दूर रखने की प्रार्थना विशेष महत्व रखती है। गोपवन आत्रेय का क्रमांक ८-७४ का सूक्त काल-निर्णय की दृष्टि से उपयुक्त है। इसमें आर्क्ष श्रुतर्वन् राजा का निर्देश है। इस राजा ने इस ऋषि को चार अच्छे घोड़े दान दिये थे। श्रुतर्वन् का पिता ऋक्ष यह पौरव कुल का दूसरा ऋक्ष था। यह अयोध्याधीश हिरण्यनाभ तथा द्विमीढ-वंशज कृत राजा का समकालीन था। सामगानों का विकास लगभग पूरा हो चुका था। इसलिये इन्हीं दो नृपालों ने सामसंहिता तैयार कराई। इनका काल महाभारत-युद्ध के पूर्व बारह-तेरह पीढ़ी का था। इसी गोपवन आत्रेय का ८-७३ क्रमांक का सूक्त अश्विनौ-विषयक है। इसका ध्रुव चरण है—'अंतिषद्भूतु वामवः'—तुम दोनों के द्वारा हमारी रक्षा अच्छे कामों के लिये शीघ्र हो।' रचना शिथिल ही है। एक ऋचा का आरम्भ 'आ नो गव्येभिरश्व्यैः' से होता है तो एक का 'मा नो गव्येभिरश्व्यैः' से। अर्चनाना आत्रेय ने अश्विनौ-विषयक क्रमांक ८-४२ के सूक्त में नाभाक ऋषि का 'नभन्तामन्यके समे' यह ध्रुव चरण जोड़ दिया है। कश्यप मरीचि का और कुसीदी काण्व का एक-एक सूक्त विश्वेदेवों पर है। प्रथम में किसी देवता का नाम लेकर उसके विषय का सूचक शब्द ही प्रयुक्त है। जहाँ वज्र शब्द है वहाँ इंद्र सूचित होता है। 'त्रीण्येक उरुगायो विचक्रमे' शब्दों से विष्णु तथा जलाषभेषज से रुद्र इ०। कुसीदी काण्व का ८-८३ सूक्त अत्यंत साधारण है। ८-६७ के मत्स्य सामंद ऋषि ने अपने सूक्त में जाल में फँसे हुए मत्स्यों द्वारा आदित्य से प्रार्थना कराई है कि वह उन्हें उस जाल से छुड़ावे।

२०. अभी कहा ही गया है कि हिरण्यनाभ तथा कृत नरेशों ने साम-संहिता का चयन कराया। यह संहिता तैयार होते ही यजुर्वेद का विचार करने वालों ने सारे यजुर्मंत्र एकत्र कर अपनी संहिता तैयार की। इस यजुर्वेद संहिता में यज्ञोपयुक्त सारे गद्यमंत्र, उनके लिये या उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मों के लिये कल्पित गाथाएं तथा हवनकर्म के लिये बनाये हुए

पादबद्ध मंत्र, इन सबों का समावेश किया हुआ था। इस संहिता में छंदोबद्ध मंत्र बहुत कम थे। इन याजुष कर्म करने वालों ने सूक्तकर्त्ता ऋषियों के सारे देव लिये ही थे, किंतु उनके साथ कई नई देवताओं की निर्मिति भी की थी। यज्ञ-समय निश्चित करने के लिये युग, वर्ष, ऋतु, मास, पक्ष इत्यादि बातें तो निश्चित की ही थीं, पर चंद्रकला दिखती न दिखती है ऐसे दर्श दिन को चन्द्र दिखे तो 'सिनीवाली' और न दिखे तो 'कुहू' का विशिष्ट नाम भी दिया था। इन्हीं विद्वानों ने कृत्तिका से आरम्भ कर सारे नक्षत्र भी निश्चित किये थे और चन्द्रमा के एक-एक दिन उनके साथ दिखने पर से कई कथाओं की भी कल्पना की थी। ज्योतिष-ज्ञान की इस प्रगति को आगे के सूक्तों का विचार करते समय ध्यान में रखना आवश्यक है।

२१. देखा जा चुका है कि इस समय सूक्तकारों की प्रिय देवता इंद्र थी। इस कारण कुछ ऋषियों ने भी इंद्र नाम धारण किया था। वसिष्ठ-कुल के एक ऐसे इंद्र के और उसके पुत्र-पौत्रों के सूक्तों का अब विचार करना है। इस इंद्र का सूक्त दसवें मंडल में ३८वाँ है। इस सूक्त का रचयिता भी इंद्र नामक ऋषि है और सूक्त-विषयक देवता का भी नाम इंद्र ही है। अपने हेतु लड़ने के लिये यह इंद्र को बुलाता है और अंत में कहता है कि 'मेरे बुलाते हुए क्या किसी कुत्सित पुरुष ने तुम्हें मुष्क बाँध कर रखा है?' मुष्क अर्थात् वृषण किसी कुत्सित ने इंद्र को पकड़ रखा हो या न हो, इस मुष्क शब्द ने ऋषि को पकड़ रखा और लोग इसे मुष्कवान् इंद्र ही कहने लगे। इसके दो पुत्र थे—विमद तथा वसुक्र। विमद ऐंद्र के सात सूक्त हैं—दसवें मंडल में २० से २६ क्रमांक तक। इनमें दो हैं अग्नि-विषयक, तीन इंद्र-विषयक और एक-एक है सोम तथा पूषन् पर। २०वें सूक्त का आरम्भ एक-एकपदा विराट् छंद से होता है—'भद्रं नो अपि वातय मनः।' जिसका अर्थ है—'हमारे मन को शुभ कर्म की ओर प्रवृत्त करो।' इसने अग्नि को दो नये नाम दिये—'कृपनील' तथा 'भासाकेतु'। अग्नि का एक रथ ही श्वेत, कृष्ण या शोण है, ऐसा इसने कहा है। अर्थ स्पष्ट है कि अग्नि इन तीन रूपों में दिखता है—धूम्राच्छादित कृष्ण, ज्वालायुक्त शोण और अत्यंत प्रदीप्त श्वेत। पर श्रद्धामना सायण भाष्य करता है कि 'एकस्यैव रथस्य नानारूपत्वं अग्नेः सामर्थ्यातिशयेन संभवति'। दूसरे सूक्त का छंद है छंदः शास्त्र के अनुसार 'आस्तार पंक्ति', अर्थात् प्रथम दो चरणों की अक्षर संख्या आठ और अंतिम दो चरणों की बारह। किंतु यह रचना पूर्णतया कृत्रिम जान पड़ती

है। हर एक ऋचा अनुष्टुप् छंद की जान पड़ती है किंतु तीसरे और चौथे चरणों के अंत में 'वि वो मदे' तथा 'विवक्षसे' अनुक्रम से चिपकाये हुए स्पष्ट दीखते हैं। २२वां सूक्त है 'पुरस्ताद्बृहती' नामक छंद में, जिसमें प्रथम चरण द्वादशाक्षरी और आगे के तीन चरण अष्टाक्षरी होते हैं। २३वां सूक्त है 'अभिसारिणी' छंद का। इसमें पहले दो चरणों में दस-दस अक्षर रहते हैं और अंतिम दो चरणों में बारह-बारह। २४वें सूक्त की प्रथम तीन ऋचाएं आस्तार पंक्ति छंद में हैं और वहाँ भी 'वि वो मदे' तथा 'विवक्षसे' चिपके हुए हैं। इसकी भाषा पूर्ण रूप से बोल चाल की है। 'कुहुश्रुतः', 'नकिर्विदाय्यः', 'वयं वयं', पिब पिब', 'तत्तादिदस्य पौंस्यम्' इस प्रकार की सरल है यह। २५वां सोमसूक्त उसी प्रकार के 'आस्तारपंक्ति छंद में है। २६वां पूषन् देवताविषयक है। यह ऋषि सोमपान के बाद इंद्र के समान पूषा से भी मूंछे पोंछवाता है। इसमें नये शब्द हैं कार्पाण, नक्षत्रशवस्, प्सुर इत्यादि। अंधे-लंगड़े की कथा तथा कक्षीवत् ऋषि का निर्देश ध्यान में रखने लायक है।

२२. इसी विमद का भाई है वसुक्र। इसके तीन सूक्त विमद सूक्तों के बाद ही क्रमांक २७, २८, २९ के हैं। २७वें सूक्त में इंद्र के मुख से ही उसके पराक्रमों का वर्णन कराया है। बैल पकाने का यहां स्पष्ट उल्लेख है। टांग पकड़ नीचे पटकने का इंद्र-पराक्रम जैसा द्वितीय वामदेव ने बखाना, उसी प्रकार का वर्णन यह इंद्र भी 'प्रतं क्षिणां पर्वते पादगृह्य' शब्दों से स्वयं करता है। आगे वह कहता है कि "जो मेरे साथ न लड़कर जनाना मर्दों से लड़ना चाहता है उसके पास का धन मैं न लड़ते ही छीन लेता हूं।" इन पराक्रमों में केवल दर्प की बू आती है पर आगे के इंद्र पराक्रम छायावादी कविता के से गूढ बन गये हैं। 'पत्तो जागार'—पैर से खाता है; सात वीर नीचे से, आठ ऊपर से, नौ पीछे से और दस आगे से पैदा करता है; और ये 'पीवानं मेषमपचन्त वीराः'। अंत-अंत में ऐसा बन गया है यह सूक्त। २८वें सूक्त में इसी प्रकार कल्पना को और भी बढ़ाया है। वसुक्र-पत्नी है इंद्र ऋषि की स्नुषा। किंतु यह स्वयं को इंद्रदेव की ही स्नुषा समझती है और कहती है—"सब यज्ञ में जब उपस्थित हुए, तब केवल मेरे ससुरजी ही क्यों न आये? वे भी आवें, खीलें खावें, सोम पीवें और फिर अपने घर जावें।" उसकी इच्छानुसार इंद्र आ पहुंचता है और उसकी वसुक्र के साथ बातचीत होती है। बहू ने खीलें ही खाने के लिये कहा पर पुत्र 'पचन्ति ते वृषभान् अत्सि तेषाम्' कहता है और इंद्र को अपने कृत्य ठाठ से कहता है—"मैं

पानी को प्रवाह के विरुद्ध बहाता हूं, हिरन से सिंह को और लोमड़ी से वन-वराह को भगाता हूं।" दोनों--इंद्र तथा वसुक्र, की अपने-अपने पराक्रम कहने में मानों होड़ लगती है। अंत में इंद्र कहता है—"थोड़ा आदमी का सा बोल और मुझे हविर्भाग दे।' २९वां सूक्त उस इंद्र के विषय में हैं जो 'नृणां नर्यो नृतमः' है। वसुक्र गर्व के साथ कहता है--'आकाश में चील उड़ती है पर उसका ध्यान पेड़ पर बनाये घोंसले में रखे बच्चे की ओर होता है। उसी प्रकार मेरे स्तोत्र की ओर इंद्र का ध्यान है।" इंद्र का ध्यान खींचा जावे, ऐसा स्तोत्र में तो कुछ नहीं है। पर वसुक्र था इंद्र का लड़का और लड़के की 'तोतली बातें' भी पिता का मन आकर्षित करे तो कुछ कहना नहीं है।

२३. वसुक्र का पुत्र था वसुकर्ण। वसुकर्ण वासुक्र के विश्वेदेव-विषयक दो सूक्त १०-६५ तथा ६६ हैं। यह कहा ही गया है कि विश्वेदेव-विषयक सूक्तरचना बड़ी सुलभ होती थी। किसी प्रकार का बंधन नहीं। किसी नई देवता की कल्पना सूझी तो उसका भी समावेश करने को कोई प्रत्यवाय नहीं। इन दोनों सूक्तों में तब तक जितने निर्मित देव थे—ऋजिष्वा भारद्वाज के 'पर्जन्यावाता' भी लेकर--उन सभी देवों को स्थान मिला है। और तो क्या, प्रयाज देवताओं में से 'दैव्या होतारौ' तक का समावेश हुआ है। परन्तु इस ६५वें सूक्त में दो बातें बिल्कुल नई दी हुई हैं। अश्विनौ ने विमद को जो पत्नी मिला दी थी, उसका नाम 'कमद्यु' था--यह एक नई बात कही। दूसरी बात है 'अज एक पाद' नामक एक नये देव का ही निर्देश। यदि अकेले अज एकपाद का कहीं वर्णन है तो वह इसी सूक्त में है। अन्यत्र सर्वत्र वह अहिर्बुध्निय के साथ ही आता है। जान पड़ता है कि यजुर्वेद के 'तं सूर्यं देवमजमेकपादम्' इस मंत्रपाद पर से जिसे जन्म नहीं और जो एक ही पैर से घूमता है ऐसे सूर्य पर ही यह देवता आधारित है। दूसरे ६६वें सूक्त की छठी ऋचा में वृष शब्द आठ बार पुनरुक्त है। ऐसा कहने में बाधा नहीं कि पुनरुक्ति के लिये सूक्तकारों को वृष शब्द बड़ा सुविधाजनक था। दोनों सूक्तों के अंत में पूर्वज वसिष्ठ का स्मरण है और उसी के प्रिय ध्रुवचरण से सूक्तों की समाप्ति की हुई है। कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि यह चरण है—'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः'।

२४. विश्वेदेव का अर्थ ही है सारे देव, देवों का समूह। इसमें इस बात का विचार ही नहीं किया जाता कि इनकी संख्या कितनी हो। इन सारे देवों में सर्वसाधारण सामान्य गुण एक भी नहीं। इतना ही कह सकते हैं कि

ये सारे देव हैं और सूक्तकार का भला करने का सामर्थ्य सब में है। इन पर लिखे गये सूक्तों की संख्या भी बड़ी है। इसलिये इन पर के सारे सूक्त 'विश्वा सूक्तानि' की दृष्टि से देखना अनुचित नहीं। व्यक्तिगत सूक्तदृष्टि से देखने लायक जो था वह बहुत सा देखा ही जा चुका है। इसलिये भिन्न-भिन्न ऋषियों के मंडलों में दिये हुए पर इसी कालखंड में रचे हुए सूक्तों का एकत्र ही विचार करें। इसमें १२ सूक्त समाविष्ट किये गये हैं।

(१) द्वितीय मंडल–क्रमांक ३०, ३१, ३२, ४१ द्वितीय गृत्समद रचित ४.
(२) तृतीय मंडल–क्रमांक ५४, ५५, ५६ प्रजापति वैश्वामित्र रचित। ३
(३) पंचम मंडल–क्रमांक ४१, ४२, ४३ आत्रि भौम रचित। ३
,, –क्रमांक ४५ सदापृण आत्रेय विरचित। १
–क्रमांक ४६ प्रतिक्षत्र आत्रेय रचित। १

कुल १२

२५. अब क्रमपूर्वक इनकी विशेषताओं की ओर ध्यान दें। द्वितीय मंडल के तीनों सूक्त एककर्तृक ही हैं। द्वितीय गृत्समद कहता है––सूक्त रचना करते समय 'न मा तमन्न श्रमन्नोत तंद्रन्' मुझे थकावट नहीं मालूम होती, मुझे श्रम भी नहीं होते या आलस भी नहीं आता। 'इंद्रो हन्ति वृषभं शण्डिकानाम्' में निर्दिष्ट शंडिक यजुर्वेदोल्लिखित शंड नामक असुर पुरोहित से संबद्ध जान पड़ते हैं। विश्वेदेवों में इसने उषासानक्ता और इला नामक प्रयाज देवताओं को भी स्थान दिया तथा अहिर्बुध्न्य और अज एकपाद को भी। राका-सिनीवाली के साथ कुहू को भी इसने 'गुंगू' नाम दिया और शुनहोत्र कुल का भी उल्लेख किया। प्रजापति वैश्वामित्र ने ५४वें सूक्त में 'बंधुपृच्छा' अर्थात् भाई बंदों को पूछने वाला उनकी खबर लेने वाला, इस नये शब्द का प्रयोग किया है। ५५वें सूक्त में महदेवानामसुरत्वमेकम्'––देवों का यह एक बड़ा सामर्थ्य है, ऐसा ध्रुव चरण रखा है। ५६वें सूक्त में त्रिशब्द अनेक संज्ञाओं के साथ लगाकर भाष्यकारों को अपनी-अपनी कल्पना जमाने के लिये स्थान दिया है। पंचम मंडल के भौम अत्रि के सूक्तों में कण्व तथा औशिजों के होता का निर्देश है। यहीं वास्तोष्पति के साथवन तथा पर्वतों को भी देवताओं में स्थान दिया गया है। 'वस्त्रदा' शब्द गोदा, अश्वदा के साथ केवल यहीं प्रयुक्त है। 'मेधा' यहाँ एक देवता मानी गई है। शमिता नाम का

ऋत्विज यह सुझाता है कि पशुयाग रूढ़ हो चुका था । सदापृण के सूक्त में नदियों को 'खादो अर्णाः' बाद के प्रवाह से तट को खा डालने वाली कहा है। देवशुनी सरमा का यहाँ स्पष्ट.निर्देश है। प्रतिक्षत्र ने अपने सूक्त में विश्वदेव-गण में देवपत्नियों के नाम देकर उनका निर्देश किया है। इंद्र की स्त्री इंद्राणी, अग्नि की अग्नायी, अश्विनौ की अश्विनी और वरुण की वरुणानी। यहाँ जिस रोदसी शब्द का प्रयोग है वह यास्क के मत से रुद्रपत्नी का वाचक है। संदर्भ के अनुसार यह अर्थ हो सकता है, पर उस स्थिति में वह अंतोदात्त होना चाहिये था। किन्तु शाकल पदपाठ में वह आद्युदात्त और द्विवचनी दिया हुआ है।

२६. द्वितीय गृत्समद ने विश्वेदेवों में कुछ आप्री देवताओं का समावेश तो किया ही पर साथ ही उसने एक स्वतंत्र आप्री सूक्त की भी रचना की। इस सूक्त में उसने तनूनपात् को छोड़ दिया और उसके स्थान में 'नराशंस' नाम की अग्नि रखा। यह सूक्त गायत्री छंद में न रचकर उसने त्रिष्टुप् और जगती छंद में बनाया। प्रयाज देवताओं में अंतिम स्वाहाकार अग्नि की ऋचा घृत शब्द से पूर्ण है। 'घृतं मिमिक्षिरे घृतमस्य योनिर्घृते श्रितो-घृतमस्य धाम' है इसका पूर्वार्ध। ऋतुदेवताओं पर जो सूक्त हैं उसमें देव-ताएं वही हैं। पर इंद्र, मरुत्, त्वष्टा, अग्नि, इंद्र तथा मित्रावरुणौ इन पहले छहों पर है ३६वां और बाकी छह अर्थात् ४ द्रविणोदा, अश्विनौ और अग्नि पर है ३७वां। ऋतुदेवताएं एवं दो सूक्तों में विभाजित हुई हैं। 'अपां नपात्' देवता का पूर्व में विचार हो चुका है। पर केवल उसी पर रचा हुआ सूक्त इसी द्वितीय गृत्समद का है। इसमें प्रायः प्रति ऋचा में 'अपांनपात्' शब्द आया ही है। स्वाहाकार ऋचा में जैसा घृत शब्द आवृत्त हुआ है वैसा ही इस अपांनपात् सूक्त की दसवीं ऋचा में 'हिरण्य' शब्द आगे लिखे अनुसार आवृत्त है—हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक् अपांनपात् सेदु हिरण्यवर्णः। हिरण्ययात्परि योनेर्निषद्या हिरण्यदा ददात्यन्नमस्मै। प्रथम गृत्समद के सूक्तों की 'विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः' से जैसी समाप्ति होती है, उन्हीं शब्दों से वैसी ही समाप्ति इस अपां नपात्सूक्त की भी है। प्रथम गृत्समद ने श्रद्धामना होने के लिये कहा ही है। इस द्वितीय गृत्स-मद के समय तक वह श्रद्धा शकुनापशकुनों के विषय में भी स्थिर हो गई थी। शकुन शब्द ऋग्वेद में पक्षि के अर्थ में अनेक बार आया है। पर कुछ भविष्य की बात सुझाने वाले शकुन शब्द से बना हुआ शकुनि शब्द इसी

द्वितीय गृत्समद ने चालू किया। इसके समय शकुनि शब्द दक्षिण दिशा में 'सुमंगल' माना जाता था। कुत्ते का एकसा भूंकना या मेंडकों का एकसा डरांव-डरांव सुनकर जैसी वसिष्ठ को सूक्तरचना की प्रेरणा हुई, वैसी ही इस द्वितीय गृत्समद को 'जनुषं प्र ब्रुवाणः' आगे की बात सुझाने वाला,' कनिक्रदत्' फिर-फिर से शब्द करने वाला शकुनि देखकर हुई। ऋषि अपने २-४२ सूक्त के आरम्भ में ही कहता है कि यह पक्षी मेरी वाणी को वैसी ही प्रेरणा दे रहा है जैसी नाव खेने वाला नाव को देता है। यहाँ यह भी बतलाया गया है कि दक्षिण दिशा पितरों की है। इस शकुनि के शब्द दो प्रकार के रहते थे—उद्गाता के सामगायन के समान या ब्रह्मपुत्र ब्राह्मणाच्छंसी के मंत्रपठन के समान। ब्राह्मणाच्छंसी ऋत्विज का भी निर्देश यहीं पर प्रथम आता है। ऋषि के दूसरे और दूसरे मंडल के अंतिम सूक्त में ऋषि कहता है—'भाई शकुनि, बोलना ही हो तो मंगलकर बोल। चुप रहना हो तो हमारे विचार हमारे बोलों से समझले और यदि 'कर्करि' वाद्य का सा शब्द कर उड जाना हो तो वैसा करो ताकि हम यज्ञ में ठीक तरह से मंत्र कह सकें।'

२७. द्वितीय गृत्समद के सूक्तों का विचार करते-करते हम महाभारत युद्ध के आठ-दस पीढ़ियां पूर्व तक पहुंचते हैं। इसके आगे का एक दो पीढ़ियों का समय संहितीकरण में गया होगा। हिरण्यनाथ तथा कृत ने सामसंहिता और याज्ञिकों ने यजुःसंहिता तैयार की हुई देखकर सूक्तकारों को भी अपने सूक्तों का संहितीकरण होने की इच्छा होना अस्वाभाविक न था। यह काम करने के लिये दक्षिण पांचाल देश का ब्रह्मदत्त नामक राजा सिद्ध हुआ। ब्रह्मदत्त का विद्याभ्यास एक जिगीषु ऋषि के जैगीषव्य नामक पुत्र के पास हुआ था। यह शब्द केवल गृत्समद के ही सूक्त में आता है जिस पर से दोनों को समकालीन मानना अनुचित नहीं जान पड़ता। जैगीषव्य के दो पुत्र थे जिनके नाम संख्य और लिखित थे। संख्य ने ऋग्वेद के पद गिनने का प्रयत्न किया था और लिखित ने ऋक्सूक्तों को लेखबद्ध करने का। ब्रह्मदत्त को इन गुरुबंधुओं के उद्योगों की जानकारी थी। अतएव उसने इन्हें बुलाकर अपना विचार इनके सामने रखा और उनके पास जो साधन थे वे उनके पास से प्राप्त किये। ब्रह्मदत्त के दो मंत्री भी बहुत विद्वान् थे। इसमें से एक ने यजुःसंहिता तैयार करने में सफलता प्राप्त की थी और इसीलिये उसके काण्डरीक नाम के साथ अध्वर्यु पद जुड़ा हुआ था। ऋग्वेदसंहिता का यह तीसरा संस्करण था। यह पूरा होने के बाद काण्डरीक को द्विवेदी भी कहने लगे। दूसरे मंत्री

का नाम था गालव बाभ्रव्य। इसने पदों पर से क्रमपाठ तैयार किया और पुराणसंहिता भी तैयार की। ब्रह्मदत्त के समय अयोध्याधीश था अग्निवर्ण। इस समय जो पुराणवंशावलि लिखी गई उसमें रघुवंश का अंतिम राजा अग्निवर्ण ही होगा। संभव है कि इसी पुराणसंहिता के आधार पर कालिदास ने रघुवंश लिखा होगा और इसीलिये अग्निवर्ण वर्णन पर ही उसने रघुवंश वर्णन समाप्त किया होगा।

२८. उस समय संहितीकरण का कार्य सुलभ न था। इसकी कठिनता की कल्पना आज यदि इस प्रकार की संहिता करने का विचार करें, तो सहज ही में हो सकेगी। किसी एक ही कवि का काव्यसंग्रह करना हो तो भी उसमें कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं। और फिर भी किसी न किसी दृष्टि से वह सदोष रह जाता है। आधुनिक किसी कवितासंग्रह को देखने से पूर्वोक्त कथन की सत्यता प्रतीत हो सकती है। फिर जिस समय वर्तमानकालीन सुविधाएं प्राप्त न थीं, तब यह काम कितना कठिन हुआ होगा? इसकी कल्पना करना भी कठिन है। ऊपर इस काम के लिये एक दो पीढ़ियों का काल लगा होगा ऐसा जो कहा गया है उसका कारण केवल वर्तमान सुविधाओं का अभाव था। प्रथम तो संहितीकरण की वार्ता ही सबके पास पहुंचाना कठिन था। ऋषिवर्ग प्रायः बड़े यज्ञों में एकत्र होते थे। अतएव ऐसे किसी यज्ञ के समय यह वार्ता कही गई होगी। और वहीं से यह खबर चारों ओर फैली होगी। खबर पहुंची भी तो उन सूक्तों को ब्रह्मदत्त के पास कैसे पहुंचाया जावे। सूक्त मुखपाठ रखने वाले ब्रह्मदत्त के पास पहुंचे और उन लोगों ने अपने सूक्त सुना भी दिये तब भी सुनने वाले उसे तत्काल याद थोड़े ही कर लेते होंगे। अतएव यह मानना अनिवार्य है कि संहितीकरण के पूर्व वे सूक्त लिखित रूप में विद्यमान थे। हम लोगों को इतने पुराने समय लेखन क्रिया अवगत न थी, यह मानना भी कठिन है। क्योंकि यदि लेखन अज्ञात ही होता तो ब्रह्मदत्त के एक गुरुबंधु का 'लिखित' नाम ही कैसे रूढ़ होता? अतएव यह मानना नितांत आवश्यक है कि कुछ लोग लेखन क्रिया जानते थे और उनके द्वारा लिखित रूप में ही ब्रह्मदत्त के पास वे सूक्त आये थे। फिर सारे सूक्त लिखित रूप में किसी एक के पास तो थे ही नहीं। क्योंकि यदि वैसा होता तो संहितीकरण करने का काम ही क्या था। इसलिये यही मानना पड़ेगा कि भिन्न-भिन्न गोत्रों में या कुलों में जो सूक्तकार हो गये, उनके संग्रह उस गोत्र या कुल में होंगे और ये ही सारे लिखित संग्रह

ब्रह्मदत्त के पास एकत्र हुए होंगे। संग्रह एकत्र होने की इस क्रिया में ही एकाध पीढ़ी का काल लगना असंभव नहीं।

२९. पुनश्च ऐसा तो मान ही नहीं सकते कि जैसे-जैसे सूक्त प्राप्त होते गये, उनका किसी प्रकार का वर्गीकरण किये बिना केवल एकत्र करने से संहितीकरण हो गया होगा। किसी भी प्रकार का हो पर वर्गीकरण परम आवश्यक था। सहजरीति से ही जिन गोत्रों या कुलों के लोगों ने सूक्त लाये थे उन्हीं गोत्रों के आधार पर वर्गीकरण किया गया होगा। ये सात कुल थे— शौनक, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ और कण्व। अतएव 'आरम्भ का वर्गीकरण इन्हीं नाम के सात मंडलों में किया जाना अधिक संभवनीय है। शौनक कुल के सूक्तकार उस समय अर्वाचीन होने के कारण थोड़े ही थे। इसलिये उनकी सूक्तसंख्या भी कम थी। अतएव उसी को प्रथम क्रमांक देकर साधारण सूक्त संख्याओं के अनुसार मंडल बनाये गये। फिर सोम सूक्त एक ही वर्णन पर होने के कारण अलग निकाल कर उनका अलग आठवां मंडल बना होगा। यह दूसरा वर्गीकरण। इसके बाद जो गोत्र ऋषि न थे पर व्यक्ति की राशि से सूक्तकार नाम से प्रसिद्ध थे और जिनके सूक्तों की ऋचाओं की संख्या ७० से अधिक थी उनका एक नया मंडल बनाया। ७० की संख्या निश्चित करने का कारण कदाचित् यह होगा कि उनके पास जो सूक्त आये थे, उनमें सबसे लंबा सूक्त ५८ ऋचाओं का था। इसलिये ७० और उससे अधिक ऋचाओं की रचना करने वालों का अलग मंडल बनाना सुविधाजनक था। ये नौ मंडल होने के बाद जो छोटे-मोटे सूक्त बचे उनका एक विविध मंडल बनाया गया और यह दशमंडली संहिता बनी। प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में यह केवल अनुमान है। परंतु 'अकरणान्मंदकरणं श्रेयः' मानना ही पड़ेगा।

३० ब्रह्मदत्त के समय जो संहितीकरण हुआ वह तीसरा था पर अंतिम न था। अंतिम संस्करण हुआ महाभारत युद्ध के पश्चात् कृष्ण द्वैपायन की देख-भाल में। किंतु उसका आधार थी यही दशमंडली संहिता। ब्रह्मदत्त कालीन संस्करण के पश्चात् कौन-कौन से सूक्त उसमें मिलाये गये इसका निर्णय करके फिर उनका विचार किया जावेगा। अभी केवल उन्हीं सूक्तों का विचार करना है जो ब्रह्मदत्त के पास आये। संहितीकरण की वार्त्ता प्रसृत होते ही अनेक भले-बुरे सूक्त प्रसिद्ध होने के लिये आये होंगे। इनमें कुछ छोटे तो कुछ बड़े, कुछ प्राचीन देवों के विषय में तो कुछ नवीन कल्पनाओं से भरे, कुछ अपने नाम पर से सूझे हुए तो कुछ पूर्वजों के नाम से किये हुए,

कुछ उच्च विचारों से पूर्ण तो कुछ केवल मनोरंजक संवाद पर होंगे। किंतु ये सारे दो एक पीढ़ियों के समय के ही होने के कारण इनमें कालानुक्रम को महत्व न देते हुए केवल विषयानुसार ही उनका विचार करना सुविधाजनक होगा। इनमें कुछ सूक्त ऐसे आये थे कि आगे के वर्णनकारों को उनकी कम ऋक्संख्याओं की दृष्टि से हो या उनके विषयों की दृष्टि से हो उन्हें क्षुद्र सूक्त कहना पड़ा। अतएव प्रथम इन क्षुद्र सूक्तों का विचार कर, दूसरे सूक्तों की ओर बाद को देखना ही उचित होगा।

३१. इन क्षुद्र सूक्तों में इंद्र के हैं दस। क्रमांक (१०-१३१) यह कक्षीवत् नामधारी ऋषि के सुकीर्ति पुत्र का बनाया हुआ है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने में जो असुविधाएं होती हैं उनका वर्णन यह ऋषि इंद्र को सुनाता है। यह कहता है—'नहि स्थूर्यृतुथा यातमस्ति नोत श्रवो विविदे संगमेषु' समयानुसार कहीं छकड़ा भी नहीं मिलता तो कहीं नदियों के संगम पर खाना भी नसीब नहीं होता। जान पड़ता है कि इस समय सूक्तकार पुराने नाम ही धारण करते थे। ऐसे एक यौवनाश्व माँधाता का और उसी के साथ कुछ ऋचाओं की रचना करने वाली गोधा नामक स्त्री का बनाया हुआ १०-१३४ क्रमांक का सूक्त है। सात ऋचाओं का यह सूक्त महापंक्ति नामक अर्थात् आठ-आठ अक्षरों के छः चरणों के छंद में है। इसकी आखरी डेढ ऋचा गोधा की है। आखरी दो चरण हैं—'भद्राजनित्र्यजीजनत्, देवी जनित्र्यजीनत्'—जिस इंद्र की मैं स्तुति कर रहा हूं उसे देवी जनित्री, भद्रा जनित्री ने जन्म दिया है। १०-१३८ के औरव अंग के सूक्त में उषोदेवी द्वारा अपना रथ फेंक देने का निर्देश है। इसी में सूर्य को 'मासां विधानः' कहा है जिस पर से प्रतीत होता है कि सूर्य पर से मास निश्चित करने तक ज्योतिषशास्त्र का विकास उस समय हो चुका था। इसी मंडल के १४४, १५२, १७१वें सूक्तों में ऋषियों के केवल नाम सूक्त में गुंथे हुए हैं। इससे अधिक इनमें कुछ नहीं। क्रमांक १४७, १५३ और १८० के सूक्तों में तो यह भी विशेषता नहीं है। प्रथम तीन सूक्तों के ऋषि हैं तार्क्ष्य सुपर्ण, सुवेदस् शैरीषि और पृथु वैन्य। १५२ और उसके आगे के तीन सूक्त बनाये हैं शास भारद्वाज ने 'इंद्रमातरः' नाम की स्त्रियों ने, इट भार्गव ने तथा जय ऐंद्र ने। १०-१७९ का सूक्त है तीन ऋचाओं का और इसके रचयिता भी हैं तीन ऋषि जिनके नाम हैं—औशीनर शिबि, काशिराज प्रतर्दन तथा रौहिदश्व वसुमनस्। बड़ा नाम, ज़रा सा कामवाली दशा है। पर इन सूक्तों पर से यह भली-भाँति ज्ञात होता है कि कैसी शीघ्रता

से सूक्त संग्रहार्थ आ रहे थे ।

३२. छुटपुटे इन सूक्तों में विश्वेदेव विषयक सूक्त हैं छह और उतने ही हैं अग्निविषयक । विश्वेदेवों पर सात ऋचाओं का १०-१३७ सूक्त बनाया है अनुक्रम से भरद्वाज, कश्यप, गोतम, अत्रि, विश्वामित्र, जमदग्नि और वसिष्ठ नामक सात ऋषियों ने । यह सप्तर्षिगणना एकदम नई है । १०-१४२ का सूक्त बनाया है शृंग नामक ऋषि के चार पुत्रों ने जिनके नाम हैं जरिता, द्रोण, सारिसृक्क तथा स्तंबमित्र और जिनमें से प्रत्येक ने दो-दो ऋचाएं रची हैं । एक बिलकुल नयी उपमा यहां मिलती है। नाई जैसा बाल काटते-काटते सिर साफ मूंडता है, इसी प्रकार अग्नि की सहायता से वायु खेतों को साफ कर देता है । १४१वें सूक्त का ऋषि है तापस अग्नि नाम का पर सूक्त का विषय है विश्वेदेव । १५७ तथा १८१वें सूक्तों में भुवन आस्य तथा प्रथ वासिष्ठ ने अपने नाम की छाप सूक्तों में रख दी है। १८१वें सूक्त की तीनों ऋचाओं का तीसरा चरण है—'धातुर्द्युतानात्स-वितुश्च विष्णोः' । १६७वें सूक्त के रचयिता हैं विश्वामित्र जमदग्नि के नामधारी दो ऋषि । १४०वां बनाया है पावक अग्नि नामक ऋषि ने । इसकी देवता भी अग्नि है और श्लेष के सहारे ऋषि का नाम भी इसमें ग्रथित है । १०-१५६, १८८, १८७ अग्निपुत्र केतु, श्येन व वत्स के किये हुए हैं। १८७वें सूक्त में 'स नः पर्षदति द्विषः' चरण ध्रुव रूप में आया है । १५०वां सूक्त मृलीक वासिष्ठ का है और पावक अग्नि के समान इसने भी श्लेषयुक्त अपना नाम सूक्त में गूंथ दिया है । इस सूक्त की चौथी तथा पांचवी ऋचा 'उपरिष्टाज्ज्योतिः' छंद की अर्थात् तीन द्वादशाक्षरी और चौथा अष्टाक्षरी ऐसे चरणों की है। १६३वाँ सूक्त रचा है ब्रह्मा नामक ऋषि के 'रक्षोहा' नामक पुत्र ने । सूक्त भी है 'रक्षोहा' अग्निविषयक ।

३३. इसी सूक्तसमूह में सूर्य पर हैं १५८, १७० और १८९ क्र० के तीन सूक्त और सवितृदेव पर है १३९वाँ एक । प्रथम दो के रचयिता ऋषि हैं सूर्य नामक ऋषि के दो पुत्र जिनके नाम हैं चक्षु और विभ्राट्। दोनों ने अपने सूक्तों में क्रम से चक्षु और विभ्राट् शब्दों का अनेक बार उपयोग किया है। तीसरा १८९वाँ सूक्त बनाया है सार्पराज्ञी नामक स्त्री ने । सूक्त है तीन ही ऋचाओं का पर इसका उपयोग यजुर्वेद में गार्हपत्याग्नि की स्थापना करते समय किया जाता है। सवितृ देव पर विश्वावसु देवगंधर्व कहलाने वाले ऋषि का सूक्त है जिसमें भी विश्वावसु शब्द का प्रयोग कई जगह किया गया है। वायुदेव पर भी दो सूक्त हैं १६८ तथा १८६ क्रमांक के । दोनों के रचयिता

हैं वात नामक ऋषि के दो पुत्र अनिल और उल। प्रथम सूक्त में वायु का स्वाभाविक वर्णन है कि 'घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपम्'—इसका केवल आवाज सुनाई देता है पर इसका रूप नहीं दिखाई देता। १८६वें सूक्त की यही विशेषता है कि उसमें कुछ भी विशेष नहीं। इसी समूह में १३६ क्रमांक का सूक्त थोड़ा मजेदार है। रचने वाले हैं सात। इनके नाम हैं जूति, वातजूति, विप्रजूति, वृषाणक, करिक्रत, एतश और ऋष्यशृंग। हर एक की रची हुई एक-एक ऋचा मिलाकर बना है यह सप्तर्च सूक्त। इनके पिता का नाम है 'वातरशन'। ये सातों अपने को मुनि कहलाते हैं। इनके सूक्त की देवता एक न होकर तीन है जिन्हें केशिन् कहा गया है। यह संज्ञा दी है अग्नि, वायु और सूर्य को। इसमें थोड़ा छायावाद—गूढ़ गुंजन है। पत्नी के लिये यहाँ उपयोग किया है 'विष' शब्द का, जो इस अर्थ में अप्रयुक्त ही है। इसी सूक्त में पृथ्वी को कहा गया है 'कुनंनमा'।

३४. मित्रावरुण, बृहस्पति, अश्विनौ, उषस्, तार्क्ष्य तथा यम देवताओं के विषय में एक-एक क्रम से १३२, १८२, १४३, १७२, १७८ तथा १३५ क्रमांक के सूक्त हैं। मित्रावरुण का सूक्त रचा है शकपूत नार्मेध ने। पूर्वोल्लिखित नृमेध आंगिरस का यह पुत्र जान पड़ता है। इसने अपने सूक्त में नये-नये छंदों का प्रयोग किया है। प्रथम छंद का नाम है न्यंकुसारिणी। इसमें द्वितीय चरण रहता है बारह अक्षरों का और अन्य तीन होते हैं अष्टाक्षरी। द्वितीय तथा षष्ठ ऋचा है प्रस्तारपंक्ति छंद में। तीसरी, चौथी तथा पाँचवीं ऋचा का छंद है विराट्। अंतिम है महासतोबृहती। इसमें प्रथम दो चरण १२ अक्षरों के रहते हैं और आगे के तीन चरण आठ-आठ अक्षरों के। अतिम ऋचा में यह नृमेध ऋषि का निर्देश करता है जिस पर से यह नृमेध पुत्र होने की संभावना पुष्ट होती है। बृहस्पति पर १८२वां सूक्त बनाया है बृहस्पति नामक ऋषि के तपुर्मूर्धा नामक पुत्र ने। अपना तथा पिता का दोनों नाम इसके द्वारा सूक्त में ग्रथित किये गये हैं। अश्विनौ का १४३ क्रमांक का सूक्त बनाया है संख्य के अत्रि नामक पुत्र ने। अश्विनौ पर कक्षीवान् के सूक्त प्रसिद्ध थे ही। उन्हीं के आधार पर अत्रि तथा भुज्यु को बचाने की बात इस सूक्त में भी दी गई है। संवर्त आंगिरस् का १७२वाँ सूक्त उषस् देवता पर है। यह ऋषि उषस् को अपनी बहन का अंधेरा दूर करने वाली कहता है और उषःकाल को नाम देता है 'जारयन्मखः'—यज्ञ संपादन करने वाला। तार्क्ष्य सूक्त १०-१७८ तार्क्ष्य ऋषि के अरिष्ट नेमि पुत्र का है। पिता पुत्र दोनों नाम सूक्त ग्रथित

हैं। कुमार यामायन का यम सूक्त १३५वें क्रमाँक का है। यह कहता है कि इसने अपने मन से एक ऐसा रथ बनाया था जो एकदण्ड था और जिसमें पहिये नहीं थे। इसने यह भी कहा है कि यम को संतुष्ट करने के लिये 'नाली' नाम का वेणुवाद्य बजाया जाता था। सायण ने इस सूक्त का अर्थ विकल्प से 'न-चिकेतस्' पर किया है।

३५. इसी सूक्त वर्ग में दो सूक्तों का विषय सोमरस निकालने के लिये जिन पत्थरों का उपयोग करते थे उन पर है। ये ग्रावस्तोत्र कहलाये जाते हैं। दोनों के कर्त्ताओं का संबंध सर्प नामक जाति से है। १०-७६ का सूक्तकार है सर्पजाति का जरत्कर्ण नाम का इरावत पुत्र तो १०-१७५ के रचयिता का नाम है सर्पजाति का ही किंतु ऊर्ध्वग्रावा अर्बुद पुत्र। दोनों में 'ग्रावाणः' सोम कूटने के पत्थरों की स्तुति है। प्रथम सूक्त की ५वीं ऋचा में अंत्य यमक है। यह चारों चरणों में है। दूसरे सूक्त की चारों ऋचाओं में 'ग्रावाणः' पद आया है। अरण्य की देवता अरण्यानी अर्थात् महारण्य। इस पर भी देवमुनि ऐरमंद का एक सूक्त है जिसकी रचना बड़ी सुन्दरता से की हुई है। इसका क्रमांक है १०-१४६। ऋषि कहता है—'इधर वृषारव नाम का कीडा शब्द करता है तो उधर चिच्चिक नाम का प्राणी मानों उसे जवाब दे रहा है। इधर कोई गाय को बुला रहा है तो उधर कोई खाड-खाड लकड़ी काट रहा है। मीठे-मीठे फल खाकर यहाँ यथेच्छ रह सकते हैं। कृषकों के बिना ही चाहो उतना खाना देने वाली यह अरण्यानी सचमुच पशुओं की माता है।' १०-७६ सूक्त में ऋभु-स्तुति है। कर्त्ता है ऋभु नामक ऋषि का ही सूनु नामक पुत्र। ऋभु शब्द यहाँ सहजरूप से ही आता है। और एक काम नामक ऋषि की लड़की थी जिसका नाम था श्रद्धा। इसने श्रद्धा पर ही एक सूक्त लिख श्रद्धा रूप भावना की भरपूर भलाई बखानी है। इस १०-१५१ के क्रमाँक के सूक्त में इस ऋषिका ने श्रद्धा को चढ़ाया है 'भगस्य मूर्धनि'—सब भली बातों के सिर पर। यह कामपुत्री कह रही है कि श्रद्धा की उपासना मन के दृढ़ संकल्प से की जाती है। अंत में कामना है कि सुबह, दोपहर या शाम सदा ही हम श्रद्धायुक्त रहें।

३६. ऐसी कामना करते-करते लोग ऐसे श्रद्धावान् बन गये थे कि सर्व सामान्य समझ हो चुकी थी कि मंत्रों के प्रभाव से जो चाहो वह प्राप्त किया जा सकता है। इसी कारण इस समय ऐसे सूक्त रचे गये जिनसे सौत स्त्री, शत्रु पुरुष और तो क्या निर्धनता, तथा क्षयादि रोग और दुःस्वप्न का भी नाश हो

सके। सौत का नाश करने वाले सपत्नीनाशन दो सूक्त हैं १०-१४५ तथा १४९। दोनों स्त्रियों ने ही बनाये हैं। एक की ऋषि का नाम है इंद्राणी। यह एक ओषधि खोदती है और उसकी प्रार्थना करती है कि 'सपत्नीं में पराधम पतिं मे केवलं कुरु। फिर उस ओषधि को पति के सिरहाने रखकर उसकी प्रार्थना करनी होती है कि 'मामनु प्रते मनो वत्सं गौरिव धावतु। पथा वारिव धावतु।' यह है सपत्नीनाशन विधि। दूसरा सूक्त बनाया है एक दूसरी स्त्री ने जिसका नाम है पौलोमी शची। इस सूक्त से नित्य सूर्य की प्रार्थना की जावे तो सौत का नाश होता है। सूक्त की मुख्य प्रार्थना है 'ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत्'—सेहाना अर्थात् सौत को परास्त करने वाली मेरी ही इच्छा के अनुसार पति बरताव करे। इस मंत्र से यह स्त्री 'सपत्नीरभिभूवरी' सौत को जीत लेती है। शत्रुनाशक सूक्त का क्रमांक है १०-१६६। ऋषि का नाम है ऋषभ। पर यह ठीक से ज्ञात नहीं है कि उसके पिता का नाम 'विराट्' था या शक्वर। शत्रु के विषय में जो मुख्य मंत्र कहना है, वह है 'योगक्षेमं व आदाय अहं भूयासमुत्तमः। आ वो मूर्धानमक्रमीम्। अधस्पदान्म उद्वदत मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव'—यह मैं तुम्हारा योगक्षेम (अर्थात् जिन्हें प्राप्त करना है और जिन्हें प्राप्त कर चुके हो ऐसी सारी बातें) छीनकर तुम्हारे सिर पर चढ़ रहा हूं। अब मेरे नीचे रहकर पानी में से जैसे मेंढक चिल्लाते हैं, वैसे चीखते रहोगे। अलक्ष्मीनाशन स्तोत्र १०-१५५ बनाया है शिरिंबिठ भारद्वाज ने। अलक्ष्मी के लिये जो शब्द प्रयुक्त है, वह है 'अरायि'। इसे दण्ड देकर मंत्र से पहाड़ की चोटी पर भेजा जाता है। १०-१६१ तथा १६३ यक्ष्म अर्थात् क्षयरोग को नष्ट करने वाले सूक्त हैं। इनके ऋषि हैं अनुक्रम से प्राजापत्य यक्ष्मनाशन और विवृहा काश्यप राजयक्ष्मा से ग्रस्त ही नहीं अपितु मृत पुरुष को भी यह सूक्त शत शारद अर्थात् सौ साल जीता रहने के लिये मौत के मुख से खींच लाता है। यक्ष्मनाशन का यह कथन है तो विवृहा कहता है कि चक्षु, नाक, कान इत्यादि से ठेठ पायु पर्यंत ही नहीं अपितु 'अङ्गादङ्गाल्लोम्नो लोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि। यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं विवृहामि ते' सारे ही शरीर में से उसे मैं विवृहामि अर्थात् दूर करता हूं। पीछे दिया हुआ 'रक्षोहा सूक्त' १०-१६३ गर्भस्राविणी उपनिषद् है तो १०-१६४ दुःस्वप्ननाशन माना गया है। इसका ऋषि है 'आंगिरस प्रचेता।' ऐसी अंधश्रद्धायुक्त कल्पनाएं इतनी बढ़ गई थीं कि कुछ कहा नहीं जा सकता। कपोत पक्षी भी घर में घुस जाय तो उसे भी अमंगल मानकर उस अमंगल को दूर करने के लिये भी निर्ऋति पोत ने १०-१६५ सूक्त रच डाला।

३७. ऐसे ही और थोड़े सूक्त अब देखें । राजा और उसके कर्त्तव्य के विषय पर अंगिरस कुल के ध्रुव तथा अभीवर्त नामक दो ऋषियों ने (१०-१७३ तथा १७४) क्रम के सूक्त रचे । राजा 'अविचाचलि' अर्थात् 'क्षणेनैकं क्षणेनान्यद्' ऐसी चंचल चित्तवृत्ति का न होकर निश्चल वृत्ति का होना चाहिये यह मुख्य लक्षण । प्रजा अनुरक्त रहे ऐसा बरताव उसका होना चाहिये । दूसरी ओर प्रजा को भी 'केवली' केवल उसी की रह 'बलिहृत्' अर्थात् योग्य कर देने चाहिएं । ध्रुव ऋषि ने अपने सूक्त में ध्रुव शब्द का अनेक बार उपयोग किया तो अभीवर्त ने अभिवृत् धातु का यथेष्ट प्रयोग किया । राजा को सर्वत्र ध्यान रखना चाहिये, चारों ओर घूमना चाहिये और हमेशा चढ़ाई की तैयारी रखनी चाहिये । अभीवर्त ऋषि कहता है कि तभी वह 'असपत्नः सपत्नहाभिराष्ट्रो विषासहिः' होगा अर्थात् उसके कोई शत्रु नहीं होंगे, होंगे तो वह उन्हें मारेगा और अपना राष्ट्र खूब सबल बनावेगा । गोरक्षण पर (१०-१६९) क्रमांक का शबर काक्षीवत् का सूक्त है । गायें अच्छी हों, वे खूब घास कड़वा खाएं, दूध देकर हमें पुष्ट करें और गोष्ठ में रहकर हमें वत्स दें । यह इस सूक्त का सार है । यजमान को अर्थात् यज्ञ करने वाले को आशीर्वाद देने वाला (१०-१८३) सूक्त प्रजावान् प्राजापत्य का बनाया है और (१०-१८४) गर्भाधान सूक्त है । इसके ऋषि का नाम भी त्वष्टा गर्भकर्त्ता है ।

३८. क्षुद्र सूक्तों से छुट्टी पाकर अब कुछ महासूक्तों की ओर दृष्टि डालना ठीक होगा । इनमें प्रथम (१०-१०७) का विचार करें । इसकी ऋषिका है दक्षिणा नाम की प्रजापति नामक ऋषि की कन्या । क्षुद्र सूक्तों में देखा गया है कि कई स्थानों में सूक्तों की देवताओं का और सूक्तकारों का नाम से संबंध है । कभी सूक्तरचना के बाद ऋषि देवता नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा तो कहीं अपने ही नाम से संबद्ध देवता पर उसने सूक्त बनाया होगा । परन्तु इस ऋषि ने अपने नाम पर से 'दक्षिणा' नामक देवता की कल्पना की और उस पर एक मनोहर सूक्त रचा । दक्षिणा देना प्राचीन काल से ही प्रचलित था । जब कुछ दैवी कर्म दूसरे के हाथों कराया जाता तो उसके बदले में उसे संतोष हो ऐसा कुछ उसे दिया जाता था । अपने पास की वस्तु इस प्रकार जब दी जाती थी तब उस दानकर्म को दक्षिणा नाम दिया जाता था । निरुक्तकार ने दक्षिणा शब्द का निर्वचन करते कहा है कि 'दक्षिणा दक्षतेः समर्धयतिकर्मणः' अर्थात् दूसरे को समृद्ध करने के अर्थ में जो दक्ष् धातु है उससे दक्षिणा शब्द बना है । इस दक्षिणा दान से अपने पास की संचित संपत्ति

का सम्यक् विभाजन होता था। इस प्रकार दक्षिणा देने की चाल यद्यपि बहुत पुरानी थी तथापि उस कल्पना को देवता पद पर पहुँचाने का काम इसी प्रजापतिसुता दक्षिणा ने किया। दक्षिणा की कल्पना ही उसने बड़ी सुन्दर रीति से बतलाई है। वह कहती है—अपने पास की संपत्ति की महत्ता जब अपने पर प्रकट होती है, उस संपत्ति से दूसरों को संकट मुक्त करने की शक्ति का जब भान होता है और जब यह समझ में आता है कि यह बड़प्पन पूर्व के लोगों से अपने को मिला है, तब दक्षिणा का श्रेयस्कारी मार्ग उसी में से दृष्टिगोचर होता है। द्वितीय अत्रि भौम के सूक्त में हमने 'वस्त्रदा' शब्द प्रथम देखा था। यह दक्षिणा ऋषिका उसी का माधुर्यगुणयुक्त 'वासोदा' रूप बनाकर अपने सूक्त में उसका उपयोग करती है और घोड़े, गायें, सोना धन, वस्त्र तथा अन्न की दक्षिणा देने वालों को क्या २ मिलता है यह तफसील से बतलाती है और अंत में कहती है 'दैवी पूर्तिः दक्षिणा'। ऐहिक कामों के लिये जो दिया जाता है उसे दक्षिणा नहीं कहते। अपितु दैवी अज्ञात शक्ति को संतुष्ट करने के हेतु उस दैवी कर्म को करने वाले के संतोष हेतु जो दान दिया जाता है उसका नाम है दक्षिणा। इसका कहना है कि कभी २ दक्षिणा देने के मूल में 'अवद्यभीः' अर्थात् कोई अपनी निंदा न करे ऐसी भीति भी रहती है। यह दक्षिणा को सप्तमाता कहकर भाष्यकारों को सप्त शब्द का अर्थ अपनी २ कल्पना के अनुसार करने की छूट देती है। ऐसी दक्षिणा देकर अन्य जनों को भोग प्राप्त कराने वाले 'भोज' कभी मरते नहीं, अधोगति को पहुंचते नहीं, किसी के द्वारा हिंसित नहीं होते या उन्हें कभी बुरा भी लगता नहीं। अंतिम फलश्रुति है 'इदं यद्भुवनं स्वश्चैतत्सर्वं न दक्षिणेभ्यो ददाति' यह इहलोक तथा स्वर्गलोक यह सारा इन्हें दक्षिणा-ही दिलाती है।

३९. दक्षिणा सूक्त के पश्चात् (१०–११७) क्रमांक का और एक सूक्त देखिये। इसका ऋषि है भिक्षु आंगिरस और विषय है 'अन्नदान'। सूक्त का आरम्भ ही बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। भिक्षु कहता है—"ऐसा कभी न समझो कि मौत का कारण भूख है। देवों ने मरण का कारण केवल यही नहीं बनाया है। भर-पेट खाने वाले भी मरते ही हैं। देने वाले का कुछ कम नहीं होता। दूसरे पक्ष में न देने वाला भी अपने को सुखी नहीं कर सकता। जिस अन्नवान् पुरुष का मन भें भें कर घूमने वाले, भूख से पीड़ित और अपने पास आये हुए आदमी को देखकर मृदु नहीं बनता और उसी के सामने जो स्वयं अन्न सेवन करता है, वह भी अपने को सदा के लिये सुखी नहीं बना

सकता । इसलिये ऐसे अन्न की कामना रखने वाले और अन्न का स्वीकार करने को तैयार रहने वाले 'गृहू' को जो अन्नदान करता है, वही है सच्चा 'भोज'। भोज का अर्थ पूर्वोक्त सूक्त में किया ही गया है। यहाँ का 'गृहू' शब्द खास भिक्षु का ही बनाया हुआ है । मन में तूफान उठाने वाले विचार जब प्रबल होकर बाहर निकलने लगते हैं तो शब्दों को खोजना नहीं पड़ता । वे स्वयं ही प्रस्फुरित होते हैं। भिक्षु आगे कहता है—'धनवान् आदमी जब याचक को कुछ देता है तब उसे बहुत दूर का दिखने लगता है । गाड़ी के पहिये के समान सम्पत्ति आज यहाँ रहती है तो कल वहाँ ।' और सुनिये—जो देवों को या सुहृदों को तृप्त न कर केवल स्वयं ही भोग करता है—'मोघमन्नं विंदते अप्रचेताः' उस मूर्ख को अन्न व्यर्थ ही मिलता है। 'सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य'—मैं सच कहता हूं वह उसका वध ही है । 'केवलाघो भवति केवलादी' जो केवल स्वयं ही खाता है वह होता है 'केवल पाप का धनी'। गीताकार ने इसी का रूपान्तर किया है—'भुंजते ते त्वघं पापा ये पचंत्यात्मकारणात्'

४०. अब शौनक युग के आंगिरस बृहस्पति का (१०-७१) सूक्त देखें । अनुक्रमणिकाकार केवल कहते हैं— 'बहस्पते बृहस्पतिर्ज्ञानं तुष्टाव' अर्थात् 'बृहस्पते' से आरंभ होने वाले सूक्त में बृहस्पति ज्ञान की स्तुति की है। बृहद्देवताकार ने कहा "सुज्योतिः परमं ब्रह्म य द्योगात्समुपाश्नुते । तज्ज्ञानमभि तुष्टाव सूक्तेनाथ बृहस्पतिः" अर्थात् जिस ज्ञान से तेजस्वी और श्रेष्ठ ब्रह्म की प्राप्ति होती है उसकी इस सूक्त द्वारा बृहस्पति ने स्तुति की है। मतलब यह निकला कि जो ज्ञान था वह ब्रह्मज्ञान बन गया । सायण इससे भी थोड़ा आगे जाता है और कहता है कि 'अनेन सूक्तेनर्षिः परमपुरुषार्थसाधनं परं ब्रह्मज्ञानं स्तुतवान् ।' पर यदि वास्तव में देखा जाय तो इस सूक्त में ब्रह्म ज्ञान का कहीं भूलकर भी निर्देश नहीं है । और वह हो भी कैसे ? ब्रह्म ज्ञान है औपनिषदिक वेदांत ज्ञान। ऋग्वेद सूक्तों में उसका बीज हो भी, तब भी उसे यहाँ ढूंढना आम्रवृक्ष के ऊपर लदे हुए रसीले आमों को जड के पास टटोलने के समान है। जो ज्ञान इस सूक्त का विषय है वह है अर्थज्ञान । मन के विचार किन्हीं शब्दों में व्यक्त किये जायें, वे मन का पूरा आशय व्यक्त करने में समर्थ नहीं होते । 'अर्थः शब्दात्परः स्मृतः' । उसे खोजना हो तो शब्दजाल में फंसने से बचना चाहिये। वह 'जिन्ह खोजा तिन्ह पाइया गहरे पानी पैठ'। वह जिसने पाया वही है सच्चा विद्वान्। ऐसा जान पड़ता है कि उस समय सूक्तों का अर्थ समझने के विषय में मतभेद हो रहे थे और

ऐसे ही मतभेदों को ध्यान में रखकर बृहस्पति ने यह ज्ञानसूक्त बनाया है। इस दृष्टि से यह सूक्त पढ़ा जाय तो भाष्यकारों को जो जो खींच तान करनी पड़ी है उसकी आवश्यकता ही नहीं रहती। कैसे यह देखिये।

४१. बृहस्पति का यह सूक्त अर्थात् अपने मन को समझाया हुआ एक बड़ा साहित्यसिद्धान्त है। वह कहता है--शब्द निर्माण करने वालों को जो प्रेरणा मिली और उन्होंने जो शब्द बनाये वे वाणी के एक सिरे पर थे। किंतु यह निर्मिति करने वालों को जो कुछ शुद्ध और श्रेयस्कर कहना था वह मन में छिपा ही रह गया। चलनी से जैसा आटा साफ करते हैं वैसे ही बुद्धिमान लोगों ने शब्दों को छाना। शब्द और अर्थ के इस सख्य को जिन शब्दमित्रों ने पहिचाना उन्हीं के वाणी में 'भद्रा लक्ष्मीर्निहिता'। इसी के आधार पर है भवभूति का वाक्य 'भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता। नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति।' आगे चलकर बृहस्पति कहता है—'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्' अर्थात् कोई वाणी को देखते हुए भी उसे वह दीखती नहीं। लेखनक्रिया हम जानते थे इसके लिये इससे सबल प्रमाण कौन सा दिया जा सकता है। वाणी लिपिबद्ध न हो तो उसे देख कैसे सकते हैं? इसका सीधा अर्थ निकलता है—कोई लिखे हुए अक्षर पढ़ता है पर जो उस वाणी का सच्चा रूप—खरा आशय—नहीं दीखता। दूसरा कोई वाणी को सुनता है पर उसे भी अनसुना सा ही जान पड़ता है। अर्थात् उसे भी असली स्वरूप नहीं समझता। यह वाणी किसी विरले को ही अपना सच्चा आशय खुले रूप में दिखाती है। बृहस्पति ने यहां पर जो उपमा प्रयुक्त की है, वह इस बात को अधिक स्पष्ट करती है—उपमा है 'जायेव पत्य उशती सुवासाः।' अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता ही नहीं। शब्दों के साथ मित्रता रखने वाला अर्थ जिसने छोड़ दिया उसके शब्दों में बाकी ही कुछ नहीं बचता। उसके शब्द जो सुनता है उसे और ही कुछ असत् सुनाई देने का सा होता है। उसे क्या करना चाहिये इसका मार्ग नहीं मिलता। केवल आंखों का या केवल कानों का ही उपयोग करने वाले मन को जो कुछ कहना है उसके विषय में विषम मित्र के से ही रहते हैं। इनके पास गोता लगाने जाओ तो बगल तक या ठोडी तक ही गहरा पानी जिसमें हो ऐसे जलाशय के समान वे दिखते हैं। पर जिन्हें सच्चा अर्थ समझ में आ गया वे गोता लगाने योग्य गंभीर जलाशय के समान होते हैं। शब्दों के इस पार तथा उस पार जो जा नहीं सकते वे विद्वान् ब्राह्मण नहीं हैं। वे केवल शब्दजाल बुनने वाले ही कहलाये जावेंगे।

यहां सख्य या मित्रता का आशय शब्द और उसके सच्चे अर्थ का साहचर्य है। सारे सूक्त का सार यह है कि केवल शब्दों में न फंसो, उनका असली आशय समझलो।

४२. इस युग के महासूक्तों में नई कल्पनाएं प्रसृत करने वाले सूक्त कम ही हैं। बहुत कर पुराने देवों पर के ही सूक्त अधिक हैं। उनमें भी इंद्रसूक्तों की संख्या बहुत है। अतएव इस संहिता में समाविष्ट होने के लिये प्राप्त सूक्तों में से प्रथम सारे ही इंद्रसूक्तों का एकदम ही विचार करना ठीक होगा। संग्राहकों ने इनमें से किन्हीं को रचनाकार के नामसादृश्य के आधार पर भिन्न-भिन्न मंडलों में समाविष्ट किया और जहाँ कुछ आधार न मिला वहाँ इनका संग्रह विविध सूक्तों के दसवें मंडल में किया। पहिले प्रकार से समाविष्ट इंद्रसूक्त आगे लिखे अनुसार हैं :—

प्रथम मण्डल—	ऋजाश्व, अंबरीष, सहदेव भजमान तथा सुराधस् वार्षागिर	ऋ० १००
तृतीय मण्डल—	विश्वामित्र गाथिन	ऋ० ५१, ५२
पंचम मण्डल—	गौरिवीति शाक्त्य	ऋ० २९
	प्राजापत्य संवरण	ऋ० ३३, ३४
सप्तम मण्डल—	वसिष्ठ मैत्रावरुणि	ऋ० १९, २०, २१
		कुल—९

शेष दशम मण्डल में रखे गये। इसलिये प्रथम इन नौ सूक्तों की चर्चा कर फिर दशममंडलस्थ सूक्तों को देखें। ऋज्राश्व प्रभृति पाँच ऋषियों के सूक्त की अंतिम ऋचा में ये पांचों नाम ग्रथित हैं। पूरे सूक्त का ध्रुव चरण है— 'मरुत्वान्नो भवतु इंद्र ऊती'। बस यही है इसका विशेष। विश्वामित्र के नाम पर दिये हुए दोनों सूक्तों में 'निर्विशेषो विशेषः।' गौरिवीति शाक्त्य के दो सूक्त दशममंडल में संगृहीत हैं। फिर यह समझ में नहीं आता कि यही सूक्त पंचम मंडल में क्यों रखा गया। प्राजापत्य संवरण के सूक्त में गैरिक्षित पौरुकुत्स त्रसदस्यु मारुताश्व विदथ, लक्ष्मण्य धन्य तथा आग्निवेशि शक्ति ऐसे अप्रसिद्ध राजाओं के दान का निर्देश है। वासिष्ठ सूक्त में इंद्र के पुराने पराक्रमों का ही वर्णन है। २०वें सूक्त में इंद्र के माता-पिता का उल्लेख है। २१वें सूक्त में सोम कूटने के एक पत्थर को 'दूर उपब्द' नाम नया दिया गया है।

४३. दशम मंडल में इंद्र पर अधोलिखित सूक्त हैं :—

१.	कृष्ण आंगिरस (द्वितीय)	ऋ० ४२,४३,४४	के ३
२.	वैकुण्ठ इंद्र	ऋ० ४७,४८,४९,५०	के ४
३.	गौरिवीति शाक्त्य	ऋ० ७३,७४	के २
४.	सर्वहरि ऐंद्र	ऋ० ९६	का १
५.	नम्र वैखानस और मुद्गल	ऋ० ९९,१०२	के २
६.	अप्रतिरथ ऐंद्र तथा अष्टक	ऋ० १०३,१०४	के २
७.	कौत्स दुर्मित्र या सुमित्र	ऋ० १०५	का १
८.	वैरूप अष्टादंष्ट्र, नभःप्रभेदन और शतप्रभेदन	ऋ० १११,११२,११३	के ३
९.	ऐंद्र लव तथा आथर्वण बृहद्दिव	ऋ० ११९,१२०	के २=कुल२०

द्वितीय कृष्ण आंगिरस के सूक्त में अंतिम ऋचा 'बृहस्पतिर्नः परिपातु विश्वतः' है। वैकुण्ठ इंद्र के विषय में बृहद्देवताकार कहते हैं कि प्रजापति कन्या विकुण्ठा को उग्र तपस्या करने के बाद यह पुत्र हुआ था वहीं उसके पराक्रम भी वर्णित हैं। किंतु तीनों सूक्तों में इसका कहीं भी निर्देश नहीं। प्रथम सूक्त में सप्तगु आंगिरस का यह निर्देश है कि उसने इंद्र का हाथ पकड़ कर उसे शांत किया। आगे के दोनों सूक्तों में इंद्र अपने मुख से ही अपने पराक्रम कह रहा है। गौरिवीति शाक्त्य का एक सूक्त पंचम मंडल में गिना ही है। पर न उसमें या न इन दोनों में कुछ विशेषता दीखती है। सर्वहरि ऐंद्र, सूक्त की प्रत्येक ऋचा में 'हरि' शब्द का या इन दो अक्षरों का उपयोग करता है। संभव है कि इसी पर से वह 'सर्वहरि' नाम से कहलाया गया होगा। वप्र वैखानस के तथा पूर्वोक्त शौनकयुगीन वसिष्ठ के सूक्त में 'शिश्नदेव' शब्द आया है। पाश्चात्य पंडित इस शब्द का अर्थ करते हैं लिंगपूजक। पर यह अर्थ न उचित है न सूक्त में आवश्यक। यास्क के अनुसार इसका अर्थ 'विषयलोलुप' करना ही योग्य है। मुद्गल है भृम्यश्व का पुत्र। यह कहता है कि 'द्रुघण' अर्थात् लकड़ी सोटे की तथा बैलगाड़ी की सहायता से यह एक एक होड में जीत गया। अप्रतिरथ ऐंद्र 'अप्वा' नाम की एक देवता को अपने शत्रुओं के मन बिघाड़ उनका नाश करने की प्रार्थना करता है। अष्टक वैश्वामित्र ने विश्वामित्रों का ध्रुवचरण सूक्त में रखकर अपना वैश्वामित्रत्व सिद्ध किया है। कौत्स सुमित्र है या दुर्मित्र? सायण कहता है

'नाम्ना दुर्मित्रो गुणतः सुमित्रः। यद्वा नाम्ना सुमित्रो गुणतो दुर्मित्रः।' स्वयं यह कहता है 'सुमित्र इत्थास्तौद्दुर्मित्र इत्थास्तौत्।' अष्टादंष्ट्रादि तीनों विरूप के पुत्र हैं और पिता जी के नाम के अनुरूप इनकी रचना भी विरूप ही है। नभःप्रभेदन ने इंद्र को ही गणपति नाम से कहा है। लव ऐंद्र का सूक्त प्रत्यक्ष इंद्र के ही मुख में रखा गया है और हर ऋचा में वह कहता है 'कुवित्सोमस्यापामिति'—काश मैंने सोम पान किया होता। आथर्वण बृहद्दिव ने इंद्र की मातरिश्वरी नामक बहन का वर्णन किया है।

४४. बीस ही सूक्त हैं विश्वेदेवों के। ये आगे दिये जाते हैं:—

मंडल ५	क्र० ४४	काश्यप अवत्सार	१
,, ७	क्र० ३४ से ३७	वसिष्ठ मैत्रावरुणि	४
,, १०	क्र० ३५, ३६	कुश धानाक	२
,, ,,	क्र० ५७, ५९, ६०	वंध्वादि गौपायन	३
,, ,,	क्र० ६१ से ६४	नाभानेदिष्ट मानव और गय प्लात	४
,, ,,	क्र० ९२, ९३	शार्यात मानव और तान्व पार्थि	२
,, ,,	क्र० १००	दुवस्यु वांदन	१
,, ,,	क्र० १०९	जुहू ब्रह्मजाया	१
,, ,,	क्र० १२६	कुल्मलबर्हि शिलुषपुत्र	१
,, ,,	क्र० १२८	आंगिरस विहव्य	१
			२०

काश्यप अवत्सार का सूक्त है १५ ऋचाओं का। परन्तु इसमें क्षत्र, मनस, एवावद, यजत, सध्रि, विश्ववार, मायी, सदापृण, बाहुवृक्त, श्रुतवित्, तुर्य तथा सुतंभर ऐसे बारह ऋषियों ने हाथ बंटाया है। अंतिम दो ऋचाओं में अन्तर केवल इतना ही है कि एक में जहां 'यो जागार' कहा गया है वहां दूसरी में 'अग्निर्जागार' है। ऋक् तथा साम दोनों का निर्देश इस सूक्त में है। वसिष्ठ के चार सूक्तों में से पहला सूक्त कुछ विशेषता से युक्त नहीं। दूसरे ७-३५ क्रमांक के सूक्त में प्रसिद्ध वसिष्ठ के नाम से अपना सूक्त खपाने की इच्छा करने वाले इस ऋषि का भंडा फूटता है। संपूर्ण ऋग्वेद सूक्तों में जो युग्म देवताएं आई हैं उसमें 'इंद्रापूषणा' यह युग्म देवता कहीं नहीं है। न इस पर किसी ने सूक्त लिखा, न इस जोड़ी की किसी ने स्तुति की।

पर यह वसिष्ठ आरंभ में ही इस जोड़ी का उल्लेख करता है। वसिष्ठ सूक्तकार जो प्रसिद्ध हो गया उसके बाद अस्तित्व में आये हुए अहिर्बुध्न्य तथा अज एकपाद इत्यादिकों की भी गणना इस सूक्त में की है। जिस जिस की कल्पना यह करसका उतनी सारी 'शमस्तु' अर्थात् कल्याणकारक हो इतना ही सूक्त भर में कहा है। इसमें सौ के ऊपर नाम आ गये हैं। आगे के सूक्त में 'सरस्वती सप्तथी सिंधुमाता' कहा है तो उसी के आगे के सूक्त में 'जरदष्टि' शब्द का नया ही प्रयोग किया है। लुश धानाक के १०-३५ क्रमांक के सूक्त में नौ ऋचाओं का 'स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे' यह ध्रुवचरण है। ३६वें सूक्त की 'सविता पश्चातात्सविता पुरस्तात्' इत्यादि प्रार्थना प्रसादगुणयुक्त और नित्योपयुक्त है। ५७, ५९, ६०क्र० के सूक्त गोपायन ऋषि के तीन पुत्र—बंधु, श्रुतबंधु तथा विप्रबन्धुके रचे हुए हैं। इनकी मां तत्कालीन किसी अगस्त्य की बहिन थी। एक बार यज्ञ करते समय बंधु का मन दूर यम के पास गया। तब दूसरे भाई अग्नि स्तुति कर उसे वापस ले आये। इस सूक्त की अंतिम ऋचा हाथ से काम करने वालों को उत्साह दिलाने वाली है। ये तीनों भाई कहते हैं कि 'अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तरः। अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः।' ऐसा है हस्त माहात्म्य। नाभानेदिष्ट मानव के सूक्त में वास्तोष्पति की काल्पनिक उत्पत्ति और सावर्णि नामक राजा का निर्देश है। मानना पड़ेगा कि इस समय जो पुराण संहिता बनी उसका परिणाम जनमानस पर होकर पुराणोक्त नाम आदमियों को दिये जाने लगे थे। आगे के ६३, ६४ क्रमांक के सूक्त प्लात गय ऋषि के हैं। वसिष्ठ ने 'शं' शब्द का प्रयोग कर जैसी सूक्तरचना की उसी प्रकार की दो ऋचाएं 'स्वस्ति' शब्द की आवृत्ति कर गय ने बनाईं। यह अपने को अमर्त्य मान कर 'दिव्य' लोगों की ही स्तुति करता है और स्पष्टतया कहता है कि 'द्रविणस्यु'—धनार्थी बन उसने यह स्तुति की है। शर्यात मानव तथा तान्व पार्थि ये पुराणोक्त नाम धारण करने वाले ऋषियों के अनुक्रम से ९२, ९३ क्रमांक के सूक्तों में पहले में अग्नि को चतुरंग विशेषण दिया है। दूसरे में दुःशीम, वेन तथा राम नामक राजाओं का निर्देश है। दुवस्यु वांदन के सूक्त में उन दिनों सूक्तरचना की जो स्पर्धा चलती थी उसका उल्लेख है। यह कहता है कि 'सन्ति स्पृधो जरणिप्राः'—सूक्तों की पूर्णता करने वालों की स्पर्धाएं चल रही हैं। 'आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे' यह ग्यारह ऋचाओं का ध्रुवचरण है। १०९वें सूक्त में बताया गया है कि कुछ दोष से युक्त ब्रह्मजाया जुहू देवों की कृपा से कैसे दोषमुक्त हुई। कुल्मल बर्हिष शलूषि के सूक्त

में दो पद 'अतिद्विवः' सात ऋचाओं के अंत में आकर अंतिम ऋचा 'यथाहत्यद्' यह वामदेव के सूक्त में से ज्यों की त्यों ली हुई है। १२८वाँ सूक्त आंगिरस विहव्य का है और उसमें छह उर्वी देवियों का उल्लेख कर कहा गया है कि विश्वेदेवों ने उसे 'उग्रं चेत्तारमविराजम्' बनाया। अर्थात् उनकी कृपा से वह बलिष्ठ, विद्वान् और राजश्रेष्ठ बना।

४५. विश्वेदेवों से कुछ कम अग्निसूक्तों की संख्या है। ये सारे अग्नि-सूक्त दसवें मंडल में ही हैं। प्रथम सूक्त है त्रिशिरा त्वाष्ट्र का। यह नाम ही यजुर्वेद से लिया है। वहाँ कहा गया है कि त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप त्रिशिरा था। इसने 'वृषभो रोरवीति' ये वामदेव के शब्द अपने सूक्त में उपयुक्त किये हैं। अंतिम तीन ऋचाओं में वर्णन है कि त्रिशिरस् इंद्र द्वारा कैसे मारा गया, पर यह इंद्रपराक्रम अग्निस्तुति में ही भर दिया है। इस सूक्त का क्रमांक ८ है। क्रमांक ४५ तथा ४६ के सूक्त भलंदन-पुत्र वसप्री के हैं। यह अग्नि को कहता है 'सोमगोपा'। इसकी तीन ऋचाएं शुक्ल यजुर्वेद में ली गईं। इन पर के शतपथब्राह्मण को सायण इन ऋचाओं के अपने भाष्य में देता है। किंतु सायण ने 'अर्यत्रैः' शब्द में 'अ' को अधिवाचक मान अयंत्रैः का जो अर्थ किया है वह अनावश्यक है। सुमित्र वाध्र्यश्व के १०-६९वें सूक्त में सुमित्र तथा वध्र्यश्व शब्दों का प्रयोग अनेक बार होकर 'विजामि' शब्द प्रथम बार ही आया है। तब तक जामि और अजामि दो ही शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। कर्म, अकर्म और विकर्म या ज्ञान, अज्ञान और विज्ञान में जो 'वि' का संबंध होकर 'न होना' अर्थ लेना पड़ता है उसी प्रकार जो 'जामि' होकर भी जामि अर्थात् संबंधी नहीं रहता, वह है विजामि। अजामि और विजामि दोनों प्रकार के लोगों के पराभवार्थ इस सूक्त में की है। १०-७९ सूक्त में सप्ति वाजंभर कहता है कि अग्नि 'जाय मानो मातरा अत्ति' लेकिन 'नाहं देवस्य मर्त्यश्चिकेत।' अग्रिम सूक्त में इस ऋषि ने अग्नि शब्द प्रत्येक ऋचा में ही नहीं, अपितु प्रत्येक चरण में आवृत्त किया है। ८१वां सूक्त है वैतहव्य वरुण का। सदृश शब्दों का प्रयोग यह खूब करता है। इसी कारण से 'दमे दमूनाः' 'विभुर्विभावा' ऐसे प्रयोग सूक्त-भर में पाये जाते हैं। इसी सूक्त में 'यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः' यह अनेक पशुओं की आहुतियों का स्पष्ट निर्देश है। १०-११४वें का रचयिता है वार्ष्टिहव्य उपस्तुत। इसकी अंतिम ऋचा देखिये। 'इति त्वाग्ने वृष्टिहव्यस्य पुत्रा उपस्तुतास ऋषयोऽवोचन्। ताँश्च पाहि गृणतश्च सूरीन्। वषट् वषट् इति ऊर्ध्वासो अनक्षन्।

नमो नम इति ऊर्ध्वासो अनक्षन्'। इस पर कुछ टीका-टिप्पणी करना अनावश्यक ही है। ११६वाँ सूक्त बनाया है स्थूर ऋषि के पुत्र ने। इसके दो वैकल्पिक नाम दिये गये हैं—अग्नियुत या अग्नियूप। बहुत संभव है कि इस विकल्प का कारण अग्नि शब्द के आगे का दो अक्षरों का भिन्न रीति से पढ़ना या पढ़ा जाना है। यदि ऐसा हो तो लेखन-कला के लिये यह एक अप्रत्यक्ष प्रमाण माना जा सकता है। क्रमांक १२२ का सूक्त चित्रमद वासिष्ठ का रचा हुआ होते हुए भी केवल वसिष्ठ का ध्रुवचरण 'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः' सूक्त में रखने से उसकी योग्यता बढ़ नहीं सकती।

४६. रक्षोहा अग्नि पर अमहीयु ऋषि के उरुक्षय नामक पुत्र का सूक्त दशम मंडल में ११७ क्रमांक पर अंकित है। अपने सूक्त में इसने उरुक्षय शब्द का प्रयोग किया है। यह सूक्त पढ़ते समय ऐसा लगता है कि यहां 'दाम' अलंकार की योजना हुई है। एक ऋचा के अंतिम चरण का एक शब्द दूसरी ऋचा के प्रथम चरण में जान बूझ-कर रखा गया सा जान पड़ता है। यह रक्षोहा अग्निसूक्त की भाषा में रक्षोधक् है क्योंकि यह रक्षस् तथा यातुधानियों को जला डालने वाला है। इन अग्निसूक्तों के साथ इसी विविध मंडल में दो आप्रीसूक्त भी हैं। प्रथम आप्रीसूक्त को बनाया है पूर्वोल्लिखित सुमित्र वाध्र्यश्व ने। इसने नराशंस अग्नि को रख तनूनपात् छोड़ दिया है। अन्य आप्री देवताएं ज्यों की त्यों हैं। दूसरा आप्रीसूक्त है भृगुकुलोत्पन्न जमदग्नि का। इसके भी पुत्र का नाम राम ही था। पुराणसंहिता के नाम किस प्रकार प्रसृत होते जाते थे, इस बात का यह प्रमाण है। साथ ही सायण का 'यः परशुराम इति प्रख्यातः' वाक्य पढ़ने पर इसका भी पर्याप्त प्रमाण मिलता है कि हमारी ऐतिहासिक दृष्टि कैसी क्षीण हो गई थी। इन दोनों जमदग्नि तथा रामों में कम से कम साठ पीढ़ियों का अंतर है। फिर भी केवल नाम-सादृश्य पर से इन दोनों को एक मानना आश्चर्यजनक नहीं है तो क्या है? जामदग्न्य आप्रीसूक्त में तनूनपात् है, नराशंस नहीं। इस प्रकार इस द्वितीय क्रमांक के देवताभेद से अग्निसूक्त भी तीन प्रकार के हैं। तनूनपात् तथा नाराशंस दोनों को स्वीकार करने वालों का एक, केवल नराशंस वाला दूसरा और केवल तनूनपात् वाला तीसरा।

४७. दशम मंडल में अश्विनौ-विषयक चार सूक्त हैं। इनके क्रमांक हैं ३९, ४०, ४१ तथा १०९। प्रथम दो बनाये हैं घोषा काक्षीवती नाम की

एक ऋषिका ने। पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि जिस घोषा कोअश्विनौ की कृपा से पतिप्राप्ति हुई थी, वह घोषा दूसरी ही है। वह थी बहुत पुराने काल में और यह है शौनक युग की। संभव है कि इंद्रसूक्त बनाने वाले इसी युग के सुकीर्ति काक्षीवत की यह बहिन हो। यह स्वयं को 'राज्ञो दुहिता' कहती है। यह बड़ी बुद्धिमानी से कहती है 'हे, नासत्यदेव, तुम्हारे पुराने ही पराक्रम में नये ढंग से तुम्हारी कृपा हो, इसलिये इस प्रकार कहने वाली हूं कि श्रदरिर्यथादधत्'—अरि भी उस पर श्रद्धा रखे। अरि शब्द यहाँ श्लिष्ट है। उसके दो अर्थ होते हैं–शत्रु तथा भक्त। जान पड़ता है कि इस समय इसप्रकार की डींग मारने की प्रथा ही पड़ गई थी। क्योंकि घोषा ने यदि कोई नई श्रद्धा रखने योग्य बात कही तो वह यह थी कि कलि नामक बूढ़े को भी अश्विनौ ने तरुण बनाया। पूर्व सूक्तों में इसी प्रकार का वर्णन 'च्यवान' ऋषि के विषय में था, जिसका भी निर्देश इस ऋषिका ने किया ही है। अश्विनौ देव को शीघ्र न आये देख अपने स्त्री-सुलभ स्वभाव के अनुसार यह संशय ले रही है कि क्या उन्हें किसी अन्य स्त्री ने 'विधवेव देवरं' या 'मर्यं न योषा' प्रकार से अपनी ओर तो आकृष्ट नहीं किया। इसकी अंतिम प्रार्थना है 'अप दुर्मतिं हतम्'। ४१वाँ सूक्त इसी के सुहस्त्य नामक लड़के ने किया है। तीन ऋचाओं का साधारण ही है यह सूक्त। पर माँ के महत्त्व से ही इसका महत्व है। क्रमांक १०९ का सूक्त भूतांश काश्यप का है। इसका छुटपुट निर्देश आरंभ में ही किया गया है। यहां इसके विषय में केवल इतना ही कहना है कि कहने में तथा सुनने में कर्णमधुर होते हुए भी इसका अर्थ करने में सारे ही भाष्यकारों ने हार मानी है। बेचारे सायण ने तो एकदम मान लिया कि 'अत्र सर्वाण्यपि पदानि दुर्व्युत्पादानि। निरुक्तव्याकरणादिभिः अर्थविशेषे बुद्धिद्भिरुन्नेयानि।'

४८. भार्गव स्यूमरश्मि के १०-७७ तथा ७८ क्रमांक के दो मरुत्सूक्त भूतांश काश्यप के पूर्वोक्त सूक्त के से ही हैं। इवार्थक वैदिक 'न' अव्यय से युक्त ये भी स्तोत्र हैं। कुछ भेद हो तो वह है पत्थर और ईंट का। ईंट पत्थर की अपेक्षा थोड़ी मुलायम, पर कड़ापन दोनों में है। १०-३७ का सूर्य-सूक्त सूर्य नामक ऋषि के पुत्र अभितपस् का है। इसकी प्रत्येक ऋचा में सूर्य शब्द हठपूर्वक प्रयुक्त है। १०-७२वें क्रमांक पर जो सूक्त है, उसका विषय है बृहस्पति। कर्ता का नाम भी है बृहस्पति और वह लोक नामक ऋषि का पुत्र है। जगदुत्पत्ति की जिज्ञासा यहां जागी हुई जान पड़ती है। 'असतः

सदजायत'--पहले कुछ नहीं था उसी में से कुछ पैदा हुआ। यहीं से यह कल्पना आरंभ होती है। आरंभ में ये कल्पनाएं बिलकुल बाल-कल्पनाओं के समान बालिश भी होती थीं। कहीं-कहीं ये इतनी अजीब थीं कि श्रद्धा को भी इन्हें मानना कठिन पड़ता था। जैसे 'अदितेर्दक्षोऽजायत दक्षाद्वदितिः परि'। निरुक्तकार को भी यह अन्योन्योत्पादन कल्पना पटाने के लिये 'देवधर्म' कहकर ही काम चलाना पड़ा। अदिति ने एक अण्डा पैदा किया जो निर्जीव (मृत) था। उसने उसे फेंक दिया। उसीसे सूर्य बना। सूर्य बनने पर वह उसे वापस लाई। ऐसी थीं ये कल्पनाएं। एक भरद्वाज की एक लड़की का नाम था रात्रि। उसने रात पर ही सूक्त लिख डाला। इसका क्रमांक है १०-१२७। कुछ भी विशेष नहीं है इस सूक्त में। इस समय सूक्तकार सूक्तों के लिये नये-नये विषय खोजते थे। जिसे जो विषय सूझा, उसी पर सूक्त लिख मारा। उसी विषय में टेढ़ा-मेढ़ा या सीधा लिखा और उस विषय को देवता-पद पर पहुंचाया। यह प्रवृत्ति इस युग में दिन-प्रतिदिन बलवती हो रही थी। नदियां तथा औषधियां, इन विषयों पर भी सूक्त लिखे गये। 'इमं मे गंगे यमुने सरस्वति' का प्रसिद्ध मंत्र, जिसमें है वह १०-७५ क्रमांक का सूक्त, प्रियमेध नामक इस युग के एक ऋषि के पुत्र सिंधुक्षित् का बनाया हुआ है। इस नदीसूक्त में उसने उसे ज्ञात जिन नदियों के नाम दिये हैं, वे हैं सिंधु और उसे मिलने वाली तृष्टामा, रसा, श्वेता, कुभा, मेहत्नु। इन नामों पर से कल्पना की जा सकती है कि यह ऋषि वायव्य प्रान्त की ओर का होगा। ओषधियों पर १०-७७ सूक्त किसी अथर्वन् के भिषक् नामक पुत्र ने लिखा है। इसमें 'याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः' इस प्रकार फल-फूल देने वाली तथा न देने वाली सारी ओषधियों का उल्लेख कर ऋषि ने अपने ही भिषक् नाम की व्याख्या ऐसी की है कि 'युद्ध में एकत्र होने वाले राजाओं के समान सारी ओषधियाँ जिसके यहां इकट्ठी होती हैं, उसी रोग-निवारक प्राज्ञ पुरुष को 'भिषक्' कहा जाता है।' इसी ने ओषधियों को 'सोमराज्ञी' कहा और सोम तथा ओषधियाँ, दोनों का महत्त्व प्रस्थापित किया।

४९. बृहस्पति-सूक्त का विचार करते समय कहा ही गया है कि उस समय सृष्ट्युत्पत्ति-विषयक विचार होने लगे थे। ये विचार दो प्रकार से किये जाते थे—एक अपने बाहर चारों ओर जो सृष्ट पदार्थ दिखते हैं उनकी ओर देखकर और दूसरा अपने स्वयं के भीतर जो बातें हैं उनकी ओर देखकर।

बाह्य सृष्टि की ओर देखते यह कल्पना की गई कि इस सृष्टि का कर्त्ता, कोई अवश्य ही होगा । अन्यथा 'कथमसतः सज्जायेत ?' । इस कल्पना से माना गया कि विश्वकर्मा कोई होगा। इसी विश्वकर्मा पर, विश्व निर्माण करने वाले पर, विश्वकर्मा नाम धारण करने वाले भुवन ऋषि के पुत्र ने १०-८१, ८२ क्रमांक के सूक्त बनाये । जो सृष्ट चमत्कार भिन्न-भिन्न देवों की कल्पना के आधारभूत थे, उन अलग-अलग देवों के स्थान में इसने 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतमुखो विश्वतों बाहुरुत विश्वतस्पात्' ऐसे 'द्यावाभूमी जनयन्देव एकः' की कल्पना की। दोनों हाथों से धौंकनी चला-चलाकर भिन्न-भिन्न धातुओं के रस बनाकर जैसे उनसे अलग-अलग पदार्थ बनाये जाते हैं, उन सारे साधनों का (यंत्रों का) उदाहरण देकर इस बात को समझाने का उसने प्रयत्न किया । वाचस्पति या मनोजू अर्थात् वाणी को या मन को प्रेरणा वही देता है, 'य इमा जजान', 'अन्यत् युष्माकमंतरं बभूव' । 'तं न विदाथ' उसका ठीक ज्ञान होने वाला नहीं है, यह भी इसने स्पष्ट कह डाला । दूसरे एक भार्गव वेन ने 'वेन' अर्थात् भीतर की जिज्ञासा को ही देवता मान क्रमांक १०-१२३ का सूक्त रचा। 'हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा' कह कर इसने भिन्न-भिन्न कल्पनाएं इस सूक्त में दी हैं।

५०. पूर्व में गौपायन बंधुओं के सूक्तों में एकका मन यम के पास जाने का निर्देश कर चुके हैं । उन्हीं के 'मन आवर्तनम्' नामक सूक्त में वर्णन है कि मन कहां-कहां जाता है । यह वर्णन १०-५८वें सूक्त में किया है । सूक्त में हैं बारह ऋचाएं । पर प्रत्येक ऋचा में है—"यत् ते····· मनो जगाम दूर-कम् । तत् त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ।" प्रत्येक ऋचा में नये केवल छः अक्षर 'यत् ते' के बाद आते हैं । जैसा पहली ऋचा में है 'भूतं च भव्यं च'। यह सूक्त इस प्रकार का है । पर इस पर से स्पष्ट होता है कि जीव की कल्पना 'इंद्रियेभ्यः परं मनः' से परे न गई थी। मन वापस आया कि आदमी जीवित हो गया । इसी कल्पना से यह सूक्त लिखा है। दूसरे एक ऋषि तापस मन्यु ने, अर्थात् तपस् नामक ऋषि के मन्यु नामक पुत्र ने मन्यु—मन में आने वाला क्रोध, त्वेष, इसी को देवता बनाकर अत्यंत उत्साहवर्धक दो सूक्त (१०-८३ तथा ८४) बनाये । आरंभ में ही यह कहता है—"मन्युरिंद्रो मन्यु-रेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः।" आगे उसका कथन है—'अभागः सन्नपपरेतो अस्मि'—मन्यु का भाग यदि मुझ में से निकल गया तो मैं मरा सा ही हूं । किंतु यदि 'सहस्कृतेन सहसा सहस्वता त्वया युजा' हो जाऊं तो

'भियं दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप निलयंताम्'—मेरे सारे शत्रु मन में भीति धारण कर और पराजित होकर भाग जावें । सूक्त समझ कर पढ़ा जाय तो मरा मनुष्य भी मर्द बन उठे ।

५१. सृष्टिकर्त्ता का विचार करते-करते कुछ ऋषि स्वाभाविक रूप से ही चकरा उठे थे । विश्वकर्मा ऋषि ने तो साफ ही कहा कि यह ज्ञान ठीक तरह से होगा ही नहीं । बृहस्पति ऋषि ने 'असतः सदजायत' फिर कहा भी । लेकिन परमेष्ठी प्रजापति उसके भी पूर्व जाकर उस स्थिति का विचार करता है जब 'नासद् आसीन्नो सदासीत् ।' आगे 'को वेद कुत इयं विसृष्टिः' कहते-कहते 'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद' कहकर चुप रहता है । प्रजापति-सूक्त का क्रमांक १२९ है । इसी प्रजापति के पुत्र हिरण्यगर्भ का सूक्त क्रमांक १२१ पर है । पिता के सहज सुन्दर सूक्त के समान यह सूक्त भी बड़ा सरस-सुन्दर है । किंतु हाय ! महाभारत-युद्ध के पश्चात् जिस औपनिषदिक तत्त्वज्ञान ने वेद का ऊपर का अंत—सिरा—प्राप्त किया उसी वेदांत ने वेद का खासकर ऋग्वेद का, नाश (अंत) ही कर डाला । इस वेदांत ज्ञान से सने हुए भाष्यकार ऋग्वेदीय सहजस्फूर्त उद्गारों में से उस समय जिनका अस्तित्व भी न था ऐसे विचार निकालने की चेष्टा करने लगे और ऋग्वेदीय सूक्तों की स्वाभाविक सरल सुन्दरता को अपने कृत्रिम विचारों से पूर्णतया ढांक डाला । विश्वामित्र-युग प्रकरण में बतलाया ही गया है कि शुनःशेप के 'कस्य नूनं कतमस्यामृतानां' चरण में 'क' का अर्थ प्रजापति कर उस ऋचा को नीरस कैसे बना डाला । ठीक उसी प्रकार से इस हिरण्यगर्भ के सूक्त को भी 'काय' अर्थात् प्राजापत्य बनाकर सारे सूक्त की सरस सुन्दरता नष्ट करने का पुण्य हमारे वेदांतियों ने प्राप्त किया है । सूक्त का ध्रुव चरण है, 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' । टीकाकारों के अनुसार यदि 'प्रजापति को हम हविर्भाग दें' अर्थ किया जाय तो सारे सूक्त की-सरसता ही नष्ट हो जाती है । यदि सूक्तकार को यह अर्थ मान्य होता तो उसने सारे सूक्त में जिस 'यत्' शब्द के 'यः' रूप का प्रयोग किया, उसी के साथ 'यत्तदोर्नित्यसंबंधः' के न्याय से 'तस्मै देवाय हविषा विधेम' कहना अधिक सुसंगत होता । लेकिन निश्चित नाम ज्ञात न होने से उसे कहना है कि 'जो ऐसा है जो ऐसा करता है ऐसे किसी देव को हम हविर्भाग दें ।' कस्मै यहाँ प्रश्नार्थक नहीं है अपितु अनिश्चितार्थक सर्वनाम है । किंतु सर्वनाम होने से 'कस्मै' उसका चतुर्थ्येकवचन का रूप शुद्ध है । 'क' का अर्थ प्रजापति

ऋग्वेद में कहीं भी नहीं पाया जाता । किंतु ऐतरेय ब्राह्मण के आख्यान का आधार लेकर सायण ने 'काय' यह अर्थ किया और किसी अज्ञात-नाम ऋषि ने यह देखकर, कि सूक्तभर में कहीं प्रजापति का नाम-निशान नहीं, सूक्त के अंत में 'प्रजापते न त्वदेतानि' ऋचा यजुर्वेद में से निकालकर जोड़ दी। किंतु शाकल्य ने जब इन सूक्तों का पदपाठ किया, तब यह ऋचा जुड़ी हुई न थी और इसी लिये परंपरागत वेद-पाठ करने वाले वेदपाठी इसका पद-पाठ नहीं करते। यदि ऋग्वेद का पदपाठ अस्तित्व में न होता तो यह कहना, कि यह ऋचा पीछे से जोड़ दी गई, अब्रह्मण्य माना जाता। सूक्त बड़ा ही सुन्दर है। नमूना देखिये, 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। यो अंतरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम'। वहां कस्मै को प्रजापति की चतुर्थी, प्रश्नार्थक किम् सर्वनाम की चतुर्थी और अनिश्चित किं सर्वनाम की चतुर्थी मानकर अर्थ कीजिये तो सहज समझा जा सकता है कि कौन सा अर्थ सरस है ।

५२. अब नारायण नाम के ऋषि का रचा हुआ १०-९० क्रमांक का सूक्त विचार में लें। यह सूक्त सोलह ऋचाओं का है। ऋग्वेद के इस सूक्त का जितना पाठ होता है उतना दूसरे किसी सूक्त का न होता होगा । प्रायः प्रत्येक ब्राह्मण बटु को उपनयन के बाद यह पढ़ाया ही जाता था। कारण यह कि जब पंथ-भेदों को समन्वय कर आचार्यश्री शंकर ने देव-पूजन में पंचायतन पूजा चलाई, तब पूजा भी षोडशोपचारी रहने से इस सूक्त की एक-एक ऋचा एक-एक उपचार से जोड़ दी । इस सूक्त में भी किसी विशिष्ट देवता की वर्णना न होने से सभी पंथ के लोगों ने इस साधारण सूक्त को मान्यता दी और तब से पूजा में इस सूक्त का पाठ आवश्यक हो गया । इस सूक्त का नाम 'पुरुष-सूक्त' है। इसमें सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष और सहस्रपात् पुरुष का वर्णन है। विश्वतश्चक्षु, विश्वतोमुख, विश्वतस्पात् देव के समान ही यह वर्णन है। अन्तर इतना ही है कि विश्वकर्मा ने जगत् निर्माण किया और इस पुरुष ने आत्म-यज्ञ (स्वार्थ-विसर्ग) किया जिससे जगत् निर्माण हुआ । नारायण ऋषि की यह यज्ञ-कल्पना बहुत उदात्त है। पर इतने लोकमान्य और उदात्त सूक्त की एक ऋचा का विसंगत पाठ अभी तक किसी के ध्यान में आया हुआ नहीं दीखता। वह ऋचा है— 'सप्तास्यासन्परिधयः त्रिःसप्त समिधः कृताः। देवा यद्यज्ञं तन्वानाः अबध्नन्पुरुषं पशुम् ।' ऋग्वेद संहिता के १०–९० क्रमांक के सूक्त में यह पंद्रहवीं ऋचा है और अर्थानुरोध से इसका संबंध न आगे की ऋचा से जमता है, न पीछे की

ऋचा से। इस ऋचा के उत्तरार्ध में जिस पुरुष को पशु समझ बाँधा उसका अगली ऋचा 'यज्ञेन यज्ञं' से संबंध जुड़ नहीं सकता। उसी प्रकार इसके पूर्वार्ध में यज्ञांग की परिधियों तथा समिधाओं का जो वर्णन है, वह पीछे के 'तथा लोकाँ अकल्पयन्' इसके साथ भी ठीक नहीं बैठता। यह सूक्त यजुर्वेद में है। नारायण ऋषि भी यजुर्वेद का प्रधान ऋषि है। उसके यजुर्वेद में दिये हुए मंत्रों में 'वसंतो अस्यासीदाज्यं, ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः' इसके ही बाद दी हुई है। अतएव दोनों के 'अस्य' का संबंध ठीक जमता है और सारी जगदुत्पत्ति कहने के बाद यह यज्ञ-वर्णन बीच में ही नहीं खलता। ग्रीष्म ऋतु तथा शूद्रवर्ण केवल ऋग्वेद के इसी सूक्त में मिलते हैं, अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं।

५३. ब्रह्मदत्त राजा के राज्यकाल में जो संहितीकरण हुआ, उसमें पूर्वोक्त सारे सूक्त समाविष्ट थे। पर इनके अतिरिक्त संग्रहकारों के पास पवमान सोमसूक्तों का पर्याप्त बड़ा संग्रह आया। उन दिनों सोमयाग का महत्त्व बहुत बढ़ा-चढ़ा था। उसके कितने ही प्रकार रूढ़ हो चुके थे और सामगायकों के सामभेदों से उनमें नये-नये प्रकार निर्माण हो ही रहे थे। इन सब कारणों से अनेक ऋषियों ने एक के पीछे एक सोमसूक्त निर्माण किये होंगे और इस संहिता में समाविष्ट करने के लिये भेज दिये होंगे। सिवाय ऐसा मानने के, सोमसूक्तों में जो कंदरा उठने वाली पुनरुक्तियां आती हैं, उनका ठीक से समर्थन नहीं हो सकता। यह बड़ी सूक्त-संख्या देख कर ही संग्राहकों ने अन्य मंडलों में से भी सोमसूक्त छाँट निकाले और उन्हें, तथा इन नये आये हुए सूक्तों का एक नया ही मंडल निर्माण किया होगा। इस नये मंडल का विचार अग्रिम अंतिम प्रकरण में करना है। अतएव ब्रह्मदत्त-संहिता के बाद, किंतु वेदव्यास-कृत संहिता के पूर्व सोम-व्यतिरिक्त जो सूक्त निर्माण हुए, उन्हीं का विचार अब करना है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि वेद-व्यास के पश्चात् सूक्त-रचना हुई ही नहीं। किंतु व्यास के संहितीकरण से, गालव के क्रमपाठ से और शाकल्य के पदपाठ से प्रतिबंध की एक दीवार ऐसी खड़ी हुई जिससे पीछे से रचे सूक्तों को उस संहिता में स्थान मिलना कठिन हो गया। यह प्रतिबंध और भी दृढ़ करने के लिये एसी कल्पना प्रसृत की गई कि वेद पुरुष-कृत नहीं, अपौरुषेय हैं। वेद परमेश्वर के शब्दरूप निःश्वास हैं, शब्द नित्य है और वेद शब्द संघात होने के कारण निष्पाद्य नहीं है। पांडित्यप्रकर्ष के आधार पर मीमांसकों ने वेदों की अपौरुषे-यता तथा स्वतःप्रमाणता सिद्ध की। इस कारण से बाद के विद्वानों के रचे हुए सूक्त इस संहिता में समाविष्ट न हुए। यही कारण था कि श्रीसूक्त जैसे

अच्छे सूक्त रचे जाने पर तथा स्वरबद्ध किये जाने पर भी वे 'खिल सूक्त' ही समझे गये । अतएव विद्वानों ने भी यह विचार किया कि अब सूक्त लिखना व्यर्थ है । एवं शनैः शनैः सूक्त-रचना का काम समाप्त ही हो गया । आज हमारे संमुख जो ऋग्वेदसंहिता है वह वेदव्यास के समय तैयार की हुई है। इस कारण से अब ब्रह्मदत्त तथा वेदव्यास इनके बीच के काल में, अर्थात् पांच-सात पीढ़ियों में, जो सूक्त-निर्मिति हुई उसमें से पवमान सूक्तों को छोड़ अवशिष्ट सूक्तों की चर्चा करें और यह पर्याप्त दीर्घ प्रकरण समाप्त करें।

५४. संहितीकरण वार्ता की पूरविया हवा से सूक्त-रचना में किस प्रकार की बाढ़ आई, यह हम देख चुके । संहिता में समाविष्ट होने के लिये नये-नये विषयों पर रचे गये छोटे-मोटे, भले-बुरे सभी सूक्तों का संग्रह हुआ। लेकिन ब्रह्मदत्तसंहिता निर्मित होने के बाद यह लहर शांत-सी हो गई। उसके बाद कुछ ऐसे सूक्तकार निकले जिन्होंने अपना नाम तक किसी को समझने न दिया । पूर्व में यमयमी-संवाद सूक्त के विषय में भाषासादृश्य पर से सूक्त-कार की कल्पना हो सकी । पर इन सूक्तों के विषय में तो कल्पना ही नहीं हो सकती । ये हैं संवादसूक्त। इनमें न है उपोद्घात, न है उपसंहार। एकदम संवाद का आरम्भ। यदि कल्पना करना है कि कौन बोल रहा है, तो संवाद में जो संबोधनान्त शब्द हैं उन्हीं पर से कल्पना करनी होगी। यदि ये शब्द निकाल दिये जावें तो बोलने वाला, जिसे अनुक्रमणिकाकार ऋषि कहते हैं, कौन है इसका भी पता न चले । ऋग्वेद के दशम मंडल में ऐसे तीन संवादसूक्त हैं । १०-८६ क्रमांक का सूक्त वृषाकपि, इंद्र तथा इंद्राणी के बीच का संवाद है । अनुक्रमणिकाकारों ने यद्यपि इसे ऐंद्र कहा है, तथापि उस कथन को या वृषाकपि ऐंद्र के सूक्तकर्तृत्व को सूक्त में कुछ आधार नहीं है। सूक्त का अर्थ भी कुछ ओछा-सा ही है और ठीक से समझ में आने के परे है। दूसरा सूक्त है १०-९५ क्रमांक का। इसमें आये हुए संबोधन पर से स्पष्ट जान पड़ता है कि यह पुरूरवस् और उर्वशी के बीच का संभाषण है । किंतु सूक्त का स्पष्टार्थ शतपथ ब्राह्मण का विवरण पढ़ कर भी पूर्णतया समझ में नहीं आता । स्पष्ट वाक्य यदि है तो वह यही कि 'न वै स्त्रैणानि सख्यानि संति, सालावृकाणां हृदयान्येता'—स्त्रियों से मित्रता नहीं हो सकती क्योंकि उनके हृदय भेड़ियों जैसे हैं। पूर्व में जो 'स्त्रिया अशास्यं मनः' एक पुरुष द्वारा कहलाया गया था, वह यहाँ एक स्त्री के द्वारा प्रमाणित किया गया है । तीसरे सूक्त का क्रमांक है १०-१०८। पूर्व में जिस

सरमा का निर्देश हुआ है उसमें और गायें चुरा ले जाने वाले पणि लोगों में यह संवाद है। इस सरमा को अनुक्रमणिकाकारों ने 'देवशुनी' क्यों बनाया, समझ में नहीं आता। उसे कुतिया बनाने के कारण यह संवाद वास्तविक न रह कर कल्पित कथाओं में जा बैठता है। यह केवल इंद्र की दूती थी। इतना ही मानें और संवाद पढ़ें तो उसकी खूबी खूब समझ में आती है। संवाद का अर्थ स्पष्ट है। पणि सरमा को लालच दिखाते हैं। वे अपने आयुधों की तथा पराक्रमों की डींग मारते हैं। लेकिन सरमा राजी नहीं होती। वह जोरदार शब्दों में कहती है—'अथैतद्वचः पणयोवमन्नित्'—पणिलोगो, तुम्हें ये शब्द उगलने होंगे। 'वमन्नित्' शब्द का प्रयोग बोलचाल की भाषा सुझाता है। कितना भला होता यदि इस सूक्त के रचयिता का नाम ज्ञात होता।

५५. पर इस प्रकार अपना नाम भी अज्ञात रखने वाले पुरुष कम ही पाये जाते हैं। इसी दृष्टि से इन अज्ञातकर्तृक सूक्तों को अपौरुषेय कहने में कुछ हानि नहीं। पर ऐसे लोग अभाव से ही चमकते हैं। बहुतांश प्रकाश में ही रहना पसंद करते हैं। इसीलिये सूक्तकारों के नाम प्रायः ज्ञात ही हैं। फिर ऐसी संवादसूक्त-रचना सुलभ न थी। अतएव फिर वे ही पुरानी देवताएं और वही स्तुति-पद्धति चालू हो गई। व्यास के पश्चात् जो प्रतिबंध हुआ वह न होने के कारण थोड़ी-बहुत सूक्त-रचना होती ही रही। ब्रह्मदत्त का समकालीन था पौरव राजा प्रतीप। चैद्य देश जीत लेने के कारण तथा प्रतीप के उसे अपने ही राज्य में मिला लेने के कारण पुराणों में वसुचैद्य से दमघोष तक के चैद्य राजाओं के नाम नहीं पाये जाते। फिर भी चैद्यों का उल्लेख कुछ कण्व वंशजों के सूक्तों में मिलता है जिस पर से उन सूक्तों का कालक्रम निश्चित करने में सहायता होती है। अतएव अब उन्हीं काण्वसूक्तों की चर्चा करें। ये अष्टम मंडल में क्रमांक १, ३, ४ तथा ५ पर दिये हुए हैं। पहले तीन हैं इंद्र पर और चौथा क्रमांक ५ का है आश्विनौ पर। और प्रथम सूक्त के रचनाकार हैं—प्रगाथ, मेधातिथि, मेध्यातिथि, आसंग प्लायोगी और आंगिरसी शश्वती। 'मैं तुझे सौ, हजार, दस हजार में भी दूंगा नहीं,' इस अर्थ की ऋचा पर से कल्पना की जा सकती है कि देवों की भी कीमत होने लगी थी। इंद्र-पराक्रम वे ही पुराने हैं। किंतु दान देने वाले प्रयोगपुत्र आसंग का निर्देश महत्त्व रखता है। अंतिम ऋचा सूक्त से बिलकुल संबद्ध नहीं। सूक्त क्रमांक १२६ में रोमशा के नाम से जैसी एक ऋचा व्यर्थ में जोड़ी गई है, वैसी ही यहां जान पड़ती है। तीसरे सूक्त में कौरयाण पाक-

स्थामन् का निर्देश मेध्यातिथि सूक्तकार ने किया है। चतुर्थ सूक्त देवातिथि काण्व का है। इसमें रुम, रुशम, श्यावाक तथा कृप ऐसे चार राज्यों का निर्देश है। उसी प्रकार इंद्र ने जिन्हें सहायता दी, उन लोगों में अनु, तुर्वसु, यदु की भी गणना की है। इसकी यह प्रार्थना ध्यान देने लायक है कि 'बुद्धि छुरे की सी तेज़ रखो'। दाताओं में इसने कुरुंग राजा का भी समावेश किया है। क्रमांक ५वें सूक्त का ऋषि है ब्रह्मातिथि, देवता है अश्विनौ। इसमें कशु चैद्य दाता के नाते उल्लिखित है। चैद्य विशेषण और उस के कुरंग, कुरयाण इत्यादि विशेष्यों पर से जान पड़ता है कि यह चेदिवंश कुरुराज प्रतीप के विरोध में था। इसी पर से इन सूक्तों का रचना-काल निश्चित होता है। बिंदु ऋषि का ८-९४ क्रमांक का सूक्त भी इसी समय का है। कुछ विशेषता इसमें नहीं।

५६. कुरुवंशज प्रतीप के समय एक और वसिष्ठ हो गया। इसका पुत्र था स्वागज शक्ति, पौत्र था पराशर और प्रपौत्र था व्यास। वसिष्ठ का पौत्र पराशर और प्रतीप का पौत्र भीष्म देवव्रत सत्यवती काली की कथा पर से समकालीन स्पष्ट ही माने जाते हैं। अतएव अब इस प्रतीपकालीन वसिष्ठ के सूक्तों का अनुशीलन करें। वसिष्ठ के नाम से जो सप्तम मंडल बनाया गया उसी में ये सूक्त समाविष्ट हैं। इस वसिष्ठ का भी एक आप्रीसूक्त है। 'आ भारती भारतीभिः सजोषा इळा देवैर्मनुष्येभिरग्निः। सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तु।' यह ऋचा देखने से ही स्पष्ट जान पड़ता है कि भाषा इसकी अर्वाचीन है। सुदास्कालीन वसिष्ठ ने जैसे वरुण पर तीन सूक्त लिखे ऐसे ही इस वसिष्ठ ने भी रचे। 'वरुण' नाम का इसका कोई गुरु था जिसके विषय में यह कहता है कि 'उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रिःसप्तनाम अघ्न्या बिभर्ति।' ऐतिहासिक दृष्टि न रखने वाले श्रद्धामना टीकाकार इस वरुण को वरुणदेव समझते हैं और इस वसिष्ठ को सुदास्कालीन वसिष्ठ। पर फिर भी संख्यावाचक त्रिःसप्त शब्द पर से उन्हें जो व्यामोह हुआ है वह देखने योग्य है। सायण कहता है--'अपर आहगौः पृथिवी। तस्याश्च 'गौर्म्मा ज्मा' इति पठितानि एकविंशतिनामानि इति।' इससे अधिक हास्यास्पद क्या हो सकता है? वरुणदेव का सा आचार्य, सुप्रसिद्ध वसिष्ठ का सा छात्र—और सिखा क्या रहा है तो निघंटु में दिये हुए 'गौर्म्मा ज्मा' इत्यादि इक्कीस पृथिवीवाचक शब्द! अस्तु। सूक्तोक्त वरुण का घर सूक्त के अनुसार कच्ची मिट्टी का जान पड़ता है। उसी के आधार पर कहा जा

सकता है कि इसके पास एक नाव थी जिसमें हिलते-डुलते ये दोनों गुरु-शिष्य घूमते फिरते थे। इस सूक्तकार के शब्दों पर से जान पड़ता है कि यह निर्धनता से पीड़ित था। यह कहता है कि 'धनहीनता मुझे अकर्तव्य की ओर ले गई। पानी में रहकर भी मैं प्यासा ही रहा।' अतएव इसकी प्रार्थना है कि 'मृळा सुक्षत्रमृळाय'—मुझे सुखी कर और मेरे द्वारा दूसरों को भी। आप्रीसूक्त का क्रमांक २ है और वरुणसूक्त क्रमांक ८७, ८८, ८९ पर हैं।

५७. इसी वसिष्ठ के चार सूक्त क्रमांक ४८, ५०, ९५, ९६ अनुक्रम से ऋभु, विश्वेदेव, सरस्वती और सरस्वान् पर हैं। ऋभुसूक्त में केवल विभ्वा, ऋभुक्षा और वाज ऐसे तीन नामों के सिवाय, ऋभुओं के किसी कृत्य का निर्देश नहीं है। ये अब रथों में बैठकर घूमते थे और शत्रु का पराभव करने में इंद्र को सहायता पहुंचाते थे। 'ऋभुर्ऋभुभिरभिवः स्याम विभ्वो विभुभिः शवसा शवांसि' ऐसी भाषा ही इस युग की द्योतक है। विश्वेदेवों के सूक्त में न दिखने वाले किंतु रेंगते हुए प्राणियों के दंश से या अन्य विष के कारण पैदा होने वाले रोगों से बचाने की प्रार्थना है। इस सूक्त का ध्रुव चरण है—'मा मां पद्येन रपसा विदत्सरुः' पैर की आहट से या गलती से कोई रेंगने वाला प्राणी मुझे न चिपक जावे। अजकाव, वंदन, शिपद और शिमिदा शब्द ध्यान खींचने योग्य हैं। जिस सरस्वान् देव का पूर्व में निर्देश हो चुका है उसके साथ सरस्वती स्तुति पर क्रमांक ९५ तथा ९६ के सूक्त हैं। इनमें भी कुछ विशेषता नहीं है।

५८. वसिष्ठों की सूक्तनिर्मिति देख कर विश्वामित्र-कुल के भी लोगों ने अग्रेसर होकर सूक्तरचना की। एक विश्वामित्र ने ३-५ क्रमांक पर दिया हुआ 'आप्री' सूक्त तैयार किया। इसने वसिष्ठ के विरुद्ध तनूनपात् अग्नि को स्वीकार किया और 'नराशंस' को छोड़ दिया। वसिष्ठ-विश्वामित्र-संघर्ष तो बाकी था ही नहीं। इसलिये यद्यपि नराशंस के स्थान में तनूनपात् रखा तथापि आठवें क्रम की 'तिस्रो देवीः' से आगे की चारों ऋचाएं वसिष्ठसूक्त में से ही लीं और अपने सूक्त में रख दीं। क्रमांक ८ का सूक्त 'यूप' देवता पर है। अलग-अलग यज्ञ-प्रकारों में एक से लेकर इक्कीस तक के यूप खड़े किये जाते थे। जिस खंभे से यज्ञिय पशु बांधकर रखा जाता है उसकी संज्ञा यूप है। पेड़ काटने के बाद उसका खंभा बनाते हैं; फिर उसे खड़ाकर उसके चारों ओर वस्त्र लपेटा जाता है और फिर उसकी प्रार्थना की जाती है। ये मंत्र इन

क्रियाओं के समय कहने के हैं। अर्थात् वास्तव में ये कर्म के लिये हैं, केवल बैठकर कहने के नहीं। क्रमांक ९ का सूक्त अग्नि-विषयक है। इसमें दी हुई देवों की संख्या सबसे बड़ी (प्रचण्ड) है। ये देव हैं 'त्रीणि सहस्राणि त्री शता त्रिंशच्च नव च' अर्थात् तीन हजार तीन सौ तीस और नौ—३३३९। क्रमांक १२ का सूक्त इंद्राग्नी पर है। इसमें कहा गया है 'प्र वामर्चंत्युक्थिनो नीथाविदो जरितारः।' यहां नीथाविद् सामगान-कुशलों को कहा है। इस समय यजुर्वेद की अग्निचयन-विधि पूर्ण हो गयी थी। इसमें इष्टकाओं के पाँच स्तर देते थे। प्रत्येक स्तर की चितिसंज्ञा थी। इन चितियों के देव को कहते थे पुरीष्य अग्नि। इस अग्नि पर गाथी कौशिक नाम के ऋषि का क्रमांक २२ का सूक्त है। 'सप्तिं ससवान्त्सन्त्स्तूयसे' चरण का अनुप्रास कृत्रिमता व्यक्त करता है। अंतिम ऋचा गाथिन विश्वामित्र के अग्निसूक्त की ध्रुव ऋचा 'इळामग्ने' यही है। इस समय के गाथिन विश्वामित्र का ऋभु पर एक सूक्त है। इसका क्रमांक है ३-६०। ऋभुबंधुओं की कारीगरी यहां माया कही गई है। उनके चमस, गाय और अश्वयुगल का वर्णन कर वसिष्ठ के समान इसने ऋभुओं को इंद्र के साथ रथारूढ किया है।

५९. अब एक ऐसा संवादसूक्त देखना है जिसमें ऋषि का नाम स्पष्ट कहो तो स्पष्ट, या अस्पष्ट कहो तो अस्पष्ट है। अग्नि पानी में छिप बैठा। देवों को इस बात का पता लगने पर वे उसे बुला रहे हैं और अग्नि उनसे बोल रहा है। यजुर्वेद में दी हुई यह कथा लेकर एक संवाद ऋग्वेद के दशम मंडल के ५१, ५२ तथा ५३वें सूक्त में आता है। बीच का ५२वाँ सूक्त संवाद रूप में न होकर स्वगत-भाषण के रूप में है। किंतु अनुक्रमणिका में इस सूक्त को रचने वाला ऋषि, सूचिक ऋषि का अग्नि नामक पुत्र, कहा है। यदि इस विधान को सच माना जावे तो तीनों सूक्तों का कर्त्ता वही निश्चित होता है। अगर ऐसा न माना गया तो अग्नि को सौचीक कहने का कारण ही नहीं दीखता, क्योंकि सूक्तों में सौचीक नाम कहीं भी आया नहीं है। तीनों सूक्तों में से ५१वें सूक्त में देव अग्नि से छिपने का कारण पूछते हैं। वह कहता है—'मेरे तीन भाई हविर्भाग पहुंचाने का काम करते-करते मर गये। उसी डर ने मुझे सताया। अतएव शिकारी के डर से जैसे गौर मृग भागता है, वैसे ही मैं भागा।' देव उसे हविर्भाग देना स्वीकार करते हैं। ५२वें सूक्त में अग्नि मानो आत्मगत भाषण कर रहा है। इसके अंत में भी वही ३३३९ देव-संख्या बतलाने वाली विश्वामित्र की ऋचा ज्यों की

त्यों उद्धृत की है। ५३वें सूक्त में फिर संवाद चालू होता है। अंतिम पाँच ऋचाएं देवों के परस्पर भाषण के स्वरूप में हैं।

६०. काद्रवेय अर्बुद नाम के सर्पजाति के एक ऋषि का सूक्त क्रमांक १०-९४ पर है। ग्रावस्तुति पर यह सूक्त है। ग्रावस्तुति तथा सर्पजाति का संबंध पीछे भी देख चुके हैं। 'प्रैते वदंतु प्रवयं वदाम' ये (सोम कूटने के पाषाण शब्द करें और हम भी मंत्रपाठ करें, ऐसा इस सूक्त का आरंभ है। कूटे हुए सोम को निचोड़ने वाली हाथों की दसों अंगुलियों को बहिनें समझ निचोड़ने की उनकी क्रिया मानो उनका नाच है। इसी वर्णन के साथ घोड़ों के हिनहिनाने के समान उन पत्थरों के शब्दों को मान उन्हें घोड़ा और उन्हें संभालने वाली दस उंगलियों को अलग-अलग उपमान देकर किया हुआ रूपक देखें। सूक्तकार कहता है, 'दशावनिभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोजनेभ्यः। दशाभीषुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दशधुरो दशयुक्ता वहद्भ्यः।' यहां अवनि, कक्षा, योक्त्र, योजन तथा अभीषु—पांचों शब्द श्लिष्ट हैं और घोड़ों से तथा ग्रावों से संबंधित हैं। श्लेष का इससे अच्छा उदाहरण ऋग्वेद भर में कहीं नहीं मिलेगा। आगे ११वीं ऋचा में १३ शब्दों में से ९ शब्द 'अ' से आरम्भ होने वाले हैं और उनमें भी ८ नञर्थक हैं। माता के साथ खिलवाड़ करने वाले और उसे त्रस्त करने वाले खिलखिलाते बालक की तुलना बड़ी हृद्य है।

६१. अब हम देवापि आर्ष्टिषेण के समय में पहुंच रहे हैं। यह देवापि शंतनु का बड़ा भाई है। दोनों चचेरे भाई थे और राजा प्रतीप के पौत्र थे। देवापि ऋषि बनकर तप करने गया और शंतनु राजा हुआ। इस समय भी एक बड़ा अकाल पड़ा। तब देवापि ने शंतनु द्वारा यज्ञ कराया और एक 'वर्षकाम सूक्त' की रचना की। वह १०-९८ क्रमांक पर दिया है। देवापि कहता है—'बृहस्पते, तुम मित्ररूप हो या वरुणरूप। पूषन्, आदित्य या वसुमान् इंद्र हो तो भी मुझे कुछ कहना नहीं है। किंतु मेरी वाणी में ऐसी शक्ति पैदा करो, 'यया वृष्टिं शंतनवे वनाव' जिससे शंतनु के लिये वर्षा हो। बारह ऋचाओं के इस सूक्त में छह बार देवापि ने अपने नाम का प्रयोग किया है। इस पर से अनुमान किया जा सकता है कि अपना नाम प्रसिद्ध करने की प्रथा कैसी रूढ होती जाती थी। इसी समय वसिष्ठ के पौत्र पराशर ने तीन अग्निसूक्त रचे। सुदास्कालीन पराशर की द्विपदा ऋचाओं के छह सूक्त वसिष्ठ-युग प्रकरण में हम देख चुके हैं। अब शंतनुकालीन पराशर के

भी सूक्तों का विचार करें। ये प्रथम मंडल में क्रमांक ७१, ७२, ७३ पर दिये हुए हैं। वह पराशर तरुण था तो इस पराशर को 'जरिमा मिनाति'— बुढ़ापा कष्ट दे रहा है। अग्नि के साथ अपनी मित्रता पूर्वजों से चली आई यह बतलाता है। इसके समय लोग 'पितृवित्तस्य राय ईशानासः' बाप से मिले धन के स्वामी थे। घर में सुख से रहने वाले तीन लोगों को यह उपमानभूत मानता है। हितमित्रो राजा, पुरःसदः शर्मसदो वीराः, और अनवद्या पति-जुष्टा नारी। मित्रराष्ट्रों से घिरा राजा, आगे-आगे बढ़ने वाले सुख देने वाले पुत्र और ऐसी स्त्री जिसकी कोई निंदा नहीं करता और जो पति को प्रिय हो। 'सनीळा जनयः' का उपमान बहुपत्नीकत्व सुझाता है। 'अर्वद्भिरग्ने अर्वतो नृभिर्नृन् वीरैर्वीरान्' की शब्द-योजना इस युगप्रवृत्ति की द्योतक है।

६२. इसी समय दीर्घतमस् तृतीय हो गया। इसने भी एक आप्रीसूक्त (१-१४२) रचा जिसमें तनूनपात् और नराशंस दोनों की स्तुति है। इसका १-१६२ क्रमांक का सूक्त तथा १-१६३ क्रमांक का सूक्त दोनों 'अश्व' पर हैं। जान पड़ता है कि देवताओं पर सूक्त न लिख कर घोड़े पर सूक्त लिखना लोगों को संभवतः अच्छा न लगेगा। अतएव वह इस शंका का निरसन देवों से क्षमा मांगकर सूक्त के आरम्भ में ही करता है। वह कहता है—'मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिंद्रं ऋभुक्षा मरुतः परिख्यन्। यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि'। सार यह है कि मित्र वरुणादि मेरी निंदा न करें, क्योंकि मैं घोड़े के पराक्रम वर्णन करने वाला हूं। प्रथम दीर्घतमस् ने कहा था, 'विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम्'। यह कहता है, 'वाजिनो वीर्याणि प्रवक्ष्यामः'। उसके विष्णु पर दो सूक्तों की ऋचाएं थीं केवल ग्यारह। इसके दोनों सूक्तों की ऋचाएं हैं ३५। इस दीर्घतमस् ने उस यज्ञ का सांग-वर्णन इस सूक्त में किया है जिसमें 'इंद्रापूषणा' देवता-द्वंद्व के लिये एक छाग और एक घोड़ा मारा जाता था। यहां यह बात भूलनी न होगी कि 'इंद्रा-पूषणा' पर ऋग्वेद में एक भी सूक्त नहीं है। यह यजुर्वेदोक्त देवता है और इसी समय के वसिष्ठ के 'शं' सूक्त में प्रथम ही इसका निर्देश किया गया। यजुर्वेदोक्त यज्ञ का ही मुख्य आधार इस सूक्त को है। घोड़ा जब तक जीवित है तब तक के उसके शरीर पर डालने वाले वस्त्र, पैर और गले में के बंधन, सिर पर का सुनहरा तुर्रा इत्यादि का तो वर्णन है ही, पर उसे मारने के पश्चात् चमड़ा फाड़ने के और उसका मांस पकाने के साधनों की भी नामावलि दी हुई है। अंत में उस घोड़े को ही ऋषि बड़े ठाठ से कहता

है—'अरे, तू मरा भी नहीं है या मारा भी नहीं गया है, पर तू अच्छे-अच्छे मार्गों से देवों की ओर जा रहा है 'न वाउ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः ।' दूसरे सूक्त में जो गति अश्व को मिलने वाली है, उसका मानो आंखों-देखा वर्णन किया हुआ है । क्रमांक १६४ का इसी का 'अस्य वामस्य' सूक्त तो कूटसूक्त ही है। इसमें सारी ही बातें गूढ़ भाषा में कही गई हैं। ज्योतिर्विद्या की सहायता से मेरे मित्र श्री र. वि. वैद्य जी ने इस सूक्त का अर्थ पर्याप्त समाधानकारक किया है ।

६३. एक ओर जब ऐसे सूक्त रचे जाते थे, तब अत्रिकुल के भी ऋषि चुप कैसे बैठ सकते थे। उन्होंने भी कुछ सूक्तों की रचना की। ये पंचम मंडल में समाविष्ट हैं । चलिये, अब उनका भी विचार करें। कुमार आत्रेय का क्रमांक २ का सूक्त अग्नि पर है। गूढ़ भाषा में वर्णन करने की इन दिनों मानो हवा ही चल उठी थी। इस सूक्त की प्रथम ऋचा में ही वर्णन है— 'कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्ति न ददाति पित्रे' जिसका शब्दार्थ होता है कि 'तरुण माँ ढके बच्चे को छिपा रखती है, पिता के पास नहीं देती।' बस, इस गूढ वाक्य का अर्थ करने के लिये और अपनी-अपनी कल्पना चलाने के लिये आगे के ब्राह्मणकारों को तथा भाष्यकारों को एक खास अवसर मिल गया। शाट्यायन ब्राह्मणकार ने एक कथा कह डाली : एक बच्चा रथ के नीचे दब गया । वाद-विवाद चला कि दोष किसका है ? रथी का या सारथि का ? अंत में वह बच्चा एक ऋषि के सामगान से जीवित हो गया; इत्यादि। सायण ने अपने भाष्य में यह कथा दी तो सही। पर जान पड़ता है कि उसका स्वयं का ही समाधान न हुआ। क्यों कि वैसा होता तो यद्वा, अथवा, वा कहकर चार-पांच प्रकार से अर्थ करने का प्रयत्न वह न करता। जाने दीजिये । अत्रि-युग प्रकरण में जिस वसुश्रुत आत्रेय के तीन सूक्तों का विचार हो चुका है, उसी नाम को धारण करने वाले एतत्कालीन वसुश्रुत का एक आप्रीसूक्त ५-५ क्रमांक का है । यह तनूनपात्-युक्त न होकर नराशंस-युक्त है। क्रमांक १५ का धरुण आंगिरस ऋषि का सूक्त इसी पंचम मण्डल में है । 'ऋतेन ऋतं धरुणं धारयन्त' की सी भाषा के आधार पर और पंचर्च सूक्त में पांच बार धरुण शब्द का प्रयोग देखने पर इसका आधुनिकत्व स्पष्ट ही है। ब्रह्मदत्त-संहिता के समय गोपायन ऋषि के तीन बंधु-युक्त नाम के पुत्रों का एक सूक्त देखा ही जा चुका है । अब बंधु शब्द-युक्त बंधु, सुबंधु, श्रुतबंधु तथा विप्रबंधु—इन चारों भाइयों का चार

द्विपदा ऋचा का सूक्त ५-२२ देखिये । इसमें विशेष हो ही क्या सकता है ? पर अनुक्रमणिकाकारों को शंका हुई है कि ये चारों भाई गोपायन के पुत्र थे या लोपायन के । बहुत संभव है कि तत्कालीन वर्णमाला में 'ग' और 'ल' अक्षर एक से लिखे जाते होंगे जिससे दोनों पाठ पढ़े गये। क्रमांक ६२ पर के सूक्त में श्रुतवित् आत्रेय को मित्रावरुणौ का दर्शन सूर्य बिंब में होने का वर्णन है। सप्तवत्रि ऋषि का क्रमाँक ७७ का सूक्त अश्विनौ पर है। प्रथम चार ऋचाएं साधारण ही हैं। अत्रि ऋषि को बचाने का निर्देश है । पर आगे दी हुई प्रसवोन्मुखी स्त्री के उपमान पर से तथा वृक्ष, वनस्पति इत्यादि शब्दों पर से उसे किसी संदूक में बंद करने की कथा निर्मित हुई है। अंतिम तीन ऋचाएं माता के पेट से बच्चा शीघ्र बाहर पड़ने के लिये प्रार्थना करने वाली हैं। एवया मरुत् ऋषि की कृत्रिम रचना के विषय में पूर्व में कहा ही गया है । इसके सूक्त का क्रमाँक है ७७ और प्रत्येक ऋचा के पूर्वार्ध में नाम अंत में आता है--एवयामरुत् । एक भौम अत्रि नाम धारण करने वाले ऋषि ने क्रमांक ४० पर का सूक्त रचा है। इसमें सूर्य को स्वर्भानु ने काला कर देने का अर्थात् सूर्यग्रहण का वर्णन है। अत्रि ऋषि ने उसे मुक्त किया ऐसा सूक्त में कहा गया है । सूर्यग्रहण विषयक अत्रि ऋषि के ज्योतिष ज्ञान पर से ही यह सूक्त इसी युग का निश्चित होता है क्योंकि पूर्व में अत्रि के समय ज्योतिष ज्ञान इतना प्रगत न था।

६४. पूर्व में कहा ही गया है कि इस युग में गूढ़ गुंजन की प्रवृत्ति बढ़ती ही थी। ऐसे ही कुछ सूक्तों का अब विचार करना है। क्रमाँक १०-१०१ का सूक्त ऐसा ही है। स्वयं अनुक्रमणिकाकार इसका विषय कहते हुए लिखते हैं 'विश्वेदेवा ऋत्विजो वा'। सूक्तकर्त्ता है सोम पुत्र बुध । आरंभ ही है 'ठीक परख लो, सुखद बातें करो, बुद्धि को बढ़ाओ और मित्रो अपने इस यज्ञ को आगे बढ़ाओ' । हल चलाना, बीज बोना, बैलों को पानी पिलाना इत्यादि करने को इस सूक्त में कहा गया है । लकड़ी के आयुध छीलने को भी कहा है । किंतु भाष्यकारों का इस विषय में एक मत नहीं है कि ये खेती के काम थे या यज्ञक्रिया के। वैरूप सत्रि का भी एक इसी प्रकार का (१०-११४) सूक्त है । इसमें 'चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा' ऐसा यज्ञ वेदि पर चार जूड़े बांधने वाली अलंकारों से सजी तरुणी का रूपक किया हुआ है । आगे जिसे 'एकं संतं बहुधा कल्पयंति ऐसे सुपर्ण का वर्णन है और कई संख्याओं की कल्पना कह गूढ़ भाषा में कहा गया है कि यज्ञचक्र प्रवर्तन किस प्रकार

होता है। क्रमांक (१०-१२४) का सूक्त भी ऐसा ही है। क्रमांक (१०-१३०) के सूक्त में यज्ञ पर वस्त्र का रूपक कर कहा गया है कि हमारे पूर्वजों ने इसे बुना है। अग्नि, सविता इत्यादि देवताओं का संबंध भिन्न-भिन्न छंदों से जोड़ा गया है और कहा है कि यज्ञ की सहायता से ही 'पूर्वेषां पंथानमनुदृश्य' ऋषियों ने सारे कर्म किये हैं। इस सूक्त के रचयिता का नाम ही 'प्राजापत्य यज्ञ' है।

६५. सृष्टिकर्त्ता को सुपर्ण बनाया हुआ हम देख चुके। यह भी पढ़ा कि सृष्टि-निर्माण का सम्यग् ज्ञान होना कठिन है। यह एक ईश्वरीय मायाकृति है, ऐसा मान लेने पर उस विषय में नई-नई कल्पनाएं कैसी की गईं, यह भी देखा। विवस्वत्कन्या यमी नाम की एक ऋषिकार ने अब (१०-११४) क्रमांक का एक ऐसा सूक्त बनाया जिसमें वह अपने पिता से कहती है कि यज्ञ, तप तथा दान कर जहाँ पूर्व के लोग गये, वहीं तुम्हें भी जाना है। प्रजापति सुत-पतंग नामक ऋषि ने अपने (१०-१७७) क्रमांक के सूक्त में 'असुरस्य मायया अक्त' तथा 'जिसे विद्वान् मन से ही देख सकते हैं' उसे 'पतंग' ऐसा आत्मनाम ही दिया और उसी का आगे 'स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः'—वह सब दिशाओं तथा विदिशाओं को व्याप्त कर सार भुवन में एक सा फिरता है, ऐसा वर्णन किया। वरुण-पुत्र सत्यधृति नाम के ऋषि का बनाया हुआ एक सूक्त क्रमांक १०-१८५ पर है जिसमें मित्र, वरुण तथा अर्यमा की महत्ता बखानी गई है। इस प्रकार के परस्पर विरुद्ध विधान देखकर और मत भेद ध्यान में रखकर ही बहुत करके एक ऋषि ने 'संगच्छध्वं संवदध्वं' १०-१९१ का सूक्त बनाया होगा। इसका अंतिम भाग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वह कहता है—"तुम्हारे विचार, तुम्हारे हृदय और तुम्हारे मन समान होंगे तो ही तुम्हारा 'सुसह' है।" यहाँ समान और सुसह दोनों शब्द बहुत ही विचारपूर्वक रखे जान पड़ते हैं। समान याने एक से, वे वैसे न हों तो 'स-मान' एक दूसरे को मान देने वाले, आदर करने वाले और ऐसे हों तो ही वे 'सम+अन' याने एक से जीने वाले होंगे और जब ऐसा होगा तब ही तुम्हारा सुसह, ठीक तरह से साथ रहना, होगा। 'सुसह' शब्द खास इसी सूक्तकर्त्ता संवनन आंगिरस का बनाया हुआ है।

६६. इस प्रकार नये-नये विचारों का आविष्कार हो रहा था। पर इस पर से यह न मानना चाहिए कि पुराने देवों पर सूक्त-रचना बंद हो गई

थी । थोड़ी-थोड़ी क्यों न हो, पर वह भी हो ही रही थी । हिरण्यस्तूप आंगिरस ऋषि के इसी समय रचे हुए पाँच सूक्त प्रथम मंडल में क्रमांक ३१ से ३५ तक अंकित हैं। इनमें प्रथम है अग्नि पर. दूसरा तथा तीसरा है इंद्र पर, चौथा है अश्विनौ पर और पांचवां है विश्वेदेवों पर। प्रथम ३१वें सूक्त की हर एक ऋचा का आरंभ 'त्वं' से होता है। मनु, पुरूरवा, ययाति, नहुष इत्यादि राजाओं का निर्देश पुराणसंहिता के अनुक्रम से इसमें दिया है। 'इळामकृण्वन् मनुषस्य शासनीम्' में सायण के कहे अनुसार यजुर्वेदस्थ कथा का आधार स्पष्ट ही जान पड़ता है । 'वर्मेव स्यूतम्' की उपमा सूक्त का आधुनिकत्व सिद्ध करती है । 'सिव्' धातु का प्रयोग शौनक-युग के पूर्व कहीं मिलता नहीं है। थोड़े ही पहले ऋत्विक्स्तुति नामक प्रकरण में जो आदेश दिये हैं उन्हीं में एक है 'वर्मसीव्यध्वम्' । और वही है यह स्यूतवर्म. यही बात न कहते ही समझ में आने वाली है । इंद्र के दोनों सूक्तों में वर्णन है इंद्र के पराक्रमों का । यह इंद्र धनुर्धर है और ९९ नदियां पार करता है। 'अश्व्यो वारो अभवः' में सुझाया हुआ रूपक सहज सुन्दर है। वृत्र के भी सेवक 'हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः' थे । 'शफच्युतो रेणुर्नक्षत द्याम्'—घोड़ों के खुरों से उड़ी हुई धूलि के कण आकाश में पहुंच कर चमकने लगे । यहां की नक्षत धातु से व्यंजित होने वाली नक्षत्र की कल्पना बड़ी ही आकर्षक है। अश्विनौ के सूक्त में जो 'युवोर्हि यंत्रं हिम्येव वाससः'—तुम्हारी जोड़ी रात और दिन के समान बंधी है, कहा गया है। उसमें 'यंत्र' शब्द का प्रयोग प्रथम ही हुआ है। इस सूक्त में 'त्रि' शब्द का प्रयोग ३५ वार आया है । अंतिम ३५वाँ सूक्त विश्वेदेवों अर्थात् भिन्न-भिन्न देवों, का है । इसमें हिरण्य शब्द की आवृत्ति स्वतंत्र रूप से तो है ही, परन्तु हिरण्यय, हिरण्यशम्य, हिरण्यप्रउग, हिरण्याक्ष, हिरण्यपाणि और हिरण्यहस्त ऐसे सामासिक शब्दों में भी आवृत्त हुआ है। यह कृत्रिम रचना अर्वाचीनता का प्रमाण है। इसी का पुत्र है 'अर्चत् हैरण्यस्तूप' जिसका सूक्त दशममंडल में क्रमांक १४९ पर है। इसीका विषय है सवितृ देव। पिता ने जिस यंत्र शब्द का प्रयोग किया उसीका प्रयोग यह भी 'सविता यंत्रैः पृथिवीमरम्णात्' में करता है। इसने अपनी दृष्टि से सृष्ट्युत्पत्ति की प्रक्रिया कही है । पिता 'हिरण्यस्तूप' ने जैसा देवों का आवाहन किया, उसी प्रकार से मैं भी करता हूं, ऐसा अपने सूक्त के अंत में यह कहता है ।

६७. पुराने देवों के समान पुराने इतिहास पर भी कुछ सूक्त इस समय

लिखे गये। इसमें वसिष्ठ तथा विश्वामित्र दोनों कुलों के ऋषियों की रचना है। इस इतिहासकार वसिष्ठ का एक सूक्त है सवितृदेव पर, और दो हैं प्राचीनेतिहास-वर्णन पर। तीनों सूक्त वसिष्ठ के सप्तम मंडल में ही समाविष्ट हैं। इसमें ३८वां सूक्त है सवितृविषयक। इसमें हिरण्यस्तूप का प्रयुक्त हिरण्यपाणि शब्द इस वसिष्ठ ने सवितृदेव का विशेषण बनाया है। वसिष्ठ के 'शं' सूक्त के 'शं नो भवंतु' और 'स्वर्काः' ये शब्द एक ही ऋचा में रख इसने अपनी ऋचा अलंकृत की है। ३३वें सूक्त में प्राचीन इतिहास के नाम से इसने वसिष्ठ और अगस्त्य के जन्म की कथा कही है। यह ऐसी असम्भव है कि अंधश्रद्धा को भी इस पर विश्वास रखना कठिन है। पुराणों की कल्पित असंभवनीय कथाओं को जिस समय मान्यता मिलती थी, उस जमाने में कदाचित् लोगों ने उसे माना होगा। किंतु वसिष्ठ-युग में ऐसा कहा जाना या माना जाना शक्य ही न था। १८वां सूक्त भी पुराने युग का नहीं है। क्योंकि सूक्तारंभ में ही यह वसिष्ठ कहता है कि 'त्वे ह यत्पितर श्चिन्न इंद्र विश्वा वामा जरितारो असन्वन्'—हमारे पूर्वजों ने तुम्हारी ही स्तुति कर सारी अच्छी बातें प्राप्त की थीं। पुराना वसिष्ठ तो उस कुल का प्रथम सूक्तकार था। अतएव अपने पूर्वजों के विषय में वह ऐसा नहीं कह सकता था। हां, शौनक-युग के अंत में जो वसिष्ठ हुआ, वह अधिकारपूर्वक ऐसा कह सकता था। इस वसिष्ठ ने दाशराज्ञ युद्ध का वर्णन श्रुतपुराणवृत्त के आधार पर किया हुआ जान पड़ता है। किंतु इस पूर्वापर-काल का विचार किसी भी ऋग्वेद के अभ्यासक ने न करने के कारण यह वर्णन उसी वसिष्ठ का किया मान उसके बारे में उन अभ्यासकों के मन में बड़ी गड़बड़ी उठती है। क्योंकि प्रत्यक्ष युद्ध का वर्णन केवल इस सूक्त में है और वह श्रुत-दृष्ट नहीं होने के कारण पूर्ण सत्य नहीं है। इसी प्रकार विश्वामित्र का विश्वामित्र-नदीसंवाद भी है। संवाद दृष्टि से सूक्त बहुत सुन्दर है, पर ऐतिहासिक दृष्टि से उसे अधिक महत्त्व नहीं दे सकते। सुदास्कालीन विश्वामित्र का तो वह हो ही नहीं सकता। पुरानी कथाएं कहने के जमाने का है यह सूक्त, और इस बात के प्रमाण में 'समभक्त विप्रः सुमतिं नदीनाम्' यह सूक्तगत वाक्य ही दिया जा सकता है। वही स्थिति है ३-२३ सूक्त की। इसमें जिस दृषद्वती का वर्णन है वह नदी आज भी चेदिदेश में बहती है। इस पर से सूक्त, वर्णित देवश्रवा तथा देवरात दोनों राजा चैद्य देश के ही जान पड़ते हैं। यहां भी गाथिन विश्वामित्र की ध्रुव ऋचा सूक्त के अंत में जोड़ दी गई है।

३-६२ क्रमांक का सूक्त छह देवों पर है—हर एक देव का वर्णन तीन-तीन ऋचाओं में, ऐसी अठारह ऋचाएं इस सूक्त में हैं। अनुक्रमणिकाकार का कथन है कि अंतिम तृच् कदाचित् जमदग्नि का बनाया होगा। आद्य विश्वामित्र का आद्य गायत्री मंत्र अन्यत्र कहीं ऋग्वेद में आया नहीं। अतएव इस विश्वामित्र ने अपनी सवितृ विषयक तीन ऋचाओं में उसे स्थान दिया होगा।

६८. लगभग इसी समय अर्थात् महाभारत युद्ध-के दो-एक पीढियां पूर्व समाज में एक अत्यंत महत्व की रीति प्रचलित हुई। तब तक विवाह एक समयाचार माना जाता था। समय से अर्थात् संकेत या ठहराव से जो आचार रूढ़ थे वे समयाचार। विवाह का ठहराव कुछ शर्तों पर किया जाता था। इन शर्तों के भंग होने पर ठहराव भी भग्न हो सकता था। श्वेतकेतु ने इसे सुधारना चाहा। किंतु यह सुधार पूरा होकर विवाह के समयाचार की जगह पर संस्कार करार दिया गया इस समय। समयाचार सामाजिक होता है। संस्कार धार्मिक होता है। उसे जीवन भर निभाना पड़ता है। अग्नि में केवल आहुति डालने की भावनात्मक प्रवृत्ति में से जैसा यज्ञ का धार्मिक संस्कार निर्माण हुआ और उसे मंत्रों की आवश्यकता प्रतीत हुई, उसी प्रकार से स्त्री-पुरुषों को संतति-निर्माण करने के लिये कुछ शर्तों पर एकत्रित रहने के समयाचार का धार्मिक विवाह संस्कार निर्माण करने के लिये मंत्रों की आवश्यकता थी। वे मंत्र रचने का काम सवितृ नामक ऋषि को सूर्या नामक ऋषिका ने किया। और वह ठीक ही था। क्योंकि संस्कार के पश्चात् जो उत्तरदायिताएं प्राप्त होती हैं वे पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को ही अधिक आवश्यक हैं। इस ऋषिका ने, उसके समय विवाह में जो रूढियाँ चलती आई थीं, उसके अनुरूप मंत्र तैयार किये। इन्हीं मंत्रों से युक्त १०-८५ क्रमांक का सूक्त है। यह पूर्व में देखा ही गया है कि सूर्या अश्विनौ के रथ में चढ़ी थी। उसी सूर्य-कन्या सूर्या के विवाह में मानों ये मंत्र कहे गये, ऐसा भास इस ऋषिका ने निर्माण किया है। सूर्या की जगह किसी दूसरी देवपत्नी को भी वह चुन सकती थी। पर उसने अपने ही नाम की देवता खोजी और वर्णन किया। गृह्य संस्कारों में सबसे प्राचीन संस्कार विवाह है और इसी कारण से केवल उसी संस्कार के मंत्र छंदोबद्ध होकर ऋक् संहिता में समाविष्ट हुए।

६९. अब थोड़ा इस सूक्त की ओर ध्यान दें। इस ऋषिका को जो संस्कृतीकरण साधना था, उसे सत्य स्वरूप देने के लिये उसने 'सत्येनोत्तभिता

भूमिः' इस प्रकार की सत्यस्तुति से ही सूक्त का आरंभ किया। इस क्रिया को सूर्य चंद्र साक्षि रूप रखने के लिये उसने सोम को सोमवल्ली से पृथक् किया और नक्षत्रों के पास बिठा कर हमेशा के लिये उसे चंद्रमा का स्वरूप दे डाला। उसने यहां तक कह डाला कि 'सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन' ब्रह्म अर्थात् ज्ञान जानने वाले जिस सोम को पहचानते हैं उसे कोई खाता नहीं है। इसका यह कथन कि ये मंत्र आच्छद्विधान है अत्यंत महत्व का है। संस्कार में क्रिया क्या जाता है? जो विधि करनी हो उस पर मंत्र का आवरण डाला जाता है। यह शब्द इसी का बनाया हुआ है। वर का वधू के घर जाना, पिता द्वारा लड़की को उसके स्वाधीन करना वर द्वारा वधू का हाथ पकड़ना, उसका पहिना हुआ वस्त्र दे डालना, पिता के घर से जाना, पति के घर वाहन में बैठ कर पहुंचना, और उस घर की सम्राज्ञी बनना ये जो विधान तत्कालीन समाज में समयाचार के अनुसार होते थे उन पर उसने मंत्र रचना की। तब से आज तक इन्हीं मंत्रों का प्रयोग विवाह संस्कार में होता आया है। यहाँ यह भी देखना अनुचित न होगा कि विचारों की तथा मंत्रों की परंपरा कैसी चलती आती है। विश्ववारा आत्रेयी ने अग्नि की प्रार्थना करते समय कहा था कि 'सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व'। यह सूर्या भी उस सिद्धांत को भूली नहीं। यह सारे ही देवों की प्रार्थना करती है और कहती है कि 'सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः'—हे देवो, पति पत्नी के नाते से हमारा व्यवहार भली भांति नियमित हो। स्त्री के ही मुख से यह विचार उचित जान पड़ता है क्योंकि उस अनियमितता का परिणाम पुरुष को नहीं भोगना पड़ता, स्त्री को ही सहन करना पड़ता है।

७०. अब इस शौनक युग के प्रसिद्ध अंतिम सूक्तकार मधुच्छंदस् वैश्वामित्र के सूक्तों का विचार करने पर ऋग्वेद सूक्तों का कालक्रमानुसार किया हुआ दर्शन लगभग समाप्त ही होगा। लगभग कहने का कारण यह है कि फिर केवल पवमान सूक्तों का दर्शन ही बाकी रहेगा। वह काम अगले प्रकरण में करना है। आज जो ऋक्संहिता हमारे संमुख है उसका तो आरम्भ ही मधुच्छंदस् के 'अग्निमीळे' से होता है। इसलिये प्रथम इसका विचार करना होगा कि यह मधुच्छंदस् अंतिम सूक्तकार कैसे माना जावे। वेदव्यास की देखभाल में संहितीकरण का और विशेष कर मंडलांतर्गत क्रम निश्चित करने का काम दिया गया वह मधुच्छंदस् ही होगा ऐसा अनुमान

किया जा सकता है। ऋषि मंडल सप्तक में से इस संहिता के लिये सौम्य मंडल जो अलग निकाला गया उन सूक्तों के ऋषियों का क्रम है—मधुच्छंदस् मेधातिथि, शुनःशेप, हिरण्यस्तूप इत्यादि। अन्य मंडलों में से शतर्चिन् ऋषियों के सूक्त अलग निकालकर जो प्रथम मंडल बनाया गया उसमें भी प्रथम चार ऋषियों का यही अनुक्रम दिखता है। इस पर से यह कल्पना पुष्ट होती है कि यह क्रमरचना किसी एक के ही हाथों हुई होगी। इसी रचना पर से यह भी समझ में आता है कि मधुच्छंदस् ने अपने ही सूक्त प्रथम क्यों रखे होंगे। सूक्तों का क्रम देखते समय ध्यान में आता है कि नूतन कवि के प्रथम, और प्राचीनों के उनके बाद रखे गये हैं। उदाहरण के लिये मेधातिथि काण्व के अनंतर काण्व घोर के, नोधा गौतम के पश्चात् गौतम राहूगण के इत्यादि। अतएव सबसे अर्वाचीन इस नाते से मधुच्छंदस् के सूक्तों से आरम्भ हुआ होगा। आज भी कवि संमेलनों में या गाने की मैफलों में ऐसा ही किया जाता है। इसीलिये प्रथम मंडल का आरंभ मधुच्छंदस् के अग्निमीळे के सूक्त से हुआ है।

७१. मधुच्छंदस् ऋषि के अर्वाचीनत्व के विषय में और भी एक प्रमाण दिया जा सकता है। जेता माधुच्छंदस और अघमर्षण माधुच्छंदस नाम के इसके दो पुत्र थे। पहले का एक अत्यंत साधारण सूक्त (१-११) संहिती-करण के पश्चात् पर शाकल का पदपाठ होने के पूर्व धीरे से पिता जी की छत्रछाया में मधुच्छंदस् के दस सूक्तों के बाद स्थान मिलाकर संहिता में समाविष्ट हो गया। दूसरे पुत्र अघमर्षण के सूक्त को भी संहिता के दसवें मंडल के अखीर-अखीर में जगह मिल गई। किंतु यह जगह मिली शाकल के पदपाठ करने के बाद। अतएव सारे ऋग्वेद के सूक्तों में यही एक ऐसा सूक्त है जिसका वैदिक परंपरा में पदपाठ नहीं किया जाता। जिनका पद पाठ नहीं किया जाता ऐसे कुछ छुट-पुट मंत्र संहिता में समाविष्ट हैं। पर यह तो सूक्त का सूक्त पदपाठ रहित है। और इसका कारण केवल यही है कि पदसंहिता तैयार हो जाने के बाद ये ऋग्वेद संहिता में समाविष्ट हुए। यह भी केवल मधुच्छंदस् के महत्व के कारण से हुआ जान पड़ता है। अतएव एक पुत्र के सूक्त का समावेश पदपाठ के पूर्व और दूसरे पुत्र के सूक्त का पदपाठ होने के बाद। किन्तु इससे सिद्ध यही होता है कि इन दोनों पुत्रों का पिता मधुच्छंदस् संहितीकरण के बिलकुल अंतिम दिनों में ही हो गया।

७२. मधुच्छंदस् के दसों सूक्त संहिता के प्रथम मंडल के प्रारंभ में ही हैं। प्रथम सूक्त अग्नि पर है। अंतिम ऋचा 'स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये' स के अनुप्रास से भरी है। दूसरे तथा तीसरे सूक्त में वायु, इंद्रवायू, मित्रावरुणौ, अश्विनौ, इंद्र और विश्वेदेवाः को अनुक्रम से तीन-तीन ऋचाएं वर्णन करती हैं। यजुर्वेद में सोमग्रहों का क्रम कहते हुए जो क्रम दिया हुआ है वह और यह क्रम एक ही है। अर्थात् आधार है सोमग्रह क्रम और आधेय हैं ये सूक्त। आगे के सातों सूक्त इंद्र पर हैं। चौथे में इंद्र को 'सुपारः सुन्वतः सखा' कहा है। पांचवें सूक्त में 'सोमः सचा सुते' ध्यान खींचता है। छठवें में 'केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे' यहां विरोधाभास अलंकार स्पष्ट दीख पड़ता है। सातवें में पाँच ऋचाएं 'इंद्रादि' हैं और आठवें की तीन 'एवादि' हैं। नववें में 'मदिर्मिद्राय मंदिने' अनुप्रास युक्त हैं। सुरूपकृत्नु, तुज्जेतुज्जे, मुष्टिहत्या, पुरुनिष्षिध आदि नये शब्द भी मिलते हैं। सार यह कि थोड़ी कृत्रिमता तथा अलंकारयुक्तता के सिवाय इन सूक्तों में विशेष आकर्षक कुछ ही नहीं।

७३. मधुच्छंदस् के संहिता करने के बाद किंतु शाकल्यका पदपाठ होने के पूर्व कुछ सूक्त संहिता में अधिक समाविष्ट किये गये। इन्हें वालखिल्य सूक्त कहते हैं। कुछ हस्तलिखित प्रतियों में ये बिलकुल अंत में दिये मिलते हैं तो कुछ में अष्टम मंडल में ४९ से ५९ क्रम पर दिये रहते हैं। वालखिल्य शब्द में जो वाल शब्द है वह निरुक्त के अनुसार 'बालं पर्व वृणोतेः' पर्व, संधि के अर्थ में है। 'खिल्य' शब्द (१०–१४२) सूक्त में 'उत खिल्या उर्वराणां भवंति' चरण में आया है जहां उसका अर्थ होता है––उपजाऊ खेत के बीच-बीच की बंजर जमीन। इस पर से कहा जा सकता है कि संधि, संहिता, करते समय जो बहुत उपयुक्त नहीं ऐसा भाग भरा जाता है उसे वालखिल्य कह सकते हैं। ये ग्यारह सूक्त कण्व कुल के ही ऋषियों के हैं। इसीलिये ये कण्वनामक अष्टम मंडल में अंकित हुए। ऋषियों के नाम हैं प्रस्कण्व, पुष्टिगु, श्रुष्टिगु, आयु, मेध्य, मातरिश्वन्, कृश, पृषध्र और सुपर्ण। इनमें से केवल मेध्य के तीन सूक्त हैं। शेषों का एक-एक ही सूक्त है। इनमें आठ हैं इंद्र पर, सुपर्ण का है इंद्रावरुणौ पर और मेध्य का इंद्र के अतिरिक्त एक अश्विनौ पर और एक विश्वेदेवों पर। इस प्रकार देवों में विभाजित हैं ये ११ सूक्त। नाम मात्र से ही कल्पना हो सकती है कि इनमें कुछ विशेष न होगा। फिर भी इन सूक्तों में त्रसदस्यु, पक्थ, गोशर्य, दीर्घनीथ, दस्यवे वृक,

रुशम इत्यादि नाम पाये जाते हैं। पूर्व में कहे अनुसार यह त्रसदस्यु तृतीय है और उसी का समकालीन दूसरा दस्यवे वृक है। मेध्य की एक ऋचा ध्यान देने योग्य है। वह कहता है कि 'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः। एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति एकं वा इदं प्रबभूव सर्वम्॥ इस पर से ध्यान में आता है कि एकीकरणक्रिया कैसी बढ़ रही थी। इंद्रावरुणौ के सूक्त में इन देवों ने यजमान को धन तो देना ही चाहिये पर उसी के साथ 'अदृप्त सौमनस्' गर्वहीन सन्मति देनी चाहिये ऐसी सुपर्ण काण्व की याचना है।

७४. अब शेष रहा केवल एक ही सूक्त। वह है क्रमांक १०-१९० का अघमर्षण माधुच्छंदस का। इसमें सृष्ट्युत्पत्ति की अपनी निजी कल्पना अघमर्षण ऋषि ने दी है। परंतु है यह कल्पना थोड़ी गूढ गुंजन की सी है। प्रथम तप, फिर ऋत और सत्य, उसके पश्चात् रात और उसके बाद अर्णव समुद्र। उसमें से संवत्सर निकला और फिर सूर्य चंद्र। लेकिन पृथ्वी, अंतरिक्ष और आकाश के साथ यह सब 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'। इस पर से जो कुछ समझा जा सकता है वह समझ लीजिये। मैं अभी तो इतना ही समझ रहा हूं कि यदि धाता ने सारा ही यथापूर्व बनाया है, तो यह ऋग्वेद का कालानुक्रम सूक्तदर्शन भी यथापूर्व ही हो रहा है। अघमर्षण नाम पर से वैदिक ब्राह्मणों ने स्नान करते समय पानी में पाप बहाने के लिये जो गोता लगाते हैं उस अघमर्षण गोते के लिये इस सूक्त का उपयोग करने को कहा है। अतएव यह कालक्रम निश्चय करने में यदि कहीं पातक का स्पर्श हुआ हो तो उसे दूर करने के लिये इस स्तोत्र के साथ थोड़ी देर गोता लगाता हूं और कहता हूं 'जय वेदमाता की। श्रुतिमाता की जय हो।'

दशम प्रकरण

पवमान सूक्त

१. गत नौ प्रकरणों में ऋग्वेद के १०२७ सूक्तों में से ९३६ सूक्तों का दूर-दूर से ही क्यों न हो पर थोड़ा-थोड़ा दर्शन लिया। इनमें पावमान मंडल के केवल बीस ही सूक्त देखे। अब इस प्रकरण में शेष ९२ सूक्तों का विचार करना है। ये सारे सूक्त पवमान अर्थात् शुद्ध रूप में बहनेवाले तथा शुद्ध करनेवाले सोम पर हैं। रचना होते समय ये भिन्न-भिन्न ऋषि-मंडलों में समाविष्ट थे। किंतु संहितीकरण के समय इन्हें अलग निकाल इनका एक स्वतंत्र मंडल बनाया गया। अन्य देवताओं की अपेक्षा सोम की विशेषता दिखाने वाली यह एक ही बात सोम का महत्व सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। अतएव प्रथम इस सोम के बारे में ही थोड़ा विचार करना अनुचित न होगा।

२. हमारे पुराण पूर्वजों द्वारा जिन बातों का संशोधन हुआ, उन सब में सोम का संशोध एक विलक्षण महत्ता रखता था। ज्ञात नहीं कि यह किसने कैसे और कब किया। भिन्न-भिन्न निर्देशों पर से निश्चित रूप में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सोम नाम की एक बेल थी। यह जमीन के सरपट बढ़ती थी। इसके तंतु नीचे की ओर बढ़ते थे और इसी लिये इसका टुकड़ा भी जड़ पकड़ सकता था। पानी के किनारे-किनारे यह फैलती जाती। इसके कोंपले प्रथम अरुण वर्ण के रहते, थोड़े बढ़ने पर उनका रंग हरित होता था और पक जाने पर वे बभ्रु-भूरे वर्ण के होते थे। इन्हें कूटने से इनमें से एक मधुर सुगंधि रस निकलता था जिसके सेवन से निर्बल मनुष्य में भी एक प्रकार की ताकत पैदा होती थी और एक प्रकार की ऐहिक बातों की विस्मृति सी हो जाती थी। कवष ऐलूष ने इसे मौजवत् कहा है जिस पर से माना जा सकता है कि यह मूजवत् नाम के पर्वत पर होती होगी। पर यह एक आश्चर्यभरी बात है कि आज हमें सोम पूर्णतः अज्ञात है। वनस्पति की पहिचान न रखना संभवनीय हो सकता है पर अत्यंत

आश्चर्य इस बात का है कि हमें मूजवत् पर्वत भी अज्ञात है। और यह आज की ही स्थिति नहीं है। महाभारत युद्ध के समय भी न हम सोम को पहचान सकते थे न मूजवत् पहाड़ भी हमें ज्ञात था। कारण केवल यही हो सकता है कि सोमसुत बुध और भृगु जब उत्तर से यहां आये, उसके बाद हमारे ऋषि स्वयं जाकर सोम तोड़कर कभी न लाये वे हमेशा मौजवान लोगों से इसे मोल ही लेते रहे। आज भी हम जो चीजें मोल लेते हैं उनका उत्पत्तिस्थान न जानते हैं और न वह हमारे ध्यान में रहता है। ठीक ऐसी ही कुछ बात सोम के विषय में हुई होगी।

३. जब सत्य ज्ञात नहीं रहता वहीं कल्पना को अवसर मिलता है। यजुर्वेद में राजसूय यज्ञांतर्गत साकमेध विधि के अंत में त्र्यम्बक पुरोडाश दिया जाता है जिसके पश्चात् अवततधन्व, पिनाकहस्त, कृत्तिवासा रुद्र की मूजवत् पर्वत के उस पार जाने के लिये प्रार्थना की जाती है। इस पार से कल्पना की जा सकती है कि मूजवान् नामक पर्वत हमारे देश की चरम सीमा पर होगा। 'मूज' शब्द स्वतंत्र रूप में संस्कृत भाषा में कहीं नहीं मिलता। इस पर से मानना पड़ता है कि यह किसी असंस्कृत भाषा का शब्द होगा। किंतु आगे चलकर 'मूज' शब्द 'मुंज' शब्द में परिवर्तित हो गया सा दिखता है। यास्क अपने निरुक्त में कहता है—'मूजवान् पर्वतो मुंजवान्'। मूजवान् का मुंजवान होजाने पर सायण ने भी अपने १-१६१-८ ऋचा के भाष्य में 'मुंजनेजन' शब्द पर टीका लिखते समय कह डाला कि 'मुंजवान्नाम पर्वतः सोमोत्पत्तिस्थानम्। मुंज एक प्रकार के घास को कहते हैं और उसका 'मूज' शब्द से कुछ भी संबंध नहीं है। मूजवान् को मुंजवान् कहने से मूज का अर्थ मुंज नहीं हो सकता।

४. मूज शब्द संस्कृत नहीं है। कल्पना यही करनी होगी कि जिस उत्तरविभाग की ओर से हम इस देश में उतरे, उसी देश की भाषा का यह शब्द होगा। इस उत्तरविभाग में प्रचलित मोंगोलियन भाषा के पुराने रूपों में यह शब्द मिलता है। इस भाषा में पहाड़ को कहा जाता है ताघ। मोंगोलियन पुराने भूगोल में उलूघ ताघ, कूचिक ताघ, मूजताघ तथा बेलूत ताघ नाम के मोंगोलियन देश के दक्षिण में चार पहाड़ों का निर्देश है। उलूघ ताघ नाम का अर्थ होता है महापर्वत, कूचिक ताघ का लघुपर्वत, मूजताघ का हिमपर्वत तथा बेलूत ताघ का काला पहाड़। मोंगोलियन कोश में दिये हुए इन अर्थों पर से मूज का अर्थ हिम करने में कुछ अड़चन नहीं। इसी भूगोल में मूजताघ से

लगे हुए पर्वत को हिंदुकुश कहा गया है। कुश का अर्थ पहाड़ होता है। इस पर से मूजवान् अर्थात् बर्फ का पहाड़ और हिंदुकुश अर्थात् हिंदु का पहाड़ अर्थ निकलता है। मोंगोलियन क्षेत्र के हिमपर्वत को हमने मूजवान् कहा होगा, कारण हिमवान् पर्वत हमारे यहां था ही और हमारे क्षेत्र के पर्वत को वे हिंदुकुश कहने लगे होंगे।

५. किंतु यदि ऐसा है तो हिंदुकुश शब्द में जो हिंदु शब्द है उसका भी विचार करना आवश्यक है। मूजवंत लोग यदि हमें हिंदु कहते होंगे तो यह हिंदु शब्द कहां से आया होगा ? पाश्चात्य पंडितों ने हमारी दृढ़ कल्पना करा दी है कि हिंदु शब्द सिंधु से बना है। पर यह ध्यान में रखना चाहिये हमारा नाम सिंधु कभी था ही नहीं। यह सच है कि कुछ लोग 'स' के बजाय 'ह' का प्रयोग करते हैं। पारसी लोग हमारे सप्तसिंधु को हप्तहिंदु कहते होंगे और उन्होंने हमारे सोम का होम भी किया होगा। किंतु संस्कृत में 'सु'—रस निकालना और 'हु'—अग्नि में ईश्वरार्थ कुछ अर्पण करना, ये दो धातु बिलकुल अलग-अलग हैं। इसलिये यह बात तर्कसंगत नहीं लगती कि परकीयों ने हमें हिंदु कहा और हमने उस अशुद्ध नाम को स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त पारसीलोगों ने हमें हिंदु कहने के पूर्व मोंगोलियन मूजवंत, जो हमें सोम लाकर देते थे, उन्होंने यह शब्द कहां से लिया। प्राचीन काल में हम सोम को इंदु कहते थे। यह इंदु हमें मूजवंत लोगों से प्राप्त होता था। हमें वे ही इंदु लाकर बेचते थे। इस पर से तो यही कल्पना अधिक विचारार्ह होगी कि जिस पहाड़ के पार के लोग इंदु मोल लेते थे उनको ही मूजवंत लोगों ने 'इंदु' कहा होगा और उस पहाड़ को इंदुकुश। फिर जैसा 'अये' का पुरानी वैदिक संस्कृत में 'हये' होता है वैसा 'इंदुकुश' का हिंदुकुश हुआ होगा। सार यह कि हिंदु शब्द की व्युत्पत्ति सिंधु शब्द पर से निकालने की अपेक्षा इंदु पर से निकालना ही अधिक तर्क-संगत है। अस्तु। प्रकृतमनुसरामः।

६. गत प्रकरणों में नवम मंडल के बाईस ही सूक्तों का विचार हुआ। अतएव यहाँ प्रथम उनका सिंहावलोकन कर लें। शुनःशेप का १–२८ क्रमाङ्क का सबसे प्राचीन सोमसूक्त है। उस समय ओखली में कूट कर उसका रस निकालते और बैल के चमड़े पर उसे रखते थे। इस सूक्त में सोम को केवल एक वनस्पति मान कर ही विचार किया हुआ है। और यही कारण है कि पवमानसूक्तों में समाविष्ट होने का आदर इस सूक्त को न दिया

गया। ऋषि लोग सोम को वनस्पति भी मानते थे और उसके सेवन से जो सामर्थ्य प्राप्त होता था उसके कारण से उसे देव भी। देवता मानकर जो सूक्त रचे गये थे उन सबको नवम मंडल में एकत्रित किया है। इनमें भी शुनःशेप का क्रमांक ३ का सूक्त है। इन दोनों सूक्तों पर से यह कहा जा सकता है कि उस समय लकड़ी की ओखली में लकड़ी के ही मूसल से कूटकर उसका रस निकालते थे। फिर उसमें पानी मिलाकर उसे छान लेते और पात्रों में भर रखते थे। उस समय सोम ताजा मिलता होगा। इसी से उसका रस शीघ्र और बहुत निकलता होगा और उसे दर्भपवित्र से छानते भी होंगे। अगले कण्वयुग काल में वह ताजा न मिलने लगा। इसलिए उस बासे सोम को कूटने का काम लकड़ी के साधनों से होना कठिन हुआ। अतएव ग्रावन् याने पत्थरों के साधनों से काम लिया जाने लगा। कूटने के बाद उसमें पानी मिलाकर उसे उंगलियों से मसल कर उसका रस निकाला जाने लगा। इस रस को छानने के लिये दर्भपवित्र अपर्याप्त पड़ने लगा। तब उसे ऊन के कपड़े से छानने लगे। इसका स्वाद भी उतना मधुर न रहने से माधुर्य लाने के हेतु उसमें दूध मिलाने लगे। यह दूध कभी-कभी खटास से जब फटने लगा तब अत्रियुग में दूध के स्थान में दही ही मिलाने लगे। आगे वसिष्ठ-युग में तो दही मिलाकर भी सेवन करना जब कठिन हुआ, तब उसमें समयानुसार यव का आटा भी मिलाने लगे। सोम-सेवन का यह विकास-क्रम ध्यान में रखना होगा।

७. ये बाईस सूक्त रचे हुए हैं नौ सूक्तकारों द्वारा ? विश्वामित्र-युग का एक ही सूक्तकार है शुनःशेप आजीगर्ति, या जो आगे जाकर देवरात वैश्वामित्र कहलाया गया। कण्वयुग के चार सूक्तकार हैं—कण्व घौर, अयास्य आंगिरस और त्रित तथा द्वित आप्त्य। अत्रियुग के भी सूक्तकार चार ही हैं—श्यावाश्व आत्रेय, कवि तथा वेन भार्गव और प्रभूवसु आंगिरस। इन नौ को छोड़ दिया जाय तो अन्य सारे पवमान सूक्तकार शौनक युग के ही हैं। इनमें किन्हीं ने एक या उससे अधिक सूक्त बनाये हैं। कुछ सूक्तकारों ने स्वतंत्र सूक्त न बनाकर दूसरे किसी एक के या अनेकों के साथ मिलकर बनाये हैं। इनमें भी सबसे अधिक सूक्तकार कश्यप-कुल के हैं। स्वयं कश्यप के हैं पांच सूक्त, निध्रुवि का है एक और अवत्सार काश्यप के हैं आठ। सब मिलाकर होते हैं चौदह। सबसे अधिक सूक्तों का रचयिता है काश्यप असित या देवल। इसके सूक्तों की संख्या है उन्नीस। इस प्रकार कश्यप-कुलोत्पन्न सूक्तकारों

के सब मिलाकर होते हैं तैंतीस। इसलिए प्रथम इन तैंतीस सूक्तों की ही चर्चा करें।

८. पूरे ऋग्वेद में एक ऋचा का ही का एक सूक्त रचकर जो प्रसिद्ध हुआ वह अत्रियुग के आरम्भ काल का कश्यप इस कश्यप से अलग था। अतएव शौनक-युग के इस कश्यप को द्वितीय कश्यप कहना पड़ेगा। इस द्वितीय कश्यप के नवम मंडल में क्रमांक ६४, ९१, ९२, ११३ तथा ११४ के पाँच सूक्त हैं। प्रथम सूक्त में वृषा शब्द की पुनःपुनः आवृत्ति करने में इसने कमाल कर दी है। चौबीस अक्षर के गायत्रीछंद में इसने 'वृषन्' शब्द 'वृष्णसो वृष्ण्यंशवो वृषा वनं वृषा मदः। सत्यं वृषन् वृषेदसि' यहाँ छः बार प्रयुक्त किया है। इसके किये हुए वर्णन से जान पड़ता है कि कूटे हुए और पानी मिलाये हुए सोम को मसलने में अधिक जोर लग सके, इसलिए ऋत्विज लोग सोने का छल्ला उंगली में डालने लगे थे। इसके समय सोमयाग गायें, घोड़े तथा पुत्र मिलने के लिये किया जाता था। इसने कहा है कि सोम को 'सहस्रभर्णस'—हजारों शब्दों से भरा स्तोत्र अच्छा लगता है और इसीलिये रथी जैसे घोड़ों को प्रेरणा देता है, वैसे ही सोम कवियों की बुद्धि को प्रेरणा देता है। संख्यावाचक शब्दों का प्रयोग भी यह बहुत करता है। सप्त-विप्राः, पंच जनाः, त्रय एकादशासो देवाः, सप्त नद्यः इत्यादि शब्द-प्रयोग इसके सूक्तों में मिलते हैं। अंतिम दो सूक्तों में 'इंद्रायेदो परिस्रव' यह[२] ध्रुव-चरण जोड़कर अनुष्टुप् छंद का सूक्त पंक्ति छंद का बना डाला है—और वह भी व्यर्थ, क्योंकि हर एक ऋचा में उसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

९. अवत्सार काश्यप के क्रमांक ५३ से ६० तक के आठ सूक्त हैं। प्रत्येक सूक्त की चार-चार ऋचाएँ मिला कर आठ सूक्तों की ऋक्संख्या होती है बत्तीस, तो निध्रुवि काश्यप का क्रमांक ६३ का एक ही सूक्त तीस ऋचाओं का है। अवत्सार निर्भय चित्त से सोमस्तुति 'अबिभ्युषा हृदा' करता है। 'इभ' शब्द का किसी ने न किया हुआ 'गतभय' अर्थ करके इसने उसे राजा के विशेषण के नाते प्रयुक्त किया है। एक उपमा का भी उपयोग किया है पर वह उतनी उचित नहीं जान पड़ती। उपमा है—'अभि त्वा योषणो दश जारं न कन्या अनूषत।' दस उंगलियों को दस स्त्रियां बनाकर उन्हें प्रिय पुरुष को बुलाने वाली कन्या की उपमा देना कहाँ तक उचित है, इसका पाठक स्वयं ही निर्णय कर सकते हैं। ५८वाँ सूक्त देखिए। पहली ऋचा है—'तरत्स मंदी धावति धारा सुतस्यांधसः। तरत्स मंदी धावति।' प्रथम और तृतीय चरण एक ही

है। यास्क का निरुक्त देखकर भी सायण ठीक से अर्थ न लगा सका। दोनों चरणों का अर्थ ऐसा किया है कि मंदी, अर्थात् स्तुति करने वाला, पाप में से तैर जाता है और धावति याने 'गच्छत्यूर्ध्वां गतिम्।' यह ऊर्ध्व गति सोम की धारा के अर्थ में लग नहीं सकती। ऊपर-ऊपर देखने से भी 'मंदी' और 'धावति' में विरोधाभास स्पष्ट जान पड़ता है। अतएव मंदी याने मंद गति से बहने वाली सोम-धारा पात्र भरके दौड़ने लगती है—यह अर्थ उक्त विरोधाभास को अधिक स्पष्ट करेगा। अंत में 'ध्वस्र' तथा 'पुरुषंति' ऐसी दो व्यक्तियों का उल्लेख कर सूक्त को दुर्बोध बना दिया है। इसी युग के कुत्स आंगिरस के अश्विनौ पर प्रदीर्घ सूक्त में 'ध्वसंति' तथा 'पुरुषंति' ऐसे जो व्यक्ति-नाम आये हैं, उन्हीं को यहाँ कहा गया है ध्वस्र और पुरुषंति। इस से दुर्बोधता बढ़ ही जाती है। इस सूक्त की ऋचाओं का परस्पर सम्बन्ध दूर का है तो अन्तिम साठवें सूक्त में एक ऋचा के अंतिम चरण के शब्द दूसरी ऋचा के प्रथम चरण में प्रयुक्त कर दाम अलंकार की योजना की है। एवं अट्ठानवें सूक्त की रचना शिथिल है तो यह दाम से जकड़ी हुई है। निध्रुवि काश्यप का ६३वां सूक्त प्रदीर्घ होने पर भी कुछ विशेषता न होने के कारण थकान ही पैदा करता है।

१०. कश्यप के असित या देवल नामक पुत्र के क्रमांक ६ से २४ तक के उन्नीस सूक्त हैं। एक सा इतने सूक्तों में सोम के विषय में कहेगा भी क्या? सोम कूटने के पत्थरों की आवाज़, पानी में उसे मसल-मसलकर रस निकालना, 'दशापवित्र' नाम की ऊनी साफी से रस को छानना और दूध, दही या यवागू उसमें मिलाना। फिर-फिर से घुमा-फिराकर ये ही बातें आने वालीं और वैसा ही इन उन्नीस सूक्तों में हुआ भी है। फिर भी कहीं-कहीं नई झलक आ ही जाती है। ऋषि कहता है, 'यमत्यमिव वाजिनं मृजंति योषणो दश। वने क्रीळंतमत्यविम् है।' यहाँ वन, अवि तथा मृजंति श्लिष्ट हैं, अर्थात् दो-दो अर्थों में प्रयुक्त हैं। जंगल में खेलने वाले और बंधे स्थान में न रहने वाले सबल अश्व को जैसे दस स्त्रियां पकड़कर खुजाने के साधनों से उसका शरीर खरारती हैं उसी तरह ये दस अंगुलियां पानी में खेलने वाले और दशापवित्र में न समाने वाले सोम को मसलती हैं। 'गोभिर्वासयामसि' अर्थात् दूध-दही मिलाते हैं, इस प्रयोग में 'वास' धातु का प्रयोग इन वस्तुओं को सोम को ढांकने वाले वस्त्रों की कल्पना पैदा करता है। गायें बड़े जोर से हंभार कर बछड़े को दूध पीने के लिये बुलाती हैं, वैसे ही ब्राह्मण सूक्तपाठ कर सोमरस पीने के लिये इंद्र को बुलाते हैं। कूटे जाने वाले सोम के कुछ

अंकुर थोड़े ऊपर आये कि ऋषि ने उन्हें सींगों की उपमा दी ही। कहीं सूक्त की प्रत्येक ऋचा का आरम्भ 'एष' से तो कहीं 'एते' रूप से। 'देवं देवाय देवयु', मधावाधावता मधु', 'जघान जघनच्चनु' ऐसे अनुप्रास भी कहीं जमाये गये हैं। 'मदेषु सर्वधा असि'—'मद में आने पर तुम सब कुछ दे सकते हो' यह एक सूक्त का ध्रुव चरण है। बाईसवें सूक्त में एक युग्म का—अर्थात् अर्थ करने के लिये जिन दो ऋचाओं को संयुक्त करना होता है—प्रयोग है। ऐसे हैं ये उन्नीस सूक्त।

११. अब अंगिरस् कुल के ऋषियों के सूक्तों को देखें। इनमें नृमेध के दो (२७ और २९), प्रियमेध का एक (२८), बिंदु का एक (३०), रहूगण के दो (३७, ३८), बृहन्मति के दो (३९-४०), उचथ्य के तीन (५०, ५१, ५२), अमहीयु का एक (६१), हिरण्यस्तूप के दो (४, ६९), हरिमन्त का एक (७२) और पवित्र ऋषि के दो (७३, ८३)—ऐसे कुल सत्रह सूक्त हैं। नृमेध ऋषि ने अपने प्रथम सूक्त की प्रत्येक ऋचा का आरम्भ 'एष' शब्द से किया है। प्रियमेध ने भी उसीका अनुसरण किया है और सोम को प्रत्यक्ष 'वृत्रहा' ही कह डाला है। नृमेध ने अपने दूसरे सूक्त में 'निदो मुमुच्महे' की प्रार्थना की है जिस पर से अनुमान किया जा सकता है कि इन सोम-सूक्तकारों की क्वचित् निंदा भी होती होगी। बिंदु के सूक्त में विचारणीय बिंदु भी नहीं। रहूगण का प्रथम सूक्त 'सः' से आरम्भ प्रत्यृच है तो दूसरा प्रत्यृच 'एष' से। दूसरे में 'गच्छन् ज़ारो न योषितम्' की उपमा व्यर्थ ही में दी हुई है। ३९वें सूक्त में बृहन्मति ऋषि अपने इसी नाम से सोम को संबोधित करता है। सोम के लिये 'रघुयामा' शब्द इसी अकेले ने प्रयुक्त किया है। इसकी प्रार्थना ही है, 'जरितुर्वर्धया गिरः'—स्तुति करनेवाले के शब्दों में वृद्धि करो। सोम जब छानते थे तब उसका जो शब्द होता था उसे 'वाण नामक वाद्य के शब्द की उपमा उचथ्य के क्रमांक ५० के सूक्त में दी गई है। अगले सूक्त में सोम को 'दिवः पीयूषमुत्तमम्' कहा गया है। तीसरे सूक्त में 'चरुर्नयस्तमींखय, इदो न दानमींखय, वर्धैर्वधस्नमींखय' इस प्रकार अंत्ययमक की योजना की हुई दिखती है। पहले चरण में 'चरु' शब्द का 'ओदन' अर्थ कर सायण ने व्यर्थ में ही अर्थ करने में खींचातान की है। यहां चरु का अर्थ, जैसा १-७-९ में मेघ किया गया है, वैसा ही करना ठीक है। 'वघस्नु' शब्द भी खास उचथ्य का ही बनाया है। इसका विनोदपरक अर्थ होता है—'पीटो ठमठम, सार निकलेगा धमधम'।

१२. छोटे सूक्त इतने ही हैं। आगे के सूक्त ऋचाओं की संख्या की

दृष्टि से या छंद से बड़े हैं। अमहीयु ऋषि का सूक्त ३० ऋचाओं का है। क्रमांक है ६१। इसने सोम को प्रियमेध के समान केवल 'वृत्रहा' ही नहीं कहा, अपितु इंद्र के सारे पराक्रम सोम के ही गले बाँध दिये हैं। निन्यानवे नदियों के पार सोम ही गया। दिवोदास के लिये शंबर का वध किया सोम ही ने। यदु, तुर्वसु इत्यादि पर कृपा की सोम ने ही। इस प्रकार इंद्र-विषयक सारी ही कथाओं का श्रेय इसने सोम को दिया। ऊपर से इस विषय में कोई कुछ न कह सके, इसलिये सोम को 'इंद्रस्य हृद सनिः' इंद्र के मन का धन कह दिया। 'हृदं सनि' शब्द अमहीयु का ही बनाया हुआ है। आंगिरस प्रियमेध के ८-६९ सूक्त की ग्यारहवीं ऋचा का अन्तिम चरण 'वत्सं सं शिश्वरीरिव' वैसा का वैसा ही उठाकर अपने सूक्त की १४वीं ऋचा का दूसरा चरण बनाया और फिर भी कोई उपहास न करे इसलिये 'रक्षा समस्य नो निदः' ऐसी अन्त में विनती भी की। हिरण्यस्तूप आंगिरस के सोम-सूक्त दो हैं। एक का क्रमांक है ४ और दूसरे का है ६९। क्रमांक ६९ के सूक्त में यह कहता है—"धनुष पर जैसे बाण लगाते हैं वैसे मैं अपनी बुद्धि सोम पर लगाता हूं। बछड़ा जैसे गाय के थन को चिपकता है वैसी वह सोम के विषय से चिपकती है। फिर दूध की धाराएं जैसी थन से निकलती हैं उसी प्रकार स्तुति भी बाहर पड़ती जाती है।" सोम को इसने कहा है 'मंद्राजनी'—अर्थात् धीरे-धीरे पैदा होने वाला। पात्र में सोमरस उंडेलने के पूर्व यह 'नभस्मय' उपस्तरण करने के लिये कहता है। उपस्तरण शब्द इसी का है और यहीं से 'अमृतोपस्तरणमसि' मंत्र से लिया गया है। ४थे क्रमांक के सूक्त में इसकी ध्रुव प्रार्थना है 'अथा नो वस्यसस्कृधि'—अब हमको श्रेष्ठ बना, धनी बना। हरिमंत का सूक्त है ७२वां। यह बड़े मजे से कहता है कि "इंद्र के पेट में जब सोमरस डाला जाता है तब 'साकं वदन्ति बहवो मनीषिणः' अनेक मनस्वी एकदम मंत्र बोलने लगते हैं।" इसका नया बनाया शब्द है 'विनंगृस'। सायण इसका अर्थ देता है, 'कमनीयं स्तोत्रं गह्णाति यः'—सुन्दर स्तोत्र धारण करने वाला स्तोता। धन के लिये भी इसने नया शब्द प्रयुक्त किया है 'सादन-स्पृश्', सम्पूर्ण घर को स्पर्श करने वाला। कितना सार्थ है यह विशेषण। पवित्र ऋषि के रचे क्रमांक ७३ तथा क्रमांक ८३ के सूक्तों में अन्तिम वाक्य बड़ा महत्त्व रखता है—'अत्राकर्तमवपदात्यप्रभुः' कर्तव्य करने में जो असमर्थ है उसकी यहीं अवनति होती है। गौरिवीति शाक्त्य का 'निधा' अर्थात् पाश शब्द लेकर इसने ८३वें सूक्त में एक निधापति निर्माण कर उसे अपने शत्रुओं को बांध रखने के लिये कहा है।

१३. भरद्वाज-कुल के चार ऋषियों ने सब मिलाकर छह सूक्त रचे हैं। गोतम का एक (३१), दीर्घतमस्पुत्र कक्षीवत् का एक (७४), वसु भारद्वाज के तीन (८०, ८१, ८२) और नोधा गौतम का एक (९३)। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये नाम पुराने ऋषियों के हैं, पर हैं ये सारे शौनक-युग के। सोम को द्युम्नवर्धन तथा भुवनपति मान, गोतम उसकी मित्रता चाहता है। कक्षीवत् ने भौम अत्रि का मेघवाचक कबंध शब्द लेकर सोम उस कबंध को फाड़ वृष्टि करता है, ऐसा वर्णन किया है। पूर्व में कहा ही गया है कि ऋषि लोग रस निचोड़ने के हेतु सोने का छल्ला हाथ में पहनते थे। इसी पर से वसु भारद्वाज सोम के रस-भरे पात्र को 'अयो हतयोनि' कहता है। ८१वें सूक्त में देवों के दो जन्म कहे गये हैं। एक 'अमुतः' स्वर्ग में और एक 'इतः' इस पृथ्वी पर। सोम देवों के इन दोनों जन्मों का जानने वाला है, ऐसा वसु भारद्वाज कहता है। ८२वें सूक्त में सोम के रिश्तेदार बतलाये हैं—पर्जन्यः पिता, पञ्चा याने पृथिवी, माता और आपोदेवता उसकी बहिनें। 'जायेव पत्यौ' इस प्रकार सोम यजमान को सुख देता है। यह उपमा भी कुछ अच्छी नहीं लगती। नोधा गौतम द्वितीय ने धीरस्य 'धीतयो धनुत्रीः' अनुप्रास नया बनाया है पर ध्रुव चरण पुराने नोधा का ही 'प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्' स्वीकारा है।

१४. सोमसूक्तकारों में दो काण्व भी हैं और दो वैश्वामित्र। मेध्यातिथि काण्व के क्रमांक ४१, ४२, ४३ के तीन सूक्त हैं और प्रस्कण्व काण्व का क्रमांक ९५ का है। ऐसे चार सूक्त हैं काण्वों के और रेणु तथा ऋषि वैश्वामित्रों का ७० और ७१ क्रमांक का एक-एक सूक्त है। इन छहों सूक्तों का अब विचार करना है। ४१वें सूक्त में कहा गया है, 'त्वेषा अयासो अक्रमुः। घ्नन्तः कृष्णामप त्वचम्'। इस पर से जान पड़ता है, सोमवल्ली अब इतनी बासी मिलने लगी थी कि उसके ऊपर की कृष्ण त्वचा (काली छाल) निकाल कर फिर ही चमकने वाला सोम बाहर निकालते होंगे। गाय, घोड़े तथा पुत्रों के साथ अब इष याने अन्न, ऊर्ज याने बल और हिरण्य याने धन प्राप्त होने के लिये भी सोमयाग होने लगे। पूर्व में कश्यप ने कहा था—'सं गोभिर्वासयामसि'। मेध्यातिथि ने कहा—'सं गीर्भिर्वासयामसि'। इसके शब्द—'गिरः शुंभंति' और वे सोम को 'गीर्भिः परिष्कृत' करते हैं। 'गीर्भिः शुंभंति अत्रयः' में से भाषा यद्यपि ली, फिर भी अलंकार न होने के कारण वह हवा में ही उड़ जाती है। प्रस्कण्व काण्व का ९५वां सूक्त इससे अच्छा है। द्वितीय गृत्समद का 'इयर्ति वाचमरितेव नावम्' चरण यह भी अपने सूक्त में रखता

है । फिर भी इसकी एक व्यंग्योपमा सरस है । यह कहता है, 'अपामिवेदूर्मय-स्तर्तुराणाः प्र मनीषा ईरते सोममच्छ। नमस्यंतोरुप च यंति सं चाविशं-त्युशंती रुशन्तम् ।' इसके शब्द और अर्थ दोनों मनोहर हैं—"पानी की लहरों के समान भर-भर आगे बढ़ने वाली मेरी मनीषाएं सोम की ओर झुकती हैं। नमस्कार करते-करते वे उसके पास जाती हैं और उसी की इच्छा रखते हुए वैसे ही उससे एकरूप हो जाती हैं।" यहां उशंती तथा उशत् दोनों विशेषणों के आगे विशेष्य न रखने से यहां का व्यंग्यार्थ बहुत मनोरम जान पड़ता है। रेणु वैश्वामित्र के समय सोमयज्ञ इतना विस्तृत हो गया था कि 'त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रे'—२१ गायें उसके लिये दुहनी पड़ती थीं । इसकी वीररस से भरी उपमा भी देखने योग्य है। यह कहता है —'वृषा शुष्मेण बाधते नि दुर्मतीरादेदिशानः शर्यहेव शुरुधः'—"बाण मारने वाला वीर जैसे नाम ले-लेकर शत्रुओं पर प्रहार करता है उसी प्रकार यह सोम दुष्ट बुद्धि लोगों को अपने बल से परास्त करता है ।" शर्यहा शब्द है पंचम भरद्वाज का, किंतु 'शुरुधः' के साथ उसका प्रयोग करने से यहां ओज गुण प्रकट होता है। इसी प्रकार कवष ऐलूष का अनुशासन-मंत्र लेकर 'क्षेत्रविद्धि दिश आहा विपृच्छते' योग्य दिशा दिखलाने की प्रार्थना की है । ऋषभ ने ७१वें सूक्त में अपना सारा सूक्त ही सोम का उपस्तरण किया है । अपनी एक ऋचा में एक के बाद एक ऐसे—पवते, वृषायते, वेपते, मादते, नंसते, साघते, नेनिक्ते और पचते—आठ आत्मनपेदी धातुओं का प्रयोग कर एकारानुप्रास प्रयुक्त किया है ।

१५. एकेक ऋषि के रचे हुए सूक्तों में कुछ ऐसे हैं कि जिनमें ढूंढ़ने पर भी कुछ विशेषता नहीं पाई जाती । सोम को घोड़े की उपमा तो मानो निश्चित ही बन गई थी। 'घोड़ा' अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्द भिन्न-भिन्न थे—कहीं अश्व, कहीं सप्ति, कहीं पर अत्य तो कहीं पर वाजी । शब्द अलग, पर सबका अर्थ एक ही। उसी प्रकार हाथों की दस अंगुलियां, याने दस स्त्रियां । कहीं कही जावेंगी कन्या, तो कहीं जन्या या कहीं घन्या। इनका काम सोम को अलंकृत करना, उस पर हाथ फेरना और उसकी परिचर्या करना है। सोम से निकलने वाले रस की धाराएं नदियां और उसे इकट्ठा कर रखने का पात्र—सोमकलश समुद्र । सोम छानने के समय जो शब्द होता था वह उसकी गर्जना और जो वस्तुएं उसमें मिलाई जाती थीं—दूध, दही या खीलों का आटा—वे उसके वस्त्र या अलंकार। इंद्र सोम को सेवन करने वाली प्रमुख

देवता । इसलिये इंद्र के सारे पराक्रम सोम के कारण से, अर्थात् पर्याय से, सोम के ही कहे जाते थे। परन्तु अन्य देवों को भी सोम दिया जाने के कारण उनके भी सारे कृत्य सोम के ही किये हुए माने गये । पूर्व की प्रार्थनीय वस्तुओं में वृद्धि होकर शत्रु पर विजय, सोम द्वारा प्राप्तव्य, समझा जाने लगा । यह पानी में मिलकर उसके द्वारा अपना सामर्थ्य वनस्पतियों में और तद्द्वारा सब मनुष्यों में प्रसृत करने की कल्पना तो रूढ़ ही हो गई थी, परन्तु आकाशस्थ ज्योतियों को यथा सूरज, चांद, सितारे इनमें भी सोम के द्वारा ही तेज प्रसृत माना जाने लगा । सार यह कि शौनक-युग के अन्त में महाभारत-युद्ध के काल में सोम की महती और अन्य सब कर्मों की अपेक्षा सोमपान की श्रेष्ठता पूर्णतया प्रस्थापित हो चुकी थी । यही सारी बातें थोड़े-बहुत भेद से दृढ़च्युत और उसके पुत्र इध्मवाह के २५, २६ क्रमांक के सूक्तों में, भालंदन वत्सप्री के ६७ क्रमांक के सूक्त में, वाच्य प्रजापति के ८४वें, उशना काव्य के ८७, ८८ और ८९ तीन सूक्तों में, वसिष्ठ मैत्रावरुणि के नाम पर दिये हुए ९० क्रमांक के या दैवोदासि प्रतर्दन के पर्याप्त लंबे ९६ क्रमांक के सूक्त में दीखती हैं । ऊपर दी हुई बातों की अपेक्षा कुछ भी अधिक इन नौ सूक्तों में नया पाया नहीं जाता ।

१६. क्रमांक ६२ और ६५ के दोनों सूक्त इस युग के जमदग्नि के हैं। इसके पितामह का नाम था वरुण और पिता का था भृगु । दोनों सूक्तों में इसने अपना नाम ग्रथित किया है । सूक्त में तो क्या, जो एक तृच् भी इसके नाम से संगृहीत है उसमें भी इसने अपना नाम रख ही दिया है। यहां पर वह सोम को 'गृणानो जमदग्निना' कहता है । तृच की देवता है मित्रावरुण । अतएव वहां कहता है, 'गृणाना जमदग्निना' । सच देखा जाय तो यह चरण भी इसने बनाया नहीं है । वह है अत्रियुग के जमदग्नि का। इसने अपने ८. १०१–८ में 'गृणाना जमदग्निना' शब्द प्रयोग किया था। उसी को इसने उठा लिया है । दोनों सूक्त हैं लंबे, तीस-तीस ऋचाओं के। पर सोम-कलश को जैसे समुद्र कहा जाता है वही स्थिति है इन सूक्तों की । यों एकेक में तीस-तीस ऋचाएं हैं, पर भूसा ही बहुत, दाने का नाम नहीं। हाँ, ६२वें सूक्त में एक रूपकातिशयोक्ति अलंकार साधा है यज्ञ पर रथ का रूपक करके । कवि यज्ञ-रूप रथ को कहता है त्रिबंधुर तथा त्रिपृष्ठ––अश्विनौ के रथ का सा । त्रिबंधुर, अर्थात् तीन वेदों से बंधा हुआ और त्रिपृष्ठ, अर्थात् तीन सवनों पर आधारित। ६५वें सूक्त में यह कहकर कि बड़े दूर-दूर के देशों में जैसा

सोमरस निकाला जाता है वैसा ही पास के देशों में, ऋषि ने सोम कैसे दूर तक फैला है, इसका वर्णन किया है। इसी प्रसंग से शर्यणावत्, आर्जीक, कृत्वन्, पस्त्य ये देशवाचक नाम निर्दिष्ट किये गए हैं। पूर्व में एक युग्म या द्विक का उल्लेख किया ही गया है। इस सूक्त में एक त्रिक है। त्रिक का ध्रुव चरण है, 'पान्तमा पुरुस्पृहम्'। लेकिन अन्य ध्रुवचरणों के समान इसका स्वतंत्र अर्थ नहीं होता। अर्थ करने के लिये अंतिम ऋचा से 'सुक्रतो तनूषु' और प्रथम ऋचा से 'वृणीमहे' लेकर ही सारे त्रिक का अर्थ करना पड़ता है। शेष दक्षं, मयोभुवं, वह्नि, मंद्रं, वरेण्यं, विप्रं, मनीषिणं, रयिं, सुचेतुनं और ध्रुवचरण के पांतं तथा पुरुस्पृहं, सारे शब्दों को सोम के विशेषण मान, एवं गुण-विशेषण सोम को हम, तनूषु अर्थात् निज के लिये तथा बाल-बच्चों के, पुत्र-पौत्रों के लिये वृणीमहे अर्थात् पसंद करते हैं, ऐसा त्रिक का अर्थ करना पड़ता है।

१७. सोम का यही पुरुस्पृह विशेषण धन को लगाकर और उसे वाज-सातम, सहस्रभर्णस, तुविद्युम्न, और विश्वसह कह ऐसे धन की याचना अंबरीष वार्षागिर और भरद्वाज-पुत्र ऋजिष्वन् ने मिलकर रचे हुए स्तोत्र में की है। यह द्विकर्तृक सूक्त क्रमांक ९७ का है। इसमें ऐसी कल्पना दी हुई है कि द्यावाभूमी ने प्रथम सोमरस निकाल सोमयाग स्वर्ग में किया। बाद को वह सोम पर्वत पर वैसा ही पड़ा रहा। वहाँ से फिर वह मनुष्य-लोक में आया। यहां उसका रस इंद्रादि देवों को पीने के लिये तथा दक्षिणा स्वीकार करने वाले विप्रों के लिये निकाला जाता है। इन दोनों ऋषियों ने मिलकर अपने सूक्त में वाजगंध्य—अर्थात् गाड़ी भर देने वाले सोम, को जो कहा है वह बड़ी दक्षिणा को सूचित करता है। ऐसे द्विकर्तृक सोमसूक्त क्रमशः ९९, १००, १०४, १०५ और ११० क्रमांक पर दिये हुए हैं। इनमें से प्रथम दो सूक्त जिन्होंने बनाये हैं, वे ऋषि अपना नाम नहीं देते। वे कहलाते हैं कश्यप-कुल के तथा रेभ नामक ऋषि के पुत्र, परंतु अपने स्वयं के नाम गुप्त ही रखते हैं। इनके द्वारा किया हुआ सूक्त का आरंभ बड़ा मजे का है। बनारस की तरफ भंग पीसकर जब छानते हैं तो जिस साफी में से वह छानते हैं उसे पकड़ने वाले को कहा जाता है कि 'साफी ढीली न छोड़ो'। उसी प्रकार, जिस ऊनी रूमाल में से सोमरस छाना जाता है उसे पकड़ रखने के लिये ये ऋषि कहते हैं—"ऋत्विजो, जिस प्रकार 'धनुस्तन्वंति पौंस्यं' प्रत्यंचा चढ़ाने के लिये धनुष को मजबूती से पकड़ रखना होता है, वैसे ही इस ऊनी रूमाल को मजबूती से पकड़ रखो।" ऐसे पकड़ रखने पर

ही सोम उसमें प्रवेश करता है। इंद्र के पेयों में श्रेष्ठ कहने के लिये 'इन्द्रपातम' शब्द जिस सहजता से बना, उस पर से जान पड़ता है कि उस समय बोल-चाल की भाषा संस्कृत ही थी। गाएँ वत्स को चाटती हैं, इस दृश्य का इन ऋषियों के मन पर बहुत प्रभाव पड़ा दिखता है क्योंकि दोनों सूक्तों में इस दृश्य की उपमा आती है। सोम में मिलाने वाले द्रव्यों को वस्त्र कहा ही गया है परन्तु ये दोनों उसे द्रापि कहते हैं और 'द्रापिं बिभ्रद्धिरण्ययं' कहने वाले शुनःशेप की याद दिलाते हैं। क्रमांक १०४ तथा १०५ के सूक्त प्राचीन पर्वत नारद ऋषियों के नाम धारण करने वाले ऋषियों के हैं। इस जोड़ी की इन सूक्तों की जोड़ी भी सारे ऋग्वेद में एक-सी होने में बेजोड़ है। दोनों सूक्त छः-छः ऋचाओं के हैं और प्रत्येक ऋचा उसी अनुक्रम से दूसरे सूक्त की ऋचा से साम्य रखती है। उदाहरणस्वरूप—प्रथम सूक्त की पांचवीं ऋचा का द्वितीय सूक्त की पांचवीं ऋचा से मिलान कर देखिये। एक में कहा है—'स नो मदानां पते इन्दो देवप्सरा असि। सखेव सख्ये गातुवित्तमो भव'; तो दूसरे में कहा है। 'स नो हरीणां पते इन्दो देवप्सरस्तमः। सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव' छहों ऋचाओं की यही स्थिति है। इन सूक्तों में महत्त्व की बात यही है कि दोनों 'द्वयु' अर्थात् भीतर एक, बाहर एक, ऐसे पाप से बचाने की प्रार्थना करते हैं। पूर्व सूरियों ने इस प्रकार की प्रार्थना की थी, पर इस शौनक-युग के अंत में और सोम की इस प्रकार की प्रार्थना नहीं मिलती। अन्तिम द्विकर्तृक सूक्त है क्रमांक ११० का। इसके रचयिता हैं त्र्यरुण और त्रसदस्यु नाम के दो राजर्षि। ये सोम को 'ऋणया' (ऋण अदा करने वाला) कहते हैं। सोम से रस निकालने की क्रिया को इन्होंने दो उपमान दिये हैं—कुएं में से जैसे पानी का सोता फूटकर बाहर निकलता है—या, हाथ में का बोझ उंगलियां छूटते ही गिर पड़ता है, उसी प्रकार पवित्र से सोम एकदम बाहर पड़ता है। ये सोम को 'दिवः पीयूषमुत्तमम्' कहने के बजाय 'दिवः पीयूषं पूर्व्यम्' कहते हैं।

१८. इस समय सोम देवता की महत्ता इतनी बढ़ी हुई थी कि उस पर सूक्त की तो बात ही क्या, कुछ ऋचा ही नहीं, अपितु ऋचा के कुछ शब्दों की रचना करने में भी ऋषिलोग अपने को धन्य मानने लगे थे। अन्यथा दो से भी अधिक ऋषियों की ऋचाएं एकत्रित कर सूक्त बनाने की रीति चलती ही नहीं। कहीं-कहीं तो ये ऋषि अपने नाम भी प्रकट न करते थे। रेभसूनु कहलाने वाले दो ऋषियों का सूक्त पूर्व में देख ही चुके हैं। उसी

प्रकार का है क्रमांक १०९ का सूक्त। ऋषि अपने को कहलाते हैं 'अग्नयः'। इनकी उपाधि है घिष्ण्य और हैं ये ईश्वर नामक ऋषि के पुत्र। बहुवचन होने से इनकी संख्या कम से कम तीन तो होनी ही चाहिये। तीनों भी अपना व्यक्ति-नाम न देते हुए समूहवाचक केवल 'अग्नयः' नाम से प्रसिद्ध थे। नाम तेजस्वी, उपाधि घिष्ण्य——पर है यह 'वेदशून्य का नाम चतुर्वेदी' की सी बात। पिता है ईश्वर, पर इन्होंने कहा है क्या ? कुछ नहीं। अर्थ तो रहने ही दीजिये, शब्द भी इनके नहीं। अन्य सूक्तों में से लिये हुए शब्द केवल एकत्र करने का काम इन्होंने किया। एक सूक्त से लिये 'पवस्व सोम' शब्द दूसरे में से 'महान् समुद्रः'। एक के आगे रखकर बनाया एक चरण। ये पद भी एक बार ही नहीं, अपितु तीन बार। इस प्रकार की है १०९ क्रमांक की सूक्त-रचना।

१९. दूसरा एक क्रमांक ६६ का सूक्त है जिसकी कथा कुछ और ही है। इस सूक्त की रचना करनेवाले ऋषि हैं वैखानस नाम धारण करनेवाले। इनकी संख्या बहुवचन के कारण कोई तीन तक ही मर्यादित न कर सके इस हेतु स्पष्ट शब्दों में कही गई है, 'शतम्' अर्थात् सौ। सौ ऋषियों ने मिलकर जो सूक्त बनाया है, उसकी ऋचाएं हैं केवल तीस। इनमें २९ हैं त्रिचरण गायत्री छंद की——एवं सब मिलाकर चरण होते हैं ८७। इसमें एक अनुष्टुप् के चार चरण मिला दें तो होंगे ९१। पर रचनेवाले हैं सौ——अर्थात् एक-एक के हिस्से में एक-एक चरण भी नहीं आने पाता। फिर अगर पूर्वोक्त दशा जैसी बात न हो तो हो ही क्या सकता है ? इसमें भी इस सूक्त की अवस्था तो और भी दयनीय है। सौ ऋषि मिलकर सोम पर तीस भी ऋचाएं न बना सके। क्योंकि इसमें तीन हैं अग्नि पर। 'अग्न आयूंषि पवसे', अग्निऋँषिः पवमानः' तथा 'अग्ने पवस्व स्वपा'——ये तीन १९, २०, २१ क्रमांक की हैं अग्निविषयक ऋचाएं। पर उनमें आये हुए 'पवसे', 'पवमानः' तथा 'पवस्व' शब्दों पर से वह अग्नि ही पवमान हुआ और उसका भी सोम-सूक्त में समावेश किया गया। इस प्रकार इन सौ वैखानसों ने बनाया एक सूक्त। पर उसके कारण इनका भी समावेश हो गया ऋषियों में।

२०. अब एक ऐसा सूक्त देखें कि जिसकी रचना करने वाले तीनों ऋषि एक ही कुल के हैं। इनमें एक है पुत्र, दूसरा है पिता और तीसरा है पितामह। पितामह का नाम है मनु। यह अप्सु-पुत्र होने से कहलाता है मनु आप्सव। पिता का नाम है चक्षुस् और पुत्र का नाम है अग्नि चाक्षुष।

इस समय 'अग्नि' नाम लोकप्रिय सा जान पड़ता है। तीनों ने मिलकर चौदह ऋचाओं का सूक्त बनाया है जिसमें प्रथम तीन और अंतिम पांच ऋचाओं की रचना की है अग्नि चाक्षुप ने। बाकी छह ऋचाओं में प्रथम तीन हैं चक्षुस् की और दूसरी तीन हैं मनु की। सूक्त का क्रमांक है १०६। मनु के तृच् में दो बातें ध्यान में रखने योग्य हैं। यह कहता है, 'त्वां देवासो अमृताय कं पपुः'। पीछे कहे अनुसार, सूर्या ऋषिका ने सोम को आकाश में बिठलाकर चंद्र बनाया, तब उसकी क्षय एवं वृद्धि देख यह कल्पना निकली कि चंद्र-कलाओं का देव पान करते हैं। इसी पर से 'सुधया तर्पयते' कालिदास कह सका। दूसरी बात है इसके द्वारा प्रयुक्त दो शब्द—रीत्याप् और वृष्टिद्यु, जो मूल के निर्मित हैं। अत्रियुग के यजत आत्रेय। उसने इनका प्रयोग मित्रावरुणौ के लिये किया। अतएव वह दोनों का प्रयोग द्विवचन में करता है, 'वृष्टिद्यावा रीत्यापा'। मनु आप्सव उसका बहुवचन कर कहता है 'वृष्टिद्यावा रीत्यापाः'। इस पर से ज्ञात होता है कि ये ऋषि पुराने सूक्तों का अभ्यास करते थे। अन्यथा इसे केवल घुणाक्षर न्याय ही कहना पड़ेगा, जो संभाव्य दीखता नहीं।

२१. ऋषि-पंचक का बनाया हुआ एक सूक्त देखें। इन पाँच में से तीन हैं पूर्वोक्त पुत्र-पितृ-पितामह के से ही। इनकी ऋचाएँ आदि तथा अन्त में न होकर बीच में हैं। इस त्रयी के नाम हैं ययाति नाहुष, नहुष मानव और मनु संवरण। इस नाम के राजाओं से इनका सुतरां सबंध नहीं है. ये पौराणिक राजा ऋग्वेद-काल के पूर्व के हैं। आदि और अन्त की ऋचाएं हैं अंधीगु श्यावाश्वि की और प्रजापति ऋषि की। अंधीगु की हैं तीन और प्रजापति की हैं चार। अंधीगु का पिता श्यावाश्व। इसके विषय में निश्चित नहीं कह सकते कि यह काले घोड़े वाला था या काले कुत्ते वाला। दूसरा पक्ष संभवनीय इसलिए जान पड़ता है कि एक लंबी जीभ वाला कुत्ता अंधीगु द्वारा निचोड़े सोमरस को चाटने के लिये आया था। यह इस १०१ क्रमांक के सूक्त से स्पष्ट समझ पड़ सकता है। ऋषि कहता है—"पुरोजिती वो अंधसः सुताय मादयित्नवे। अप श्वानं श्नथिष्टन सखायो दीर्घजिह्व्यम्"—"मित्रो, पहले जीत लाये इस सोम से निचोड़े हुए आनन्ददायक रस को बचाने के लिये इस लंबी जीभ वाले कुत्ते को दूर हांक दो।" सायण 'पुरोजितो' का अर्थ 'पुरःस्थित जय' करता है। पर इस बात को ध्यान में रखते हुए, कि सोम लाने वाले लोगों को जीत कर सोम लाया जाता था, ऊपर किये

अनुसार ही अर्थ करना उचित जान पड़ता है । यह निर्देश केवल पहली ही ऋचा में नहीं है, अपितु आगे चलकर तेरहवीं ऋचा में भी प्रजापति यही कहता है। वह ऋचा है—'प्र सुन्वानस्यांधसो मर्तो न वृत तद्वचः । अप श्वान-मराधसं हता मखं न भृगवः'—"भली भांति रस निकालने वाले सोम का वह शब्द भी इस मुवे के हिस्से न आये । भृगु लोगों ने जैसे मख को हाँक दिया था, वैसे ही इस पापी कुत्ते को हांक दो।" यहां मर्त का अर्थ मारक करने की अपेक्षा उस कुत्ते को दी गई गाली समझना ही ठीक है। जान पड़ता है कि सायण को दी हुई उपमा भी भली भाँति लक्षित न हुई । क्योंकि सायण ने मख का जो अर्थ किया है वह भी ठीक नहीं है। मख एक राक्षस का नाम था। भृगु-पुत्र इट ने अपने सूक्त में कहा है कि 'त्वं मखस्य दोधतः शिरोऽव त्वचो भरः'—'हे इंद्र, तुमने हिंसक मख का सिर धड़ से दूर किया', यह उपमा यही निर्दिष्ट करती है। प्रजापति कहता है कि भृगु लोगों ने इंद्र द्वारा जैसे 'मख' नामक दुष्ट पुरुष को भगा दिया था, वैसे ही तुम इस कुत्ते को हांक दो । ऋषिपंचक-कृत सूक्त की ऐसी कथा है।

२२. पूर्वोक्त कुछ नामों पर से कल्पना होती है कि ऋषि लोगों के गोत्र छूटकर अब गण बनने लगे थे । सूक्त-क्रमांक ८६ की अनुक्रमणिका देखने पर तो यह कल्पना दृढ़तर होती है। यह सूक्त पर्याप्त लंबा ४८ ऋचाओं का है । इसकी पहली दस ऋचाएं 'आकृष्टामाषा' इस संयुक्त नाम से ख्यात-गणों की रची हुई हैं। आगे की दस ऋचाओं को रचने वाले दो गणों का नाम है सिकता तथा निवावरी। तीसरी दस ऋचाएं (२१ से ३०) बनाई हैं अज और पृश्नि नाम से प्रसिद्ध दो गणों ने। ३१ से ४० तक की ऋचाएं हैं इन छहों गणों की। आगे की पाँच हैं अत्रि-रचित। और अंतिम समाप्ति की तीन ऋचाएं हैं गृत्समद द्वितीय की रची हुई । माना जाता होगा गण में का कोई व्यक्ति काव्य करे, वह समझा जावेगा उस गण का किया हुआ। आकृष्ट, माष, सिकता, निवावरी, अज और पृश्नि के नाम उन गणों ने क्यों धारण किये, या वैसा करने का क्या प्रयोजन था, यह अज्ञात है। सायण कहता है—'अदृष्टार्थमेषां द्विनामत्वमवगन्तव्यम्'। किंतु इस विषय का अधिक विचार होना आवश्यक है।

२३. इस सूक्त में सोम को 'ऋषिषाण' अर्थात् ऋषियों ने अर्पण किया हुआ या ऋषियों ने बांट लिया हुआ कहा है। सोम का यह नया विशेषण है। सूक्त में सोम की तेजस्विता का ही वर्णन अधिक है। कहा है कि

'उभयतः पवमानस्य रश्मयः' या 'ते सतः परियंति केतवः'। इतना ही है, नहीं तो सोम को तेज का झब्बा भी पहनाया गया है।' वर्णन है अनुप्रासयुक्त शब्दों में 'दिविस्पृशं द्रापिं दधानः। सोम से सख्य तो कइयों ने चाहा, पर यहां मित्र के नाते जताया गया है कि 'सखा सख्युर्न मिनाति संगिरम्'--मित्र मित्र को दिया वचन टालता नहीं, पालता ही है। सोम का सर्वश्रेष्ठत्व देखिये। पूर्व में कहे अनुसार प्रथम जल में, फिर वनस्पतियों में, और अन्त में जीवरूप बनकर सोम का ही तेज जगदुत्पत्ति करता है यह तो 'तवेमाः प्रजा दिव्यस्य रेतसः' ऐसे शब्दों में कहा ही। पर इसके आगे बढ़ कर यह भी कह डाला--'त्वं विश्वस्य भुवनस्य राजसि। अथेदं विश्वं पवमान ते वशे, त्वमिदो प्रथमो धामधा असि' "तुम ही आकाश और पृथ्वी को धारण करते हो, सूर्य तुम्हारा ही तेज है और 'तुभ्येमा विश्वा भुवनानि येमिरे' ऐसी सोमस्तुति इस सूक्त में है। पानी में खेलता हुआ सोम साँप का सा अपनी शुष्क छाल को छोड़कर सतेज होने की उपमा यथार्थ जान पड़ती है। यहां भी पूर्व में कहे अनुसार 'अयं त्रिः सप्त दुदुहान आशिरम्' ऐसी २१ गायों के दूध का निर्देश है। सूक्तकार कहता है— हिरण्य-पावाः पशुमासु गृभ्णते'। यहां सोने के छल्लों से सोम को साफ करने वाले ऋत्विजों को कहा है हिरण्यपावाः। इसी प्रकार यहाँ का 'पशु' शब्द देखने वाले द्रष्टा के अर्थ में सोम को प्रयुक्त किया है। गृत्समद ने अपनी तीन ऋचाओं के अन्त में प्राचीन गृत्समद की 'वृहद्वदेम विदथे सुवीराः' की छाप ठोक दी है।

२४. ऋग्वेद में सबसे बड़ा सूक्त है क्रमांक ९–९७ का। इसकी ऋचाएं हैं अट्ठावन। इसके बनाने वाले भी बहुत हैं। इस युग के वसिष्ठ-कुल के वसिष्ठ को लेकर वासिष्ठ कहलाने वाले हैं दस—वसिष्ठ, इंद्रप्रमति, वृषगण, मन्यु, उपमन्यु, व्याघ्रपात्, शक्ति, कर्णश्रुत्, मृळीक और वसुक्र। इनके सिवाय दो हैं शक्तिपुत्र पराशर और कुत्स आंगिरस। ऐसे बारह ऋषियों ने इस सूक्त की रचना की है। पहले दस ऋषियों ने प्रत्यृषि तीन-तीन, ऐसे तीस ऋचाएं रचीं। पराशर की हैं चौदह और उतनी ही कुत्स की मिलकर होती हैं अट्ठाईस, और पहली तीस मिलाकर ५८। यहाँ स्पष्टतया कहा गया है कि बाहर समाज में जाते हुए घर की अपेक्षा अच्छे वस्त्र पहने जाते थे। 'भद्रा वस्त्रा समन्या वसानः' शब्दों पर से यही जान पड़ता है। समन का अर्थ है समाज। वहां जाते समय जो वस्त्र पहने जाते उनको 'भद्राः' कहा है। तीसरी और छठवीं ऋचा के अंत में वसिष्ठ की मुहर 'यूयं पात स्वस्तिभिः

सदा नः' है, परन्तु आगे नहीं है। वृषगण कहता है कि पवमान की 'आंगूष्य' याने ऊँचे स्वर से जब स्तुति की जाती थी तब 'वाण' नामक वाद्य बजाया जाता था। शीघ्र के अर्थ में तृपल तथा बहुत के अर्थ में परीणस्, इन पुराने शब्दों के साथ 'गोन्योघस्' गाय के दूध के साथ मिलाया जाने वाला यह सोम का नया विशेषण प्रयुक्त है। व्याघ्रपात् सोम की प्रार्थना करता है कि 'ग्रंथिं न विष्य ग्रथितं पुनान ऋजुं च गातुं वृजिनं च सोम'--हे सोम, पाप के साथ जो हमारी गाँठ बंधी है उससे हमें शुद्ध कर छुड़ाओ और सीधा मार्ग हमें दिखाओ। शक्ति कहता है—'अरश्मानो येऽरथा अयुक्ता अत्यासो न', "लगाम को छोड़ दिया है, स्थिर नहीं खड़े रहते हैं और रथ में नहीं जुते हुए हैं, ऐसे घोड़ों के समान सोम तुम्हारी ओर दौड़ते हुए आते हैं। इसलिये देवो, सोमरस पीने के लिये तुम भी आओ।" कर्णश्रुत् का प्रयुक्त अनुप्रास 'दानुदो दिव्यो दानु पिन्व' में दिखता है। गायें जैसे रास्ता खोजते-खोजते मालिक के पास जाती हैं वैसे ही हमारी स्तुतियां हे सोम, तुम्हारे ही पास जाती हैं", ऐसा कह पराशर आगे कहता है, 'इंद्रस्य त्वं तव वयं सखायः' और इस परंपरा से इंद्र के साथ सख्यत्व जोड़ता है। कुत्स मांगता है--'अभि वस्त्रा सुवसनान्यर्षाभि धेनूः सुदुघाः पूयमानाः। अभि चंद्रा भर्तवे नो हिरण्याऽभ्यश्वान् रथिनो देव सोम'—"अच्छे वस्त्र, दुघारू गायें, सोने के सिक्के और रथ तथा घोड़े।" और क्या बाकी रहा ? आखिर में है कुत्स की मुहर, 'तन्नो मित्रो वरुणो मामहंतामदितिः सिंधुः पृथिवी उत द्यौः'।

२५. पवस्व मधुमत्तम' यह सोलह ऋचाओं का क्रमांक १०८ का सूक्त भी इसी प्रकार अनेककर्तृक है। पहली दो ऋचाएं हैं गौरिवीति नामक शक्तिपुत्र की। इस पर से जान पड़ता है कि इस वसिष्ठ-पुत्र शक्ति के दो पुत्र थे—पराशर और गौरिवीति। तीसरी ऋचा है शक्ति की। आगे की दो-दो ऋचाएं क्रम से विरचित हैं—ऊरु, ऋजिष्वन्, ऊर्ध्वसद्मन्, कृतयशस् और ऋणंचय द्वारा। अंतिम तीन फिर बनाई हैं शक्ति ने। ऐसा विलक्षण है यह सूक्त। इस कारण से अर्थ करते समय सायण भी थोड़ा भ्रान्त हुआ है। वास्तव में देखा जाय तो चौथी और पांचवीं ऋचाएं हैं ऊरु-कर्तृक। इस चौथी ऋचा में 'जिस सोम के कारण दध्यङ् नामक नवग्व ऋषि दरवाजे खोल सका' इत्यादि 'येन' से आरम्भ होने वाले वाक्यों का सम्बन्ध अगली पांचवीं उसी की ऋचा के 'एष स्यः' के साथ है। किंतु सायण ने 'स त्वं देवानाममृतत्वाय शब्दायसे इति पूर्वेण' अर्थात् शक्ति की ऋचा से लगाया है। ऋजिष्वन् ऋषि का वनक्रक्ष शब्द नया बनाया हुआ है। वनक्रक्ष का अर्थ

होगा पानी में या काष्ठपात्र में 'डुब्-डुब्' शब्द करने वाला सोम। ऊर्ध्वसद्मन् की ऋचा में 'दिदीहि देव देवयु:' अनुप्रास मिलता है। ग्यारहवीं कृतयशस् की ऋचा में 'दिवो दुहु:' वाक्य है जहां दिव: शब्द ऋत्विजों का वाचक है। ऋणंचय ऋषि कहता है—'ससुन्वे यो वसूनां, यो रायामानेता, य इळावान् सोमो य: सुक्षितीनाम्'—'धन, गायें, अन्न और घर देने वाले सोम का यहाँ रस निकाला जा रहा है।' अंतिम ऋचा में शक्ति ने सोम को 'दिवो विष्टंभ उत्तम:' कह कर सूक्त समाप्त किया है।

२६. अब एक ऐसे सूक्त की चर्चा करें जिसके रचयिता ऋषि हैं सात। किंतु यह ज्ञात न होने से, कि किस ऋषि की रची कौन सी ऋचा है, सातों सूक्तकार माने गये हैं। सप्तर्षि की यह कल्पना सप्तहोत्रों पर से आई होगी। किसी समय भरद्वाज, कश्यप, गोतम, अत्रि, विश्वामित्र, जमदग्नि और वसिष्ठ नामक व्यक्तियों ने पूर्वोक्त सात हौत्रकर्म किये होंगे और तभी से यह सप्तर्षि-समूह प्रसिद्ध हुआ होगा। आकाशस्थ सप्तर्षि को भी किन्हीं ग्रंथों में ये ही सात नाम दिये हैं। यह १०७ क्रमांक का सूक्त इन्हीं सप्तर्षियों का रचित है। सूक्त की ऋचाएं २६ हैं। सूक्त में विशेषता कहनी ही तो पुनरुक्ति है। एक ऋचा में कहा गया 'त्वं विप्रो अथवांऽगिरस्तम:' तो दूसरी में कहा गया, 'त्वं कविरभवो देववीतम:'। कहीं कहा, 'गोभिरक्षा:' तो अन्यत्र कहा 'दुग्धाभि-रक्षा:'। शब्द भिन्न, पर अर्थ एक ही। अंतर बिलकुल नहीं। 'तवाहं सोम रारण सख्यमिदो दिवेदिवे', की प्रार्थना। यह सख्य दिवेदिवे ही नहीं तो दिवा तथा नक्तम्—दिन रात। सख्य के द्वारा साध्य क्या, तो सोमरस में प्रेरणा पैदा कर उसे कोश में अर्थात् द्रोणकलश नामक पात्र में एकत्र करना और समया-नुसार अलग-अलग पात्रों में निकालकर देवताओं को समर्पित करना या स्वयं प्राशन करना।

२७. सोमसूक्त गायत्रीछंद में ही बहुसंख्य हैं। कुछ थोड़े दूसरे छंदों में भी हैं। पर बहुत बड़े छंद में एक भी नहीं। इस कमी को पूरी करने का विचार परुच्छेपपुत्र अनानत ने किया। कहने के लिये विशेष नहीं और रचना तो अत्यष्टि नामक ६८ अक्षर के छंद में करना। रचना तो आरम्भ हुई पर तीन ऋचाओं के आगे रचना बढ़ न सकी। तीन ऋचाओं का यह सूक्त क्रमांक १११ पर है। इस अत्यष्टि छंद के पांच भाग होते हैं। १२, १२, ८, १६, १२, ८, अक्षरों के ये भाग रहते हैं। १२ और ८ अक्षरों के चरणों में अंत्य यमक रहता है और उसे साधने के लिये प्राय: उसी शब्द की पुनरावृत्ति

की जाती है। उदाहरण के लिये प्रथम ऋचा ही लीजिये—'अया ऋचा हरिण्या पुनानो, विश्वा द्वेषांसि तरति स्वयुग्वभिः, सूरो न स्वयुग्वभिः। धारासुतस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः। विश्वा यद्रूपा पदियात्यृक्वभिः सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः॥' यहां स्वयुग्वभिः और ऋक्वभिः की आवृत्ति कर यमक जमाया गया है। 'स्वयुग्वभिः' शब्द खास अनानत का ही बनाया हुआ है। इसके सिवाय इस सूक्त में कुछ भी नया नहीं। पणियों का निर्देश है और सोम का दिव्य रथ सूर्य-किरणों से जाकर मिलने का विशेष वर्णन है।

२८. इन सोम सूक्तों में एक ऐसा सूक्त है जिसका सोम से सुतरां सम्बन्ध नहीं है। क्रमांक है ११२ और ऋषि है शिशु आंगिरस। इस सूक्त का सोम के साथ बादरायण सम्बन्ध जोड़ने के लिये सायण लिखता है कि 'सूक्तैरपरिस्रवतः सोमस्य अजामित्वाय मनसो विनोदनं कुर्वन्नाह"—अर्थात्, सूक्तों से जब रस न निकला तो भिन्न प्रकार का मनोविनोद करने के लिये यह सूक्त कहा गया है। अजामित्व अर्थात् असम्बन्ध तो सायण ने भी माना है। सूक्त का भावार्थ इस प्रकार का है—"हमारे काम और दूसरे लोगों के काम भिन्न-भिन्न हैं। सुतार या बढ़ई लकड़ी छीलना पसन्द करता है। वैद्य चाहता है कि रोग प्रसृत हों। ब्राह्मण की इच्छा होती है कि वह सोमरस निकाले। नये-नये पदार्थ करने वाले लोग पुरानी लकड़ी, पक्षियों के पर तथा चमकीले पत्थर लेकर उन्हें बनाते हैं और आशा रखते हैं कि धनवान् लोग उन्हें मोल लें। मैं हूं कवि, पिताजी हैं वैद्य और माता जी करती हैं पीसने का काम। पर अलग-अलग काम कर धन कमाने वाले हम पशुओं के समान रहते हैं पर सारे सुख की इच्छा करते हैं।" सूक्त का सोम के साथ सम्बन्ध जोड़ना ही हो तो प्रथम ऋचा में 'ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छति' वाक्य के कारण ही जोड़ना पड़ेगा। और इसीलिये पीछे से किसी ने कश्यप के सूक्त का 'इंद्रायेन्दो परिस्रव'—हे इंदु, इंद्र के लिये रस छोड़ो—निकलने दो', यह चरण ध्रुवचरण के समान प्रत्येक ऋचा के साथ जोड़ दिया। पर उससे सम्बन्ध तो जुड़ ही नहीं सकता और इसी कारण सायण को 'अजामित्वाय मनोविनोदनम्' कहना पड़ा। शौनक ने बृहद्देवता नाम के अपने ग्रंथ में लिखा है कि एक समय अकाल पड़ा था और अकाल में आपद्धर्म समझ जो काम किये जा सकते हैं उन धंधों का वर्णन यहाँ दिया है। पर सूक्त पर से यह अर्थ कहीं भी नहीं निकलता है। शौनक कई बार

ऐसी बातें करता है और उसी प्रकार की निराधार यह भी बात समझनी चाहिये।

२९. नवांसी सूक्तों की चर्चा अबतक की गई। शेष तीन सूक्तों का विचार करने से इस वाग्यज्ञ की पूर्तता होने वाली है। इन तीन में प्रथम विचार करना है क्रमांक २ के मेधातिथि काण्व के सूक्त का। और फिर विचार होगा मधुच्छंदस् वैश्वामित्र के क्रमांक १ के सूक्त का। पूर्व में कहा ही गया है कि मंडलों का और सूक्तों का क्रम इसी मधुच्छंदस् ने निश्चित किया। ये क्रमांक २ और १ के सूक्त गायत्री छंद में हैं और प्रत्येक सूक्त में दस-दस ऋचाएं हैं। मेधातिथि ने अपने सूक्त में कश्यप के समान ही जल, दूध, दही इन्हें सोम का आच्छादन करने वाले वस्त्र कहा है। अनानत ऋषि ने सोम का रथ ही सूर्य तक पहुंचाया। यह सोम-सूर्य का समागम ही कर डालता है। शक्ति के समान यह भी सोम को दिवोविष्टंभ कहता है। इसी कुल के थे गोषूक्ति और अश्वसूक्ति नाम के दो सूक्तकार बंधु। इनके सूक्त में 'लोककृत्नु' शब्द 'उ' निपात के साथ आया है। मेधातिथि ने भी अपने सूक्त में 'उ' के ही साथ 'लोककृत्नु' शब्द का प्रयोग करके कोशकारों के मन में--शब्द ही तो कहीं 'उलोककृत्नु' नहीं--यह शंका पैदा कर दी है। उस बंधुद्वय ने इंद्र के मद को लोककृत्नु कहा। मेधातिथि सोम को ही 'उलोककृत्नु' (निश्चयपूर्वक लोक-निर्माण-कर्त्ता) कहता है। गाय, घोड़े, मनुष्य एवं सामर्थ्य देने वाले इंदु को यह 'यज्ञ की पुरातन आत्मा'—'आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः' कहता है।

३०. मधुच्छंदस् का सूक्त क्रमांक १ पर है। प्रथम मंडल के प्रथम सूक्त के समान यह भी नवम मंडल के आरम्भ में ही दिया गया है। पूर्व में इसका कारण दिया ही है। 'अग्निमीळे' से जैसे प्रथम मंडल का आरंभ होता है उसी प्रकार 'स्वादिष्ठया मदिष्ठया' से पवमान मंडल का। इन तमप्-वाचक शब्दों का प्रयोग करने की मधुच्छंदस् की प्रवृत्ति स्पष्ट दीख पड़ती है। आरम्भ के दोनों शब्द तो वैसे हैं ही। किंतु आगे भी तीसरी ऋचा में ही वरिवोधातम, मंहिष्ठ तथा वृत्रहंतम ऐसे ही पराकाष्ठासूचक शब्द हैं। सोने के छल्ले उंगलियों में डाल सोम को मसलते थे, इसे सुझाने के लिये ही सोम को 'अयोहत' कहा गया है। इसी प्रकार 'द्रुणा' पद का 'द्रु' शब्द सूचित करता है कि द्रोणकलशादि सोमरस रखने के पात्र लकड़ी के बने हुए रहते थे।

मधुच्छंद कहता है, 'प्रतिदिन हम तुम्हारी परिचर्या करते हैं और हमारी सारी कामनाएं तुम्हीं पर केन्द्रित हैं।' 'सूर्यस्य दुहिता' तुम्हें पवित्र करती है कहकर सूर्या ऋषिका से वर्णन किये हुए सूर्या-विवाह की सूचना मिलती है। तीनों पात्रों में जब सोमरस भरा जाता था तब 'प्रवदंति वाणम्' वृषगण वासिष्ठ ने कहा था तो मधुच्छंदस् कहता है, 'धमंति बाकुरं हतिम्।' इस पर से यह निर्विवाद कह सकते हैं कि वह कोई भी हो, पर एक वाद्य बजाया जाता था। सायण जहां 'बाकुरं' का अर्थ 'भासमानं' करता है और कहता है कि 'यद्यपि धमतिरभिषवकर्मा न भवति तथापि औचित्यादत्राभिषवपरो भविष्यति।' किंतु यह खींचतान करने की आवश्यकता ही नहीं है। 'बकुर' शब्द कक्षीवत् की (१-११७-२१) ऋचा में भी 'धम्' धातु के साथ ही आया है। वहाँ भी औचित्य के लिये ही सायण बकुर का अर्थ करता है वज्र, और धम् धातु का अर्थ करता है फेंक कर मारना। किंतु वास्तव में देखा जाय तो दोनों जगह 'धम्' धातु 'फूंक मारकर बजाना' इस स्वाभाविक अर्थ में लेकर यही मानना उचित होगा कि बकुर या बाकुर एक प्रकार का वाद्य था। अपने मार्ग में के रोड़े हटाने का सामर्थ्य यदि इंद्र को किसी के बल से मिलता है, तो वह बल, मधुच्छंद के मत से, सोम की मस्ती से, ही मिलता है।

३१. यहाँ तक इन सूक्तों का सेवन यथाशक्ति किया गया। अब आखिरी 'अमृतापिधानमसि' कहकर इस पात्र पर से उठना है। यह आपरेशन-कर्म सूक्त क्रमांक ६७ से करना है। इस सूक्त के सूक्तकार वे ही सात ऋषि हैं जिन्होंने सूक्त-क्रमांक १०७ रचा था। किंतु इन सप्तर्षियों का एक-एक तृच् अर्थात् २१ ऋचाएं पूरी होने के बाद की ग्यारह ऋचाएं पवित्र नामक ऋषि की कही जाती हैं। यह पवित्र ऋषि आंगिरस था। परन्तु इनका कर्तृत्व विकल्प से एक वसिष्ठ के नाम पर भी अंकित है। अर्थात् पवित्र आंगिरस या इसी सप्तर्षिगण का वसिष्ठ अनुक्रमणिकाकार के मत से इन ११ ऋचाओं के रचयिता हैं। ब्रह्मदत्त राजा के समय जो संहितीकरण हुआ उसमें यह सूक्त अन्त में होगा क्योंकि इस सूक्त में सारे ही पवमान सूक्तों के अध्ययन की फलश्रुति दी हुई है। परन्तु पश्चात् मधुच्छंदस् ने उसका यह क्रमांक निश्चित किया होगा क्योंकि सारे ही पवमान मन्त्र महत्त्वपूर्ण मानने पर भी गायत्री और सोम का विशेष सम्बन्ध मान, जो पवमानसूक्त गायत्री

छंद में हैं, उनको ही अधिक महत्त्व दिया गया । ये सूक्त पहले १ से ६६ क्रमांक पर अंकित कर मधुच्छंदस् ने इस सूक्त को क्रमांक ६७ पर रखा और पावमानी ऋचाओं का महत्त्व वर्णन करने वाला सूक्त इस क्रमांक पर रख पूर्व के ६६ सूक्तों का महत्त्व बढ़ाया और वत्सप्री का सूक्त ६७ क्रमांक पर रख शेष ४७ सूक्त उसके बाद के क्रमांकों पर रखे। इसीलिये अनुक्रमणिकाकार ने जो कुछ परिभाषाएं बनाईं उनमें एक 'वत्सप्रीय परिभाषा' भी बनाई जिसमें कहा गया कि 'वत्सप्री' के सूक्त के पूर्व के सब सूक्त गायत्री छंद के समझने चाहियें । आज वैदिक पाठकों में जो 'पवमान' कहा जाता है उसमें इन्हीं ६६ सूक्तों के ६१० गायत्री मंत्रों का ही समावेश माना जाता है। भगवान् का अभिषेक करते समय जो पवमान मन्त्र कहे जाते हैं उनमें इन्हीं मन्त्रों का पाठ करने की परम्परा चली आई है । अभिषेक के लिये इन मन्त्रों को चुनने का कृत्रिम कारण यही है कि भगवान् पर जल-धारा गिराते समय सोम-धारा का वर्णन जिन सूक्तों में है वे ही चुने गये। इसके पूर्व में 'वसोर्धारा' का धारा सम्बन्ध मान 'रुद्राध्याय' अभिषेकार्थ चुना गया था । किंतु वह कृष्णयजुर्वेदांतर्गत है । सिवाय वह पर्याप्त रूप से लम्बा न होने के कारण ग्यारह बार कहकर उसकी 'एकादशिनी' बनाई गई थी जो थोड़ी कंदराने वाली भी होती थी। अतएव ऋग्वेद की ये ६१० ऋचाएं ही ऋग्वेदपाठी वैदिकों ने अभिषेकार्थ चुनीं और फिर वही परम्परा रूढ़ हो गई ।

३२. अब इस फलश्रुति-रूप सूक्त में क्या कहा है, उसी को देखें । प्रथम तीन ऋचाएं 'त्व' से आरम्भ होती हैं। इसी तृच् में उचथ्य का 'पवस्व मंहयद्रयिः' चरण समाविष्ट है । मंहयद्रयि का अर्थ होता है लोगों को देने के लिये जो पर्याप्त हो इतना धन देने वाला । सोम को यह विशेषण लगाकर उसके पास से इतना धन माँगा जाता है। दूसरे त्रिक में इंदु शब्द का ही प्रयोग सोम के लिये किया है और अव्य अर्थात् रक्षण करने योग्य धन, श्रव याने यश, सौभाग्य और गाय-बैलों से युक्त अन्न की याचना इंद्र के प्रति की गई है। आगे की तीन ऋचाओं में सोम को ककुद--सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। इसके आगे के त्रिक का ध्रुव चरण है 'आभक्षत्कन्यासु नः ।' सायण ने इसका अर्थ अजीब रीति से किया है—'कन्यासु कमनीयासु अभिमतासु स्त्रीषु नः अस्मान् आभक्षत् आभजतु । अस्माकं कन्याः प्रयच्छत्वित्यर्थः' । यह सायणभाष्य समा-

धानकारक नहीं है। कन्याओं का और सोम का विशेष प्रकार का न सम्बन्ध है न लड़कियों की याचना करने की विशेष आवश्यकता ऋषियों को जान पड़ती है। तीन-तीन वार माँगने लायक तो वह है ही नहीं। अतएव 'कन्या' याने छोटी-छोटी समझने वाली वातें समझ 'उनमें भी हमारा हिस्सा रहे' कहना ही अधिक उचित प्रतीत होता है। आगे को एक ऋचा में 'जन्तु' शब्द को निर्माण करने वाले के अर्थ में मान सोम को 'वाचो जन्तुः कवीनाम्' कहा गया है। उसी के आगे घौंसले में घुसने वाले और वहाँ से मनचाहे उधर घूमने वाले श्येन की उपमा सोमदेव को दी है। १६ से १८ ऋचाओं का त्रिक द्विपदा गायत्री छंद में है। फिर सोम को 'रक्षोहा' समझ प्रार्थना की है—'यदंति यच्च दूरके भयं विदंति मामिह। पवमान वि तज्जहि।' आगे के तृच् में निष्पाप बनाने की प्रार्थना है और वही चालू रखी है। यहां ब्रह्म शब्द का प्रयोग शरीर के अर्थ में किया गया है। अन्तिम दो ऋचाओं में पावमानी ऋचाओं के अध्ययन की फलश्रुति मुख्य रूप से यह दी है—'तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्।'

३३. एवं तृतीय प्रकरण से आरम्भ कर इस प्रकरण के मतछेदक तक ऋग्वेद के १०२८ सूक्तों का कालक्रमानुसार विचार किया गया है। सारे ऋग्वेद-सूक्तों का शब्दशः ठीक-ठीक अनुवाद सभी विद्वानों को मान्य हो, इस प्रकार करना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव है। क्योंकि यहां 'नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्' स्थिति है। मैंने अपने सन्मुख वह ध्येय ही नहीं रखा था। मेरी इच्छा मर्यादित थी। ऋग्वेद-सूक्तों का कालक्रम निश्चित करना, उनका विकास कैसा-कैसा होता गया, यह दिखलाना और सामान्य संस्कृति जानने वाले विद्यार्थी को, ऋग्वेद में है क्या, यह समझाकर उसकी जिज्ञासा जगाना—इतना ही मर्यादित ध्येय मेरे सामने था। और मेरी कल्पना है कि मेरे इस कर्तव्य में मुझे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। इतनी सफलता भी मिलती है तो मैं समझता हूं कि मेरी शनैःशनैः क्यों न हो पर चार या साढ़े चार वर्षों की अध्ययन-तपस्या का फल मुझे मिल मैं कृतार्थ हुआ। मेरे विचार विद्वानों के मन को धक्के देने वाले ही नहीं पर चित्त को घस करने वाले भी कहीं-कहीं हैं। मैं इस बात को भली भांति समझता हूं। पर ये विचार इतने दीर्घकाल के अध्ययन से बने हैं कि परिणाम पर ध्यान न देकर लोगों के सम्मुख उन्हें रखे बिना मैं रह नहीं सका। मेरे कुछ हितचिंतकों ने मुझे इस काम

में उत्साहित किया और मेरे पीछे पड़कर मुझसे यह पूरा करवाया। अब तो 'जो कुछ भई सो भई' पर 'ऊधो प्यारे, मन की मन न रही।' इसे मैं एक प्रकार का 'वाग्यज्ञ' समझता हूं और इसीलिये अन्त में लिखता हूं कि

"इति विद्यातपोयोनिरयोनिर्विष्णुरीडितः।
वाग्यज्ञेनार्चितो देवः प्रीयतां मे जनार्दनः॥"

"तत् सद् ब्रह्मार्पणमस्तु।"

तालिका क्रमांक (१)

प्रथमं मण्डलम्

१– १)		१– २८)		१– ५१)	
१– २)			३–२८	१– ५२)	
१– ३)	९–७२	१– २९)		१– ५३)	
१– ४)				१– ५४)	९–१३
१– ५)		१– ३०	३–२७	१– ५५)	
				१– ५६)	
१– ६)				१– ५७)	
१– ७)		१– ३१)			
१– ८)	९–७२	१– ३२)	९–६६		
१– ९)		१– ३३)		१– ५८)	
१– १०)		१– ३४)		१– ५९)	७–२६,
				१– ६०)	२८
१– ११	९–७१				
१– १२	५– ६	१– ३५)	९–६६		
१– १३	९–१०	१– ३६)		१– ६१)	
१– १४	५– ७	१– ३७)		१– ६२)	९–१५
१– १५	९–१०	१– ३८)		१– ६३)	
१– १६	५– ६	१– ३९)	५– २	१– ६४)	
१– १७	५– ७	१– ४०)			
१– १८)	५– ६	१– ४१)		१– ६५)	
१– १९)		१– ४२)		१– ६६)	७–१०
१– २०	९–१०	१– ४३)		१– ६७)	
१– २१)					
१– २२)	५–६,			१– ६८)	
१– २३)	७	१– ४४)		१– ६९)	७–१०
		१– ४५)		१– ७०)	
		१– ४६)			
१– २४)		१– ४७)	६–२५		
१– २५)	३–२५,	१– ४८)		१– ७१)	
१– २६)	२६, २७	१– ४९)		१– ७२)	९–६१
१– २७)		१– ५०)		१– ७३)	

१– ७४)		१–१०३)		१–१३१)	
१– ७५)		१–१०४)	६–५	१–१३२)	६–२०,
१– ७६)	५–७५			१–१३३)	२०,
१– ७७)		१–१०५	९–१४		
१– ७८)		१–१०६	६–६	१–१३४)	
		१–१०७	९–१४	१–१३५)	
१– ७९)				१–१३६)	
१– ८०)	५–१५	१–१०८)		१–१३७)	६–२०
१– ८१)			६–६	१–१३८)	
१– ८२)		१–१०९)		१–१३९)	
१ –८३)		१–११०)		१–१४०)	
१– ८४)	५–१५,	१–१११)	९–१४	)	८–३९
१– ८५)	२६	१–११२)		१–१४१)	
१– ८६)		१–११३)			
				१–१४२	९–२२
१– ८७)		१–११४)			
१– ८८)	५–१६	)	६–७	१–१४३)	
		१–११५)		)	८–३९
				१–१४४)	
१– ८९	५–१७	१–११६)			
		१–११७)	६–३७,	१–१४५)	
१– ९०)		१–११८)	३९	१–१४६)	
७– ९१)	५–१७,	१–११९)		१–१४७)	४–११,
१– ९२)	१८			१–१४८)	१२
१– ९३)		१–१२०)		१–१४९)	
		१–१२१)	६–४०	१–१५०)	
१– ९४)		१–१२२)			
१– ९५)				१–१५१	८–४०
१– ९६)	६–३, ४	१–१२३)			
१– ९७)		)	४–२३	१–१५२)	
१– ९८)		१–१२४)		१–१५३)	४–१२,
				१–१५४)	
१– ९९	६–२	१–१२५)			
१–१००	९–४२	१–१२६)	६–४१	१–१५५	८–४०
		१–१२७)		१–१५६)	
१–१०१)		१–१२८)		१–१५७)	४–१२
)	६–५	१–१२९)	६–२०		
१–१०२)		१–१३०)		१–१६१	८–३८

१–१६२)		१–१७१)		१–१८०)	
१–१६३)	९–६२	१–१७२)		१–१८१)	
१–१६४)		१–१७३)	८–३२	१–१८२)	८–३३
		१–१७४)		१–१८३)	
१–१६५	९–१६			१–१८४)	
१–१६६)		१–१७५)		१–१८५)	८–३४
१–१६७)	९–१६,	१–१७६)		१–१८६)	
१–१६८)	१७	१–१७७)	८–३२	१–१८७	८–३६
		१–१७८)		१–१८८	९–१७
१–१६९	८–३२			१–१८९)	८–३५
				१–१९०)	
१–१७०	९–१६	१–१७९	९–१६	१–१९१	९–१७

द्वितीयं मण्डलम्

२– १)		२– १७)		२– ३३	४–४०
)	९–२	२– १८)	९–२	२– ३४	४–४१
२– २)		२– १९)		२– ३५	९–२६
		२– २०)			
२– ३	९–२६				
		२– २१)			
२– ४)		)	९–२	२– ३६)	
२– ५)	५–१०	२– २२)		)	९–२६
२– ६)				२– ३७)	
		२– २३)			
२– ७	५–१०	२– २४)			
		२– २५)	९–३	२– ३८)	
		२– २६)		२– ३९)	९–४
२– ८)	९–२			२– ४०)	
२– ९)					
२– १०)		२– २७)			
२– ११)	९–२	२– २८)	९–८	२– ४१	९–२५
२– १२)		२– २९)			
२– १३)					
२– १४)		२– ३०)		२– ४२)	
२– १५)	९–२	२– ३१)	९–२५	)	९–२६
२– १६)		२– ३२)		२–४३)	

तृतीयं मण्डलम्

३– १ ७–५
३– २ ७–२५
३– ३ ७–२५
३– ४ ९–५८

३– ५)
३– ६) ७–५
३– ७)

३– ८)
) ९–५८
३– ९)

३– १०)
) ७–३२
३– ११)

३– १२ ९–५८

३– १३)
) ८–२
३– १४)

३– १५)
) ८–२७
३– १६)

३– १७)
) ८–२
३– १८)

३– १९)
३– २०) ८–२७
३– २१)
३– २२ ९–५८
३– २३ ९–६७
३– २४)
३– २५)
३– २६) ७–३
३– २७)
३– २८)
३– २९)

३– ३०)
३– ३१) ७–७, ९
३– ३२)
३– ३३ ९–६७

३– ३४)
३– ३५) ७–७, ९
३– ३६)

३– ३७ ७–३४

३– ३८)
) ७–७, ९
३– ३९)

३– ४०)
३– ४१) ७–३४
३– ४२)

३– ४३ ७–७, ९

३– ४४)
३– ४५) ७–३५
३– ४६)
३– ४७)

३– ४८)
३– ४९) ७–७, ९
३– ५०)

३– ५१)
) ९–४२
३– ५२)

३– ५३ ७–४, ६
२४

३– ५४)
३– ५५) ९–२५
३– ५६)

३– ५७)
३– ५८) ७–३६
३– ५९)

३– ६० ९–५८
३– ६१ ७–३६
३– ६२ ९–६७

चतुर्थं मण्डलम्

४– १)
४– २) ८–३
४– ३)

४– ४ ८–५

४– ५ ८–६, ८

४– ६)
) ८–३
४– ७)

४– ८)
)
४– ९) ८–३
)
४– १०)

४– ११)
४– १२)
४– १३) ८–४
४– १४)

४– १५ ८–३

४– १६) ८–९,
४– १७) १०, ११

४– १८ ९–६

४– १९) ८–९,
४– २०) १०, ११

४– २१)
४– २२) ८–९,
४– २३) १०, ११
४– २४)

४– २५ ८–१२

४– २६)
४– २७) ९–६

४– २८)
४– २९) ८–१२

४– ३०)
४– ३१) ८–१२
४– ३२)

४– ३३)
४– ३४) ८–१३,
४– ३५) १४

४– ३६)
४– ३७) ८–१५

४– ३८)
४– ३९) ८–१६
४– ४०)

४– ४१ ८–१९
४– ४२ ६–१८

४– ४३)
४– ४४) ९–७

४– ४५ ८–२०

४– ४६)
४– ४७) ८–१९

४– ४८ ८–१९

४– ४९)
) ८–१९
४– ५०)

४– ५१)
) ८–१७
४– ५२)

४– ५३)
) ८–१८
४– ५४)

४– ५५ ९–७
४– ५६ ८–२०
४– ५७ ८–२१

४ ५८ ९–७

पंचमं मण्डलम्

५– १ ६–४७

५– २ ९–६३

५– ३)
) ६–४५
५– ४)

५– ५ ९–६३

५– ६)
५– ७) ६–४५
५– ८)

५– ९)
) ६–४५
५– १०)

५– ११)
५– १२) ६–४६
५– १३)
५– १४)

५– १५ ९–६३

५– १६ ६–४६

५– १७)
५– १८) ६–४६
५– १९)

५– २० ६–४७

५– २१)
५– २२) ६–४६
५– २३)

५– २४ ९–६३

५– २५)		५– ४५)		५– ६५)	
)	६–४७	)	९–२५	५– ६६)	६–३४
५– २६)		५– ४६)		५– ६७)	
				५– ६८)	
५– २७	६–१९	५– ४७)			
५– २८	६–४३,	)	६–३५	५– ६९)	
	४४	५– ४८)		५– ७०)	६–३४
				५– ७१)	
५– २९	९–४२	५– ४९	६–३५	५– ७२)	
५– ३०)		५– ५०)		५– ७३)	
५– ३१)	६–४२	)	६–३५	५– ७४)	६–३३
५– ३२)		५– ५१)			
				५– ७५	६–३३
५– ३३)		५– ५२)			
)	९–४२	५– ५३)	६–१४	५– ७६)	
५– ३४)		५– ५४)		५– ७७)	६–९
		५– ५५)			
५– ३५)				५– ७८	९–६३
)	६–३७	५– ५६)			
५– ३६)		५– ५७)		५– ७९)	
		५– ५८)	६–१४	५– ८०)	६–३२
५– ३७)		५– ५९)			
५– ३८)	६–८	५– ६०)		५– ८१)	
५– ३९)				५– ८२)	६–१६
		५– ६१	६–१५,		
५– ४०	९–६३		१६	५– ८३)	
				५– ८४)	६–१०
५– ४१)		५– ६२	९–६३		
५– ४२)	९–२५			५– ८५)	
५– ४३)		५– ६३)		५– ८६)	६–११
		)	६–१७		
५– ४४	९–४४	५– ६४)		५– ८७	९–६३

षष्ठं मण्डलम्

६– १)		६– ५)		६– ८	५–३१
६– २)	४–३२,	६– ६)	४–३२,		
६– ३)	३३	६– ७)	३३		
६– ४)				६– ९	८–४२

६– १०)
६– ११)
६– १२) ४–३२,
६– १३) ३३
६– १४)

६– १५ ४–६, ७
८
६– १६ ८–४१

६– १७)
६– १८)
६– १९) ४–३५,
६– २०) ३६
६– २१)
६– २२)

६– २३)
६– २४)
६– २५) ४–४३
६– २६)

६– २७ ५–३३

६– २८ ५–३१

६– २९ ५–३१

६– ३० ५–३२

६– ३१)
६– ३२) ४–४३

६– ३३)
६– ३४) ४–४०

६– ३५)
६– ३६) ४–३८

६– ३७)
६– ३८)
६– ३९)
६– ४०) ४–१५,
६– ४१) १६
६– ४२)
६– ४३)

६– ४४)
६– ४५) ८–४३

६– ४६ ४–२५,
२६

६– ४७ ५–३४

६– ४८ ५–३६

६– ४९)
६– ५०)
६– ५१) ८–४३
६– ५२)

६– ५३)
६– ५४) ४–४४
६– ५५)

६– ५६ ४–१७

६– ५७ ४–४५

६– ५८ ४–४४

६– ५९)
६– ६०)४ –३७
६– ६१)
६– ६२) ५–३२
६६– ६३)

६– ६४ ४–१८
६– ६५ ४–४४
६– ६६ ४–४४

६– ६७ ४–१९

६– ६८)
६– ६९) ४–४५

६– ७० ४–२०

६– ७१ ४–२१

६– ७२ ४–४५

६– ७३ ५–३२

६– ७४ ४–४६

६– ७५ ५–३५

सप्तमं मण्डलम्

७– १ ७–१४
७– २ ९–५६

७– ३)
७– ४) ७–५१

७– ५)
७– ६) ७–२५

७– ७)
७– ८) ७–५१

७– ९)
७– १०)
७– ११) ७–५१
७– १२)

७– १३	७–२५
७– १४	७–५१
७– १५)	
७– १६)	७–२९
७– १७)	
७– १८	९–६७
७– १९)	
७– २०)	९–४२
७– २१)	
७– २२)	
७– २३)	७–५२
७– २४)	
७– २५)	
७– २६)	
७– २७)	
७– २८)	७–५२
७– २९)	
७– ३०)	
७– ३१)	
७– ३२	७–८
७– ३३	९–६७
७– ३४)	
७– ३५)	
७– ३६)	९–४४
७– ३७)	
७– ३८	९–६७
७– ३९)	
७– ४०)	७–३९
७– ४१	७–३१
७– ४२)	
७– ४३)	७–३९
७– ४४	७–३०, ३१
७– ४५	७–४७
७– ४६	७–२०
७– ४७	७–२१
७– ४८	९–५७
७– ४९	७–२१
७– ५०	९–५७
७– ५१)	
७– ५२)	७–४७
७– ५३	७–४८
७– ५४	७–४९
७– ५५	७–५०
७– ५६	७–१७, १८
७– ५७)	
७– ५८)	७–१८
७– ५९	७–१८
७– ६०)	
७– ६१)	७–४६
७– ६२)	
७– ६३)	७–४६
७– ६४)	
७– ६५)	७–४६
७– ६६	७–४७
७– ६७)	
७– ६८)	७–३८
७– ६९)	
७– ७०)	
७– ७१)	
७– ७२)	७–३८
७– ७३)	
७– ७४)	
७– ७५)	
७– ७६)	७–३७
७– ७७)	
७– ७८)	
७– ७९)	७–३७
७– ८०)	
७– ८१)	
७– ८२)	
७– ८३)	७–४०,
७– ८४)	४१, ४२
७– ८५)	
७– ८६	७, ५३, ५४
७– ८७)	
७– ८८)	९–५६
७– ८९	९–५६
७– ९०)	
७– ९१)	७–४३
७– ९२	७–४३
७– ९३)	
७– ९४)	७–३३
७– ९५	८–५७
७– ९६	९–५७

७– ९७)		७– ९९)		७–१०२)	७– २२
)	७–४४	७–१००)	७–४५	७–१०३)	
७– ९८)		७–१०१	७–२३	७–१०४	७–१५,१६

अष्टमं मण्डलम्

८– १	९–५४	८– २३)		८– ४६	६–२८,
८– २	९–१०	८– २४)			२९
		८– २५)	६–२२	८– ४७	५–२३
८– ३)		८– २६)			
८– ४)	९–५४			८– ४८	५–८
८– ५)		८– २७	५–१२		
				८– ४९)	
८– ६	६–२७	८– २८	५–१३	८– ५०)	९–७३
				८– ५१)	
८– ७)		८– २९	९–१९		
८– ८)	६–३१			८– ५२)	
८– ९)		८– ३०	५–१३	८– ५३)	९–७३
		८– ३१	५–१४	८– ५४)	
८– १०	५–८				
		८– ३२)	९–१०	८– ५५)	
८– ११	६–२७	८– ३३)		८– ५६)	
				८– ५७)	९–७३
८– १२)		८– ३४	६–२६	८– ५८)	
८– १३)	५–२८			८– ५९)	
		८– ३५)			
८– १४)		८– ३६)	६–१२,	८– ६०)	
८– १५)	९–१७	८– ३७)	१३	८– ६१)	५–९
८– १६)		८– ३८)	६–१३	८– ६२	५–८
८– १७)	९–११	८– ३९)			
८– १८)		८– ४०)	५–३२	८– ६३)	
		८– ४१)		८– ६४)	९–११
८– १९	५, ३६,			८– ६५)	
	३७	८– ४२	९–१९		
				८– ६६	५–९
८– २०)		८– ४३)		८– ६७	९–१९
८– २१)	५–३८	८– ४४)	६–२४		
				८– ६८)	
८– २२	५–३९	८– ४५	९–११	८– ६९)	६–२३

८– ७०	९–१८	८– ८१)		८– ९२)	
		)	९–१८	८– ९३)	९–१८
८– ७१	९–१९	८– ८२)			
				८– ९४	९–५४
८– ७२	५–९	८– ८३	९–१९		
				८– ९५)	
८– ७३)		८– ८४	६–२१	८– ९६)	९–१८
८– ७४)	९–१९				
		८– ८५)		८– ९७	५–१७
		८– ८५)	५–२६		
८– ७५	९–२४	८– ८६)		८– ९८)	
				८– ९९)	९–१८
८– ७६)		८– ८८	९–१५		
८– ७७)	५–२१			८–१००)	
८– ७८)		८– ८९)		८–१०१)	५–२०
		८– ९०)	९–१८		
८– ७९	५–२०			८–१०२	५–१९
		८– ९१	६–४३,	८–१०३	५–३६,
८– ८०	९–१८		४४		३७

नवमं मण्डलम्

९– १	१०–३०	९– १४)		९– २५)	
		९– १५)	१०–१०	९– २६)	१०–१५
९– २	१०–२९	९– १६)			
		९– १७)		९– २७)	
९– ३	३–२८			९– २८)	१०–११
		९– १८)		९– २९)	
९– ४	१०–१२	९– १९)	१०–१०	९– ३०)	
९– ५	९–९	९– २०)			
		९– २१)		९– ३१	१०–१३
९– ६)				९– ३२	६–१७
९– ७)	१०–१०	९– २२)			
९– ८)		९– २३)		९– ३३)	
९– ९)		९– २४)	१०–१०	)	५–२४
				९– ३४)	
९– १०)					
९– ११)	१०–१०			९– ३५)	
९– १२)				)	६–३७
९– १३)				९– ३६)	

९– ३७)	
)	१०–२१
९– ३८)	
९– ३९)	
)	१०–११
९– ४०)	
९– ४१)	
९– ४२)	१०–१४
९– ४३)	
९– ४४)	
९– ४५)	५–४
९– ४६)	
९– ४७)	
९– ४८)	६–२९
९– ४९)	
९– ५०)	
९– ५१)	१०–११
९– ५२)	
९– ५३)	
)	१०–६
९– ५४)	
९– ५५)	
९– ५६)	१०–९
९– ५७)	
९– ५८)	
९– ५९)	
)	१०–९
९– ६०)	
९– ६१	१०–१२
९– ६२	१०–१६

९– ६३	१०–९
९– ६४	१०–८
९– ६५	१०–१६
९– ६६	१०–१९
९– ६७	१०–३१, ३२
९– ६८	१०–१५
९– ६९	१०–१२
९– ७०)	
)	१०–१४
९– ७१)	
९– ७२)	
)	१०–१२
९– ७३)	
९– ७४	१०–१३
९– ७५)	
)	६–२१
९– ७६)	
९– ७७)	
९– ७८)	६–२१
९– ७९)	
९– ८०)	
९– ८१)	१०–१३
९– ८२)	
९– ८३	१०–१२
९; ८४	१०–१५
९– ८५	६–२१
९– ८६	१०–२२, २३

९– ८७)	
९– ८८)	१०–१५
९– ८९)	
९– ९०)	
९– ९१)	
)	१०–८
९– ९२)	
९– ९३	१०–१३
९– ९४	५–३
९– ९५	१०–१४
९– ९६	१०–१५
९– ९७	१०–१४
९– ९८)	
)	१०–१७
९– ९९)	
९–१००	१०–१७
९–१०१	१०–२१
९–१०२	५–२४
९–१०३	५–२५
९–१०४)	
)	१०–१७
९–१०५)	
९–१०६	१०–२०
९–१०७	१०–२६
९–१०८	१०–२५
९–१०९	१०–१८
९–११०	१०–१७
९–१११	१०–२७
९–११२	१०–२८
९–११३)	
)	१०–८
९–११४)	

दशमं मण्डलम्

१०– १)
१०– २) ५–२५
१०– ३)
१०– ४)

१०– ५)
१०– ६) ५–२५
१०– ७)

१०– ८ ९–४५
१०– ९ ४–३९
१०– १० ४–२८

१०– ११)
१०– १२) ४–२९
१०– १३)

१०– १४ ४–३०

१०– १५ ४–३१

१०– १६)
१०– १७) ८–२५
१०– १८)
१०– १९)

१०– २०)
१०– २१) ९–२१
१०– २२)
१०– २३)

१०– २४)
१०– २५) ९–२१
१०– २६)

१०– २७)
१०– २८) ९–२२
१०– २९)

१०– ३० ८–२८

१०– ३१)
१०– ३२) ८–२९
१०– ३३)

१०– ३४ ८–३०

१०– ३५)
१०– ३६) ९–४४

१०– ३७ ९–४८
१०– ३८ ९–२१

१०– ३९)
१०– ४०) ९–४७
१०– ४१)

१०– ४२)
१०– ४३) ९–४३
१०– ४४)

१०– ४५)
१०– ४६) ९–४५

१०– ४७)
१०– ४८) ९–४३
१०– ४९)
१०– ५०)

१०– ५१)
१०– ५२) ९–५९
१०– ५३)

१०– ५४)
१०– ५५) ८–३४

१०– ५६ ८–२४

१०– ५७ ९–४४
१०– ५८ ९–५०

१०– ५९)
१०– ६०) ९–४४

१०– ६१)
१०– ६२) ९–४४

१०– ६३)
१०– ६४) ९–४४

१०– ६५)
१०– ६६) ९–२३

१०– ६७ ५–४

१०– ६८ ५–४
१०– ६९ ९–४५
१०– ७० ९–४६
१०– ७१ ९–४०, ४१
१०– ७२ ९–४८

१०– ७३)
१०– ७४) ९–४३

१०– ७५ ९–४८
१०– ७६ ९–३५

१०– ७७)
१०– ७८) ९–४८

१०– ७९)
१०– ८०) ९–४५

१०– ८१)
१०– ८२) ९–४९

१०– ८३)	
१०– ८४)	९–५०
१०– ८५	९–६८, ६९
१०– ८६	९–५४
१०– ८७	५–३५
१०– ८८	८–२६
१०– ८९	८–२
१०– ९०	९–५२
१०– ९१	९–४५
१०– ९२)	
१०– ९३)	९–४४
१०– ९४	९–६०
१०– ९५	९–५४
१०– ९६	९–४३
१०– ९७	९– ४४
१०– ९८	९–६१
१०– ९९	९–४३
१०–१००	९–४४
१०–१०१	९–६४
१०–१०२)	
१०–१०३)	
१०–१०४)	९–४३
१०–१०५)	
१०–१०६	९–४७
१०–१०७	९–३८
१०–१०८	९–५४
१०–१०९	९–४४
१०–११०	९–४६
१०–१११)	
१०–११२)	९–४३
१०–११३)	
१०–११४	९–६४
१०–११५)	
१०–११६)	९–४५
१०–११७	९–३९
१०–११८	९–४६
१०–११९)	
१०–१२०)	९–४३
१०–१२१	९–५१
१०–१२२	९–४५
१०–१२३	९–४९
१०–१२४	९–६४
१०–१२५	९–६
१०–१२६	९–४४
१०–१२७	९–४८
१०–१२८	९–४४
१०–१२९	९–५१
१०–१३०	९–६४
१०–१३१	९–३१
१०–१३२	९–३४
१०–१३३	७–११
१०–१३४	९–३१
१०–१३५	९–३४
१०–१३६	९–३३
१०–१३७	९–३२
१०–१३८	९–३१
१०–१३९	९–३३
१०–१४०	९–३२
१०–१४१)	
१०–१४२)	९–३२
१०–१४३	९–३४
१०–१४४	९–३१
१०–१४५	९–३६
१०–१४६	९–३५
१०–१४७	९–३५
१०–१४८	६–३०
१०–१४९	९–६६
१०–१५०	९–३२
१०–१५१	९–३५
१०–१५२)	
१०–१५३)	९–३१
१०–१५४	९–६५
१०–१५५	९–३६
१०–१५६)	
१०–१५७)	९–३२
१०–१५८	९–३३
१०–१५९	९–३६
१०–१६०	८–२
१०–१६१	९–३६
१०–१६२	९–३२
१०–१६३)	
१०–१६४)	९–३६
१०–१६५)	
१०–१६६	९–३६
१०–१६७	९–३२
१०–१६८	९–३३
१०–१६९	९–३७
१०–१७०	९–३३
१०–१७१	९–३१
१०–१७२	९–३४
१०–१७३)	
१०–१७४)	९–३७
१०–१७५)	
१०–१७६)	९–३५
१०–१७७	९–६५
१०–१७८	९–३४

१०–१७९)		१०–१८५	९–६५	१०–१९१	९–६५
१०–१८०)	९–३१	१०–१८६	९–३३		
१०–१८१	९–३२	१०–१८७)			
१०–१८२	९–३४	१०–१८८)	९–३२		
१०–१८३)		१०–१८९	९–३३		
१०–१८४)	९–३७	१०–१९०	९–७४		

तालिका क्रमांक (२)

विश्वामित्र युग

३–६२–१०	विश्वामित्र	सवितृ	३–१८
– ८– ४	,,	दीक्षाविषयक	३–२१
१–२८	शुनःशेप	सोम	३–२८
–२९	,,	इंद्र	,,
९– ३	,,	सोम पवमान	,,
१–२४	,,	अग्नि, सवितृ, वरुण	३–२५–२६
–२५	,,	वरुण	,,
–२६	,,	अग्नि	३–२७
–२७	,,	,,	,,
–३०	,,	इंद्र, अश्विनौ, उषस्	,,

भरद्वाज युग

६–१५	वीतहव्य आंगिरस	अग्नि	४–६, ७, ८
१–१४५	दीर्घतमा मामतेय	,,	४–११(१), १२
१–१४६)		,,	,,
–१४७)		,,	,,
–१४८)	,,	,,	,,
–१४९)		,,	,
–१५०)		,,	,,
–१५२)		मित्रावरुणौ	४–१२(२)
–१५३)	,,	,,	,,
–१५४)	,,	विष्णु	४–१२(३)
–१५६)		,,	,,
–१५७	,,	अश्विनौ	४–१२(४)
–१५९)		द्यावापृथिवी	४–१२(५)
–१६०)	,,	,,	,,
६– ३७)		इंद्र	४–१५, १६
– ३८)		,,	,,
– ३९)		,,	,,
– ४०)	भरद्वाज बार्हस्पत्य	,,	,,
– ४१)		,,	,,
– ४२)		,,	,,
– ४३		,	,,

– ५६	भरद्वाज बार्हस्पत्य	पूषन्	४–१७
– ६४	,,	उषस्	४–१८
– ६७	,,	मित्रावरुणौ	४–१९
६– ७०	,,	द्यावापृथिवी	४–२०
– ७१	,,	सवितृ	४–२१
१–१२३)		उषस्	४–२३
–१२४)	कक्षीवत् १	,,	,,
६– ४६	शंयु भारद्वाज	इंद्र	४–२५, २६
१०– १०)		यमयमी संवाद	४–२८
– ११)		अग्नि	४–२९
– १२)	विवस्वान् आदित्य	अग्नि	,,
– १३)		हविर्धान	,,
– १४	यम वैवस्वत	यम, पितर	४–३०
– १५	शंख यामायन	पितर	४–३१
६– १)		अग्नि	४–३२, ३३
– २)		,,	,,
– ३)		,,	,,
– ४)	भरद्वाज २	,,	,,
– ५)		,,	,,
– ६)		,,	,,
– ७)		,,	,,
– १०)		,,	,,
– ११)		,,	,,
– १२)	,,	,,	,,
– १३)	,,	,,	,,
– १४)	,,	,,	,,
– १७)		इंद्र	४–३५, ३६
– १८)		,,	,,
– १९)	भरद्वाज२ विदथिन्	,,	,,
– २०)		,,	,,
– २१)		,,	,,
– २२)		,,	,,
– ५९)	,,	इंद्राग्नी	४–३७
– ६०)		,,	,,
– ३५)		इंद्र	४–३८
– ३६)	नर भारद्वाज	,,	,,
१०– ९	सिंधुद्वीप आंबरीष	आप	४–३९

६– ३३)		इंद्र	४–३८
– ३४)	शुनहोत्र भारद्वाज	,,	,,
२– ३३	गृत्समद शौनहोत्र	रुद्र	४–४०
– ३४	,,	मरुत्	४–४१
६– ३१)	सुहोत्र भारद्वाज	इंद्र	४–४३
– ३२)		इंद्र	,,
६– २३)	भरद्वाज ३	इंद्र	४–४३
– २४)		,,	,,
– २५)	,,	,,	,,
– २६)			,,
– ५३	,,	पूषन्	४–४४
– ५४)	,,	,,	,,
– ५५)	,,	,,	,,
– ५८)		,,	,,
– ६५	,,	उषस्	,,
– ६६	,,	मरुत्	,,
– ५७	,,	इंद्रापूषणौ	४–४५
– ६८	,,	इंद्रावरुणौ	,,
– ६९	,,	इंद्राविष्णू	,,
– ७२	,,	इंद्रासोमौ	,,
– ७४	,,	सोमारुद्रौ	४–४६

कण्व युग

१– ३६)		अग्नि	५– २
– ३७)		मरुत्	,,
– ३८		,,	,,
– ३९)	कण्व घौर	,,	,,
– ४०)		ब्रह्मणस्पति	,,
– ४१)		वरुण, मित्र, अर्यमा	,,
– ४२)		पूषन्	,,
– ४३)		रुद्र	,,
९– ९४	,,	सोम पवमान	५–३
– ४४)		,,	५– ४
– ४५)	अयास्य आंगिरस	,,	,,
– ४६)		,,	,,
१०– ६७)	,,	बृहस्पति	,,
– ६८)		,,	,,

१– १२)		अग्नि	५– ६
– १४)		विश्वेदेव	५– ७
– १६)	मेधातिथि काण्व	इंद्र	५– ६
– १७)		इंद्रावरुणौ	५– ७
– १८)		ब्रह्मणस्पति, इंद्र,सोम	५– ६
		दक्षिणा, सदसस्पति)	,,
– १९)		,,	,,
१– २१)		इंद्राग्नी	५– ७
– २२)	मेधातिथि काण्व	अश्विनौ, सविता,अग्नि)	५– ६
– २३)		देवी, द्यावापृथिवी, विष्णु)	
		विश्वेदेव	,,
८– १०)		अश्विनौ	५– ८
– ४८)	प्रगाथ घौर काण्व	सोम	,,
– ६२)		इंद्र	,,
– ६०)		अग्नि	५– ९
– ६१)	भर्ग प्रागाथ	इंद्र	,,
– ६६	कलि प्रागाथ	,,	,,
– ७२	हर्यत प्रागाथ	अग्नि	,,
१– ४)		,,	५–१०
– ५)	सोमाहुति भार्गव	,,	,,
– ६)		,,	,,
– ७)		,,	,,
८– २७)		विश्वेदेव	५–१२
– २८)		,,	५–१३
– ३०)	मनु वैवस्वत	,,	,,
– ३१)		यज्ञ, यजमान	५–१४
१– ७४)		अग्नि	५–१५
– ७५)		,,	,,
– ७६)		,,	,,
– ७७)	गोतम राहूगण	,,	,,
– ७८)		,,	,,
– ७९)		,,	,,
– ८०)		इंद्र	,,
– ८१)		,,	,,
– ८२)	,,	,,	,,
– ८३)		,,	,,
– ८४)		,,	,,

– ८५)		मरुत्	५–१६
– ८६)	,,	,,	,,
– ८७)		,,	,,
– ८८)		,,	,,
– ८९)	,,	विश्वेदेव	५–१७
– ९०)		,,	,,
९– ९१)		सोम	,,
– ९२)	गौतम राहूगण	उषस्	५–१८
– ९३)		अग्निषोमौ	,,
८–१०२)	प्रयोग भार्गव	अग्नि	५–१९
–१०१)	जमदग्नि भार्गव	अनेक देव	५–२०
–१००)	नेम भार्गव	,,	,,
– ७९	कृत्नु भार्गव	सोम	,,
– ७६)		इंद्र	५–२१
– ७७)	कुरुसुति काण्व	,,	,,
– ७८)		,,	,,
– ३९)		अग्नि	५–२२
– ४०)	नाभाक काण्व	इंद्राग्नी	,,
– ४१)		वरुण	,,
– ४७	त्रित आप्त्य	आदित्य	५–२३
९– ३३)		सोम पवमान	५–२४
– ३४)	,,	,,	,,
–१०२	,,	,,	,,
१०– १)		अग्नि	५–२५
– २)		,,	,,
– ३)		,,	,,
– ४)	,,	,,	,,
– ५)		,,	,,
– ६)		,,	,,
– ७)		,,	,,
९–१०३	द्वित आप्त्य	,,	,,
८– ८५)		अश्विनौ	५–२६
– ८६)	कृष्ण आंगिरस	,,	,,
– ८७)		,,	,,
– ९७	रेभ काश्यप	इंद्र	५–२७
– १२)		,,	५–२८
– १३)	पर्वतनारदौ काण्वौ	,,	,,
६– ८	भरद्वाज ४	वैश्वानर	५–३१
– २८	,,	गावः	,,

– २९)	भरद्वाज ४	इंद्र	,,
– ३०)	,,	,,	,,
६– ६१	,,	सरस्वती	५–३२
– ६२	,,	अश्विनौ	,,
– ६३	,,	,,	,,
– ७३	,,	बृहस्पति	,,
– २७	,,	इंद्र चायमान	५–३३
६– ४७	गर्ग भारद्वाज	इंद्र, रथादि	५–३४
– ७५	पायु भारद्वाज	संग्राम साधन	५–३५
१०– ८७	,,	रक्षोहन् अग्नि	,,
८– १९)		अग्नि	५–३६, ३७
– २०)		मरुत्	५–३८
– २१)	सोभरि काण्व	इंद्र	,,
– २२)		अश्विनौ	५–३९
– २३)		अग्नि	५–३६, ३७

अत्रि युग

१– ९९	कश्यप मारीच	जातवेदस्	६–२
– ९४)		अग्नि	६–३, ४
– ९५)		,,	,,
– ९६)	कुत्स आंगिरस	,,	,,
– ९७)		,,	,,
– ९८)		,,	,,
–१०१)		इंद्र	६– ५
–१०२)		,,	,,
–१०३)	,,	,,	,,
–१०४)		,,	,,
–१०६	,,	विश्वेदेव	६– ६
–१०८)		इंद्राग्नी	,,
–१०९)	,,	,,	,,
–११४	,,	रुद्र	६– ७
–११५	,,	सूर्य	,,
५– ३७)		इंद्र	६– ८
– ३८)	अत्रि भौम	,,	,,
– ३९)		,,	,,
– ७६)		अश्विनौ	६– ९
– ७७)	,,	,,	,,

५– ८३	अत्रि भौम	पर्जन्य	६–१०
– ८४	,,	पृथ्वी	,,
– ८५	,,	वरुण	६–११
– ८६	,,	इंद्राग्नी	,,
८– ३५	श्यावाश्व आत्रेय	अश्विनौ	६–१२, १३
८– ३६)	श्यावाश्व आत्रेय	इंद्र	,, ,, ,,
– ३७)	,,	,,	,,
– ३८)	,,	इंद्राग्नी	,,
५– ५२)		मरुत्	६–१४
– ५३)		,,	,,
– ५४)	श्यावाश्व आत्रेय	,,	,,
– ५५)		,,	,,
– ५६)		,,	,,
– ५७)		,,	,,
– ५८)	,,	,,	,,
– ५९)		,,	,,
– ६०)		,,	,,
५– ६१	,,	मरुत्	६–१५, १६
– ८१)		सवितृ	६–१६
– ८२)		,,	,,
९– ३२	,,	सोम पवमान	६–१७
५– ६३)		मित्रावरुणौ	,,
– ६४)	अर्चनाना आत्रेय	,,	,,
४– ४२	त्रसदस्युपौरुकुत्स	इंद्रावरुणौ	६–१८
५– २७	अत्रि	दातृवर्णन	६–१९
१–१२७)		अग्नि	६–२०
–१२८)	परुच्छेप दैवोदासि	,,	,,
–१२९)		इंद्र	६–२०, २०
–१३०)		,,	,,
–१३१)	,,	,,	
–१३२)		,,	,,
–१३३)		,,	,,
–१३४)		वायु	,,
–१३५)	,,	,,	,,
–१३६)	,,	मित्रावरुणौ	,,
–१३७)		,,	,,

५–१३८	परुच्छेप दैवोदासि	पूषन्	,,
–१३९	,,	विश्वे देव	,,
९– ४७)		सोम पवमान	६–२१
– ४८)		,,	,,
– ४९)		,,	,,
– ७५)	कवि भार्गव	,,	,,
– ७६)		,,	,,
– ७७)		,,	,,
– ७८)		,,	,,
– ७९)		,,	,,
९– ८५	वेन भार्गव	,,	,,
८– ८४	उशना काव्य	अग्नि	,,
– २३)		,,	६–२२
– २४)		इंद्र	,,
– २५)	विश्वमना वैयश्व	मित्रावरुणौ	,,
– २६)		अश्विनौ	,,
– ६८)		इंद्र	६–२३
– ६९)	प्रियमेध आंगिरस	,,	,,
– ४३)		अग्नि	६–२४
– ४४)	विरूप आंगिरस	,,	,,
– ७५)		,,	,,
१– ४४)		,,	६–२५
– ४५)		,,	,,
– ४६)	प्रस्कण्व काण्व	अश्विनौ	,,
– ४७)		,,	,,
– ४८)		उषस्	,,
– ४९)		,,	,,
– ५०	,,	सूर्य	६–२५
८– ३४	नीपातिथि काण्व	इंद्र	६–२६
– ६)		,,	६–२७
– ११)	वत्स काण्व	अग्नि	,,
– ४६	वश अश्व्य	इंद्र	६–२८, २९
१०–१४८	पृथि वैन्य	,,	६–३०
८– ७	पुनर्वत्स काण्व	मरुत्	६–३१
– ८	सध्वंस काण्व	अश्विनौ	,,
– ९	शशकर्ण काण्व	,,	,,

५– ७९)		उषस्	६–३२
– ८०)	सत्यश्रवा आत्रेय	,,	,,
– ७३)		अश्विनौ	६–३३
– ७४)	पौर आत्रेय	,,	,,
– ७५	अवस्यु आत्रेय	,,	,,
– ६५)		मित्रावरुणौ	६–३४
– ६६)	शतहव्य आत्रेय	,,	,,
– ६७	यजत आत्रेय	,,	,,
– ६८	,,	,,	,,
– ६९)		,,	,,
– ७०)	उरुचक्रि आत्रेय	,,	,,
– ७१)		,,	,,
– ७२)	बाहुवृक्त आत्रेय	,,	,,
– ५०)		विश्वेदेव	६–३५
– ५१)	स्वस्ति आत्रेय	,,	,,
– ४७	प्रतिरथ आत्रेय	,,	,,
– ४८	प्रतिभानु आत्रेय	,,	,,
– ४९	प्रतिप्रभ आत्रेय	,,	,,
६– ४८	तृणपाणि शंयु	,,	६–३६
५– ३५)		इंद्र	६–३७
– ३६)	प्रभूवसु आत्रेय	,,	,,
९– ३५)		सोम पवमान	,,
– ३६)	,,	,,	,,
१–११६)		अश्विनौ	६–३८–३९
–११७)			,,
–११८)	कक्षीवत् पज्रिय	,,	६–३९
–११९)	,,	,,	,,
–१२०)		,,	६–४०
–१२१)		विश्वेदेव	,,
–१२२)	,,	,,	,,
–१२५	,,	दक्षिणा	६–४१
–१२६	,,	स्वनय रोमशा	,,
५– ३०	बभ्रु आत्रेय	इंद्र	६–४२
– ३१	अवस्यु आत्रेय	,,	,,
– ३२	गातु आत्रेय	,,	,,

८– ९१	अपाला आत्रेयी	इंद्र	६–४३, ४४
५– २८	विश्ववारा आत्रेयी	अग्नि	,,
– ३)		,,	६–४५
– ४)	वसुश्रुत आत्रेय	,,	,,
– ६)		,,	,,
– ७)		,,	,,
– ८)	इष आत्रेय	,,	,,
– ९)		,,	,,
– १०)	गय आत्रेय	,,	,,
– ११)		,,	,,
– १२)	सुतंभर आत्रेय	,,	६–४६
– १३)		,,	,,
– १४)		,,	,,
– १६)		,,	,,
– १७)	पूरु आत्रेय	,,	,,
– १८	मृक्तवाहा द्वित	,,	,,
– १९	वव्रि आत्रेय	,,	,,
– २१	सस आत्रेय	,,	,,
– २२	विश्व सरमा आत्रेय	,,	,,
– २३	द्युम्न विश्वचर्षणि,,	,,	,,
– १	बुधगविष्ठिरौ आत्रेयौ	,,	६–४७
– २०	प्रयस्वन्त आत्रेय	,,	६–४७
– २५		,,	,,
– ६)	वसूयव आत्रेय	,,	,,

वसिष्ठ युग

३– २४)		अग्नि	७– २
– २५)		,,	,,
– २६)	विश्वामित्र कौशिक	,,	,,
– २७)		,,	,,
– २८)		,,	,,
– २९)		,,	,,
– ५३	,,	इंद्र	७–४, ६, २४
३– १)		अग्नि	७– ५
३– ५)	विश्वामित्र कौशिक	,,	,,
– ६)		,,	,,
– ७)		,,	,,

३– ३०)		इंद्र	७–७, ९
– ३१)		,,	,,
– ३२)	विश्वामित्र कौशिक	,,	,,
– ३४)		,,	,,
– ३५)		,,	,,
– ३६)		,,	,,
– ३८)		,,	,,
– ३९)		,,	,,
– ४३)	,,	,,	,,
– ४८)		,,	,,
– ४९)		,,	,,
– ५०)		,,	,,
७– ३२)	वसिष्ठ मैत्रावरुण	इन्द्र	७–८
१– ६५)		अग्नि	७–१०
– ६६)		,,	,,
– ६७)		,,	,,
– ६८)	पराशर शाक्त्य	,,	,,
– ६९)		,,	,,
– ७०)		,,	,,
१०–१३३	सुदास् पैजवन	इंद्र	७–११
७– १)		अग्नि	७–१४
–१०४)	वसिष्ठ मैत्रावरुण	इंद्रासोमौ, रक्षोहा	७–१५, १६
७– ५६)		मरुत्	७–१७, १८
– ५७)	वसिष्ठ मैत्रावरुण	,,	७–१८
– ५८)		,,	,,
– ५९)		,,	७–१९
७– ४६	,,	रुद्र	७–२०
– ४७)	,,	आप	७–२१
– ४९)		,,	,,
७–१०२	,,	पर्जन्य	७–२२
–१०३	,,	मण्डूक	,,
–१०१	,,	पर्जन्य	,,
३– २)		वैश्वानर	७–२५
– ३)	विश्वामित्र कौशिक	,,	,,
७– ५)		,,	,,
– ६)	वसिष्ठ मैत्रावरुण	,,	,,
– १३)		,,	,,

१– ५९)		वैश्वानर	७–२६
– ५८)	नोधा गौतम	अग्नि	७–२८
– ६०)		,,	,,
७– १७)		,,	७–२९
– १५)	वसिष्ठ मैत्रावरुण	,,	,,
– १६)		,,	,,
७– ४४	,,	दधिक्रा	७–३०, ३१
– ४१	,,	भग	७–३१
३– १०)		अग्नि	७–३२
– ११)	विश्वामित्र कौशिक	,,	,,
७– ९३)		इंद्राग्नी	७–३३
– ९४)	वसिष्ठ मैत्रावरुण	,,	,,
३– ३७		इंद्र	७–३४
– ४०)	विश्वामित्र कौशिक	,,	,,
– ४१)		,,	,,
– ४२)		,,	,,
– ४४)		इंद्र	७–३५
– ४५)		,,	,,
– ४६)	,,	,,	,,
– ४७)		,,	,,
– ५७)		विश्वेदेव	७–३६
– ५८)	,,	अश्विनौ	,,
– ५९)		मित्र	,,
– ६१)		उषस्	,,
७– ७५)		,,	७–३७
– ७६)		,,	,,
– ७७)	वसिष्ठ मैत्रावरुणि	,,	,,
– ७८)		,,	,,
– ७९)		,,	,,
– ८०)		,,	,,
– ८१)		,,	,,
७– ६७)		अश्विनौ	७–३८
– ६८)		,,	,,
– ६९)		,,	,,
– ७०)	वसिष्ठ मैत्रावरुण		,,
– ७१)		,,	,,
– ७२)		,,	,,

७– ७३)	वसिष्ठ मैत्रावरुण	अश्विनौ	७–३८
– ७४)		,,	,,
– ३९)		विश्वेदेव	७–३९
– ४०)	,,	,,	,,
– ४२)		,,	,,
– ४३)		,,	,,
– ८२)		इंद्रावरुणौ	७–४०,४१,४२
– ८३)	,,	,,	,,
– ८४		,,	,,
– ८५)		,,	,,
– ९०)		वायु, इंद्रवायू	७–४३
– ९१)	,,	,,	,,
– ९२)		,,	,,
– ९७)		इंद्र, बृहस्पति	७–४४
– ९८)	,,	,,	,,
– ९९	,,	इंद्राविष्णू	७–४५
–१००	,,	विष्णु	,,
– ९१)		मित्रावरुणौ	७–४६
– ९४)	वसिष्ठ मैत्रावरुण	,,	,,
– ९५)		,,	,,
– ६०	,,	मित्रावरुणौ, सूर्य	,,
– ६२	,,	,,	,,
– ६३	,,	मित्रावरुणौ, सूर्य, अर्यमा	,,
– ४५	,,	सूर्य	७–४७
– ५१	,,	आदित्य	,,
– ५२	,,	,,	,,
– ६६	,,	,,	,,
– ५३	,,	द्यावापृथिवी	७–४०
७– ५४	वसिष्ठ मैत्रावरुण	वास्तोष्पति	७–४९
– ५५	,,	अर्जुन सारमेय	७–५०
७– ३)		अग्नि	७–५१
– ४)		,,	,,
– ७)		,,	,,
– ८)		,,	,,
– ९)	,,	,,	,,
– १०)		,,	,,
– ११)		,,	,,
– १२)			,,
– १४)			,,

७– २२)		इंद्र	७–५२
– २३)		,,	,,
– २३)		,,	,,
– २४)	वसिष्ठ मैत्रावरुण	,,	,,
– २५)		,,	,,
– २६)		,,	,,
– २७)		,,	,,
– २८)		,,	,,
– २९)		,,	,,
– ३०)		,,	,,
– ३१)		—	,,
– ८६	वसिष्ठ मैत्रावरुण	वरुण	७–५३, ५४

वामदेव युग

३– १३)		अग्नि	८– २
– १४)	ऋषभ वैश्वामित्र	,,	,,
– १७)		,,	,,
– १८)	कत वैश्वामित्र	,,	,,
१०– ८९	रेणु वैश्वामित्र	इंद्र	,,
–१६०	पूरण वैश्वामित्र	,,	,,
४– १५)		अग्नि	८– ३
– १)		,,	,,
– २)	वामदेव गौतम	,,	,,
– ३)		,,	,,
– ६)		,,	,,
– ७)		,,	,,
४– ८)		अग्नि	८– ३
– ९)		,,	,,
– १०)		,,	,,
– ११)	वामदेव गौतम	,,	८– ४
– १२)		,,	,,
– १३)		,,	,,
– १४)		,,	,,
– ४	,,	रक्षोहाग्नि	८– ५
– ५	,,	वैश्वानर	८– ६,८

४– १६)		इंद्र	८– ९, १०, ११
– १७)		”	”
– १९)		”	”
– २०)	वामदेव गौतम	”	”
– २१)		”	”
– २२)		”	”
– २३)		”	”
– २४)		”	”
– २५)		”	८–१२
– २८)		”	”
– २९)		”	”
– ३०)	”	”	”
– ३१)		”	”
– ३२)		”	”
– ३३)		ऋभु	८–१३, १४, १५
– ३४)		”	”
– ३५)	”	”	”
– ३६)		”	”
– ३७)		”	”
– ३८)		दधिक्रा	८–१६
– ३९	”	”	”
– ४०)		”	”
– ४५	”	अश्विनौ	८–२०
– ५१)		उषस्	८–१७
– ५२)	”	”	”
– ५३)		सवितृ	८–१८
– ५४)	”	”	”
– ४१	”	इंद्रावरुणौ	८–१९
४– ४६)		इंद्रवायू	”
– ४७)	वामदेव गौतम	”	”
– ४९)		इंद्राबृहस्पति	”
– ५०)	”	”	”
– ४८	”	वायु	”
– ५६	”	द्यावापृथिवी	८–२०
– ५७	”	क्षेत्रपति	८–२१

१०– ५४)		इंद्र	८–२४
– ५५)	बृहदुक्थ वामदेव	,,	,,
– ५६)		मृतपुत्र	,,
– १६	दमन यामायन	अग्नि	८–२५
– १७	देवश्रवा यामायन	अनेक देव	,,
– १८	संकुसुक यामायन	मृत्यु इत्यादि	,,
– १९	मथित यामायन	आपवा गाई	,,
– ८८	मूर्धन्वत् वामदेव्य	देव	८–२६
३– १५)	उत्कील	अग्नि	८–२७
– १६)	कात्य	,,	,,
– १९)		,,	,,
– २०)	गाथी कौशिक	,,	,,
– २१)		,,	,,
१०– ३०)		आप	८–२८
– ३१)		विश्वेदेव	८–२९
– ३२)	कवष ऐलूष	इंद्र	,,
– ३३)		विश्वेदेव	,,
– ३४)		अक्षद्यूत	८–३०
१–१६९)		इंद्र	८–३२
–१७१)		मरुतः	,,
–१७२)		,,	,,
–१७३)		इंद्र	,,
–१७४)	अगस्त्य	,,	,,
–१७५)		,,	,,
–१७६)		,,	,,
–१७७)		,,	,,
–१७८)		,,	,,
१–१८०)		अश्विनौ	८–३३
–१८१)		,,	,,
–१८२)	अगस्त्य मान्य	,,	,,
–१८३)		,,	,,
–१८४)		,,	,,
–१८५	,,	द्यावापृथिवी	८–३४
–१८६	,,	विश्वेदेव	,,
–१८९	,,	अग्नि	८–३५

–१९०	अगस्त्य मान्य	बृहस्पति	८–३५
–१८७	,,	अन्न	८–३६
–१४०)		अग्नि	८–३९
–१४१)		,,	,,
–१४३)		,,	,,
–१४४)	दीर्घतमस् २	,,	,,
–१५१)		मित्रावरुणौ	८–४०
–१५५)		विष्णु	,,
–१५८)		अश्विनौ	,,
–१६१	,,	ऋभु	८–३८
६– १६)		अग्नि	८–४१
– ९)	भरद्वाज ५	वैश्वानर	८–४२
– ४४)		इंद्र	८–४३
– ४५)	शंयु २	,,	,,
– ४९)		विश्वेदेवाः	,,
– ५०)	ऋजिष्वा भारद्वाज	,,	,,
– ५१)		,,	,,
– ५२)		,,	,,

शौनक युग

२– १)		अग्नि	९– २
– २)		,,	,,
– ८)	गृत्समद शौनक	,,	,,
– ९)		,,	,,
– १०)		,,	,,
– ११)		इंद्र	,,
– १२)	,,	,,	,,
– १३)		,,	,,
– १४)		,,	,,
– १५)		,,	,,
– १६)		,,	,,
– १७)		,,	,,
– १८)	,,	,,	,,
– १९)		,,	,,
– २०)		,,	,,
– २१)		,,	,,
– २२)		,,	,,

२– २३)	गृत्समद शौनक	ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति	९– ३
– २४)		,,	,,
– २५)			,,
– २६)		,,	,,
– ३८	,,	सवितृ	९– ४
– ३९	,,	अश्विनौ	,,
– ४०	,,	सोमापूषणौ	,,
४– १८)		इंद्र	९–५
– २६)	वामदेव २	,,	,,
– २७)		,,	,,
१०–१२५	वाक् आंभृणी	अहं	,,
४– ५५	वामदेव २	विश्वेदेव	९– ७
– ५८	अग्नि, सूर्य, आप, गाई, घृत	वामदेव	– ७
– ४३)		अश्विनौ	,,
– ४४)	पुरुमीढ व अजमीढ	,,	,,
२– २७)		आदित्य	९–८
– २८)	कूर्म गार्त्समद	वरुण	,,
– २९)		विश्वेदेव	,,
९– ५	काश्यप असित वा देवल	आप्री	९– ९
१– १३)		,,	९–१०
– १५)	मेघातिथि २	ऋतु	,,
– २०)		ऋभु	,,
८– २)		इंद्र	,,
– ३२)	,,	,,	,,
– ३३)		,,	,,
– ६३		,,	९–११
– ६४)	प्रगाथ काण्व	,,	,,
– ६५)		,,	,,
– १६)		,,	,,
– १७)	इरिंविठि काण्व	,,	,,
– १८)		,,	,,
– ४५	त्रिशोक काण्व	,,	,,

१– ५१)		इन्द्र	९–१३
– ५२)		,,	,,
– ५३)		,,	,,
– ५४)	सव्य आंगिरस	,,	,,
– ५५)		,,	,,
– ५६)		,,	,,
– ५७)		,,	,,
–१०५)		विश्वेदेव	९–१४
–१०७)		,,	,,
–११०)		ऋभु	,,
–१११)	कुत्स २	,,	,,
–११२)		अश्विनौ	,,
–११३)		उषस्	,,
– ६१)		इंद्र	९; १५
– ६२)		,,	,,
– ६३)	नोधा २	,,	,,
– ६४)		मरुत्	,,
८– ८८	,,	,,	,,
१–१६५)		संवाद	९–१६
–१७०)		,,	,,
–१७९)		,,	,,
–१६६)	अगस्त्य मान्य मांदार्य	मरुत्	९–१७
–१६७)		,,	,,
–१६८)		,,	,,
–१८८)		आप्री	,,
–१९१)		विषघ्न	,,
८– ८०	एकद्यु नौधा	इंद्र	९–१८
– ९८)		,,	,,
– ९९)	नृमेध आंगिरस	,,	,,
– ९६)		,,	,,
– ९५)	तिरश्ची आंगिरस	,,	,,
– ९३)		,,	,,
– ९२)	सुकक्ष आंगिरस	,,	,,
– ९०)		,,	,,
– ८९)	नृमेध व पुरुमेध	,,	,,

– ७०	पुरुहन्मा आंगिरस	इन्द्र	९–१८
– ८२)		,,	,,
– ८१)	कुसीदी काण्व	,,	
– १५)		,,	,,
– १४)	गोषूक्ति और अश्वसूक्ति	,,	,,
– ७१	सुदीति पुरुमीढ	अग्नि	९–१९
– ७४)		,,	,,
– ७३)	गोपवन आत्रेय	अश्विनौ	,,
– ४२	अर्चनाना आंगिरस	,,	,,
– २९	कश्यप मारीच	विश्वेदेव	,,
– ८३	कुसीदी काण्व	,,	,,
– ६७	मत्स्य सांमद	आदित्य	,,
१०– ३८	इंद्र वासिष्ठ	इंद्र	९–२१
– २०)		अग्नि	,,
– २९)		,,	,,
– २२)		इंद्र	,,
– २३)	विमद ऐंद्र	,,	,,
– २४)		,,	,,
– २५)		सोम	,,
– २६)		पूषन्	,,
– २७)		इंद्र	९–२२
– २८)	वसुक्र ऐंद्र	,,	,,
– २९)		,,	,,
– ६५)		विश्वेदेव	९–२३
– ६६)	वसुकर्ण वासुक्र	,,	,,
२– ३०)		,,	९–२५
– ३१)		,,	,,
– ३२)	गृत्समद २	,,	,,
– ४१)		,,	,,
३– ५४)		,,	,,
– ५५)	प्रजापति वैश्वानर	,,	,,
– ५६)		,,	,,

५– ४१)		विश्वेदेव	९–२५
– ४२)	अत्रि भौम २	,,	,,
– ४३)		,,	,,
– ४५	सदापृण आत्रेय	,,	,,
– ४६	प्रतिक्षत्र आत्रेय	,,	,,
२– ३)		आप्री	९–२६
– ३६)		ऋतु	,,
– ३७)	गृत्समद २	,,	
– ३५)		अपां नपात्	,,
– ४२)		शकुनि	,,
– ४३)		,,	,,
१०–१३१	सुकीर्ति काक्षीवत	इंद्र	९–३१
–१३४	मांधाता यौवनाश्व	,,	,,
–१३८	अंग औरव	,,	,,
–१४४	तार्क्ष्य सुपर्ण	,,	,,
–१४७	सुवेदाः शैरीषि	,,	,,
–१५२	शाम भारद्वाज	,,	,,
–१५३	इंद्रमाता	,,	,,
–१७१	इट भार्गव	,,	,,
–१७९	जय ऐंद्र	,,	,,
–१८०	औशीनर शिबि, काशीराज प्रतर्दन वसुमना रौहिदश्व	,,	,,
–१३७	सप्तर्षि	विश्वेदेव	९–३२
–१४१	अग्नि तापस	,,	,,
–१४२	जरिता द्रोण सारीसृप्य सांबरिण	,,	,,
–१५७	भुवन आप्त्य	,,	,,
–१६७	विश्वामित्र और जमदग्नि	,,	,,
–१८१	प्रथ वासिष्ठ	,,	,,
–१४०	अग्नि पावक	अग्नि	,,
–१५६	केतु आग्नेय	,,	,,
–१८८	श्येन	,,	,,
–१८७	वत्स	,,	,,
–१५०	मृलीक वासिष्ठ	,,	,,
–१९२	ब्राह्म रक्षोहा	रक्षोहा	,,
–१५८	चक्षु सौर्य	सूर्य	९–३३
–१७०	विभ्राट् सौर्य	,,	,,

१०–१८९	सार्पराज्ञी	सूर्य	९–३३
–१३९	विश्वावसु	सवितृ	,,
–१६८	अनिल वातायन	वायु	,,
–१८६	उल वातायन	,,	,,
–१३६	जूत्यादयो वात-रशना मुनयः	केशिनः (अग्नि, वायु, सूर्य)	,,
–१३२	शकपूर्त नार्मेध	मित्रावरुणौ	९–३४
–१८२	तपुर्मुर्धा बार्हस्पत्य	बृहस्पति	,,
–१४३	अत्रि सांख्य	अश्विनौ	,,
–१७२	संवर्त आंगिरस	उषस्	,,
–१७८	अरिष्टनेमि तार्क्ष्य	तार्क्ष्य	,,
–१३५	कुमार यामायन	यम	,,
– ७६	जरत्कर्ण ऐरावत	ग्रावा	९–३५
–१७५	ऊर्ध्वग्रावा आर्बुदि	,,	,,
–१४६	देवमुनि ऐरंमद	अरण्यानी	,,
–१७६	सूनु आर्भव	ऋभु	,,
–१५१	श्रद्धा कामायनी	श्रद्धा	,,
–१४५	इंद्राणी	सपत्नीनाशन	९–३६
–१५९	शची पौलोमी	,,	,,
–१६६	ऋषभ वैराज या शाक्वर	शत्रुनाश	,,
–१५५	शिरिंबिठ भारद्वाज	अलक्ष्मीनाश	,,
–१६१	प्राजापत्य यक्ष्मनाशन	यक्ष्मनाश	,,
–१६३	विवृहा काश्यप	,,	,,
–१६४	प्रचेता आंगिरस	दुःस्वप्न नाश	,,
–१६५	कपोत नैर्ऋति	कपोतामंगल नाश	,,
–१७३	ध्रुव आंगिरस	राजधर्म	९–३७
–१७४	अभीवर्त आंगिरस	,,	,,
–१६९	शबर काक्षीवत	गोरक्षण	,,
–१८३	प्रजावान् प्राजापत्य	यजमानाशीर्वाद	,,
–१८४	त्वष्टा गर्भकर्ता	गर्भाधान	,,
–१०७	दक्षिणा प्राजापत्या	दक्षिणा	९–३८
–११७	भिक्षु आंगिरस	घनान्नदान	९–३९
– ७१	बृहस्पति आंगिरस	ज्ञान	९–४०, ४१
१–१००	ऋज्राश्वादि वार्षागिर	इंद्र	९–४२
३– ५१)		,,	,,
– ५२)	विश्वामित्र गाथिन्	,,	,,
५– २९	गौरिवीति शाक्त्य	,	,,

५– ३३)		इन्द्र	९–४२
– ३४)	प्राजापत्य संवरण	,,	,,
७– १९)	वसिष्ठ २	,,	,,
– २०)		,,	,,
– २१)		,,	.
१०– ४२)		,,	९–४३
– ४३)	कृष्ण आंगिरस २	,,	,,
– ४४)		,,	,,
– ४७)		,,	,,
– ४८)		,,	,,
– ४९)	वैकुण्ठ इंद्र	,,	,,
– ५०)		,,	,,
– ७३)		,,	,,
– ७४)	गौरिवीति शाक्त्य	,,	,,
– ९६	सर्वहरि ऐंद्र	,,	,,
– ९९	वप्र वैखानस	,,	,,
–१०२	मुद्गल भार्म्यश्व	,,	,,
–१०३	अप्रतिरथ ऐंद्र	,,	,,
–१०४	अष्टक	,,	,,
–१०५	दुर्मित्र या सुमित्र कौत्स	,,	,,
–१११		,,	,,
–११२)	वैरूप अष्टादंष्ट्र नभः	,,	,,
–११३)	प्रमर्दन, शतप्रभेदन	,,	,,
–११९	लव ऐंद्र	,,	,,
–१२०	बृहद्दिव आथर्वण	,,	,,
५– ४४	काश्यप अवत्सार	विश्वेदेव	९–४४
७– ३४)		,,	,,
– ३५)		,,	,,
– ३६)	वसिष्ठ ३		,,
– ३७		,,	,,
१०– ३५)		,,	,,
– ३६)	लुश धानाक	,,	,,

१०– ५७)		विश्वेदेव	९–४४
– ५९)	बंध्वादि गौपायन	,,	,,
– ६०)		,,	,,
– ६१)		,,	,,
– ६२)	नाभानेदिष्ठ मानव	,,	,,
– ६३)		,,	,,
– ६४)	गय प्लात	,,	,,
– ९२	शार्यात मानव	,,	,,
– ९३	पार्थि तान्व	,,	,,
–१००	दुवस्यु वांदन	,,	,,
–१०९	जुहू ब्रह्मजाया	,,	,,
–१२६	कुल्मल बर्हिशैलूष	,,	,,
–१२८	विहव्य आंगिरस	,,	,,
– ८	त्रिशिरा त्वाष्ट्र	अग्नि	९–४५
– ४५)		,,	,,
– ४६)	वत्सप्री भालंदन	,,	,,
– ६९	सुमित्र वाध्र्यश्व	,,	,,
– ७९)		,,	,,
– ८०)	सप्ति वाजंभर	,,	,,
– ९१	वरुण वैतहव्य	,,	,,
–११५	उपस्तुत वार्ष्टिहव्य	,,	,,
–११६	अग्नियूत या–यूपस्थौरि	,,	,,
–१२२	चित्रमहा वासिष्ठ	,,	,,
–११८	उरुक्षय अमहीयु	रक्षोहा	९–४६
– ७०	सुमित्र वाध्र्यश्व	आप्री	,,
–११०	जमदग्नि भार्गव	,,	,,
– ३९)		अश्विनौ	९–४७
– ४०)	घोषा काक्षीवती	,,	,,
– ४१	सुहस्त्य घौषेय	,,	,,
– १०६	भूतांश काश्यप	,,	,,
– ७७)		मरुत्	९–४८
– ७८)	भार्गव स्यूमरश्मि	,,	,,
– ३७	अभितपा सौर्य	सूर्य	,,

– ७२	लौक्य बृहस्पति	बृहस्पति	९–४८
–१२७	रात्रि भारद्वाजी	रात्रि	,,
– ७५	सिंधुक्षित् प्रैयमेध	नदियां	,,
– ७७	भिषक् आथर्वण	ओषधि	,,
– ८१)		विश्वकर्मा	९–४९
– ८२)	विश्वकर्मा भौवन	,,	,,
–१२३	वेन भार्गव	वेन	,,
– ५८	वंध्वादि गौपायन	मन आवर्तन	९–५०
– ८३)		मन्यु	,,
– ८४)	तापस मन्यु	,,	,,
–१२९	परमेष्ठी प्रजापति	सृष्टि	९–५१
–१२१	हिरण्यगर्भ प्राजापत्य	,,	,,
– ९०	नारायण	पुरुष	९–५२
– ८६	?	इंद्रेंद्राणी वृषाकपि संवाद	९–५४
– ९५	?	पुरूरवोर्वशी संवाद	,,
–१०८	?	पणि सरमा संवाद	,,
८– १	प्रगाथ, मेध्यातिथि मेध्यातिथि	इंद्र	,,
३	आसंग प्लायोगि	,,	,,
४	देवातिथि काण्व, आंगिरसी शश्वती	,,	,,
५	ब्रह्मातिथि काण्व	अश्विनौ	,,
९४	बिंदु	मरुत्	,,
७– २	वसिष्ठ ३	आप्री	९–५६
– ८७)		वरुण	,,
– ८८)	,,	,,	,,
– ८९)		वरुण	,,
– ४८)	,,	ऋभु	९–५७
– ९५)		सरस्वती	,,
– ५०)		विश्वेदेव	,,
– ९६)		सरस्वान्	,,

३– ४)		आप्री	९–५८
– ८)		यूप	,,
– ९)		अग्नि	,,
– १२)	विश्वामित्र	इंद्राग्नी	,,
– २२)		पुरीष्याग्नि	,,
– ६०)		ऋभु	,,
१०– ५१)		अग्नि	९–५९
– ५२)	सौचीक अग्नि	,,	,,
– ५३)		,,	,,
– ९४	अर्बुद काद्रवेय	ग्रावा	९–६०
– ९८	देवापि आर्ष्टिषेण	वृष्टि	९–६१
१– ७१	पराशर शाक्त्य २	अग्नि	,,
– ७२)	,,	,,	,,
– ७३)	,,	,,	,,
–१४२	दीर्घतमस् ३	आप्री	९–६२
–१६२)	,,	अश्व	,,
–१६३)	,,	,,	,,
–१६४	,,	गूढ	,,
५– २	कुमार आत्रेय	अग्नि	९–६३
– ५	वसुश्रुत आत्रेय	आप्री	,,
– १५	धरुण आंगिरस	,,	,,
– २४	चार बंधु गौपायन या लौपायन	,,	,,
– ६२	श्रुतवित् आत्रेय	मित्रावरुणौ	,,
– ७८	सप्तवध्रि	अश्विनौ	,,
– ८७	एवया मरुत्	मरुत्	,,
– ४०	अत्रिर्भौम ३	सूर्य	,,
१०–१०१	बुध सौम्य	विश्वेदेव	९–६४
–११४	सध्रि वैरूप	,,	,,
–१२४	अग्नि	,,	,,
–१३०	यज्ञ प्राजापत्य	भाववृत्त	,,
–१५४	यमी वैवस्वती	,,	९–६५
–१७७	पतंग प्राजापत्य	मायाभेद	,,
–१८५	सत्यभृति वारुणि	आदित्य	,,
–१९१	संवनन आंगिरस	संज्ञान	,,

१– ३१)		अग्नि	९–६६
– ३२)		इंद्र	,,
– ३३)	हिरण्यस्तूप आंगिरस	,,	,,
– ३४)		अश्विनौ	,,
– ३५)		विश्वेदेव	,,
१०–१४९	अर्चन् हैरण्यस्तूप	सवितृ	,,
७– ३८)		,,	९–६७
– ३३)	वसिष्ठ ३	?	,,
– १८		सुदाः इंद्र	,,
३– ३३	विश्वामित्र	नदी संवाद	,,
– २३	देवश्रवा और देव व्रात भारत	अग्नि	,,
– ९२	विश्वामित्र, जमदग्नि	छः देव	,,
१०– ८५	सूर्या सावित्री	विवाह मंत्र	९–६९–६८
१– ११	जेता माधुच्छंदस	इंद्र	९–७१
– १)		अग्नि	९–७२
– २)		वायु, इंद्रवायु, मित्रावरुणौ	,,
– ३)		अश्विनौ, इंद्र, विश्वेदेव	,,
– ४)		इंद्र	,,
– ५)		,,	,,
– ५)	मधुच्छंदा वैश्वामित्र	इंद्र मरुत्	,,
– ७)		इंद्र	,,
– ८)		,,	,,
– ९)		,,	,,
– १०)		,,	,,
८– ४९	प्रस्कण्व काण्व	इंद्र	९–४३
– ५०	पुष्टिगु ,,	,,	,,
– ५१	श्रुष्टिगु ,,	,,	,,
– ५२	आयु काण्व	इंद्र	९–७३
– ५३)	मेध्य काण्व	,,	,,
– ५४)	,,	अश्विनौ	,,
– ५५)	,,	विश्वेदेव	,,
– ५६	मातरिश्वा काण्वः	इंद्र	,,
– ५७	कृश काण्व	,,	,,
– ५८	पृषध्र काण्व	,,	,,
– ५९	सुपर्ण काण्व	इंद्रावरुणौ	,,
१०–१९०	अघमर्षणमाधुच्छंदस	भाववृत्त	,,

पवमान सूक्त

९– ९४)		सोम पवमान	१०– ८
– ९१)		,,	,,
– ९२)	कश्यप २	,,	,,
–११३)		,,	,,
–११४)		,,	,,
– ५३)		,,	१०– ९
– ५४)		,,	,,
– ५५)		,,	,,
– ५६)		,,	,,
– ५७)	अवत्सार काश्यप	,,	,,
– ५८)		,,	,,
– ५९)		,,	,,
– ६०)		,,	,,
– ६३	निध्रुवि काश्यप	,,	,,
– ६)		,,	१०–१०
– ७)		,,	,,
– ८)		,,	,,
– ९)	असित या	,,	,,
– १०)	देवल काश्यप	,,	,,
– ११)		,,	,,
– १२)		,,	,,
– १३)		,,	,,
– १४)		,,	,,
– १५)		,,	,,
– १६)		,,	,,
– १७)		,,	,,
– १८)		,,	,,
– १९)		,,	,,
– २०)	असित या	,,	,,
– २१)	देवल काश्यप	,,	,,
– २२)		,,	,,
– २३)		,,	,,
– २४)		,,	,,
– २७)		,,	१०–११
– २९)	नृमेध आंगिरस	,,	,,

९– २८	प्रियमेध आंगिरस	पवमान सोम	१०–१०
– ३०	विंदु आंगिरस	,,	,,
– ३७)		,,	,,
– ३८)	रहूगण आंगिरस	,,	,,
– ३९)		,,	,,
– ४०)	बृहन्मति आंगिरस०	,,	,,
– ५०)		,,	,,
– ५१)	उचथ्य आंगिरस	,,	,,
– ५२)		,,	,,
– ६१	अमहीयु आंगिरस	,,	१०–१२
– ४)		,,	,,
– ६९)	हिरण्यरूप आंगिरस	,,	,,
– ७२	हरिमंत आंगिरस	,,	,,
– ७३)		,,	,,
– ८३)	पवित्र आंगिरस	,,	,,
– ३१	गोतम भारद्वाज	,,	१०–१३
– ७४	कक्षीवान् दैर्घतमस	,,	,,
– ८०)		,,	,,
– ८१)	वसु भारद्वाज	,,	,,
– ८२)		,,	,,
– ९३	नोधा गौतम	,,	,,
– ४१)		,,	१०–१४
– ४२)	मेधातिथि काण्व	,,	,,
– ४३	,,	,,	,,
– ९५	प्रस्कण्व काण्व	,,	,,
९– ७०	रेणु वैश्वामित्र	,,	,,
– ७१	ऋषभ वैश्वामित्र	,,	,,
– २५)		,,	१०–१५
– २६)	इध्मवाह दार्ढच्युत	,,	,,
– ६८	वत्सप्री भालंदन	,,	,,
– ८४	प्रजापति वाच्य	,,	,,

– ८७)		पवमान सोम	१०–१५
– ८८)	उशना वाच्य	,,	,,
– ८९)		,,	,,
– ९०	वसिष्ठ मैत्रावरुणि	,,	,,
– ९६	प्रतर्दन दैवोदासि	,,	,,
– ६२)		,,	१०–१६
– ६५)	जमदग्नि भार्गव	,,	,,
– ९८	अंबरीष वार्षागिर ऋजिष्वा भारद्वाज	,,	१०–१७
– ९९)		,,	,,
–१००)	रेभसूनू काश्यपौ	,,	,,
–१०४)	पर्वतनारदौ काण्वौ		
)	काश्यप्यौ शिखंडिन्यौ	,,	,,
)	अप्सरसौ वा		
–१०५)	,,	,,	,,
–१०९	अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वरयः	,,	१०–१८
– ६६	शतं वैखानसाः	,,	१०–१९
–१०६	अग्नि-चाक्षुष, चक्षु मानव, मन आप्सव	,	१०–२०
–१०१	अंधीगु श्यावाश्वि, ययाति नाहुष, नहुष मानव, मनु सांवरण वैश्वामित्र या वाच्य प्रजापति	,,	१०–२१
– ८६	अकृष्टा माषाः, सिकता निवावरी, पृश्नयोऽजाः भौम अत्रि और गृत्स-मद शौनक	,,	१०–२२, २३
– ९७	दस वासिष्ठ, शाक्त्य पराशर, कुत्स आंगिरस	,,	१०–२४
–१०८	गौरिवीति शाक्त्य शक्ति वासिष्ठ, उरु आंगिरस, ऋजिष्वा भारद्वाज, ऊर्ध्वसद्मा	,,	१०–२५